# प्रथम संस्करण का

## वक्तव्य

हिंदी-कवियों का एक वृत्त-संग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् १८८३ ई० में प्रस्तुत किया था। उसके पीछे सन् १८८९ में डाक्टर (अब सर) ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर अव नार्दर्न हिंदुस्तान' के नाम से एक वैसा ही बड़ा कवि-वृत्त-संग्रह निकाला। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्रों हस्तलिखित हिंदी-पुस्तके देश के अनेक भागों में राज-पुस्तकालयों तथा लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी हैं। अतः सरकार की आर्थिक सहायता से उसने सन् १९०० से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् १९११ तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों मे सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया। सन् १९१३ में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्रबंधुओ (श्रीयुत पं० श्यामविहारी मिश्र आदि) ने अपना बड़ा भारी कवि-वृत्त-संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद' जिसमें वर्त्तमान काल के कवियों और लेखको का भी समावेश किया गया, तीन भागों मे प्रकाशित किया।

इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तब से उसके साहित्य के विचार-शृंखला-बद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनो कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियो के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप मे जो जो परिवर्त्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावो की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सब के सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थी; पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न भिन्न शाखाओं के हजारों कवियो की केवल

कालक्रम से गुथी उपर्युक्त वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं ? सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडो मे आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है, क्या नही—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।

पाँच या छः वर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिये मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे जिनमे परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिंदी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था। 'हिंदी-शब्द-सागर' समाप्त हो जाने पर उसकी भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया अतः एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा। साहित्य का इतिहास लिखने के लिये जितनी अधिक सामग्री मैं जरूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी, पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान सामने रख-कर यह कार्य्य पूरा किया।

इस पुस्तक मे जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है उसका थोड़े से उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

पहले काल-विभाग को लीजिए। जिस काल-खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्ही रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं मे से चाहे किसी ( एक ) ढंग की रचना को ले वह परिमाण मे प्रथम के बराबर न होगी; यह नही कि और सब ढंगों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होंगी। जैसे, यदि किसी काल में पाँच ढंग की रचनाएँ १०,५, ६, ७ और २ के क्रम से मिलती है तो जिस ढंग की रचना की १० पुस्तके है उसकी प्रचुरता कही जायगी, यद्यपि शेष और ढंग की सब पुस्तकें मिलकर २० हैं। यह तो हुई पहली बात। दूसरी बात है ग्रंथों की प्रसिद्धि। किसी काल के

भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जायगी, चाहे और दूसरे-दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तके भी इधर-उधर कोनों मे पड़ी मिल जाया करे। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। सारांश यह कि इन दोनो बातों की ओर ध्यान रखकर काल-विभाग का नामकरण किया है।

आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा-काल' रखा है। उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती है—अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों मे कई तो जैनो के धर्म-तत्त्व-निरूपण-संबंधी है जो साहित्य-कोटि मे नहीं आतीं और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिये ही किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था। साहित्य-कोटि मे आनेवाली रचनाओं में कुछ तो भिन्न भिन्न विषयों पर फुटकल दोहे है जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। साहित्यिक पुस्तकें केवल चार हैं—

१ विजयपाल रासो
२ हम्मीर रासो
३ कीर्त्तिलता
४ कीर्तिपताका

देशभाषा-काव्य की आठ पुस्तके प्रसिद्ध है—

५ खुमान रासो
६ बीसलदेव रासो
७ पृथ्वीराज रासो
८ जयचंद-प्रकाश
९ जयमयंक-जस-चंद्रिका
१० परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप)
११ खुसरो की पहेलियाँ आदि
१२ विद्यापति-पदावली

इन्ही बारह पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमे से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक ही है। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है। जिस सामाजिक या राजनीतिक परिस्थिति की प्रेरणा से वीरगाथाओं की प्रवृत्ति रही है उसका सम्यक् निरूपण पुस्तक मे कर दिया गया है।

मिश्रबंधुओ ने इस 'आदिकाल' के भीतर इतनी पुस्तको की और नामावली दी है—

१ भगवद्गीता
२ वृद्ध नवकार
३ वर्त्तमाल
४ समतसार
५ पत्तलि
६ अनन्य योग
७ जंबूस्वामी रासा
८ रैवतगिरि रासा
९ नेमिनाथ चउपई
१० उवएस-माला ( उपदेशमाला )

इनमे से नं० १ तो पीछे की रचना है, जैसा कि उसकी इस भाषा से स्पष्ट है—

तेहि दिन कथा कीन मन लाई। हरि के नाम गीत चित आई॥
सुमिरौं गुरु गोविंद के पाऊँ। अगम अपार है जाकर नाऊँ॥

जो वीररस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का द्वित्व देखकर प्राकृत भाषा और कहीं चौपाई देखकर ही अवधी या बैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को 'थाट' और विचार को 'फीलिंग' कहते हैं वे यदि उद्धृत पद्यों को संवत् १००० के क्या सवत् ५०० के भी बताएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुस्तक की संवत्-सूचक पंक्ति का यह गड़बड़ पाठ ही सावधान करने के लिये काफी है—"सहस्र सो संपूरन जाना।"

अब रहीं शेष नौ पुस्तकें। उनमे नं० २,७, ६ और १० जैनधर्म के तत्त्व निरूपण पर हैं और साहित्य-कोटि में नहीं आ सकतीं। नं० ६ योग की पुस्तक है। नं० ३ और नं० ४ केवल नोटिस मात्र हैं; विषयों का कुछ भी विवरण नहीं है। इस प्रकार केवल दो साहित्यिक पुस्तकें बचीं जो वर्णनात्मक ( डेस्क्रिप्टिव ) हैं—एक में नंद के ज्योनार का वर्णन है, दूसरी में गुजरात के रैवतक पर्वत का। अतः इन पुस्तकों की नामावली से मेरे निश्चय मे किसी प्रकार का अतर नहीं पड़ सकता। यदि ये भिन्न भिन्न प्रकार की ६ पुस्तकें साहित्यिक भी होतीं तो भी मेरे नामकरण में कोई बाधा नही डाल सकती थीं; क्योंकि मैंने ६ प्रसिद्ध वीरगाथात्मक पुस्तकों का उल्लेख किया है।

एक ही काल और एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की परंपराएँ चली हुई पाई गई है वहाँ अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है। जैसे, भक्तिकाल के भीतर पहले तो दो काव्य-धाराएँ—निर्गुण धारा और सगुण धारा—निर्दिष्ट की गई है। फिर प्रत्येक धारा की दो दो शाखाएँ स्पष्ट रूप से लक्षित हुई है—निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी ( सूफी ) शाखा तथा सगुण धारा की रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखा। इन धाराओं और शाखाओं की प्रतिष्ठा यों ही मनमाने ढंग पर नही की गई है। उनकी एक दूसरी से अलग करनेवाली विशेषताएँ अच्छी तरह दिखाई भी गई है और देखते ही ध्यान में आ भी जायँगी।

रीति-काल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परंपरा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है? किसी काल-विस्तार को लेकर यों ही पूर्व और उत्तर नाम देकर दो हिस्से कर डालना ऐतिहासिक विभाग नहीं कहला सकता। जब तक पूर्व और उत्तर के अलग अलग लक्षण न बताए जायँगे तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार थोड़े थोड़े अंतर पर होनेवाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल-प्रवर्त्तक कवि का यह प्रभाव उनके काल में होनेवाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए।

रीतिबद्ध ग्रंथो की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्य्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।

रीति-काल के संबंध मे दो बाते और कहनी हैं। इस काल के कवियो के परिचयात्मक वृत्तो की छानबीन मे मै अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ हूँ, क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खडा करना था, न कि कवि-कीर्त्तन करना। अतः कवियों के परिचयात्मक विवरण मैने प्रायः मिश्रबंधु-विनोद से ही लिए हैं। कही कहीं कुछ कवियों के विवरणो मे परिवर्द्धन और परिष्कार भी किया है; जैसे, ठाकुर, दीनदयाल गिरि, रामसहाय और रसिक-गोविंद के विवरणों मे। यदि कुछ कवियों के नाम छूट गए या किसी कवि की किसी मिली हुई पुस्तक का उल्लेख नहीं हुआ तो इसमे मेरी कोई बडी उद्देश्य हानि नहीं हुई। इस काल के भीतर मैने जितने कवि लिए हैं या जितने ग्रंथो के नाम दिए है उतने ही जरूरत से ज्यादा मालूम हो रहे है।

रीतिकाल या और किसी काल के कवियो की साहित्यिक विशेषताओं के सबंध मे मैने जो संक्षिप्त विचार प्रकट किए है वे दिग्दर्शन मात्र के लिये। इतिहास की पुस्तक मे किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती। किसी कवि की आलोचना लिखनी होगी तो स्वतंत्र प्रबंध या पुस्तक के रूप मे लिखूँगा। बहुत प्रसिद्ध कवियो के सबंध मे ही थोड़ा विस्तार के साथ लिखना पडा है। पर वहाँ भी विशेष विशेष प्रवृत्तियो का ही निर्धारण किया गया है। यह अवश्य है कि उनमे से कुछ प्रवृत्तियो को मैंने रसोपयोगी और कुछ को बाधक कहा है।

आधुनिक काल मे गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है। इसलिये उसके प्रसार का वर्णन विशेष विस्तार के साथ करना पडा है। इस थोड़े से काल के बीच हमारे साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता का विकास हुआ है उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ था। पहले मेरा विचार आधुनिक काल को 'द्वितीय उत्थान' के आरंभ तक लाकर उसके आगे

की प्रवृत्तियों का सामान्य और संक्षिप्त उल्लेख करके ही छोड़ देने का था, क्योंकि वर्तमान लेखकों और कवियो के संबंध मे कुछ लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना ही समझ पड़ता था। पर जी न माना। वर्त्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी थोड़े बहुत विवेचन के साथ डरते डरते किया गया।

वर्त्तमान काल के अनेक प्रतिभा-संपन्न और प्रभावशाली लेखको और कवियों के नाम जल्दी मे या भूल से छूट गए होंगे। इसके लिये उनसे तथा उनसे भी अधिक उनकी कृतियों से विशेष रूप में परिचित महानुभावों से क्षमा की प्रार्थना है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह पुस्तक जल्दी में तैयार करनी पड़ी है इससे इसका जो रूप मैं रखना चाहता था वह भी इसे पूरा पूरा नहीं प्राप्त हो सका है। कवियों और लेखकों के नामोल्लेख के संबंध मे एक बात का निवेदन और है। इस पुस्तक का उद्देश्य संग्रह नहीं था। इससे आधुनिक काल के अंतर्गत सामान्य लक्षणों और प्रवृत्तियों के वर्णन की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। अगले संस्करण मे इस काल का प्रसार कुछ और अधिक हो सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी-साहित्य का यह इतिहास 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप मे 'हिंदी-साहित्य का विकास' के नाम से सन् १९२९ के जनवरी महीने में निकल चुका है। इस अलग पुस्तकाकार संस्करण में बहुत सी बातें बढ़ाई गई हैं—विशेषतः आदि और अंत में। 'आदि काल' के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई है क्योंकि वे सदा से 'भाषा-काव्य' के अंतर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा काव्यों के नाम गिनाती चली आई है जो अपभ्रंश मे हैं—जैसे, कुमारपालचरित और शार्ङ्गधर-कृत हम्मीररासो। 'हम्मीररासो' का पता नहीं है। पर 'प्राकृत पिंगल सूत्र' उलटते-पुलटते मुझे हम्मीर के युद्धो के वर्णन-वाले कई बहुत ही ओजस्वी पद्य, छंदों के उदाहरण मे, मिले। मुझे पूर्ण निश्चय हो गया है कि ये पद्य शार्ङ्गधर के प्रसिद्ध 'हम्मीररासो' के ही है।

आधुनिक काल के अंत मे वर्त्तमान काल की कुछ विशेष प्रवृत्तियों के

वर्णन को थोड़ा और पल्लवित इसलिये करना पड़ा जिसमें उन प्रवृत्तियों के मूल का ठीक ठीक पता केवल हिंदी पढ़नेवालों को भी हो जाय और वे धोखे में न रहकर स्वतंत्र विचार में समर्थ हों।

मिश्रबंधुओ के प्रकांड कविवृत्त-संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद' का उल्लेख हो चुका है। 'रीतिकाल' के कवियों के परिचय लिखने में मैंने प्रायः उक्त ग्रंथ से ही विवरण लिए हैं अतः आधुनिक शिष्टता के अनुसार उसके उत्साही और परिश्रमी संकलन-कर्ताओ को धन्यवाद देना मै वहुत जरूरी समझता हूँ। हिंदी पुस्तको की खोज की रिपोर्टें भी मुझे समय समय पर—विशेषतः संदेह के स्थल आने पर—उलटनी पडी है। राय साहब बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० की 'हिंदी-कोविद-रत्नमाला,' श्रीयुक्त पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' तथा श्रीवियोगीहरि जी के 'ब्रजमाधुरी सार' से भी बहुत कुछ सामग्री मिली है, अतः उक्त तीनो महानुभावों के प्रति मै अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। 'आधुनिक काल' के प्रारंभिक प्रकरण लिखते समय जिस कठिनता का सामना करना पडा उसमे मेरे बड़े पुराने मित्र पं० केदारनाथ पाठक ही काम आए। पर न आज तक मैंने उन्हे किसी बात के लिये धन्यवाद दिया है, न अब देने की हिम्मत कर सकता हूँ। 'धन्यवाद' को वे "आजकल की एक बदमाशी" समझते है।

इस कार्य मे मुझसे जो भूलें हुई हैं उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई है उनकी पूर्ति की और जो अपराध बन पडे है उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मै अपने श्रम से कुछ संतोष-लाभ कर सकता हूँ।

काशी
आषाढ शुक्ल ५, १९८६

रामचंद्र शुक्ल

संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण के संबंध में

## दो बातें

कई संस्करणों के उपरांत इस पुस्तक के परिमार्जन का पहला अवसर मिला, इससे इसमें कुछ आवश्यक संशोधन के अतिरिक्त बहुत सी बातें बढ़ानी पड़ीं।

'आदिकाल' के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिये करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्त्तित निर्गुण संत-मत के प्रचार के लिये किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और योग-धारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।

'भक्ति-काल' के अंतर्गत स्वामी रामानंद और नामदेव पर विशेषरूप से विचार किया गया है; क्योंकि उनके संबंध में अनेक प्रकार की बातें प्रचलित हैं। 'रीतिकाल' के 'सामान्य परिचय' में हिंदी के अलंकार-ग्रंथों की परंपरा का उद्गम और विकास कुछ अधिक विस्तार के साथ दिखाया गया है। घनानंद आदि कुछ मुख्य मुख्य कवियों का आलोचनात्मक परिचय भी विशेष रूप में मिलेगा।

'आधुनिक काल' के भीतर खड़ी बोली के गद्य का इतिहास इधर जो कुछ सामग्री मिली है उसकी दृष्टि से एक नए रूप में सामने लाया गया है। हिंदी के मार्ग में जो जो विलक्षण बाधाएँ पड़ी हैं उनका भी सविस्तर उल्लेख है। पिछले संस्करणों में वर्त्तमान अर्थात् आजकल चलते हुए साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों का संकेत मात्र करके छोड़ दिया गया था। इस संस्करण में सम-सामयिक साहित्य का अब तक का आलोचनात्मक विवरण दे दिया गया है जिससे आज तक के साहित्य की गति-विधि का पूरा परिचय प्राप्त होगा।

आशा है कि इस संशोधित और प्रवर्द्धित रूप में यह इतिहास विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

अक्षय तृतीया,<br>संवत् १९९७

रामचंद्र शुक्ल

## प्रकाशक का वक्तव्य

इस पुस्तक का नवीन संस्करण इसके विद्वान् लेखक द्वारा संशोधित और प्रवर्धित रूप में पाठकों की सेवा में उपस्थित है। लेखक तथा प्रकाशक ने इसकी अनुदिन बढ़ती हुई माँग को देखकर इसे शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित करने का घोर प्रयत्न किया, किंतु जिस रूप में इसको निकालने का विचार था वह अत्यंत श्रमसाध्य होने के कारण समय पर न निकल सका जिससे पाठकों, विशेषकर परीक्षार्थियों, को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। पर पाठकों की सुविधा को सर्वोपरि रखते हुए हमें प्रस्तुत रूप में पुस्तक को प्रकाशित करना पड़ रहा है। लेखक को कुछ नवीन कवियों और लेखकों के विषय में लिखना अभी शेष था। इसके लिये हम क्षम्य हैं। अगले संस्करण में उसकी पूर्ति अवश्य कर दी जायगी।

प्रधान मंत्री
काशी-नागरीप्रचारिणी सभा

---

लेखक का अचानक देहावसान हो जाने से नई धारा के कई वर्तमान कवियों का विवेचन विस्तृत रूप से नहीं प्राप्त हो सका। फलतः 'पंजाब संस्करण' से जो संक्षिप्त विवेचन छापा गया था वही इस ग्रंथ में, पृष्ठ ७१४ के अंतिम अनुच्छेद से लेकर पृष्ठ ७२२ तक उद्धृत कर दिया गया है।

जन्माष्टमी, संवत् १९९६।

---

# विषय-सूची

( दिए हुए अंक पृष्ठों के हैं )

## काल-विभाग



## आदि-काल

## प्रकरण १

### सामान्य परिचय



## प्रकरण २

### अपभ्रंश-काल

## प्रकरण ३

## देशभाषा काव्य

### वीरगाथा



## प्रकरण ४

### फुटकल रचनाएँ



## पूर्व मध्यकाल

## भक्तिकाल ( १३७५-१७०० )

## प्रकरण १

### सामान्य परिचय

## प्रकरण २

### निर्गुण धारा

#### ज्ञानाश्रयी शाखा



## प्रकरण ३

#### प्रेममार्गी ( सूफी ) शाखा

## प्रकरण ४

### सगुण धारा

#### रामभक्ति शाखा



## प्रकरण ५

#### कृष्णभक्ति शाखा



## प्रकरण ६

### भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

## उत्तर मध्यकाल

## रीतिकाल ( १७००-१९०० )

### प्रकरण १

#### सामान्य परिचय



### प्रकरण २



### प्रकरण ३

#### रीतिकाल के अन्य कवि

# आधुनिक काल

( संवत् १९००-१९८० )

गद्य खंड

## प्रकरण १

### गद्य का विकास

### आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

( ब्रजभाषा-गद्य )



( खड़ी बोली-गद्य )

## प्रकरण २

### गद्य-साहित्य का आविर्भाव

## आधुनिक गद्य-साहित्य परंपरा का प्रवर्तन

### प्रथम उत्थान

### ( सं० १६२५-५० )

## प्रकरण ३

### गद्य साहित्य का प्रसार

## द्वितीय उत्थान

### ( १६५०-७५ )

### सामान्य परिचय



### गद्यसाहित्य की वर्त्तमान गति

## तृतीय उत्थान

### ( सं० १९७१ से )

## आधुनिक काल

( सं० १९०० से )

### काव्य-खंड

### प्रकरण १

### पुरानी धारा



### प्रकरण २

### नई धारा

### प्रथम उत्थान

( सं० १९२५-५० )

## द्वितीय उत्थान

( सं० १९२०-७५ )



## तृतीय उत्थान

( सं० १९७५ से )

### वर्तमान काव्य-धाराएँ

### सामान्य परिचय

# हिंदी-साहित्य का इतिहास

## काल-विभाग

जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप मे भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियो की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियो का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि किसी विशेष समय मे लोगो मे रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिंदी-साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों मे विभक्त कर सकते हैं—

आदि काल ( वीरगाथा-काल, संवत् १०५०—१३७५ )
पूर्व मध्यकाल ( भक्तिकाल, १३७५—१७०० )
उत्तर मध्यकाल ( रीतिकाल, १७००—१९०० )
आधुनिक काल ( गद्यकाल , १९००—१९८४ )

यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है, पर यह न समझना चाहिए कि किसी काल मे और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल को ले तो उसमे वीररस के अनेक काव्य मिलेंगे जिनमे वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढंग

की होगी जिस ढंग की वीरगाथा-काल में हुआ करती थी। अतः प्रत्येक काल का वर्णन इस प्रणाली पर किया जायगा कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक उन रचनाओं का वर्णन होगा जो उस काल के लक्षण के अंतर्गत होंगी ; पीछे संक्षेप में इनके अतिरिक्त और प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख होगा।

# आदि काल

## प्रकरण १

### सामान्य परिचय

प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी-साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। उस समय जैसे "गाथा" कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही "दोहा" या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पद्यों का सब से पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिंदी-साहित्य का आदि काल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। यद्यपि जनश्रुति इस काल का आरंभ और पीछे ले जाती है और संवत् ७७० में भोज के पूर्वपुरुष राजा मान के सभासद पुष्य नामक किसी बंदीजन का दोहों में एक अलंकार-ग्रंथ लिखना बताती है (दे० शिवसिंहसरोज) पर इसका कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आदि काल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का

वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबंध-परपरा 'रासो' के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।

दूसरी बात इस आदि काल के संबंध में ध्यान देने की यह है कि इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास ( प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध ) हिंदी है। इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है जिस समय की इसकी रचनाएँ मिलती हैं। यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य-परपरा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिए ही हैं ( जैसे पीछे की हिंदी में तत्सम संस्कृत शब्द लिए जाने लगे ), विभक्तियाँ, कारकचिह्न और क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत कुछ अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिस-घिसाकर बिल्कुल जिस रूप में आ गई थी सारा वही रूप न लेकर कवि और चारण आदि भाषा का बहुत कुछ वह रूप व्यवहार में लाते थे जो उनसे कई सौ वर्ष पहले से कवि-परपरा रखती चली आती थी।

अपभ्रंश के जो नमूने हमें पद्यों में मिलते हैं वे उस काव्यभाषा के हैं जो अपने पुरानेपन के कारण बोलने की भाषा से कुछ अलग बहुत दिनों तक— आदि काल के अंत क्या उसके कुछ पीछे तक—पोथियों में चलती रही। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में एक ओर तो पुरानी परंपरा के कोई कवि—संभवतः शार्ङ्गधर—हम्मीर की वीरता का वर्णन ऐसी भाषा में कर रहे थे—

चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥

दूसरी ओर खुसरो मियाँ दिल्ली में बैठे ऐसी बोलचाल की भाषा में पहेलियाँ और मुकरियाँ कह रहे थे—

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया॥

इसी प्रकार १५ वीं शताब्दी में एक ओर तो विद्यापति बोलचाल की

मैथिली के अतिरिक्त इस प्रकार की प्राकृताभास पुरानी काव्यभाषा भी भनते रहे—

बालचंद विज्जावइ भासा। दुहु नहि लग्गइ दुज्जन-हासा॥

और दूसरी ओर कबीरदास अपनी अटपटी बानी इस बोली मे सुना रहे थे—

अगिन जो लागी नीर मैं कंदो जलिया झारि।
उतर दषिण के पडिता रहे बिचारि बिचारि॥

सारांश यह कि अपभ्रंश की यह परंपरा विक्रम की १५वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। एक ही कवि विद्यापति ने दो प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है—पुरानी अपभ्रंश भाषा का और बोलचाल की देशी भाषा का। इन दोनों भाषाओं का भेद विद्यापति ने स्पष्ट रूप से सूचित किया है—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जंपओं अवहट्ठा॥

अर्थात् देशी भाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश (देशी भाषा मिला हुआ) मैं कहता हूँ। विद्यापति ने अपभ्रंश से भिन्न, प्रचलित बोलचाल की भाषा को "देशी भाषा" कहा है अतः हम भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं कही आवश्यकतानुसार करेंगे। इस आदि काल के प्रकरण मे पहले हम अपभ्रंश की रचनाओं का संक्षिप्त उल्लेख करके तब देशभाषा की रचनाओं का वर्णन करेंगे।

---

## प्रकरण २

## अपभ्रंश काल

जबसे प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश-साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पहले जैसे 'गाथा' या 'गाहा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही पीछे 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या लोक-प्रचलित काव्यभाषा का बोध होने लगा। इस पुरानी प्रचलित काव्यभाषा मे नीति, शृंगार, वीर आदि की कविताएँ तो चली ही आती थीं, जैन और बौद्ध धर्माचार्य्य अपने मतों की रक्षा और प्रचार के लिये भी इसमे उपदेश आदि की रचना करते थे। प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य-रचना के लिये रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोल-चाल मे थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिये अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।

भरत मुनि ( विक्रम तीसरी शती ) ने 'अपभ्रंश' नाम न देकर लोकभाषा को 'देशभाषा' ही कहा है। वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' मे भी अपभ्रंश का उल्लेख नहीं है। 'अपभ्रंश' नाम पहले पहल बलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख मे मिलता है जिसमे उसने अपने पिता गुहसेन ( वि० सं० ६५० के पहले ) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है। भामह (विक्रम ७ वीं शती ) ने भी तीनों भाषाओं का उल्लेख किया है। बाण ने 'हर्षचरित' मे संस्कृत कवियों के साथ भाषा-कवियों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी मे रचना होने का पता हमे विक्रम की सातवीं शताब्दी मे मिलता है। उस काल की रचना के नमूने बौद्धो की वज्रयान शाखा के सिद्धों की कृतियों के बीच मिले है।

संवत् ९९० मे देवसेन नामक एक जैन ग्रंथकार हुए हैं। उन्होने भी 'श्रावकाचार' नामक एक पुस्तक दोहों मे बनाई थी, जिसकी भाषा अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप लिए हुए है, जैसे—

जो जिण सासण भाषियउ सो मई कहियउ सारु।
जो पालइ सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

इन्हीं देवसेन ने 'दब्ब-सहाव-पयास' ( द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश ) नामक एक और ग्रंथ दोहों मे बनाया था जिसका पीछे से माइल्ल धवल ने 'गाथा' या साहित्य की प्राकृत मे रूपांतर किया। इसके पीछे तो जैन कवियो की बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जैसे श्रुतिपंचमी कथा, योगसार, जसहर-चरिउ, णयकुमार-चरिउ इत्यादि। ध्यान देने की बात यह है कि चरित्र-काव्य या आख्यानकाव्य के लिये अधिकतर चौपाई दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है। पुष्पदंत ( संवत् १०२९ ) के 'आदिपुराण' और 'उत्तर पुराण' चौपाइयों में हैं। उसी काल के आस-पास का 'जसहरचरिउ' (यशधरचरित्र) भी चौपाइयों मे रचा गया है, जैसे—

विणु धवलेण सयडु किं हल्लइ। विणु जीवेण देहु किं चल्लइ॥
विणु जीवेण मोक्ख को पावइ। तुम्हारिसु किं अप्पइ आवइ॥

चौपाई-दोहे की यह परंपरा हम आगे चलकर सूफियों की प्रेम-कहानियों मे, तुलसी के रामचरितमानस मे तथा छत्रप्रकाश, व्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान-काव्यों में पाते हैं।

बौद्धधर्म विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप मे देश के पूरबी भागो मे बहुत दिनो से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिको के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं मे हुए हैं जिनका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तांत्रिक योगियो को लोग अलौकिक-शक्ति-संपन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियो और विभूतियो के लिये प्रसिद्ध थे। राजशेखर ने 'कर्पूर-मंजरी' मे भैरवानंद के नाम से एक ऐसे ही सिद्ध योगी का समावेश किया है। इस प्रकार जनता पर इन सिद्ध योगियों का प्रभाव विक्रम की १०वीं शती से ही पाया जाता है, जो मुसलमानों के आने पर पठानों के समय तक कुछ न कुछ

बना रहा। बिहार के नालंदा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ इनके अड्डे थे। बख्तियार खिलजी ने इन दोनो स्थानो को जब उजाड़ा तब ये तितर-बितर हो गए। बहुत से भोट आदि देशों को चले गए।

चौरासी सिद्धों के नाम ये हैं—लूहिपा, लीलापा, विरूपा, डोंभिपा, शबरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खडगपा, नागार्जुन, कराहपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शीलपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, अजोगिपा, कालपा, धोंभीपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुक्कुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महिपा, अचिंतिपा भल्लहपा, नलिनपा, भूसुकुपा, इंद्रभूति, मेकोपा, कुठालिपा, जालंधरपा, राहुलपा, धर्वरिपा, धोकरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुंडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंत, चर्पटीपा, चंपका, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चॅवरिपा, मणिभद्रा (योगिनी), कनखलापा (योगिनी), कलकलपा, कंतालीपा, धहुरिपा, उधरिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतुलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा (योगिनी), समुदपा, भलिपा।

('पा' आदरार्थक 'पाद' शब्द है। इस सूची के नाम पूर्वापर कालानुक्रम से नही है। इनमे से कई एक समसामयिक थे।)

वज्रयान शाखा मे जो योगी 'सिद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए वे अपने मत का संस्कार जनता पर भी डालना चाहते थे। इससे वे संस्कृत रचनाओ के अतिरिक्त अपनी बानी अपभ्रंश-मिश्रित देशभाषा या काव्यभाषा मे भी बराबर सुनाते रहे। उनकी रचनाओ का एक संग्रह पहले म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने बँगला अक्षरो मे "बौद्धगान ओ दोहा" के नाम से निकाला था। पीछे त्रिपिटकाचार्य्य राहुल सांकृत्यायनजी भोट देश में जाकर सिद्धो की और बहुत सी रचनाएँ लाए। सिद्धों में सबसे पुराने 'सरह' (सरोजवज्र भी नाम है) हैं जिनका काल डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य्य[1] ने विक्रम संवत् ६९० निश्चित किया है। उनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

---

१—Buddhist Esoteriom

अंतस्साधना पर जोर और पंडितो को फटकार—

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि बुद्ध वसंत न जाणइ।
अमणागमण ण तेन बिखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ।

---

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि बट चित्त बिसाम करु सरेहे कहिअ उवेस॥
घोर अँधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ॥
जीवतह जो नउ जरउ सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें बिमलमइ सो पर धण्णा कोइ॥

दक्षिण मार्ग छोड़कर वाममार्ग-ग्रहण का उपदेश—

नाद न बिंदु न रवि न शशि मंडल। चिअराअ सहाबे मूकल।
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लक॥

लूहिपा या लूइपा ( संवत् ८३० के आसपास ) के गीतो से कुछ उद्धरण—

काआ तरुवर पंच बिडाल। चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण। लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।

---

भाव न होइ, अभाव ण जाइ। अइस संबोहे को पतिआइ?
लूइ भणइ बट दुलक्ख बिणाण। तिअ धाए बिलसइ, उह लागे णा।

बिरूपा ( संवत् ९०० के लगभग ) की वारुणी-प्रेरित अतर्मुख साधना की पद्धति देखिए—

सहजे थिर करि वारुणी साध। जे अजरामर होइ दिट कांध।
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ। आइल गराहक अपणे बहिआ।
चउशठि घडिए देट पसारा। पइठल गराहक नाहि निसारा।

कण्हपा ( सं० ९०० के उपरांत ) की बानी के कुछ खंड नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

एक्क ण किज्जइ मंत्र ण तंत । णिश्र घरणी लइ केलि करंत ।
णिश्र घर घरिणी जाब ण सज्जइ । ताब कि पंचवर्ण बिहरिज्जइ ।
जिमि लोण बिलज्जइ पाणिएहि, तिमि घरिणी लइ चित्त ।
समरस जइ तक्खणे जइ पुणु ते सम नित्त ॥

वज्रयानियो की योग-तंत्र-साधनाओं से मद्य तथा स्त्रियों का—विशेषतः डोमिनी, रजकी आदि का—अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था । सिद्ध कण्हपा डोमिनी का आह्वान-गीत इस प्रकार गाते हैं—

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुडिया छइ ।
छोइ जाइ सो बाह्य नाड़िया ।
आलो डोंबि ! तोए सम करिब म साँग । निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग ॥
एक सो पदमा चौपट्ठि पाखुडी । तहि चढि नाचश्र डोंबी बापुडी ॥
हालो डोंबी ! तो पुछमि सदभावे । अइससि जासि डोंबी काहरि नावे ॥

---

गंगा जउँना माझे रे वहइ नाई ।
तहि बुडिलि मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ।
बाहतु डोंबी, बाहलो डोंबी बाट त भइल उछारा ।
सद्गुरु पाश्र-पए जाइब पुणु जिणउरा ॥

---

काश्र णावडि, खँटि मन करिश्राल । सद्गुरु बश्रणे धर पतवाल ।
चीश्र थिर करि गहु रे नाई । अन्न उपाये पार ण जाई ।

कापालिक जोगियो से बचे रहने का उपदेश घर मे सास ननँद आदि देती ही रहती थी, पर वे आकर्षित होती ही थीं—जैसे कृष्ण की ओर गोपियों होती थी—

राग देस मोह लाइश्र छार । परम मोख लवए मुत्तिहार ।
मारिश्र सासु नणंद घरे शाली । माश्र मारिया, कण्ह, भइश्र कबाली ।

थोड़ा घट के भीतर का बिहार देखिए—

नाडि शक्ति दिश्र धरिश्र खदे । अनह डमरू बाजइ बीर नादे ।
काण्ह कपाली जोगी पइठ अचारे । देह-नश्ररी बिहरइ एकारे ॥

इसी ढंग का कुक्कुरिपा (सं० ९०० के उपरांत) का एक गीत लीजिए—

ससुरी निंद गेल, बहुडी जागअ। कानेट चोर निलका गइ मागअ।
दिवसइ बहुडी काढ़इ डरे भाअ। राति भइले कामरू जाअ।

रहस्य-मार्गियो की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार सिद्ध लोग अपनी बानी को ऐसी पहेली के रूप मे भी रखते थे जिसे कोई विरला ही बूझ सकता है। सिद्ध तांतिपा की अटपटी बानी सुनिए—

बेंग संसार बाडहिल जाअ। दुहिल दूध कि बेंटे समाअ।
बलद बिआएल गविआ बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे।
जो सो बुज्झी सोँ धनि बुधी। जो सो चोर सोइ साधी।
निते निते षिआला षिहे षम जूझअ। ढेंढपाएर गीत विरले बूझअ।

बौद्ध धर्म ने जब तांत्रिक रूप धारण किया तब उसमे पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियो के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों की भावना की गई जो सृष्टि का परिचालन करते है। वज्रयान मे आकर 'महासुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ। प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुखदशा की प्राप्ति मानी गई। इसे आनंद-स्वरूप ईश्वरत्व ही समझिए। निर्वाण के तीन अवयव ठहराए गए— शून्य, विज्ञान और महासुख। उपनिषद् मे तो ब्रह्मानंद के सुख के परिमाण का अंदाजा कराने के लिये उसे सहवास-सुख से सौगुना कहा था पर वज्रयान मे निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास-सुख के समान बताया गया। शक्तियो सहित देवताओ के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चली और उनकी नग्न मूर्त्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओ मे बनने लगीं, जो कहीं कहीं अब भी मिलती है। रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान स्थान पर होने लगे। ऊँचे नीचे कई वर्णों की स्त्रियो को लेकर मद्यपान के साथ अनेक बीभत्स विधान वज्रयानियो की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिये किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था। इसमे कोई संदेह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत मे आए उस समय देश के पूरबी भागों मे (बिहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।

रहस्यवादियों की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानियों के सांकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे, जैसे—

काआ तरुवर पंच बिडाल

( पञ्च बिड़ाल=बौद्ध शास्त्रों में निरूपित पंच प्रतिबंध—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा और मोह। ध्यान देने की बात यह है कि विकारों की यही पाँच संख्या निर्गुण धारा के संतों और हिंदी के सूफी कवियों ने ली। हिंदू शास्त्रों में विकारों की बँधी संख्या ६ है।)

गंगा जउँना माझे वहइ रे नाई।

( = इला पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से शून्य देश की ओर यात्रा ) इसी से वे अपनी बानियों की भाषा को "संध्याभाषा" कहते थे।

ऊपर उद्धृत थोड़े से वचनों से ही इसका पता लग सकता है कि इन सिद्धों द्वारा किस प्रकार के संस्कार जनता में इधर उधर बिखेरे गए थे। जनता की श्रद्धा शास्त्रज्ञ विद्वानों पर से हटाकर अंतर्मुख साधनावाले योगियों पर जमाने का प्रयत्न 'सरह' के इस वचन "घट में ही बुद्ध है यह नहीं जानता, आवागमन को भी खंडित नहीं किया, तो भी निर्लज्ज कहता है कि मैं पंडित हूँ" में स्पष्ट झलकता है।[१] यहाँ पर यह समझ रखना चाहिए कि योगमार्गी बौद्धों ने ईश्वरत्व की भावना कर ली थी—

प्रत्यात्मवेद्यो भगवान् उपमावर्जितः प्रभुः।
सर्वगः सर्वव्यापी च कर्त्ता हर्त्ता जगत्पतिः।
श्रीमान् वज्रसत्त्वोऽसौ व्यक्तभाव-प्रकाशकः।

—व्यक्तभावानुगत तत्त्वसिद्धि

( दारिकपा की शिष्या सहजयोगिनी चिंता कृत )

इसी प्रकार जहाँ रवि, शशि, पवन आदि की गति नहीं वहाँ चित्त को विश्राम कराने का दावा, 'ऋजु' ( सीधे, दक्षिण ) मार्ग छोड़कर 'बंक' ( टेढ़ा, वाम ) मार्ग ग्रहण करने का उपदेश भी है। सिद्ध कण्हपा कहते हैं कि 'जब तक अपनी

---

१ Buddhist Esoterism.
Dr Benoytosh Bhattacharya

गृहिणी का उपभोग न करेगा तब तक पंचवर्ण की स्त्रियों के साथ विहार क्या करेगा ?' । वज्रयान में 'महासुह' ( महासुख ) वह दशा बतलाई गई है जिसमे साधक शून्य मे इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी मे । इस दशा का प्रतीक खड़ा करने के लिये 'युगनद्ध' ( स्त्री-पुरुष का आलिंगनबद्ध जोड़ा ) की भावना की गई । कण्हपा का यह वचन कि "जिमि लोण बिलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरणी लई चित्त", इसी सिद्धात का द्योतक है । कहने की आवश्यकता नहीं कि कौल, कापालिक आदि इन्हीं वज्रयानियों से निकले । कैसा ही शुद्ध और सात्त्विक धर्म हो, 'गुह्य' और 'रहस्य' के प्रवेश से वह किस प्रकार विकृत और पाखंडपूर्ण हो जाता है, वज्रयान इसका प्रमाण है ।

गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है । चौरासी सिद्धों मे गोरखनाथ ( गोरक्षपा ) भी गिन लिए गए है । पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया । योगियों की इस हिंदूशाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और बीभत्स विधानो से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिव-शक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी भी नाथपंथ के किसी किसी ग्रंथ ( जैसे, शक्तिसंगम तंत्र ) में मिलती है । गोरख ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य, ईश्वर-प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्त्तन किया । वज्रयानी सिद्धों का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था । गोरख ने अपने पंथ का प्रचार देश के पश्चिमी भागो मे—राजपुताने और पजाब में—किया । पंजाब मे नमक के पहाड़ों के बीच बालनाथ योगी का स्थान बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा । जायसी की पद्मावत में "बालनाथ का टीला" आया है ।

गोरखनाथ के समय का ठीक पता नहीं । राहुल सांकृत्यायनजी ने वज्रयानी सिद्धो की परंपरा के बीच उनका जो स्थान रखा है उसके अनुसार उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी आता है । उनका आधार वज्रयानी सिद्धो की एक पुस्तक "रत्नाकर जोपम कथा" है, जिसके अनुसार मीननाथ के पुत्र मत्स्येंद्रनाथ कामरूप के मछुवाहे थे और चर्पटीपा के शिष्य होकर सिद्ध हुए थे । पर सिद्धो की अपनी सूची मे सांकृत्यायनजी ने ही मत्स्येंद्र को जलंधर का शिष्य लिखा है, जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है । गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ ( मछंदरनाथ ) थे, यह तो प्रसिद्ध ही है । सांकृत्यायनजी ने मीननाथ या मीनपा

को पालवंशी राजा देवपाल के समय में अर्थात् संवत् ९०० के आसपास माना है। यह समय उन्होंने किस आधार पर स्थिर किया, पता नहीं। यदि सिद्धों की उक्त पुस्तक में मीनपा के राजा देवपाल के समय में होने का उल्लेख होता तो वे उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते। चौरासी सिद्धो के नामों में हेर-फेर होना बहुत संभव है। हो सकता है कि गोरक्षपा और चौरंगीपा के नाम पीछे से जुड़ गए हों और मीनपा से मत्स्येंद्र का, नाम-साम्य के अतिरिक्त, कोई संबंध न हो। ब्रह्मानंद ने दोनों को बिल्कुल अलग माना भी है ( दे० Saraswati Bhawan Studies )। संदेह यह देखकर और भी होता है कि सिद्धो की नामावली में और सब सिद्धो की जाति और देश का उल्लेख है, पर गोरक्ष और चौरंगी का कोई विवरण नही। अतः गोरखनाथ का समय निश्चित रूप से विक्रम की १०वीं शताब्दी मानते नहीं बनता।

महाराष्ट्र संत ज्ञानदेव ने, जो अलाउद्दीन के समय ( संवत् १३५८ ) में थे, अपने को गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा में कहा है। उन्होंने यह परंपरा इस क्रम से बताई है—

आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर।

इस महाराष्ट्र-परंपरा के अनुसार गोरखनाथ का समय महाराज पृथ्वीराज के पीछे आता है। नाथ-परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ के गुरु जलंधरनाथ माने जाते है। भोट के ग्रंथों में भी सिद्ध जलंधर आदिनाथ कहे गए हैं। सब बातों का विचार करने से हमे ऐसा प्रतीत होता है कि जलंधर ने ही सिद्धों से अपनी परंपरा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। वहाँ काँगड़े की पहाड़ियों तथा और स्थानों में रमते रहे। पंजाब का जलंधर शहर उन्हीं का स्मारक जान पड़ता है। नाथ संप्रदाय के किसी ग्रंथ में जलंधर को बालनाथ भी कहा है। नमक के पहाड़ो के बीच 'बालनाथ का टीला' बहुत दिनो तक प्रसिद्ध रहा। मत्स्येंद्र जलंधर के शिष्य थे, नाथपंथियों की यह धारणा ठीक जान पड़ती है। मीनपा के गुरु चर्पटीनाथ हो सकते है, पर मत्स्येंद्र के गुरु जलंधर ही थे। सांकृत्यायनजी ने गोरख का जो समय स्थिर किया है, वह मीनपा को राजा देवपाल का सम-सामयिक और मत्स्येंद्र का पिता मानकर। मत्स्येंद्र का मीनपा से कोई संबंध न रहने पर उक्त समय मानने का कोई आधार नहीं रह जाता और पृथ्वी-

राज के समय के आसपास ही—विशेषतः कुछ पीछे—गोरखनाथ के होने का अनुमान दृढ़ होता है।

जिस प्रकार सिद्धों की सख्या चौरासी प्रसिद्ध है उसी प्रकार नाथो की संख्या नौ। अब भी लोग नवनाथ और चौरासी सिद्ध कहते सुने जाते है। 'गोरक्ष-सिद्धांतसग्रह' में मार्गप्रवर्त्तको के ये नाम गिनाए गए है—

नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, जलधर और मलयार्जुन।

इन नामो में नागार्जुन, चर्पट और जलंधर सिद्धो की परपरा मे भी है। नागार्जुन (सं० ७०२) प्रसिद्ध रसायनी भी थे। नाथपंथ में रसायन की सिद्धि है। नाथपंथ सिद्धों की परंपरा से ही छूटकर निकला है, इसमें कोई संदेह नहीं।

इतिहास से इस बात का पता लगता है कि महमूद गजनवी के भी कुछ पहले सिंध और मुलतान मे कुछ मुसलमान बस गए थे जिनमें कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ सीखीं, इसका उल्लेख मिलता है। अतः गोरखनाथ चाहे विक्रम की १०वीं शताब्दी मे हुए हों चाहे १३वीं मे, उनका मुसलमानों से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है; क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, उन्होने अपने पंथ का प्रचार पजाब और राजपूताने की ओर किया।

इतिहास और जनश्रुति से इस बात का पता लगता है कि सूफी फकीरों और पीरो के द्वारा इसलाम को जनप्रिय बनाने का उद्योग भारत में बहुत दिनो तक चलता रहा। पृथ्वीराज के पिता के समय मे ख्वाजा मुईनुद्दीन के अजमेर आने और अपनी सिद्धि का प्रभाव दिखाने के गीत मुसलमानों में अब तक गाए जाते है। चमत्कारों पर विश्वास करनेवाली भोली-भाली जनता के बीच अपना प्रभाव फैलाने में इन पीरो और फकीरो को सिद्धों और योगियों से मुकाबला करना पड़ा जिनका प्रभाव पहले से जमा चला आ रहा था। भारतीय मुसलमानों के बीच, विशेषतः सूफियों की परपरा में, ऐसी अनेक कहानियाँ चलीं जिनमें किसी पीर ने किसी सिद्ध या योगी को करामात मे पछाड़ दिया। कई योगियों के साथ ख्वाजा मुईनुद्दीन का भी ऐसा ही करामाती दंगल कहा जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गोरखनाथ की हठयोग-साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी अतः उसमे मुसलमानो के लिये भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के लिये एक सामान्य साधना के रूप मे आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पड़ी थी। उसमे मुसलमानों को अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना की आवश्यकता न थी। अतः उन्होंने दोनों के विद्वेष-भाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकालने की सभावना समझी थी और वे उसका संस्कार अपनी शिष्य-परंपरा मे छोड़ गए थे। नाथ-संप्रदाय के सिद्धांत-ग्रंथो मे ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है, वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है, तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गए है।

१. योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः।

२. न वेदो वेद इत्याहुर्वेदा वेदो निगद्यते।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते॥
न संध्या संधिरित्याहुः संध्या संधिर्निगद्यते।
सुषुम्णा संधिमः प्राणः सा संध्या संधिरुच्यते॥

अतस्साधना के वर्णन में हृदय दर्पण कहा गया है जिसमे आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिंब पड़ता है—

३. हृदय दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयेत्।
दृश्यते प्रतिबिंबेन आत्मरूपं सुनिश्चितम्।

परमात्मा की अनिर्वचनीयता इस ढंग से बताई गई है—

शिवं न जानामि कथं वदामि। शिवं च जानामि कथं वदामि॥

इसके संबंध में सिद्ध लूहिपा भी कह गए हैं—

भाव न होइ, अभाव न होइ। अइस संबोहे को पतिआइ?

'नाद' और 'विंदु' संज्ञाएँ वज्रयानी सिद्धों में बराबर चलती रही। गोरख-सिद्धांत में उनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

नाथांशो नादो, नादांशः प्राणे; शक्त्यंशो बिन्दु, बिन्द्वोरंशः शरीरम्।

—गोरखसिद्धातसग्रह

( गोपीनाथ कविराज संपादित )

'नाद' और 'बिंदु के योग से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध और हठयोगी दोनो मानते थे।

तीर्थाटन के संबंध मे जो भाव सिद्धो का था वही हठयोगियो का भी रहा। 'चित्तशोधनप्रकरण' मे वज्रयानी सिद्ध आर्यदेव ( कर्णरीपा ) का वचन है—

प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वा शुद्धिमर्हति।
तस्माद्धर्मधिया पुंसा तीर्थस्नानं तु निष्फलम्॥
धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्तानां कृतार्थता।
नक्तं दिवं प्रविष्टाना मत्स्यादीनां तु का कथा॥

जनता के बीच इस प्रकार के भाव क्रमशः ऐसे गीतो के रूप में निर्गुणपंथी संतों द्वारा आगे भी बराबर फैलते रहे, जैसे—

गंगा के नहाए कहो को नर तरिगे, मछरी न तरी जाको पानी में घर है॥

यहाँ पर यह बात ध्यान मे रखना आवश्यक है कि ८४ सिद्धों मे बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरजी तथा और बहुत से शूद्र कहे जानेवाले लोग थे। अतः जाति-पाँति के खंडन तो वे आप ही थे। नाथ-संप्रदाय भी जब फैला तब उसमे भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियो के बहुत से लोग आए जो शास्त्रज्ञान-संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था[1]। पर अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिये शास्त्रज्ञ पंडितो और विद्वानो को फटकारना भी वे जरूरी समझते थे। सद्गुरु का माहात्म्य सिद्धों में भी और उनमें भी बहुत अधिक था।

नाथ-पंथ के जोगी कान की लौ मे बड़े बड़े छेद करके स्फटिक के भारी भारी कुंडल पहनते हैं, इससे कनफटे कहलाते है। जैसा पहले कहा जा चुका

1—The system of mystic culture introduced by Gorakh-nath does not seem to have spread widely through the educated classes.

—Saraswati Bhawan Studies
( by Gopinath Kaviraj & Jha )

है। इस पथ का प्रचार राजपूताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अतः जब मत के प्रचार के लिये इस पंथ मे भाषा के भी ग्रथ लिखे गए तब उधर की ही प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया। उन्हे मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बानियो मे अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ-पंथ के इन जोगियो ने परपरागत साहित्य की भाषा या काव्य-भाषा से, जिसका ढाँचा नागर-अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था। देशभाषा की इन पुस्तको मे पूजा, तीर्थाटन आदि के साथ साथ हज, नमाज आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार की एक पुस्तक का नाम है 'काफिरबोध'।[1]

नाथ-पंथ के उपदेशो का प्रभाव हिंदुओ के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी प्रारंभकाल मे ही पडा। बहुत से मुसलमान, निम्न श्रेणी के ही सही, नाथ-पथ मे आए। अब भी इस प्रदेश मे बहुत से मुसलमान जोगी गेरुआ वस्त्र पहने गुदड़ी की लंबी झोली लटकाए, सारंगी बजा बजाकर 'कलि मे अमर राजा भरथरी' के गीत गाते फिरते है और पूछने पर गोरखनाथ को अपना आदिगुरु बताते है। ये राजा गोपीचंद के भी गीत गाते है जो बंगाल मे चाटिगाँव के राजा थे और जिनकी माता मैनावती कही गोरख की शिष्या और कहीं जलंधर की शिष्या कही गई है।

देशभाषा मे लिखी गोरखपंथ की पुस्तकें गद्य और पद्य दोनो मे है और विक्रम संवत् १४०० के आसपास की रचनाएँ हैं। इनमे सांप्रदायिक शिक्षा है। जो पुस्तके पाई गई है उनके नाम ये है—गोरख-गणेश गोष्ठी, महादेव-गोरख संवाद, गोरखनाथ जी की सत्रह कला, गोरखबोध, दत्त-गोरख-संवाद, योगेश्वरी साखी, नरवइ बोध, विराट पुराण, गोरखसार, गोरखनाथ की बानी। ये सब ग्रंथ गोरख के नहीं, उनके अनुयायी शिष्यो के रचे हैं। गोरख के समय मे जो

१—यह, तथा इसी प्रकार की और कुछ पुस्तकें, मेरे प्रिय शिष्य डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के पास है।

भाषा लिखने-पढ़ने में व्यवहृत होती थी उसमे प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों का थोड़ा या बहुत मेल अवश्य रहता था। उपर्युक्त पुस्तको मे 'नरवइ बोध' के नाम ( नरवइ = नरपति ) मे ही अपभ्रंश का आभास है। इन पुस्तको मे अधिकतर सस्कृत ग्रंथों के अनुवाद हैं। यह बात उनकी भाषा के ढंग से ही प्रकट होती है। 'विराट् पुराण' संस्कृत के 'वैराट पुराण' का अनुवाद है। गोरखपथ के ये संस्कृत ग्रंथ पाए जाते हैं—

सिद्ध-सिद्धात-पद्धति, विवेक-मार्त्तंड, शक्ति-संगम तंत्र, निरंजन पुराण, वैराट पुराण।

हिंदी भाषा मे लिखी पुस्तके अधिकतर इन्हीं के अनुवाद या सार है। हाँ, 'साखी' और 'बानी' मे शायद कुछ रचना गोरख की हो। पद का एक नमूना देखिए—

स्वामी तुम्हइ गुर गोसाईं। अम्हे जो सिष सबद एक बूझिवा॥
निरारवे चेला कूण विधि रहै। सतगुरु होइ स पुछ्या कहै॥
अवधू रहिया हाटे बाटे रूष विरष की छाया।
तजिवा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया॥

सिद्धो और योगियो का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते है कि उनकी रचनाएँ तात्रिक विधान, योग-साधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रो और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की साप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियो और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नही आतीं। उनको उसी रूप मे ग्रहण करना चाहिए जिस रूप मे ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रथ। उनका वर्णन यहाँ केवल दो बातों के विचार से किया गया है—

( १ ) पहली बात है भाषा। सिद्धो की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषामिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिंदी की काव्य-भाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-

पढने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध मे रहने के कारण सिद्धो की भाषा में कुछ पूरबी प्रयोग भी ( जैसे, भइले, बूड़िलि ) मिले हुए है। पुरानी हिंदी की व्यापक काव्य-भाषा का ढॉचा शौरसेनी-प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली ( पच्छिमी हिंदी ) का था। वही ढाँचा हम उद्धृत रचनाओं के—

जो, सो, मारिआ, पइठो, जाअ. किज्जइ, करंत, जाव ( जब तक ), ताव ( तब तक ), भइअ, कोइ,

इत्यादि प्रयोगो मे पाते है। ये प्रयोग मागधी-प्रसूत पुरानी बॅगला के नहीं; शौरसेनी-प्रसूत पुरानी पच्छिमी हिंदी के है। सिद्ध कराहपा की रचनाओं को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो एक बात साफ झलकती है। वह यह कि उनकी उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिंदी ( काव्य-भाषा ) है, पर गीतो की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर की 'साखी' और 'रमैनी' ( गीत ) की भाषा मे पाते है। 'साखी' की भाषा तो खड़ी बोली राजस्थानी मिश्रित सामान्य 'सधुक्कड़ी' भाषा है, पर रमैनी के पदो की भाषा मे काव्य की ब्रजभाषा और कंही कहीं पूरबी बोली भी है।

'सिद्धो' मे 'सरह' सबसे पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के है। अतः हिंदी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमे विक्रम की सातवी शताब्दी के अंतिम चरण मे लगता है।

( २ ) दूसरी बात है साप्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परपरा। वज्रयानी सिद्धो ने निम्न श्रेणी की प्रायः अशिक्षित जनता के बीच किस प्रकार के भावो के लिये जगह निकाली, यह दिखाया जा चुका। उन्होने बाह्य पूजा, जाति-पॉति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया; रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानो का तिरस्कार करने और मनमाने रूपको के द्वारा अटपटी बानी मे पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद, बिंदु, सुरति, निरति' ऐसे शब्दो की उद्धरणी करना सिखाया। यही परंपरा अपने ढंग पर नाथपंथियो ने भी जारी रखी। आगे चलकर भक्तिकाल मे निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदांत के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा

वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धो और योगियो द्वारा बनाए हुए इस रास्ते पर चल पड़ा, यह आगे दिखाया जायगा। कबीर आदि संतों को नाथपंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले, उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिये बहुत कुछ सामग्री और 'सधुक्कड़ी' भाषा भी।

ये ही दो बाते दिखाने के लिये इस इतिहास मे सिद्धो और योगियो का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओ का जीवन की स्वाभाविक सरणियो, अनुभूतियो और दशाओ से कोई संबंध नही। वे साप्रदायिक शिक्षा मात्र है, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नही आ सकती। उन रचनाओ की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नही कह सकते। अतः धर्म सबंधी रचनाओ की चर्चा छोड, अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है, उसका उल्लेख उनके सग्रहकर्त्ताओ और रचयिताओ के क्रम से करते हैं।

**हेमचंद्र**—गुजरात के सोलकी राजा सिद्धराज जयसिंह (संवत् ११५०—११९९) और उनके भतीजे कुमारपाल (११९९—१२३०) के यहाँ इनका बड़ा मान था। ये अपने समय के सबसे प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होने एक बड़ा भारी व्याकरण-ग्रंथ 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' सिद्ध-राज के समय मे बनाया, जिसमें सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। अपभ्र श के उदाहरणों मे इन्होने पूरे दोहे या पद्य उद्धृत किए है, जिनमे से अधिकांश इनके समय से पहले के है। कुछ दोहे देखिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु॥

(भला हुआ जो मारा गया, हे बहिन! हमारा कात। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओ से लज्जित होती।)

जइ सो न आवइ, दूइ! घरु, काइँ अहोमुहु तुज्झु।
वयणु ज खंडइ तउ, सहि ए! सो पिउ होइ न मुज्झु॥

(हे दूती! यदि वह घर नहीं आता ते तेरा क्यो अधोमुख है? हे सखी! जो

तेरा वचन खंडित करता—श्लेष से दूसरा अर्थ; जो तेरे मुख पर चुंबन द्वारा क्षत करता है—वह मेरा प्रिय नहीं।)

जे मह्धु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसतेण।
ताण गणतिए अंगुलिउँ जज्जरियाउ नहेण॥

(जो दिन या अवधि दयित अर्थात् प्रिय ने प्रवास जाते हुए मुझे दिए थे उन्हे नख से गिनते गिनते मेरी उँगलियाँ जर्जरित हो गईं।)

पिय संगमि कउ निद्दडी? पियहो परक्खहो केंव।
मइँ बिन्निवि विन्नासिया, निद्द न एँव न तेंव॥

(प्रिय के संगम में नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी क्योंकर आवे? मैं दोनों प्रकार से विनाशिता हुई—न यों नींद न त्यों।)

अपने व्याकरण के उदाहरणों के लिये हेमचंद्र ने भट्टी के समान एक 'द्वयाश्रय काव्य' की भी रचना की है जिसके अंतर्गत "कुमारपालचरित" नामक एक प्राकृत काव्य भी है। इस काव्य मे भी अपभ्रंश के पद्य रखे गए है।

**सोमप्रभ सूरि**—ये भी एक जैन पंडित् थे। इन्होने संवत् १२४१ मे "कुमारपालप्रतिबोध" नामक एक गद्यपद्यमय संस्कृत-प्राकृत-काव्य लिखा जिसमे समय समय पर हेमचद्र द्वारा कुमारपाल को अनेक प्रकार के उपदेश दिए जाने की कथाएँ लिखी हैं। यह ग्रंथ अधिकाश प्राकृत मे ही है—बीच बीच मे सस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आए हैं। अपभ्रंश के पद्यो मे कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ सोमप्रभ और सिद्धिपाल कवि के बनाए है। प्राचीन मे से कुछ दोहे दिए जाते है—

रावण जायउ जहि दिअहि दह मुह एक सरीरु।
चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावउँ खीरु॥

(जिस दिन दस मुँह एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ तभी माता चिंतित हुई कि किसमे दूध पिलाऊँ।)

वेस बिसिट्ठह वारियइ जइवि मणोहर गत्त।
गंगाजल पक्खालियवि सुणिहि कि होइ पवित्त?

( वेश-विशिष्टों को वारिए अर्थात् बचाइए, यदि मनोहर गात्र हो तो भी। गंगाजल से धोई कुतिया क्या पवित्र हो सकती है ? )

पिय हउँ थक्किय सयलु दिणु तुह बिरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्ली करंत॥

( हे प्रिय ! मैं सारे दिन तेरी विरहाग्नि में वैसे ही कड़कड़ाती रही जैसे थोड़े जल मे मछली तलबेली करती है। )

**जैनाचार्य्य मेरुतुंग** ने संवत् १३६१ में 'प्रबंधचिंतामणि' नामक एक संस्कृत ग्रंथ 'भोज-प्रबंध' के ढंग का बनाया, जिसमें बहुत से पुराने राजाओं के आख्यान संगृहीत किए। इन्हीं आख्यानों के अंतर्गत बीच-बीच में अपभ्रंश के पद्य भी उद्धृत है जो बहुत पहले से चले आते थे। कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुंज के कहे हुए है। मुंज के दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिंदी के बहुत ही पुराने नमूने कहे जा सकते है। मुंज ने जब तैलंग देश पर चढ़ाई की थी तब वहाँ के राजा तैलप ने उसे बंदी कर लिया था और रस्सियों से बाँधकर अपने यहाँ ले गया था। वहाँ उसके साथ तैलप की बहिन मृणालवती से प्रेम हो गया। इस प्रसंग के दोहे देखिए—

झाली तुट्टी किं न मुउ, किं हुएउ छरपुंज।
हिंडइ दोरी बँधीयउ जिम मकड तिम मुंज॥

( टूट पड़ी हुई आग से क्यों न मरा ? क्षारपुंज क्यों न हो गया ? जैसे डोरी मे बँधा बंदर वैसे घूमता है मुंज। )

मुंज भणइ, मुणालवइ ? जुब्बण गयुं न भूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि॥

( मुंज कहता है, हे मृणालवति ! गए हुए यौवन को न पछता। यदि शर्करा सौ खंड हो जाय तो भी वह चूरी हुई ऐसी ही मीठी रहेगी।

जा मति पच्छइ संपजइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ, मुणालवइ ! विघन न वेढइ कोइ॥

( जो मति या बुद्धि पीछे प्राप्त होती है यदि पहले हो तो मुंज कहता है, हे मृणालवति ! विघ्न किसी को न घेरे। )

बाह बिछोडवि जिह तुहुँ, हउँ तेवइँ का दोसु।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जाणउँ मुंज सरोसु॥

( बाँह छुड़ाकर तू जाता है, मै भी वैसे ही जाती हूँ—क्या हर्ज है ? हृदयस्थित अर्थात् हृदय से यदि निकले तो मै जानूँ कि मुंज रूठा है । )

एउ जम्मु नग्गुह गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खाँ तुरियँ न माणियाँ, गोरी गली न लग्गु ॥

( यह जन्म व्यर्थ गया । न सुभटो के सिर पर खड्ग टूटा, न तेज घोड़े सजाए, न गोरी या सुंदरी के गले लगा । )

फुटकल रचनाओ के अतिरिक्त वीरगाथाओ की परंपरा के प्रमाण भी अपभ्रंश-मिली भाषा मे मिलते है ।

**विद्याधर**—इस नाम के एक कवि ने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट् ( शायद जयचंद ) के प्रताप और पराक्रम का वर्णन किसी ग्रथ मे किया था । ग्रंथ का पता नही, पर कुछ पद्य 'प्राकृत पिंगल सूत्र' मे मिलते है, जैसे—

भअ भजिअ बंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रण मुत्ति चले ।
मरहट्ठा धिट्ठा लग्गिअ कट्ठा सोरट्ठा भअ पाअ पले ॥
चंपारण कंपा पव्वअ झंपा उत्थी उत्थी जीव हरे ।
कासीसर राणा किअउ पआणा विज्जाहर भण मंतिवरे ॥

यदि विद्याधर को सम-सामयिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की १३वी शताब्दी समझा जा सकता है ।

**शार्ङ्गधर**—इनका आयुर्वेद का ग्रंथ तो प्रसिद्ध ही है । ये अच्छे कवि और सूत्रकार भी थे । इन्होंने "शार्ङ्गधर पद्धति" के नाम से एक सुभाषित-संग्रह भी बनाया है और अपना परिचय भी दिया है । रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीर देव के प्रधान सभासदो मे राघवदेव थे । उनके भोपाल, दामोदर और देवदास ये तीन पुत्र हुए । दामोदर के तीन पुत्र हुए—शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण । हम्मीरदेव संवत् १३५७ मे अलाउद्दीन की चढ़ाई मे मारे गए थे । अतः शार्ङ्गधर के ग्रंथों का समय उक्त संवत् के कुछ पीछे अर्थात् विक्रम की १४ वीं शताब्दी के अंतिम चरण मे मानना चाहिए ।

'शार्ङ्गधर-पद्धति' मे बहुत से शाबर मंत्र और भाषा चित्र-काव्य दिए है जिनमे बीच बीच मे देशभाषा के वाक्य आए है । उदाहरण के लिये श्रीमल्लदेव राजा की प्रशंसा मे कहा हुआ यह श्लोक देखिए—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः।
शत्रु पाड़ि लुटालि तोड़ हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः॥
झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे।
कंठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्॥

परपरा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने "हम्मीर रासो" नामक एक वीरगाथा काव्य की भी भाषा मे रचना की थी। यह काव्य आजकल नहीं मिलता—उसके अनुकरण पर बहुत पीछे का लिखा हुआ एक ग्रथ 'हम्मीर रासो' नाम का मिलता है। 'प्राकृत पिंगल-सूत्र' उलटते पलटते मुझे हम्मीर की चढाई, वीरता आदि के कई पद्य छंदों के उदाहरणो मे मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीर रासो' के ही है। अतः ऐसे कुछ पद्य नीचे दिए जाते है—

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छिउ मेच्छ-सरीर।
पुर जज्जल्ला मंतिवर चलिअ वीर हम्मीर॥
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥
दिगमग णह अधार आण खुरसाणुक उल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला॥

( दिल्ली मे ढोल बजाया गया, म्लेच्छों के शरीर मूर्छित हुए। आगे मंत्रिवर जज्जल को करके वीर हम्मीर चले। चरणो के भार से पृथ्वी कॉपती है। दिशाओ के मार्गो और आकाश मे अँधेरा हो गया है; धूल सूर्य्य के रथ को आच्छादित करती है। ओल मे खुरासानी ले आए। विपक्षियो को दलमल कर दबाया, दिल्ली मे ढोल बजाया। )

पिंधउ दिढ सन्नाह, बाह उप्परि पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धँसेउ साहि हम्मीर बअण लइ॥
उड्डुल णहपह भमउँ, खग्ग रिपु-सीसहि झल्लउँ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ अप्फालउँ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मह मइ जलउँ।
सुलितान-सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउँ॥

( दृढ़ सन्नाह पहने, वाहनो के ऊपर पक्खरे डाली। बंधु बाधवो से विदा लेकर रण मे धँसा हम्मीर साहि का वचन लेकर। तारो को नभपथ मे फिराऊँ, तलवार शत्रु के सिर पर जड़ूँ, पाखर से पाखर ठेल पेल कर पर्वतों को हिला डालूँ। जज्जल कहता है कि हम्मीर के कार्य्य के लिये मै क्रोध से जल रहा हूँ। सुलतान के सिर पर खड्ग देकर शरीर छोड़ मै स्वर्ग को जाऊँ। )

पअभर दरमरु धरणि तरणि-रह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ-पिट्ठ टरपरिअ, मेरु मदर सिर कंपिअ॥
कोहे चलिअ हम्मीर- वीर गअजुह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ, हा कद ! मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते॥

( चरणों के भार से पृथ्वी दलमल उठी। सूर्य्य का रथ धूल से ढक गया। कमठ की पीठ तड़फड़ा उठी, मेरु मंदर की चोटियाँ कंपित हुई। गजयूथ के साथ वीर हम्मीर क्रुद्ध होकर चले। म्लेच्छों के पुत्र हा कष्ट ! करके रो उठे और मूर्च्छित हो गए। )

अपभ्रंश की रचनाओ की परपरा यही समाप्त होती है। यद्यपि पचास साठ वर्ष पीछे विद्यापति ( संवत् १४६० मे वर्तमान ) ने बीच बीच मे देशभाषा के भी कुछ पद्य रखकर अपभ्रंश मे दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं, पर उस समय तक अपभ्रंश का स्थान देशभाषा ले चुकी थी। प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् सर जार्ज ग्रियर्सन जब विद्यापति के पदो का सग्रह कर रहे थे उस समय उन्हे पता लगा था कि 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' नाम की प्रशस्ति-संबधी दो पुस्तके भी उनकी लिखी है। पर उस समय इनमे से किसी का पता न चला। थोडे दिन हुए, महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री नैपाल गए थे। वहाँ राजकीय पुस्तकालय मे 'कीर्त्तिलता' की एक प्रति मिली जिसकी नकल उन्होने ली।

इस पुस्तक मे तिरहुत के राजा कीर्त्तिसिंह की वीरता, उदारता, गुणग्राहकता आदि का वर्णन, बीच बीच मे कुछ देशभाषा के भी पद्य रखते हुए, अपभ्रंश भाषा के दोहा, चौपाई, छप्पय, छंद, गाथा आदि छदो मे किया गया है। इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि यह पूरबी अपभ्रंश है। इसमे क्रियाओं आदि के बहुत से रूप पूरबी हैं। नमूने के लिये एक उदाहरण लीजिए—

रज्ज-लुद्ध असलान बुद्धि बिक्कम बले हारल।
पास बइसि बिसवासि राय गयनेसर मारल॥
मारंत राय रणरोल पड़ु, मेइनि हा हा सद्द हुअ।
सुरराय नयर नरअर-रमणि बाम नयन पप्फुरिअ धुअ॥

दूसरी विशेषता विद्यापति के अपभ्रंश की यह है कि वह प्रायः देशभाषा कुछ अधिक लिए हुए है और उसमे तत्सम संस्कृत शब्दों का वैसा बहिष्कार नहीं है। तात्पर्य यह है कि वह प्राकृत की रूढ़ियो से उतनी बँधी नही है। उसमे जैसे इस प्रकार का टकसाली अपभ्रंश है—

पुरिसत्तेण पुरिसउ, नहिं पुरिसउ जम्म मत्तेन।
जलदानेन हु जलओ, न हु जलओ पुंजिओ धूमो॥

वैसे ही इस प्रकार की देशभाषा या बोली भी है—

कतहुँ तुरुक बरकर। बार जाए ते बेगार धर।
धरि आनय बाभन बरुआ। मथा चढावइ गाय का चुरुआ।
हिंदू बोले दूरहि निकार। छोटउ तुरुका भभकी मार॥

अपभ्रंश की कविताओं के जो नए-पुराने नमूने अब तक दिए जा चुके है उनसे इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि काव्य-भाषा प्राकृत की रूढ़ियों से कितनी बँधी हुई चलती रही। बोलचाल तक के तत्सम संस्कृत शब्दो का पूरा बहिष्कार उसमे पाया जाता है। 'उपकार', 'नगर', 'विद्या', 'वचन' ऐसे प्रचलित शब्द भी 'उअआर', 'नअर', 'बिजा', 'बअण' बनाकर ही रखे जाते थे। 'जासु', 'तासु', ऐसे रूप बोलचाल से उठ जाने पर भी पोथियों मे बराबर चलते रहे। विशेषण विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण अपभ्रंश काल मे कृदंत विशेषणों से बहुत कुछ उठ चुका था, पर प्राकृत की परंपरा के अनुसार अपभ्रंश की कविताओं मे कृदंत विशेषणों मे मिलता है—जैसे, "जुब्बण गयुं न भूरि" = गए को यौवन को न भूर = गए यौवन को न पछता। जब ऐसे उदाहरणो के साथ हम ऐसे उदाहरण भी पाते है जिनमे विभक्तियों का ऐसा समानाधिकरण नही है तब यह निश्चय हो जाता है कि उसका सन्निवेश पुरानी परंपरा का पालन मात्र है। इस परंपरा-पालन का

निश्चय शब्दो की परीक्षा से अच्छी तरह हो जाता है। जब हम अपभ्रंश के शब्दो मे 'मिठ्ठ' और 'मीठी' दोनो रूपो का प्रयोग पाते है तब उस काल मे 'मीठी' शब्द के प्रचलित होने मे क्या सदेह हो सकता है ?

ध्यान देने पर यह बात भी लक्षित होगी कि ज्यो ज्यो काव्यभाषा देशभाषा की ओर अधिक प्रवृत्त होती गई त्यो त्यो तत्सम संस्कृत शब्द रखने मे सकोच भी घटता गया। शार्ङ्गधर के पद्यो और कीर्तिलता मे इसका प्रमाण मिलता है।

# प्रकरण ३

## देशभाषा काव्य

### वीरगाथा

पहले कहा जा चुका है कि प्राकृत की रूढ़ियो से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य---जैसे, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो---आजकल मिलते है वे संदिग्ध है। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमे सतोष करना पड़ता है।

इतना अनुमान तो किया ही जा सकता है कि प्राकृत पढ़े हुए पडित ही उस समय कविता नहीं करते थे। जन साधारण की बोली मे गीत दोहे आदि प्रचलित चले आते रहे होगे जिन्हे पंडित लोग गॅवारू समझते रहे होगे। ऐसी कविताएँ राज-सभाओ तक भी पहुँच जाती रही होगी। 'राजा भोज जस मूसरचंद' कहनेवालों के सिवा देशभाषा मे सुंदर भाव भरी कविता कहनेवाले भी अवश्य ही रहे होंगे। राजसभाओं मे सुनाए जानेवाले नीति, शृंगार आदि विषय प्रायः दोहो मे कहे जाते थे और वीररस के पद्य छप्पय मे। राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियो के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी कविताओ से वीरो को उत्साहित किया करते थे। ऐसे राजाश्रित कवियो की रचनाओं के रक्षित रहने का अधिक सुबीता था। वे राजकीय पुस्तकालयो मे भी रक्षित रहती थी और भट्ट चारण जीविका के विचार से उन्हे अपने उत्तराधिकारियो के पास भी छोड़ जाते थे। उत्तरोत्तर भट्ट चारणो की परंपरा मे चलते रहने से उनमे फेरफार भी बहुत कुछ होता रहा। इसी रक्षित परंपरा की सामग्री हमारे हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक काल में मिलती है। इसी से यह काल 'वीरगाथा-काल' कहा गया।

भारत के इतिहास मे यह वह समय था जब कि मुसलमानों के हमले उत्तर पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत

के पश्चिमी प्रांत के निवासियों को सहने पड़ते थे जहाँ हिंदुओं के बड़े-बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त साम्राज्य के ध्वंस्त होने पर हर्षवर्धन (मृत्यु-संवत् ७०४) के उपरांत भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केंद्र हो रहा था। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ उधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर की भाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण आदि उसी भाषा में रचना करते थे। प्रारंभिक काल का जो साहित्य हमें उपलब्ध है उसका आविर्भाव उसी भूभाग में हुआ। अतः यह स्वाभाविक है कि उसी भूभाग की जनता की चित्तवृत्ति की छाप उस साहित्य पर हो। हर्षवर्धन के उपरांत ही साम्राज्य-भावना देश से अंतर्हित हो गई थी और खंड खंड होकर जो गहरवार, चौहान, चंदेल और परिहार आदि राजपूत-राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे, वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिये परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकता-वश नहीं होती थी; कभी कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिये यों ही मोल ली जाती थी। बीच बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे। सारांश यह कि जिस समय से हमारे हिंदी-साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था और सब बातें पीछे पड़ गई थीं।

महमूद गजनवी (मृत्यु-संवत् १०८७) के लौटने के पीछे गजनवी सुलतानों का एक हाकिम लाहौर में रहा करता था और वहाँ से लूटमार के लिये देश के भिन्न भिन्न भागों पर, विशेषतः राजपूताने पर, चढ़ाइयाँ हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयों का वर्णन फारसी तवारीखों में नहीं मिलता, पर कहीं कहीं संस्कृत ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है। साँभर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लभराज द्वितीय मुसलमानों के साथ युद्ध करने में मारा गया था। अजमेर बसानेवाले अजयदेव ने मुसलमानों को परास्त किया था। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय में मुसलमानों की सेना फिर पुष्कर की घाटी लाँघकर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ अब आनासागर है। अर्णोराज ने उस सेना का संहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की। वहाँ म्लेच्छ मुसलमानों का रक्त गिरा था, इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर वहाँ आर्णोराज ने एक बड़ा तालाब बनवा दिया जो 'आना सागर' कहलाया।

आना के पुत्र बीसलदेव ( विग्रहराज चतुर्थ के ) समय में वर्तमान किशनगढ़ राज्य तक मुसलमानों की सेना चढ़ आई जिसे परास्त कर बीसलदेव आर्य्यावर्त्त से मुसलमानों को निकालने के लिये उत्तर की ओर बढ़ा। उसने दिल्ली और हाँसी के प्रदेश अपने राज्य में मिलाए और आर्य्यावर्त के एक बड़े भूभाग से मुसलमानों को निकाल दिया। इस बात का उल्लेख दिल्ली के अशोक-लेखवाले शिवालिक स्तभ पर खुदे हुए बीसलदेव के वि० सं० १२२० के लेख से पाया जाता है। शहाबुद्दीन गोरी की पृथ्वीराज पर पहली चढाई ( सं० १२४७ ) के पहले भी गोरियों की सेना ने नाड़ौल पर धावा किया था, पर उसे हारकर लौटना पड़ा। इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने और दिल्ली तथा अजमेर पर मुसलमानो का अधिकार हो जाने के पीछे भी बहुत दिनो तक राजपूताने आदि मे कई स्वतंत्र हिंदू राजा थे जो बराबर मुसलमानों से लड़ते रहे। इनमे सबसे प्रसिद्ध रणथंभौर के महाराज हम्मीरदेव हुए है जो महाराज पृथ्वीराज चौहान की वंश-परंपरा मे थे। वे मुसलमानो से निरंतर लड़ते रहे और उन्होंने उन्हे कई बार हराया था। सारांश यह कि पठानो के शासन-काल तक हिंदू बराबर स्वतंत्रता के लिये लड़ते रहे।

राजा भोज की सभा मे खडे होकर राजा की दानशीलता का लंबा चौडा वर्णन करके लाखों रुपए पानेवाले कवियो का समय बीत चुका था। राजदरबारों मे शास्त्रार्थों की वह धूम नहीं रह गई थी। पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रों मे जाकर वीरों के हृदय मे उत्साह की उमंगे भरा करता था, वही संमान पाता था।

इस दशा मे काव्य या साहित्य के और भिन्न भिन्न अंगों की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। उस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति संभव थी। इस वीरगाथा को हम दोनों रूपो मे पाते हैं—मुक्तक के रूप मे भी और प्रबंध के रूप मे भी। फुटकल रचनाओ का विचार छोड़कर यहाँ वीरगाथात्मक प्रबंध काव्यों का ही उल्लेख किया जाता है। जैसे, योरप मे वीरगाथाओ का प्रसंग 'युद्ध और प्रेम' रहा, वैसे ही यहाँ भी था। किसी

राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हरकर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार इन काव्यों में शृंगार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था, पर गौण रूप से, प्रधान रस वीर ही रहता था। शृंगार केवल सहायक के रूप में रहता था। जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी। जैसे शहाबुद्दीन के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के यहाँ आना ही लड़ाई की जड़ लिखी गई है। हम्मीर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का भी ऐसा ही कारण कल्पित किया गया है। इस प्रकार इन काव्यों में प्रथानुकूल कल्पित घटनाओं की बहुत अधिक योजना रहती थी।

ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबंध काव्य के साहित्यिक रूप में और वीरगीतों ( Ballads ) के रूप में। साहित्यिक प्रबंध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह है 'पृथ्वीराजरासो'। वीरगीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक 'बीसलदेव रासो' मिलती है, यद्यपि उसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों में बराबर गाई जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'आल्हा' है, जिसके गानेवाले प्रायः समस्त उत्तरीय भारत में पाए जाते हैं।

यहाँ पर वीर-काल के उन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती हैं या कहीं उल्लेख मात्र पाया जाता है। ये ग्रंथ 'रासो' कहलाते हैं। कुछ लोग इस शब्द का संबंध "रहस्य" से बतलाते हैं। पर "बीसलदेव-रासो" में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते होते 'रासो' हो गया है।

( १ ) **खुमानरासो**—संवत् ८१० और १००० के बीच में चित्तौड़ के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है कि कालभोज ( बाप्पा ) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के

इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय मे बगदाद के खलीफा अलमामूँ ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। खुम्माण की सहायता के लिये बहुत से राजा आए और चित्तौड़ की रक्षा हो गई। खुम्माण ने २४ युद्ध किए और वि० सं० ८६६ से ८९३ तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन 'दलपत विजय' नामक किसी कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है। पर इस समय खुमानरासा की जो प्रति प्राप्त है, वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। कालभोज (बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंश-परंपरा इस प्रकार है—कालभोज (बाप्पा), खुम्माण, मत्तट, भर्तृपट्ट, सिंह, खुम्माण (दूसरा), महायक, खुम्माण (तीसरा)। कालभोज का समय वि० सं० ७९१ से ८१० तक है और तीसरे खुम्माण के उत्तराधिकारी भर्तृपट्ट (दूसरे) के समय के दो शिलालेख वि० सं० ९९९ और १००० के मिले है। अतएव इन १९० वर्षों का औसत लगाने पर तीनों खुम्माणों का समय अनुमानतः इस प्रकार ठहराया जा सकता है—

खुम्माण (पहला)—वि० सं० ८१०—८३५

खुम्माण (दूसरा)—वि० सं० ८७०—९००

खुम्माण (तीसरा)—वि० सं० ९६५—९९०

अब्बासिया वंश का अलमामूँ वि० सं० ८७० से ८९० तक खलीफा रहा। इस समय के पूर्व खलीफों के सेनापतियों ने सिंध देश की विजय कर ली थी और उधर से राजपूताने पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं। अतएव यदि किसी खुम्माण से अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो वह दूसरा खुम्माण रहा होगा और उसी के नाम पर 'खुमानरासो' की रचना हुई होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है, उसमे कितना अंश पुराना है। उसमे महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है वह उसे वि० संवत् की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंहसरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य-ग्रंथ लिखा था जिसमे श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा

सकता कि दलपत-विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।

(२) बीसलदेवरासो—नरपति नाल्ह कवि विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का समकालीन था। कदाचित् यह राजकवि था। इसने "बीसलदेव-रासो" नामक एक छोटा सा (१०० पृष्ठों का) ग्रंथ लिखा है जो वीरगती के रूप मे है। ग्रंथ में निर्माण-काल यो दिया है—

> बारह सैं बहोत्तरॉ मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।
> 'नाल्ह' रसायण आरभइ। सारदा तूठो ब्रह्मकुमारि॥

'बारह सै बहोत्तर' का स्पष्ट अर्थ १२१२ है। 'बहोत्तर' शब्द 'बरहोत्तर' 'द्वादशोत्तर' का रूपातर है। अतः 'बारह सै बहोत्तराँ' का अर्थ 'द्वादशोत्तर बारह सै' अर्थात् १२१२ होगा। गणना करने पर विक्रम संवत् १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पडता है। कवि ने अपने रासो मे सर्वत्र वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है जिससे वह बीसलदेव का समकालीन जान पडता है। विग्रह-राज चतुर्थ (बीसलदेव) का समय भी १२२० के आसपास है। उसके शिला-लेख भी सवत् १२१० और १२२० के प्राप्त है। बीसलदेवरासो मे चार खड है। यह काव्य लगभग २००० चरणो मे समाप्त हुआ है। इसकी कथा का सार यो है—

खड १—मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से सॉभर के बीसलदेव का विवाह होना।

खंड २—बीसलदेव का राजमती से रूठकर उडीसा की ओर प्रस्थान करना तथा वहाँ एक वर्ष रहना।

खंड ३—राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना।

खड ४—भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना तथा बीसल-देव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड लाना।

दिए हुए सवत् के विचार से कवि अपने नायक का समसामयिक जान पड़ता है। पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की जान पड़ती है जब कि उनके सबंध में कल्पना की गुंजाइश हुई होगी। यह

घटनात्मक काव्य नही है, वर्णनात्मक है। इसमे दो ही घटनाएँ है—बीसलदेव का विवाह और उनका उड़ीसा जाना। इनमे से पहली बात तो कल्पना-प्रसूत प्रतीत होती है। बीसलदेव से सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहात हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा मे भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार-वश की रानी थी, यह बात परंपरा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी, क्योकि इसका उल्लेख पृथ्वीराजरासो मे भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक मे भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारों की उपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर कवि ने उसका केवल यह उपाधिसूचक नाम ही दिया हो, असली नाम न दिया हो। कदाचित् इन्ही मे से किसी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो। परमार-कन्या के संबंध मे कई स्थानों पर जो वाक्य आए है, उनपर ध्यान देने से यह सिद्धात पुष्ट होता है कि राजा भोज का नाम कही पीछे से न मिलाया गया हो। जैसे—"जनमी गोरी तू जेसलमेर"; "गोरडी जेसलमेर की"। आबू के परमार भी राजपूताने मे फैले हुए थे। अतः राजमती का उनमे से किसी सरदार की कन्या होना भी संभव है। पर भोज के अतिरिक्त और भी नाम इसी प्रकार जोडे हुए मिलते है; जैसे—'माघ अचारज, कवि कालिदास'।

जैसा पहले कह आए है, अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव ( विग्रहराज चतुर्थ ) बडे वीर और प्रतापी थे और उन्होंने मुसलमानो के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और कई प्रदेशो को मुसलमानो से खाली कराया था। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्हीं ने अपने राज्य मे मिलाए थे। इनके वीरचरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव-रचित "ललितविग्रहराज नाटक" (सस्कृत) मे है जिसका कुछ अश बड़ी बडी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है और राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है। पर 'नाल्ह' के इस बीसलदेवरासो मे, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृगाररस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का ( प्रोषितपतिका के वर्णन के लिये ) मनमाना वर्णन है। अतः

इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्यग्रंथ नहीं है, केवल गाने के लिये रचा गया था, तो बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

भाषा की परीक्षा करके देखते है तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। जैसे, सूकइ छै ( =सूखता है ), पाटण थीं ( =पाटन से ), भोज तणा ( =भोज का ), खंड खंडरा ( =खंड खंड का ) इत्यादि। इस ग्रंथ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि शिष्ट काव्यभाषा मे ब्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान मे भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा 'हिंदी' ही थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। बीसलदेवरासो मे बीच बीच मे बराबर इस साहित्यिक भाषा ( हिंदी ) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा मे समयानुसार बहुत कुछ फेरफार होता आया है। पर लिखित रूप मे रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिये—मेलवि = मिलाकर, जोड़कर। चितह = चित्त मे। रणि = रण मे। प्रापिजइ = प्राप्त हो, या किया जाय। ईणी विधि = इस विधि। ईसउ = ऐसा। बाल हो = बाला का। इसी प्रकार 'नयर' ( नगर ), 'पसाउ' ( प्रसाद ), 'पयोहर' ( पयोधर ) आदि प्राकृत शब्द भी है जिनका प्रयोग कविता मे अपभ्रंश-काल से लेकर पीछे तक होता रहा।

इसमें आए हुए कुछ फारसी, अरबी, तुरकी शब्दो की ओर भी ध्यान जाता है, जैसे—महल, इनाम, नेजा, ताजनो ( ताजियाना ) आदि। जैसा कहा जा चुका है, पुस्तक की भाषा मे फेरफार अवश्य हुआ है; अत ये शब्द पीछे से मिले हुए भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी। कवि के समय से पहले ही पंजाब मे मुसलमानों का प्रवेश हो गया था और वे इधर उधर जीविका के लिये फैलने लगे थे। अतः ऐसे साधारण शब्दो का प्रचार कोई आश्चर्य की बात नहीं। बीसलदेव के सरदारों में ताजुद्दीन मियाँ भी मौजूद हैं।

महल पलाण्यो ताजदीन। खुरसाणा चढि चाल्यो गौंड ॥

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप मे कही जा सकती है। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है। (राजपूताने का इतिहास, भूमिका, पृष्ठ १९)। यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है जिसके आधार पर हम भाषा और साहित्य-संबधी कई तथ्यों पर पहुँचते हैं। ध्यान देने की पहली बात है, राजपूताने के एक भाट का अपनी राजस्थानी मे हिंदी का मेल करना। जैसे, "मोती का आखा किया"। "चदन काठ को मॉड्वो"। "सोना की चोरी, मोती की माल" इत्यादि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियो के साथ साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों मे 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह 'डिंगल,' कहलाता था। हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम केवल पिंगल भाषा मे लिखे हुए ग्रंथों का ही विचार कर सकते हैं। दूसरी बात जो कि साहित्य से संबध रखती है, वीर और शृंगार का मेल है। इस ग्रथ मे शृंगार की ही प्रधानता है, वीररस का किंचित् आभास मात्र है। संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाए है।

'बीसलदेवरासो' के कुछ पद्य देखिए—

परणबा[१] चाल्यो बीसलराय। चउरास्या[२] सहु[३] लिया बोलाइ।
जान-तणी[४] साजति करउ। जीरह रँगावली पहिरज्यो टोप॥

× × × ×

हुअउ पइसारउ बीसलराव। आवी सयल[५] अँतेवरी[६] राव।
रूप अपूरब पेखियइ। इसी अस्त्री नहिं सयल संसार॥
अति रंग स्वामी सूँ मिली राति। बेटी राजा भोज की॥

× × × ×

गरब करि उभो[७] छइ साँभर‍्यो राव। मो सरीखा नहिं ऊर भुवाल॥
म्हाँ घरि[८] साँभर उग्गहइ। चिहुँ दिसि थाण जेंसलमेर॥

---

१ ब्याहने। २ सामंतों को। ३ सब। ४ यान की, बारात की। ५ सब। ६ अतःपुर। ७ खड़ा है। ८ घर में।

"गरबि न बोलो हो साँभरया-राव[1]। तो सरीखा घणा और भुवाल ॥
एक उडीसा को धणी। वचन हमारइ तू मानि जु मानि ॥
ज्यूँ थारइ साँभर उगहइ । राजा उणि वरि उगहइ हीरा-खान" ॥

× × × ×

कुँवरि कहइ "सुणि, सांभरया राव। काइँ[3] स्वामी तू उलगइ[4] जाइ ?
कहेउ हमारउ जउ सुणउ। थारइ छइ[5] साठि अंतेवरी नारि" ॥
"कडवा बोल न बोलिस नारि । तू मो मेल्हसी[6] चित्त बिसारि" ॥
जीभ न जीभ विगोयनो[7] । दव का दाधा कूपली मेल्हइ[8] ॥
जीभ का दाधा न पाँगुरइ[9]। नाल्ह कहइ सुणीजइ सब कोइ ॥

× × × ×

आव्यो राजा मास वसंत। गढ़ माहीं गूडी ऊछली[10] ॥
जइ धन मिलती अंग सँभार। मान-भग होतो बाल हो[11] ॥
ईणी परिरहता राज दुवारि ।

**(३) चंद बरदाई (संवत् १२२५—१२४६)**—ये हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते है और इनका पृथ्वीराजरासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध है। इससे इनके नाम में भावुक हिंदुओ के लिये एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजो की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर मे इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनो ने एक ही दिन यह संसार भी छोडा था। ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं उनके सखा और सामंत भी थे, तथा षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य,

---

१ स्वामी; राजा। २ तुम्हारे (यहाँ)। ३ क्यों। ४ परदेश मे। ५ तेरे हैं। ६ भुला डाला। ७ बात से बात नही छिपाई जा सकती। आग का जला कोपल छोड दे तो छोड दे। ९ जीभ का जला नही पनपता। १० आकाश-दीप जलाए गए। ११ यदि वह धन्या या स्त्री अंग सँभालकर (तुरंत) मिलती तो उस बाला का मान-भग होता। १२ (और) इसे परिरंभता (आलिंगन करता) राजा द्वार पर ही।

छंदःशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं मे पारंगत थे। इन्हे जालधरी देवी का इष्ट था जिनकी कृपा से ये अदृष्टकाव्य भी कर सकते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला जुला था कि अलग नहीं किया जा सकता। युद्ध मे, आखेट मे, सभा मे, यात्रा मे सदा महाराज के साथ रहते थे, और जहाँ जो बाते होती थी, सब मे समिलित रहते थे।

पृथ्वीराजरासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमे ६६ समय ( सर्ग या अध्याय ) है। प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदो का व्यवहार हुआ है। मुख्य छंद है, कवित्त ( छप्पय ), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे कादंबरी के संबंध मे प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है, वैसे ही रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्हण द्वारा पूर्ण किया जाना कहा जाता है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया, तब कुछ दिनो पीछे चद भी वही गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हण के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्हण के हाथ मे रासो को सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो मे है—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज।

* * *

रघुनाथचरित हनुमतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज-सुजस कवि चद कृत चंद-नद उद्धरिय तिमि॥

पृथ्वीराजरासो मे आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रियकुलो की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राजस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और आर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली क तुँवर ( तोमर ) राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं — सुंदरी और कमला। सुंदरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस सयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। अनंगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया जिससे

अजमेर और दिल्ली का राज एक हो गया। जयचद को यह बात अच्छी न लगी। उसने एक दिन राजसूय यज्ञ करके सब राजाओं को यज्ञ के भिन्न भिन्न कार्य करने के लिये निमंत्रित किया और इस यज्ञ के साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर रचा। राजसूय यज्ञ मे सब राजा आए पर पृथ्वीराज नहीं आए। इसपर जयचद ने चिढ़कर पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप मे द्वार पर रखवा दी।

संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था, अतः जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि में आई, तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही माला पहना दी। इसपर जयचद ने उसे घर से निकालकर गंगा-किनारे के एक महल मे भेज दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतो ने आकर यज्ञ-विध्वस किया। फिर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर सयोगिता से गाधर्व विवाह किया और अंत मे वे उसे हर ले गए। रास्ते मे जयचद की सेना से बहुत युद्ध हुआ, पर सयोगिता को लेकर पृथ्वीराज कुशल-पूर्वक दिल्ली पहुँच गए। वहाँ भोग विलास मे ही उनका सारा समय बीतने लगा, राज्य की रक्षा का ध्यान न रह गया।

बल का बहुत कुछ ह्रास तो जयचंद तथा और राजाओ के साथ लड़ते लड़ते हो चुका था और बड़े बड़े सामंत मारे जा चुके थे। अच्छा अवसर देख शहाबुद्दीन चढ आया, पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। वह बार बार चढ़ाई करता रहा और अंत मे पृथ्वीराज पकडकर गजनी भेज दिए गए। कुछ काल के पीछे कवि चंद भी गजनी पहुँचे। एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्दबेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गए। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के वैर का कारण यह लिखा गया है कि शहाबुद्दीन अपने यहाँ की एक सुंदरी पर आसक्त था जो एक दूसरे पठान सरदार हुसेनशाह को चाहती थी। जब ये दोनो शहाबुद्दीन से तंग हुए, तब हारकर पृथ्वीराज के पास भाग आए। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि उन दोनों को अपने यहाँ से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर दिया कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है, अतः इन दोनों की हम बराबर रक्षा करेंगे। इसी वैर से शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर चढ़ाइयाँ की। यह तो

पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र हुआ। इसके अतिरिक्त बीच बीच में बहुत से राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्ध और अनेक राज-कन्याओं के साथ विवाह की कथाएँ रासो मे भरी पडी है।

ऊपर लिखे वृत्तांत और रासो मे दिए हुए संवतो का ऐतिहासिक तथ्यो के साथ बिल्कुल मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराजरासो के पृथ्वीराज के सामयिक किसी कवि की रचना होने में पूरा संदेह किया है और उसे १६वीं शताब्दी मे लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। रासो मे चंगेज, तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम आने से यह सदेह और भी पुष्ट होता है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर पडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा रासो में वर्णित घटनाओं तथा संवतो को बिल्कुल भाटो की कल्पना मानते है। पृथ्वीराज की राजसभा के काश्मीरी कवि जयानक ने संस्कृत मे 'पृथ्वीराज-विजय' नामक एक काव्य लिखा है जो पूरा नही मिला है। उसमे दिए हुए संवत तथा घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती है। उसमे पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रथ अत्यंत प्रामाणिक और समसामयिक रचना है। उसके तथा 'हम्मीर-महाकाव्य' आदि कई प्रामाणिक ग्रंथो के अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह होना और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना और उनके पक्ष मे लड़ना, सयोगिता-हरण इत्यादि बाते असगत सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्निकुलों की उत्पत्ति की कथा भी शिलालेखों की जाँच करने पर कल्पित ठहरती है; क्योकि इनमे से सोलंकी चौहान आदि कई कुलों के प्राचीन राजाओं के शिलालेख मिले है जिनमें वे सूर्यवंशी, चद्रवंशी आदि कहे गए है, अग्निकुल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल सवत् १११५ मे, दिल्ली गोद जाना ११२२ मे, कन्नौज जाना ११५१ में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ मे लिखा है। पर शिलालेखों और दानपत्रों मे जो सवत् मिलते है, उनके

अनुसार रासो में दिए हुए संवत् ठीक नहीं है। अब तक ऐसे दानपत्र या शिलालेख जिनमे पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव ( महोबे के राजा परमाल ) के नाम आए है, इस प्रकार मिले हैं—

पृथ्वीराज के ४. जिनके संवत् १२२४ और १२४४ के बीच में है। जयचद के १२, जिनके सवत् १२२४ और १२४३ के बीच मे है। परमर्दिदेव के ६, जिनके संवत् १२२३ और १२५८ के बीच में है। इनमे से एक संवत् १२३९ का है जिसमे पृथ्वीराज और परमर्दिदेव ( राजा परमाल ) के युद्ध का वर्णन है।

इन संवतो से पृथ्वीराज का जो समय निश्चत होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखो से भी हो जाती है। फारसी इतिहासो के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध ५८७ हिजरी ( वि० सं० १२४८—ई० सन् ११९१ ) मे हुआ। अतः इन संवतो के ठीक होने में किसी प्रकार का सदेह नही।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पड्या ने रासो के पक्षसमर्थन मे इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब सवतो मे, यथार्थ संवतों से ९०-९१ वष का अंतर एक नियम से पड़ता है। उन्होंने यह विचार उपस्थित किया कि यह अंतर भूल नहीं है, बल्कि किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिए हुए उन्होंने रासो के इस दोहे को पकडा—

> एकादस सै पंचदह विक्रंम साक अनद।
> तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

और "विक्रम साक अनद" का अर्थ किया—अ=शून्य और नंद=९ अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत्। अब क्यो ये ९० वर्ष घटाए गए, इसका वे कोई उपयुक्त कारण नही बता सके। नंदवशी शूद्र थे, इसलिये उनका राजत्वकाल राजपूत्र भाटो ने निकाल दिया, इस प्रकार की विलक्षण कल्पना करके वे रह गए। पर इन कल्पनाओ से किसी प्रकार समाधान नहीं होता। आज तक और कहीं प्रचलित सवत् में से कुछ काल निकालकर सवत् लिखने की प्रथा नहीं पाई गई। फिर यह भी विचारणीय है कि जिस किसी ने प्रचलित विक्रम सवत् मे से ९०-९१ वर्ष निकालकर पृथ्वीराजरासो मे संवत् दिए है, उसने

क्या ऐसा जान-बूझकर किया है अथवा धोखे से या भ्रम में पड़कर। ऊपर जो दोहा उद्धृत किया गया है, उसमें 'अनंद' के स्थान पर कुछ लोग 'अनिंद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इसी रासो में एक दोहा यह भी मिलता है—

एकदास सै पचदह विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथिराज कौ लष्यौ विप्र गुन गुत्त॥

इससे भी नौ के गुप्त करने का अर्थ निकाला गया है; पर कितने में से नौ कम करने से यह तीसरा शक बनता है, यह नहीं कहा है दूसरी बात यह कि 'गुन गुत्त' ब्राह्मण का नाम ( गुण गुप्त ) प्रतीत होता है।

बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी हैं उनके लिये क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्य-ग्रंथ है। पर काव्य-ग्रंथों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराज-विजय भी तो काव्य-ग्रंथ ही है; फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक ठीक हैं? इस संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रंथ वास्तव में जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर उधर कुछ पद्य चंद के भी बिखरे हों, पर उनका पता लगना असंभव है। यदि यह ग्रंथ किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े से अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ संवत तो ठीक होते।

रहा यह प्रश्न कि पृथ्वीराज की सभा में चंद नाम का कोई कवि था या नहीं। पृथ्वीराज-विजय के कर्ता जयानक ने पृथ्वीराज के मुख्य भाट या बंदिराज का नाम "पृथ्वी भट्ट" लिखा है, चंद का उसने कहीं नाम नहीं लिया है— पृथ्वीराज-विजय के पाँचवें सर्ग में यह श्लोक आया है—

तनयश्चंद्रराजस्य चंद्रराज इवाभवत्
संग्रह यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्याधात्॥

इसमें यमक के द्वारा जिस चंद्रराज कवि का संकेत है वह रायबहादुर श्रीयुत पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार 'चंद्रक' कवि है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र ने भी किया है। इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि 'चंद बरदाई' नाम का यदि कोई कवि था तो वह या तो पृथ्वीराज की सभा में न रहा

होगा या जयानक के काश्मीर लौट जाने पर आया होगा। अधिक संभव यह जान पडता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनो मे से किसी के वशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन मे कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित "भट्ट-भणत" तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर "रासो" नाम की यह बडी इमारत खडी की गई हो।

भाषा की कसौटी पर यदि ग्रथ को कसते है तो और भी निराश होना पड़ता है क्योकि वह बिल्कुल बे-ठिकाने है—उसमे व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहो की और कुछ कुछ कवित्तो (छप्पयो) की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदो मे तो कहीं कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नकल की हो। कही कही तो भाषा आधुनिक साँचे मे ढली सी दिखाई पडती है, क्रियाएँ नए रूपो में मिलती है। पर साथ ही कही कही भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप मे भी पाई जाती है जिसमे प्राकृत और अपभ्र श शब्दो के रूप और विभक्तियों के चिन्ह पुराने ढंग के है। इस दशा मे भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने १९०९ से १९१३ तक राजपूताने मे प्राचीन ऐतिहासिक काव्यो की खोज मे तीन यात्राएँ की थीं। उनका विवरण बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने छापा है। उस विवरण में 'पृथ्वीराजरासो' के विषय में बहुत कुछ लिखा है और कहा गया है कि कोई कोई तो चंद के पूर्वपुरुषो को मगध से आया हुआ बताते है, पर पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि चंद का जन्म लाहौर मे हुआ था। कहते है कि चाद पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय मे राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे से पृथ्वीराज का मंत्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत सी भूमि चंद को दी थी। शास्त्रीजी का कहना है कि नागौर मे अब तक चंद को वशज रहते हैं। इसी वंश के वर्तमान प्रतिनिधि

नानूराम भाट से शास्त्रीजी की भेंट हुई। उनसे उन्हें चंद का वंशवृक्ष प्राप्त हुआ जो इस प्रकार है—

कर्णचंद
गुणगंगचंद
मोहनचंद
जगन्नाथ
रामेश्वर
गंगाधर
भगवानसिंह
कर्मसिंह
माथुरसिंह
वालगोविंदसिंह
मानसिंह
विजयसिंह
आनंदरायजी
आसोजी
गुमानजी
कर्णीदान
जैथमलजी
वीरचंदजी
घमंडीरामजी
बुधजी
वृद्धिचंदजी
नानूराम
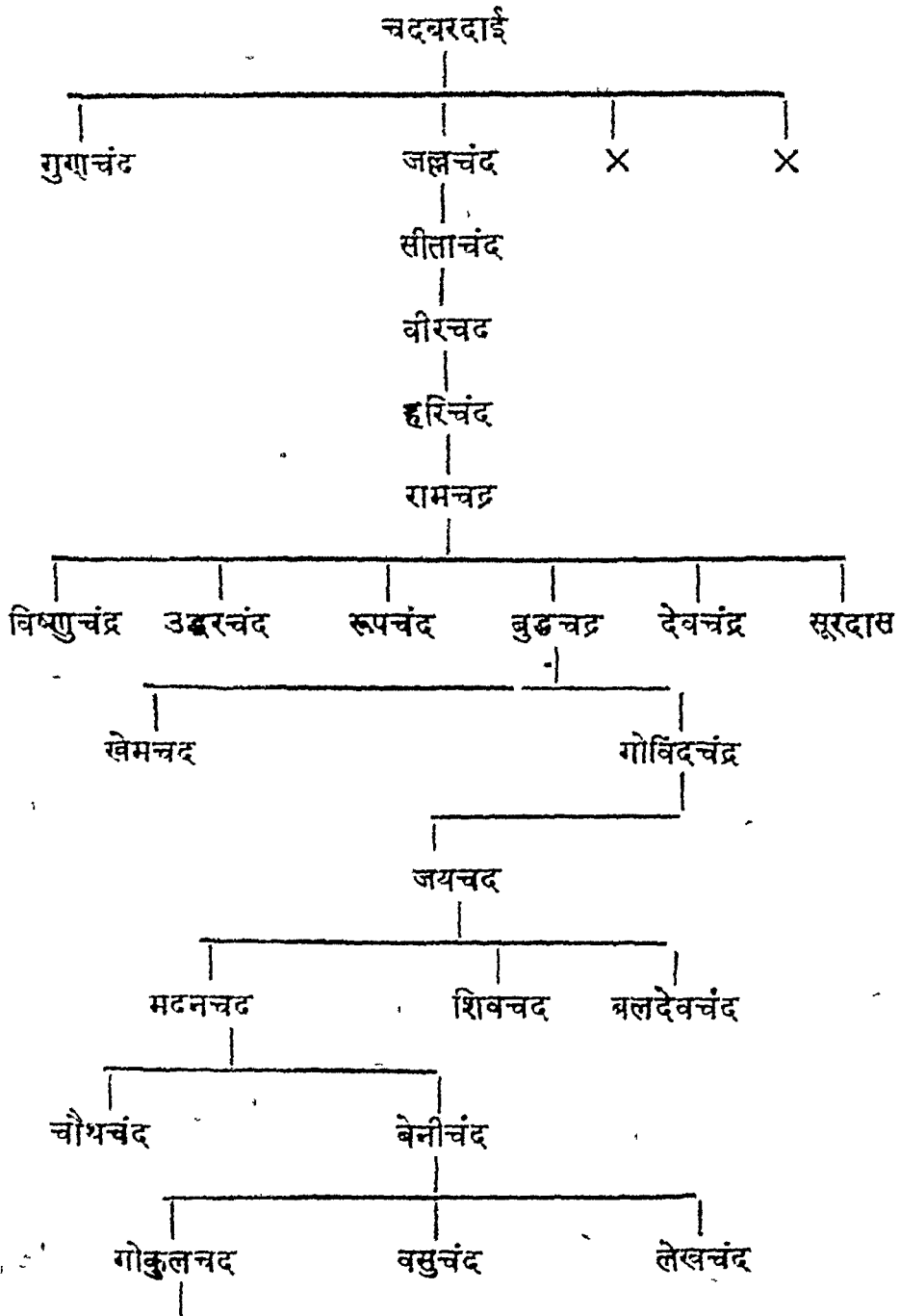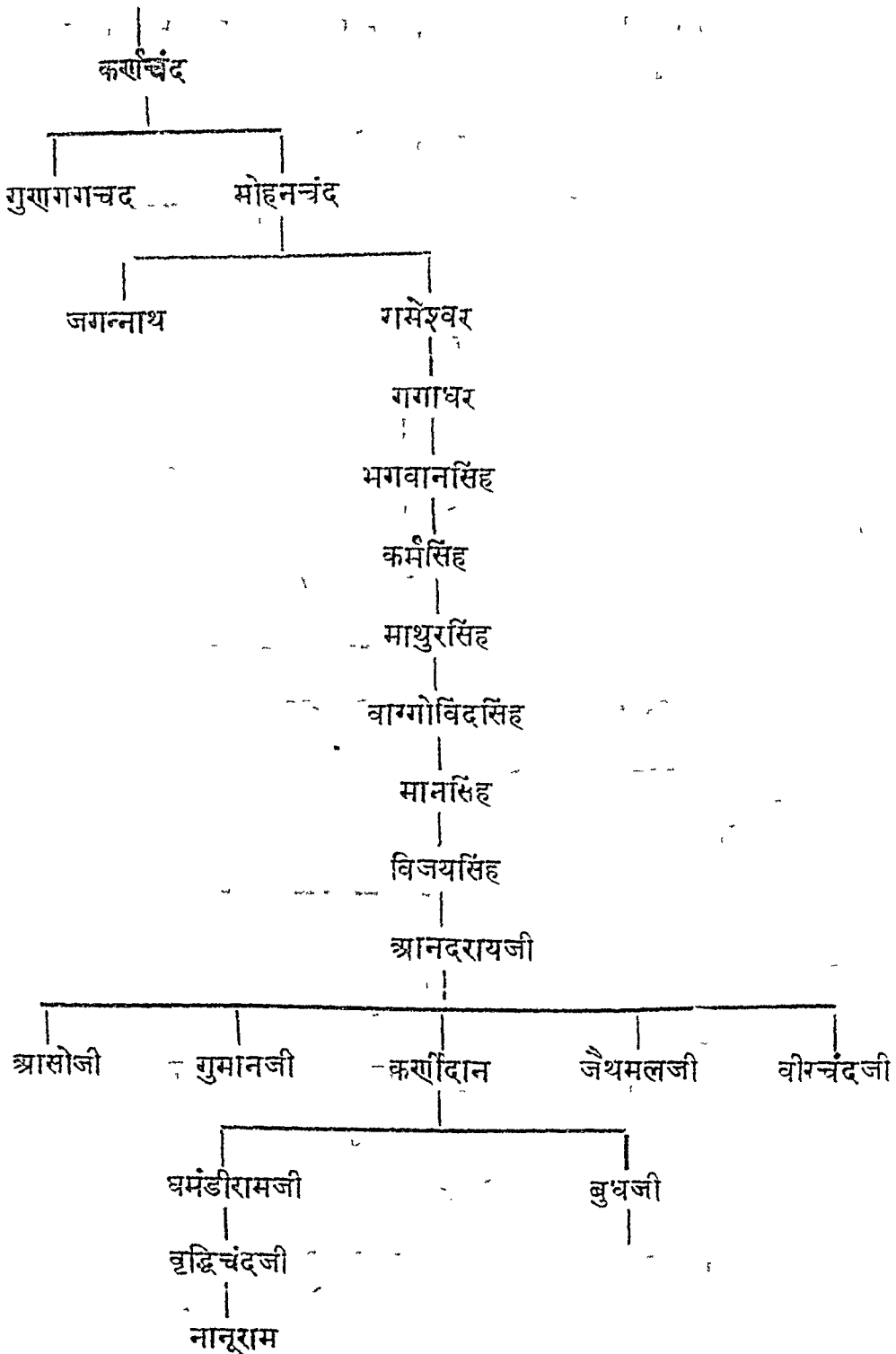
नानूराम का कहना है कि चंद के चार लड़के थे जिनमे से एक मुसलमान हो गया। दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अभोर मे जा बसे और चौथे जल्ल का वंश नागौर मे चला। पृथ्वीराजरासो मे चद के लड़को का उल्लेख इस प्रकार है—

दहति पुत्र कविचद के सुंदर रूप सुजान।
इक जल्ह गुन बावरो गुन-समुंद ससभान।

पृथ्वीराजरासो म कवि चंद के दसों पुत्रों के नाम दिए है। 'सूरदास' की साहित्यलहरी की टीका में एक पद ऐसा आया है जिसमे सूर की वंशावली दी है। वह पद यह है—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ तें भे प्रगट अद्भुत रूप। ब्रह्मराव विचार ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय। कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायँन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन। तासु वंस प्रसस मैं भौ चद चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हे ज्वाला देस। तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचद ता सुत सीलचंद सरूप। वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रंथभौर हमीर भूपति सँगत खेलत जाय। तासु वस अनूप भौ हरिचंद अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत वीर। पुत्र जनमे सात ताके महा भट गंभीर।
कृष्णचंद उदारचंद जु रूपचद सुभाइ। बुद्धिचंद प्रकाश चौथे चद भे सुखदाइ॥
देवचंद प्रबोध ससृतचद ताको नाम। भयो सप्तो दाम सूरजचद मंद निकाम॥

इन दोनों वंशावलियों के मिलाने पर मुख्य भेद यह प्रकट होता है कि नानूराम ने जिनको जल्लचंद की वंश-परंपरा में बताया है, उक्त पद में उन्हे गुणचंद की परंपरा मे कहा है। बाकी नाम प्रायः मिलते है।

नानूराम का कहना है कि चंद ने तीन या चार हजार श्लोक-संख्या मे अपना काव्य लिखा था। उसके पीछे उनके लड़के ने अंतिम दस समयों को लिखकर उस ग्रंथ को पूरा किया। पीछे से और लोग उसमे अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड़ तोड़ करते रहे। अंत मे अकबर के समय में इसने एक प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रंथ को सुना था। उसके इस प्रकार उत्साह-प्रदर्शन पर, कहते हैं कि उस समय रासो नामक अनेक ग्रंथों की रचना की गई। नानूराम का कहना है कि असली पृथ्वीराजरासो

केदार ने 'जयचंद-प्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था जिसमें महाराज जयचद के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था[१]। इसी प्रकार का 'जयमयंक-जसचद्रिका' नामक एक बड़ा ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ाँ री ख्यात' मे मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भाडार मे सुरक्षित है। इस ख्यात मे लिखा है कि दयालदास ने आदि से लेकर कन्नौज तक का वृत्तात इन्हीं दोनो ग्रथों के आधार पर लिखा है।

इतिहासज्ञ इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ मे उत्तर भारत के दो प्रधान साम्राज्य थे। एक तो था गहरवारो ( राठौरो ) का विशाल साम्राज्य, जिसकी राजधानी कन्नौज थी और जिसके अंतर्गत प्रायः सारा मध्य देश, काशी से कन्नौज तक, था। दूसरा चौहानो का, जिसकी राजधानी दिल्ली थी और जिसके अंतर्गत दिल्ली से अजमेर तक का पश्चिमी प्रांत था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनो मे गहरवारो का साम्राज्य अधिक विस्तृत, धन-धान्य-संपन्न और देश के प्रधान भाग पर था। गहरवारो की दो राजधानियाँ थी—कन्नौज और काशी। इसी से कन्नौज के गहरवार राजा काशिराज कहलाते थे। जिस प्रकार पृथ्वीराज का प्रभाव राजपूताने के राजाओ पर था उसी प्रकार जयचंद का प्रभाव बुंदेलखंड के राजाओ पर था। कालिंजर या महोबे के चंदेल राजा परमर्दिदेव ( परमाल ) जयचंद के मित्र या सामंत थे जिसके कारण पृथ्वीराज ने उन

---

१—भट्ट-भणत-पर यदि विश्वास किया जाय तो केदार महाराज जयचद के कवि नहीं, सुलतान शहाबुद्दीन गोरी के कविराज थे। 'शिवसिंहसरोज' मे भाटों की उत्पत्ति के सबंध मे यह विलक्षण कवित्त उद्धृत है—

> प्रथम विधाता ते प्रगट भए बंदीजन, पुनि पृथुजज्ञ तें प्रकास सरसात है।
> माने सूत सौनक न, बाँचत पुरान रहे, जेस को बखाने महासुख सरसात है।
> चंद चौहान के, केदार गोरी साह जू के, गंग अकबर के बखाने गुनगात है।
> काव्य कैसे माँस अजनास धन भाँटन को, लूटि धरे ताको खुरा-खोज मिटि जात है।

पर चढ़ाई की थी। चंदेल कन्नौज के पक्ष मे दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज से बराबर लड़ते रहे।

(६) जगनिक (सं० १२३०)—ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो देशप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर चरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप मे लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतो का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत मे—विशेषतः उन सब प्रदेशों मे जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे—हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिंदी भाषा-भाषी प्रांतो के गाँव गाँव मे सुनाई पड़ते है। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात मे गाए जाते हैं। गाँवो मे जाकर देखिए तो मेघ-गर्जन के बीच में किसी 'अल्हैत' के ढोल के गभीर घोष के साथ यह वीरहुंकार सुनाई देगी—

बारह बरिस लै कूकर जीऐं, औ तेरह लै जिऐं सियार।
बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन के धिक्कार।

इस प्रकार साहित्यक रूप में न रहने पर भी जनता के कठ मे जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ काल-यात्रा मे उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्तन नहीं हुआ है, वस्तु मे भी अधिक परिवर्तन होता आया है। बहुत से नए अस्त्रों (जैसे, बंदूक, किरिच), देशो और जातियों (जैसे, फिरंगी) के नाम संमिलित हो गए है और बराबर होते जाते हैं। यदि यह ग्रथ सहित्यिक प्रबंधपद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों मे इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिये ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नही बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नही। आल्हा का प्रचार यों तो सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका केंद्र माना जाता है; वहाँ इसके गानेवाले

की प्रति मेरे पास है। पर उन्होंने महोबा समय की जो नकल महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री को दी थी वह और भी ऊटपटाँग और रद्दी है।

पृथ्वीराजरासो के 'पद्मावती समय' के कुछ पद्य नमूने के लिये दिए जाते हैं—

हिंदुवान-थान उत्तम सुदेस। तहँ उदित द्रुग्ग दिल्ली सुदेस।
संभरि-नरेस चहुआन थान। प्रथिराज तहाँ राजंत भान।
संभरि नरेस सोमेस पूत। देवत्त रूप अवतार धूत[1]॥
जिहि पकरि साह साहब लीन। तिहुँ बेर करिय पानीप-हीन॥
सिंगिनि-सुसद्द गुनि चढ़ि जँजीर। चुक्कइ न सबद बेधत तीर[2]॥

---

मनहुँ कला ससभान[3] कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय[4]॥
बिगसि कमल स्रिग, भमर, बेनु, खंजन मृग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब मोति नखसिख अहिघुट्टिय[5]॥

*           *           *

कुट्टिल केस सुदेस पोह परिचियत पिक्क सद[6]।
कमल-गंध बयसंध, हंसगति चलत मंद मंद॥
सेत वस्त्र सोहै सरीर नष स्वाति-बूँद जस।
भमर भवहिं भुल्लहि सुभाव मकरंद बास रस॥

---

प्रिय प्रिथिराज नरेस जोग लिषि कग्गर[7] दिन्नौ।
लगन बरग रचि सरब दिन्न द्वादस ससि लिन्नौ॥
सै ग्यारह अरु तीस साष संबत परमानह।
जो पित्री-कुल सुद्ध बरन, बरि रक्खहु प्रानह॥

---

१ धृत, धारण किया। २ (शब्दबेधी बाण चलाने का उल्लेख) सिंगी बाजे का शब्द सुनकर या अंदाज कर डोरी पर चढ़ा उसका तीर उस शब्द को बेधते हुए (बेधने में) नहीं चूकता था। ३ चंद्रमा। ४ उसी के पास से मानो अमृतरस पिया। ५ अभिघटित किया। बनाया। ६ पोहे हुए अच्छे मोती दिखाई पड़ते हैं। ७ कागज।

दिक्खंत दिट्ठि उच्चरिय[१] वर, इक पलक्क विलँब न करिय।
अलगार[२], रयनि दिन पंच महि[३] ज्यों रुकमिनि कन्हर वरिय॥

* * * *

संगह सखिय लिय सहस बाल। रुकमिनिय जेम[४] लज्जत मराल।
पूज़ियइ गउरि संकर मनाय। दच्छिनइ[५] अग करि लगिय पाय॥
फिरि देषि देषि प्रिथिराज राज। हँसि मुद्ध मुद्ध चर पट्ट लाज[६]॥

---

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहों दिस।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढत तेग मनवेग लगत मनो बीजु झट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिक गगन, रँगन मगन भइ शोन धर।
हदि[७] हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ[८] रंग नव रत्त[९] वर।

* * * *

षुरासान मुलतान खंधार मीरं। बलष स्यो[१०] बलं तेग अच्चूक तीरं॥
रुहगी फिरगी हलब्बी सुमानी। ठटी ठट्ट भल्लोच ढाल निसानी॥
मजारी-चषी[११], मुक्ख जबुक्क लारी[१२]। हजारी हजारी हुँके[१३] जोध भारी॥

---

**(४-५) भट्ट केदार, मधुकर कवि (संवत् १२२४-१२४३)**—जिस प्रकार चंदबरदाई ने महाराज पृथ्वीराज को कीर्त्तिमान् किया है उसी प्रकार भट्ट केदार ने कन्नौज के सम्राट् जयचंद का गुण गाया है। रासो मे चंद और भट्ट केदार के संवाद का एक स्थान पर उल्लेख भी है। भट्ट

१ चल दीजिए। २ अलग ही अलग। दूसरी ओर से। ३ मध्ये, मधि, में। ४ जिमि, ज्यों। ५ प्रदक्षिणा। ६ हँसकर उस मोहित मुग्धा ने लज्जा से (मुँह पर का) पट चला दिया अर्थात् सरका लिया। ७ हृदय में। ८ फुरयो, स्फुरित हुआ। ९ रक्त। १० साथ। ११ बिल्ली की सी आँख वाले। १२ मुँह गीदड और लोमडी के से। १३ हुंकार करते।

बहुत अधिक मिलते हैं। बुंदेलखंड में—विशेषतः महोबे के आसपास—भी इसका चलन बहुत है।

इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हा-खंड' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हा-संबंधी ये वीर-गीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खंड के अंतर्गत थे जो चंदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामंत थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्ह खंड' के नाम से छपा है। फर्रुखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने पहले पहल इन गीतों का संग्रह करके ६०–७० वर्ष पूर्व छपवाया था।

( ७ ) श्रीधर—इन्होंने संवत् १४५४ में 'रणमल्ल छंद' नामक एक काव्य रचा जिसमें ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की उस विजय का वर्णन है जो उसने पाटन के सूबेदार जफर खाँ पर प्राप्त की थी। एक पद्य नीचे दिया जाता है—

ढमढमइ ढमढमकार ढकर ढोल ढोली जंगिया।
सुर करहि रण-सहणाइ समुहरि सरस रसि समरंगिया॥
कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कायर थरहरइ।
संचरइ शक सुरताण साहण साहसी सबि सगरइ॥

# प्रकरण ४

## फुटकल रचनाएँ

वीरगाथाकाल के समाप्त होते होते हमे जनता की बहुत कुछ असली बोल-चाल और उसके बीच कहे सुने जानेवाले पद्यों की भाषा के बहुत कुछ असली रूप का पता चलता है। पता देनेवाले हैं दिल्ली के खुसरो मियाँ और तिरहुत के विद्यापति। इनके पहले की जो कुछ संदिग्ध असंदिग्ध सामग्री मिलती है उस पर प्राकृत की रूढ़ियों का थोड़ा या बहुत प्रभाव अवश्य पाया जाता है। लिखित साहित्य के रूप मे ठीक बोल चाल की भाषा या जनसाधारण के बीच कहे सुने जानेवाले गीत पद्य आदि रक्षित रखने की ओर मानो किसी का ध्यान ही नहीं था। जैसे पुराना चावल ही बड़े आदमियो के खाने योग्य समझा जाता है वैसे ही अपने समय से कुछ पुरानी पडी हुई, परंपरा के गौरव से युक्त, भाषा ही पुस्तक रचनेवालो के व्यवहार योग्य समझी जाती थी। पश्चिम की बोलचाल, गीत, मुख-प्रचलित पद्य आदि का नमूना जिस प्रकार हम खुसरो की कृति मे पाते है उसी प्रकार बहुत पूरब का नमूना विद्यापति की पदावली मे। उसके पीछे फिर भक्ति काल के कवियों ने प्रचलित देश-भाषा और साहित्य के बीच पूरा-पूरा सामजस्य घटित कर दिया।

( ७ ) खुसरो—पृथ्वीराज की मृत्यु ( सवत् १२४६ ) के ६० वर्ष पीछे खुसरो ने सवत् १३४० के आस पास रचना आरभ की। इन्होने गयासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह तक कई पठान बादशाहो का जमाना देखा था। ये फारसी के बहुत अच्छे ग्रंथकार और अपने समय के नामी कवि थे। इनकी मृत्यु संवत् १३८१ मे हुई। ये बड़े ही विनोदी, मिलनसार, और सहृदय थे, इसी से जनता की सब बातों मे पूरा योग देना चाहते थे। जिस ढग के दोहे, तुकबंदियाँ और पहेलियाँ आदि साधारण जनता की बोलचाल मे इन्हे प्रचलित मिलीं उसी ढंग के पद्य पहेलियाँ आदि कहने की

उत्कंठा इन्हे भी हुई। इनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमे उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता थी; यद्यपि कुछ रसीले गीत और दोहे भी इन्होंने कहे है।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्य-भाषा' का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी व्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था। अतः जिन पच्छिमी प्रदेशो की बोलचाल खड़ी होती थी, उनमें जनता के बीच प्रचलित पद्यो, तुकबंदियों आदि की भाषा व्रजभाषा की ओर झुकी हुई रहती थी। अब भी यह बात पाई जाती है। इसी से खुसरो की हिंदी-रचनाओं मे भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल पहेलियों, मुकरियो और दोसखुनों मे ही मिलती है—यद्यपि उनमे भी कहीं कही व्रजभाषा की झलक है। पर गीतो और दोहों की भाषा व्रज या मुख-प्रचलित काव्यभाषा ही है। यही व्रजभाषापन देख उर्दू साहित्य के इतिहास-लेखक प्रो० आजाद को यह भ्रम हुआ था कि व्रजभाषा से खड़ी बोली (अर्थात् उसका अरबी-फारसी-ग्रस्त रूप उर्दू) निकल पड़ी[१]।

खुसरो के नाम पर संगृहीत पहेलियों मे कुछ प्रक्षिप्त और पीछे की जोडी पहेलियाँ भी मिल गई है, इसमे संदेह नही। उदाहरण के लिये हुक्केवाली पहेली लीजिए। इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि तंबाकू का प्रचार हिंदुस्तान मे जहाँगीर के समय से हुआ। उसकी पहली गोदाम अँगरेजों की सूरतवाली कोठी थी जिससे तंबाकू का एक नाम ही 'सूरती' या 'सुरती' पड़ गया। इसी प्रकार भाषा के संबंध से भी संदेह किया जा सकता है कि वह दीर्घ मुख-परंपरा के बीच कुछ बदल गई होगी, उसका पुरानापन कुछ निकल गया होगा। किसी अंश तक यह बात हो सकती है, पर साथ ही यह भी निश्चित है कि उसका ढाँचा कवियों और चारणों द्वारा व्यवहृत प्राकृत की रूढ़ियों से जकड़ी काव्य-भाषा से भिन्न था। प्रश्न यह उठता है कि क्या उस समय तक भाषा घिसकर इतनी चिकनी हो गई थी जितनी पहेलियों में मिलती है।

१—देखिए मेरे 'बुद्धचरित' काव्य की भूमिका में "काव्यभाषा" पर मेरा प्रबंध, जिसमे उसके स्वरूप का निर्णय किया गया है तथा व्रज, अवधी और खड़ी बोली के भेद और प्रवृत्तियाँ निरूपित की गई हैं।

खुसरो के प्रायः दो सौ वर्ष पीछे की लिखी जो कबीर की बानी की हस्त-लिखित प्रति मिली है उसकी भाषा कुछ पंजाबी लिए राजस्थानी है, पर इसमे पुराने नमूने अधिक हैं—जैसे, सप्तमी विभक्ति के रूप मे इ ( घरि=घर मे ) 'चला' 'समाया' के स्थान पर 'चलिया' 'चल्या' 'समाइया'। 'उनई आई' के स्थान पर 'उनमिवि आई' ( झुक आई ) इत्यादि। यह बात कुछ उलझन की अवश्य है पर विचार करने पर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि खुसरो के समय में 'इट्ठ', 'बसिट्ठ' आदि रूप 'ईठ' (इष्ट, इट्ठ, ईठ), बसीठ (विसृष्ट,बिसिट्ठ, बसिट्ठ, बसीठ ) हो गए थे। अतः पुराने प्रत्यय आदि भी बोलचाल से बहुत कुछ उठ गए थे। यदि 'चलिया' 'मारिया', आदि पुराने रूप रखें तो पहेलियो के छद टूट जायँगे, अतः यही धारणा होती है कि खुसरो के समय मे बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिसकर बहुत कुछ उसी रूप मे आ गई थी जिस रूप मे खुसरो मे मिलती है। कबीर की अपेक्षा खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक था; उसी प्रकार जैसे अँगरेजों का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक रहता है। खुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था। पर कबीर धर्मोपदेशक थे, अतः उनकी बानी पोथियों की भाषा का सहारा कुछ न कुछ खुसरो की अपेक्षा अधिक लिए हुए है।

नीचे खुसरो की कुछ पहेलियाँ, दोहे और गीत दिए जाते हैं—

एक थाल मोती से **भरा**। सबके सिर पर औंधा **धरा**॥
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती **उससे** एक न गिरे॥
( आकाश )

एक नार ने अचरज **किया**। साँप मारि पिंजड़े में **दिया**॥
जों जों साप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए॥
( दीया बत्ती )

एक नार दो को ले **बैठी**। टेढी **होके** बिल में **पैठी**॥
**जिसके** बैठे उसे सुहाय। खुसरो **उसके** बल-बल जाय॥
( पायजामा )

अरथ तो **इसका बूझेगा**। मुँह देखो तो **सूझेगा**॥
( दर्पण )

ऊपर के मोटे टाइप के शब्दों मे खड़ी बोली का कितना निखरा हुआ रूप है ! अब इनके स्थान पर ब्रजभाषा के रूप देखिए—

चूक भई कुछ वासो ऐसी। देश छोड़ भयो परदेसी ॥

---

एक नार पिया को भानी। तन वाको सगरा ज्यों पानी ॥

---

चाम मास वाको नहिं नेक। हाड हाड में वाके छेद ॥
मोहिं अचंभो आवत ऐसे। वामे जीव बसत हैं कैसे ॥

अब नीचे के दोहे और गीत बिल्कुल ब्रजभाषा अर्थात् मुख-प्रचलित काव्यभाषा मे देखिए—

उज्जल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान। देखत मे तो साधु है, निपट पाप की खान।
खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग। तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एकरंग ॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस। चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ॥

---

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल। कैसे गर दीनी बकस मोरी माल ॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा-अगिन मोहि डस डस जाय।

---

हजरत निजामदीन चिस्ती जरजरी बख्श पीर।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं,
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर ॥

---

जे हाल मिसकीं मकुन तगाफुल दुराय नैना, बनाय बतियाँ।
कि तावे हिज्राँ न दारम, ऐ जाँ ! न लेहु काहे लगाय छतियाँ ॥
शबाने हिज्राँ दराज चूँ जुल्फ व रोजे वसलत चूँ उम्र कोतह।
सखी ! पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ! ॥

---

(८) विद्यापति—अपभ्रंश के अंतर्गत इनका उल्लेख हो चुका है[1]। पर जिसकी रचना के कारण ये 'मैथिलकोकिल' कहलाए वह इनकी पदावली है। इन्होंने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा का व्यवहार किया है। विद्यापति को वंगभाषा वाले अपनी ओर खींचते है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी बिहारी और मैथिली को 'मागधी' से निकली होने के कारण हिंदी से अलग माना है। पर केवल भाषाशास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (Vocabulary) पर अवलंबित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिंदी का एक ही साहित्य माना जाता।

खड़ी बोली, बाँगड़ू, व्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि मे रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिंदी के अतर्गत मानी जाती है। इनके बोलनेवाले एक दूसरे की बोली समझते है। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों मे 'आयल-आइल', गयल-गइल', 'हमरा-तोहरा' आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिंदी के सिवाय दूसरी नही कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिंदी-साहित्य "बीसलदेवरासो" पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यपति की पदावली पर भी।

विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमे नायिका और नायक राधा-कृष्ण है। इन पदों की रचना जयदेव के गीतकाव्य के अनुकरण पर ही शायद की गई हो। इनका माधुर्य्य अद्भुत है। विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप मे नहीं। विद्यापति को कृष्णभक्तों की परंपरा में न समझना चाहिए।

आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हे चढ़ाकर जैसे कुछ लोगो ने 'गीत-गोविंद' के पदो को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदो को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तो के शृंगारी पदों की भी

---

१—देखो पृ० २६।

ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस संबध मे यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्त्तन कृष्ण-भक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ वर्णित हैं उसी रूप मे उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी गई है, जहाँ वृंदावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्य रूप मे है। इन लीलाओ का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।

विद्यापति संवत् १४६० मे तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ वर्त्तमान थे। उनके दो पद नीचे दिए जाते है—

सरस बसंत समय भल पावलि, दछिन पवन वह धीरे।
सपनहु रूप वचन इक भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे॥
तोहर बदन सम चाँद होअथि नाहिं, कैयो जतन बिह केला।
कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला॥
लोचन तुअ कमल नहिं भै सक, से जग के नहिं जानै।
से फिरि जाय लुकैलन्ह जल भएँ, पकज निज अपमाने॥
भन विद्यापति सुनु बर जोवति ई सभ लछमि समाने।
राजा 'सिवसिंह' रूप नरायन 'लखिमा देइ' प्रति भाने॥

---

कालि कहल पिय साँझहि रे जाइबि मइ मारू देस।
मोए अभागिलि नहि जानल रे, सँग जइतवँ जोगिनि बेस॥
हिरदय वड दारुन रे, पिया बिनु बिहरि न जाइ।
एक सयन सखि सूतल रे, अछल बलभ निसि भोर॥
न जानल कत खन तजि गेल रे, बिछुरल चकवा जोर॥
सूनि सेज पिय सालइ रे, पिय बिनु घर मोए आजि।
बिनति करहुँ सुसहेलिनि रे, मोहि देहि अगिहर साजि॥
विद्यापति कवि गावल रे, आवि मिलत पिय तोर।
'लखिमा देइ' बर नागर रे, राय सिवसिंह नहि भोर॥

---

मोटे हिसाब से वीरगाथा-काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरांत मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिंदू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उतना उत्साह रहा, न मुसलमानों से। जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हें हटाकर अपने धर्म की रक्षा का वीरप्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानों के जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदयग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे।

इस प्रकार स्थिति के साथ ही साथ भावों तथा विचारों में भी परिवर्त्तन हो गया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीरकाव्य की रचना ही नहीं हुई। समय समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गए। हिंदी-साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में किसी रूप की जो काव्य-सरिता वेग से प्रवाहित हुई, वह यद्यपि आगे चलकर मंद गति से बहने लगी, पर ९०० वर्षों के हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।

---

# पूर्व-मध्यकाल

## ( भक्तिकाल सं० १३७५-१७०० )

## प्रकरण १

### सामान्य परिचय

देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू-जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम-साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?

यह तो हुई राजनीतिक परिस्थिति। अब धार्मिक स्थिति देखिए। आदि-काल के अंतर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूरबी भागों में और नाथपंथी जोगी पच्छिमी भागों में रमते चले आ रहे थे[१]। इसी बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्मभावना कितनी दबती जा रही थी, उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था।

धर्म का प्रभाव कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है।

---

१–देखो पृ० ७—२०।

इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी सजीव दशा मे रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलाग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लँगड़ा, ज्ञान के बिना अधा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन क्या निष्प्राण रहता है। ज्ञान के अधिकारी तो सामान्य से बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोडे से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जन-समुदाय की संपत्ति होती है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल मे कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के सकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत-काल मे और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण-काल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती, किसी प्रकार चली भर आ रही थी।

अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन पर्वस्नान आदि की निस्सारता का संस्कार फैलाने का जो कार्य्य वज्रयानी सिद्धो और नाथ-पंथी जोगियों के द्वारा हुआ, उसका उल्लेख हो चुका है[१]। पर उनका उद्देश्य 'कर्म' को उस तग गड्ढे से निकालकर प्रकृत धर्म के खुले क्षेत्र मे लाना न था बल्कि एकबारगी किनारे ढकेल देना था। जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोककल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने मे लग गए थे। उनकी बानी तो 'गुह्य, रहस्य और सिद्धि' लेकर उठी थी। अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिये वे बाह्य जगत् की बातें छोड, घट के भीतर के कोठों की बात बताया करते थे। भक्ति, प्रेम आदि हृदय के प्रकृत भावों का उनकी अतस्साधना मे कोई स्थान न था, क्योकि इनके द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना तो सबके लिये सुलभ कहा जा सकता है। सामान्य अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनता पर इनकी बानियों का प्रभाव इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि वह सच्चे शुभकर्मो के मार्ग से तथा भगवद्भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मत्र, तंत्र और उपचारो मे जा उलझे और उसका विश्वास

१—देखो पृ० १२-२२।

अलौकिक रिद्धियों पर जा जमे ? इसी दशा की ओर लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

सारांश यह कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय सच्चे धर्म-भाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था। प्रतिवर्त्तन के लिये बहुत कड़े धक्कों की आवश्यकता थी।

ऊपर जिस अवस्था का दिग्दर्शन हुआ है, वह सामान्य जन-समुदाय की थी। शास्त्रज्ञ विद्वानों पर सिद्धों और जोगियों की बानियों का कोई असर न था। वे इधर उधर पड़े अपना कार्य्य करते जा रहे थे। पंडितों के शास्त्रार्थ भी होते थे, दार्शनिक खंडन-मंडन के ग्रंथ भी लिखे जाते थे। विशेष चर्चा वेदांत की थी। ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर, भाष्यों की परंपरा विद्वन्मंडली के भीतर चली चल रही थी जिससे परंपरागत भक्तिमार्ग के सिद्धांत पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ।

कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिये दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्त्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य (संवत् १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।

गुजरात में स्वामी मध्वाचार्यजी (संवत् १२५४–१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। देश के पूर्व भाग में

जयदेवजी के कृष्ण-प्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी जिसके सुर मे मिथिला के कोकिल ( विद्यापति ) ने अपना सुर मिलाया। उत्तर या मध्यभारत मे एक ओर तो ईसा की १५ वीं शताब्दी मे रामानुजाचार्य्य की शिष्य-परपरा मे स्वामी रामानंदजी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया; दूसरी ओर वल्लभाचार्यजी ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परंपराएँ चलीं जिनमे आगे चलकर हिंदी काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचानेवाले जगमगाते रत्नों का विकास हुआ। इन भक्तो ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनद' स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप मे इस बाह्य जगत् के व्यक्त क्षेत्र मे किया।

एक ओर तो प्राचीन सगुणोपासना का यह काव्यक्षेत्र तैयार हुआ, दूसरी ओर मुसलमानों के बस जाने से देश मे जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई उसकी दृष्टि से हिदू मुसलमान दोनो के लिये एक 'सामान्य भक्तिमार्ग' का विकास भी होने लगा। उसके विकास के लिये किस प्रकार वीरगाथा काल मे ही सिद्धों और नाथ-पंथी योगियो के द्वारा मार्ग निकाला जा चुका था, यह दिखाया जा चुका है[1]। बज्रयान के अनुयायी अधिकतर नीची जाति के थे अतः जाति-पाँति की व्यवस्था से उनका असतोष स्वाभाविक था। नाथ-संप्रदाय मे भी शास्त्रज्ञ विद्वान् नही आते थे। इस सप्रदाय के कनफटे रमते योगी घट के भीतर के चक्रो, सहस्रदल कमल, इला-पिंगला नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत करनेवाली रहस्यमयी बानियाँ सुनाकर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धाई की धाक सामान्य जनता पर जमाए हुए थे। वे लोगों को ऐसी ऐसी बाते सुनाते आ रहे थे कि वेद-शास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा-अर्चा की विधियाँ व्यर्थ है, ईश्वर तो प्रत्येक के घट के भीतर है, अंतर्मुख साधनाओं से ही वह प्राप्त हो सकता है, हिंदू-मुसलमान दोनो एक है, दोनों के लिये शुद्ध साधना का मार्ग भी एक ही है, जाति पाँति के भेद व्यर्थ

---

१—देखो पृ० १५, १६ तथा १८ ( पहला पैरा )।

खड़े किए गए हैं, इत्यादि। इन जोगियों के पंथ में कुछ मुसलमान भी आए। इसका उल्लेख पहले हो चुका है[१]।

भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई। हृदयपक्ष-शून्य सामान्य अंतस्साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पंथी कर चुके थे, यह हम कह चुके हैं। पर रागात्मक तत्त्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ( सं० १३२८–१४०८ ) ने हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्ति-मार्ग का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण-पंथ' के नाम से चलाया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कबीर के लिये नाथपंथी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे। भेदभाव को निर्दिष्ट करनेवाले उपासना के बाहरी विधानों को अलग रखकर उन्होंने अंतस्साधना पर जोर दिया था। पर नाथ-पंथियों की अंतःसाधना हृदयपक्ष-शून्य थी, उसमें प्रेमतत्त्व का अभाव था। कबीर ने यद्यपि नाथपंथ की बहुत सी बातों को अपनी बानी में जगह दी, पर यह बात उन्हें खटकी। इसका संकेत उनके ये वचन देते हैं—

झिलमिल झगरा झूलते बाकी रही न काहु। गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु॥
बहुत दिवस ते हिंडिया सुन्नि समाधि लगाइ। करहा पडिया गाड़ में दूरि परा पछिताइ॥

[ करहा = ( १ ) करभ, हाथी का बच्चा ( २ ) हठयोग की क्रिया करनेवाला ]

अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिये भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिये सूफियों का प्रेमतत्त्व लिया और अपना 'निर्गुण-पंथ' बड़ी धूम धाम से निकाला। बात यह थी कि भारतीय भक्तिमार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता। इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था।

---

१–देखो पृ० १६।

उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता मे उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिये बढ़ावा दिया। उनका 'निर्गुण-पंथ' चल निकला जिसमे नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।

कबीर तथा अन्य, निर्गुण-पंथी संतो के द्वारा अतस्साधना मे रागात्मिका 'भक्ति' और 'ज्ञान' का योग तो हुआ, पर 'कर्म' की दशा वही रही जो नाथपंथियों के यहाँ थी। इन संतों के ईश्वर ज्ञान-स्वरूप और प्रेम-स्वरूप ही रहे, धर्म-स्वरूप न हो पाए। ईश्वर के धर्म-स्वरूप को लेकर, उस स्वरूप को लेकर, जिसकी रमणीय अभिव्यक्ति लोक की रक्षा और रंजन मे होती है प्राचीन वैष्णव भक्ति-मार्ग की रामभक्ति शाखा उठी। कृष्णभक्ति-शाखा केवल प्रेम-स्वरूप ही लेकर नई उमंग से फैली।

यहाँ पर एक बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है। साधना के जो तीन अवयव—कर्म, ज्ञान और भक्ति—कहे गए है, वे सब काल पाकर दोषग्रस्त हो सकते है। 'कर्म' अर्थ-शून्य विधि-विधानों से निकम्मा हो सकता है, 'ज्ञान' रहस्य और गुह्य की भावना से पाषंड-पूर्ण हो सकता है और 'भक्ति' इद्रियोपभोग की वासना से कलुषित हो सकती है। भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। जहाँ श्रद्धा या पूज्यबुद्धि का अवयव—जिसका लगाव धर्म से होता है—छोड़कर केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली जायगी वहाँ वह अवश्य विलासिता से ग्रस्त हो जायगी।

इस दृष्टि से यदि हम देखे तो कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियो से जो प्रेमतत्त्व उन्होंने लिया वह सूफियो के यहाँ चाहे कामवासना-ग्रस्त हुआ हो, पर 'निर्गुण पंथ' मे अविकृत रहा। यह निस्सदेह प्रशसा की बात है। वैष्णवों की कृष्णभक्ति-शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। रामभक्तिशाखा मे भक्ति सर्वांगपूर्ण रही; इससे वह विकृत न होने पाई। तुलसी की भक्तिपद्धति मे कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा।

इधर आजकल अलबत कुछ लोगों ने कृष्णभक्ति-शाखा के अनुकरण पर उसमें भी 'माधुर्य्य भाव' का गुह्य रहस्य घुसाने का उद्योग किया है जिससे 'सखी संप्रदाय' निकल पड़े है और राम को भी 'तिरछी चितवन और बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे है।

यह सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चत स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगंबरी खुदावाद की ओर। यह "निर्गुण-पंथ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊँच-नीच और जाति-पाँति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिये मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था। इस भाव का सूत्रपात भक्तिमार्ग के भीतर महाराष्ट्र और मध्यदेश मे नामदेव और रामानंदजी द्वारा हुआ। महाराष्ट्र देश मे नामदेव का जन्मकाल शक संवत् ११९२ और मृत्युकाल शक संवत् १२७२ प्रसिद्ध है। ये दक्षिण के नरसी बमनी (सतारा जिला) के दरजी थे। पीछे पंढरपुर के बिठोबा (विष्णु भगवान्) के मंदिर मे भगवद्भजन करते हुए अपना दिन बिताते थे।

महाराष्ट्र के भक्तो मे नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी भाषा के अभंगो के अतिरिक्त इनकी हिंदी रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण मे मिलती है। इन हिंदी रचनाओं मे एक विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से संबंध रखती है और कुछ निर्गुणोपासना से। इसके समाधान के लिये इनके समय की परिस्थिति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आदिकाल के अंतर्गत यह कहा जा चुका है कि मुसलमानो के आने पर पठानों के समय मे गोरखपंथी योगियो का देश मे बहुत प्रभाव था। नामदेव के ही समय मे प्रसिद्ध ज्ञानयोगी ज्ञानदेव हुए है जिन्होने अपने को गोरख की शिष्य-परंपरा मे बताया है। ज्ञानदेव का परलोकवास बहुत थोड़ी अवस्था मे ही हुआ, पर नामदेव उनके उपरांत बहुत दिनो तक जीवित रहे। नामदेव सीधे-सादे सगुण भक्तिमार्ग पर चले जा रहे थे, पर पीछे उस नाथ-पंथ के प्रभाव के भीतर भी ये लाए गए, जो अंतर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मानता था। लानेवाले थे ज्ञानदेव।

एक बार ज्ञानदेव इनको साथ लेकर तीर्थयात्रा को निकले। मार्ग मे ये अपने प्रिय विग्रह बिठोबा (भगवान्) के वियोग मे व्याकुल रहा करते थे। ज्ञानदेव इन्हें बराबर समझाते जाते थे कि 'भगवान् क्या एक ही जगह है; वे तो सर्वत्र है, सर्वव्यापक है। यह मोह छोड़ो। तुम्हारी भक्ति अभी एकांगी है, जब तक निर्गुण पक्ष की भी अनुभूति तुम्हे न होगी, तबतक तुम पक्के न होगे'। ज्ञानदेव की बहन मुक्ताबाई के कहने पर एक दिन 'संत-परीक्षा' हुई। जिस गॉव मे यह संत मंडली उतरी थी उसमे एक कुम्हार रहता था। मंडली के सब सत चुपचाप बैठ गए। कुम्हार घड़ा पीटने का पीटना लेकर सबके सिर पर जमाने लगा। चोट पर चोट खाकर भी कोई विचलित न हुआ। पर जब नामदेव की ओर बढ़ा तब वे बिगड़ खड़े हुए। इस पर वह कुम्हार बोला "नामदेव को छोड़ और सब घडे पक्के हैं।" बेचारे नामदेव कच्चे घड़े ठहराए गए। इस कथा से यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि नामदेव को नाथ-पथ के योगमार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिये ज्ञानदेव की ओर से तरह तरह के प्रयत्न होते रहे।

सिद्ध और योगी निरंतर अभ्यास द्वारा अपने शरीर को विलक्षण बना लेते थे। खोपड़ी पर चोट खा खाकर उसे पक्की करना उनके लिये कोई कठिन बात न थी। अब भी एक प्रकार के मुसलमान फकीर अपने शरीर पर जोर जोर से डडे जमाकर भिक्षा मॉगते हैं।

नामदेव किसी गुरु से दीक्षा लेकर अपनी सगुण भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुए थे, अपने ही हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से हुए थे। ज्ञानदेव बराबर उन्हे "बिनु गुरु होई न ज्ञान" समझाते आते थे। संतों के बीच निर्गुण ब्रह्म के संबंध मे जो कुछ कहा सुना जाता है और ईश्वर-प्राप्ति की जो साधना बताई जाती है, वह किसी गुरु की सिखाई हुई होती है। परमात्मा के शुद्ध निर्गुण स्वरूप के ज्ञान के लिये ज्ञानदेव का आग्रह बराबर बढ़ता गया। गुरु के अभाव के कारण किस प्रकार नामदेव मे परमात्मा की सर्वव्यापकता का उदार भाव नही जम पाया था और भेद-भाव बना था, इसपर भी एक कथा चली आती है। कहते हैं कि एक दिन स्वय बिठोबा (भगवान्) एक मुसलमान फकीर का रूप धरकर नामदेव के समाने आए। नामदेव ने उन्हे नही पहचाना। तब उनसे कहा गया कि वे तो

परब्रह्म भगवान् ही थे। अंत में बेचारे नामदेव ने नागनाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर विसोबा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपंथी कनफटे से दीक्षा ली। इसके संबंध में उनके ये वचन हैं—

मन मेरी सुई, तन मेरा धागा। खेचर जी के चरण पर नामा सिंपी लागा।

---

सुफल जन्म मोको गुरु कीना। दुख बिसार सुख अंतर दीना॥
ज्ञान दान मोको गुरु दीना। राम नाम बिन जीवन हीना॥

---

किसु हूँ पूजूँ दूजा नजर न आई।
एके पाथर किज्जे भाव। दूजे पाथर धरिए पाव॥
जो वो देव तो हम बी देव। कहै नामदेव हम हरि की सेव॥

यह बात समझ रखनी चाहिए कि नामदेव के समय में ही देवगिरि पर पठानों की चढ़ाइयाँ हो चुकी थीं और मुसलमान महाराष्ट्र में भी फैल गए थे। इसके पहले ही गोरखनाथ के अनुयायी हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के लिये अंतस्साधना के एक सामान्य मार्ग का उपदेश देते आ रहे थे।

इनकी भक्ति के अनेक चमत्कार भक्तमाल में लिखे हैं, जैसे—विठोबा (ठाकुरजी) की मूर्ति का इनके हाथ से दूध पीना; अविंद नागनाथ के शिवमंदिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना इत्यादि। इनके माहात्म्य ने यह सिद्ध कर दिखाया कि "जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई"। इनकी इष्ट सगुणोपासना के कुछ पद नीचे दिए जाते हैं जिनमें शवरी, केवट आदि की सुगति तथा भगवान् की अवतार-लीला का कीर्तन बड़े प्रेमभाव से किया गया है—

अंबरीषि को दियो अभयपद, राज बिभीषन अधिक कर्‌यो।
नव निधि ठाकुर दई सुदामहि, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टर्‌यो॥
भगत हेत मार्‌यो हरिनाकुस, नृसिंह रूप ह्वै देह धर्‌यो।
नामा कहै भगति-बस केसव, अजहूँ बलि के द्वार खरो॥

---

दसरथ-राय-नंद राजा मेरा रामचंद । प्रणवै नामा तत्व रस अमृत पीजै ॥

× × × ×

धनि धनि मेघा-रोमावली, धनि धनि कृष्ण ओढे कावँली ।
धनि धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमैया कँवलापती ॥
धनि धनि बनखँड वृंदावना, जहँ खेलै श्रीनारायना ।
वेनु बजावै, गोधन चारै, नामे का स्वामि आनद करै ॥

यह तो हुई नामदेव की व्यक्तोपासना संबधी हृदय-प्रेरित रचना । आगे गुरु से सीखे हुए ज्ञान की उद्धरणी अर्थात् 'निर्गुन बानी' भी कुछ देखिए—

माइ न होती, बाप न होते, कर्म्म न होता काया ।
हम नहिं होते, तुम नहि होते, कौन कहाँ ते आया ॥
चंद न होता, सूर न होता, पानी पवन मिलाया ।
शास्त्र न होता, वेद न होता, करम कहाँ ते आया ॥

× × × ×

पांडे तुम्हरी गायत्री लोधे का खेत खाती थी ।
लैकरि ठेंगा टँगरी तोरी लगत लगत आती थी ॥
पांडे तुम्हरा महादेव धौल बलद चढा आवत देखा था ।
पांडे तुम्हरा रामचन्द्र सो भी आवत देखा था ॥
रावन सेंती सरवर होई, घर की जोय गँवाई थी ।
हिंदू अंधा तुरकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना ॥

हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद । नामा सोई सेविया जह देहरा न मसीत ॥

सगुणोपासक भक्त भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिये सगुण रूप ही स्वीकार करता है; निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिये छोड़ देता है । सब सगुणमार्गी भक्त भगवान् के व्यक्त रूप के साथ साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आए हैं जो बोधगम्य नहीं । वे अव्यक्त की ओर संकेत भर करते हैं, उसके विवरण में प्रवृत्त नहीं होते । नामदेव क्यों प्रवृत्त हुए, यह ऊपर दिखाया जा चुका है । जब कि उन्होंने एक गुरु से ज्ञानोपदेश लिया तब शिष्यधर्मानुसार उसकी उद्धरणी आवश्यक हुई ।

नामदेव की रचनाओ में यह बात साफ दिखाई पड़ती है कि सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो व्रज या परंपरागत काव्य-भाषा है, पर 'निर्गुन बानी' की भाषा नाथपंथियो द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा।

नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्गुण पंथ' के लिये मार्ग निकालनेवाले नाथ-पंथ के योगी और भक्त नामदेव थे। जहाँ तक पता चलता है 'निर्गुण मार्ग' के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानंदजी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण की और दूसरी ओर योगियो और सूफी फकीरो के संस्कार प्राप्त किए। वैष्णवो से उन्होने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उनके तथा 'निर्गुणवाद' वाले और दूसरे संतों के वचनो मे कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कही योगियों के नाड़ीचक्र की, कहीं सूफियो के प्रेमतत्त्व की, कहीं पैगबरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्त्विक दृष्टि से न तो हम इन्हे पूरे अद्वैतवादी कह सकते है और न एकेश्वर-वादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी बानी मे मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार था जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानो की कुरबानी ( हिंसा ), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिंदू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। साराश यह कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न भिन्न बाह्य विधियो पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म मे भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-`म और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।

इस प्रकार देश में सगुण और निर्गुण के नाम से भक्ति काव्य की दो धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अतिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अंत तक समानातर चलती रही। भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा की कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर की ही मिलती है अतः पहले निर्गुण मत के संतों का उल्लेख उचित ठहरता है। यह निर्गुण धारा दो शाखाओं

मे विभक्त हुई—एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी शुद्ध प्रेममार्गी शाखा ( सूफियों की )।

पहली शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान और योग-साधना को लेकर तथा उसमे सूफियों के प्रेमतत्त्व को मिलाकर उपासना-क्षेत्र मे अग्रसर हुई और सगुण के खंडन मे उसी जोश के साथ तत्पर रही जिस जोश के साथ पैगंबरी मत बहु-देवोपासना और मूर्तिपूजा आदि के खंडन मे रहते हैं। इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—फुटकल दोहो या पदो के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो-एक प्रतिभा-संपन्न संतों को छोड़ औरो मे ज्ञानमार्ग की सुनी सुनाई बातों का पिष्टपेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भद्दी तुकबंदियों मे हैं। भक्तिरस मे मग्न करने-वाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती है। बात यह है कि इस पथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिये न तो इस पंथ मे कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयो का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडबरो का तिरस्कार करके, आत्म-गौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होने उसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पाश्चात्यों ने इन्हे जो "धर्म सुधारक" की उपाधि दी है वह इसी बात को ध्यान मे रखकर।

दूसरी शाखा शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियों की है जिनकी प्रेम-गाथाएँ वास्तव मे साहित्य-कोटि के भीतर आती हैं। इस शाखा के सब कवियो ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेम-मार्ग का महत्त्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलानेवाला है। इन प्रेम-कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घरबार छोड़कर निकल पड़ना तथा

अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अंत में उस राजकुमारी को प्राप्त करना। पर "प्रेम की पीर" की जो व्यंजना होती है, वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है।

हमारा अनुमान है कि सूफी कवियों ने जो कहानियाँ ली है वे सब हिंदुओं के घर में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ है जिनमे आवश्यकतानुसार उन्होंने कुछ हेर-फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिंदू है। मनुष्य के साथ पशु-पक्षी और पेड़-पौधों को भी सहानुभूति सूत्र में बद्ध दिखाकर एक अखंड जीवनसमष्टि का आभास देना हिंदू प्रेम-कहानियों की विशेषता है। मनुष्य के घोर दुःख पर वन के वृक्ष भी रोते हैं, पक्षी भी सँदेसे पहुँचाते हैं। यह बात इन कहानियों मे भी मिलती है।

शिक्षितों और विद्वानों की काव्यपरंपरा मे यद्यपि अधिकतर आश्रयदाता राजाओं के चरितों और पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों की ही प्रवृत्ति थी, पर साथ ही कल्पित कहानियों का भी चलन था, इसका पता लगता है। दिल्ली के बादशाह सिकंदर शाह ( संवत् १५४६–१५७४ ) के समय में कवि ईश्वर-दास ने 'सत्यवतीकथा' नाम की एक कहानी दोहे-चौपाइयों मे लिखी थी जिसका आरंभ तो व्यास-जनमेजय के संवाद से पौराणिक ढंग पर होता है, पर जो अधिकतर कल्पित, स्वच्छंद और मार्मिक मार्ग पर चलनेवाली है। वनवास के समय पांडवों को मार्कंडेय ऋषि मिले जिन्होंने यह कथा सुनाई—

मथुरा के राजा चंद्र-उदय को कोई संतति न थी। शिव की तपस्या करने पर उनके वर से राजा को सत्यवती नाम की एक कन्या हुई। वह जब कुमारी हुई तब नित्य एक सुंदर सरोवर मे स्नान करके शिव का पूजन किया करती। इंद्रपति नामक एक राजा के ऋतुवर्ण आदि चार पुत्र थे। एक दिन ऋतुवर्ण शिकार खेलते खेलते घोर जंगल मे भटक गया। एक स्थान पर उसे कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा जिसकी शाखाएँ तीस कोस तक फैली थीं। उसपर चढ़कर चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर उसे एक सुंदर सरोवर दिखाई पड़ा जिसमे कई कुमारियाँ स्नान कर रही थीं। वह जब उतरकर वहाँ गया तब सत्यवती को देख मोहित हो गया। कन्या का मन भी उसे देख कुछ डोल गया। ऋतुवर्ण जब उसकी

और एकटक ताकता रह गया तब सत्यवती को क्रोध आ गया और उसने यह कहकर कि—

एक चित्त हमें चितवै जस जोगी चित जोग। धरम न जानसि पापी, कहसि कौन तैं लोग॥

शाप दिया कि 'तू कोढ़ी और व्याधिग्रस्त हो जा।'

ऋतुवर्ण वैसा ही हो गया और पीड़ा से फूट फूट कर रोने लगा—

रोवै व्याधी बहुत पुकारी। छोहनै भिछ रोवैं सब भारी॥
बाघ सिंह रोवत बन माहीं। रोवत पंछी बहुत ओनाहीं॥

यह व्यापक विलाप सुनकर सत्यवती उस कोढ़ी के पास जाती है : पर वह उसे यह कहकर हटा देता है कि 'तुम जाओ, अपना हँसो खेलो।' सत्यवती का पिता राजा एक दिन जब उधर से निकला तब कोढ़ी के शरीर से उठी दुर्गंध से व्याकुल हो गया। जाकर उस दुर्गंध की शांति के लिये राजा ने बहुत दान पुण्य किया। जब राजा भोजन करने बैठा तब उसकी कन्या वहाँ न थी। राजा कन्या के बिना भोजन ही न करता था। कन्या को बुलाने जब राजा के दूत गए तब वह शिव की पूजा छोड़कर न आई। इसपर राजा ने क्रुद्ध होकर दूतों से कहा कि सत्यवती को जाकर उसी कोढ़ी को सौंप दो। दूतों का वचन सुनकर कन्या नीम की टहनी लेकर उस कोढ़ी की सेवा के लिये चल पड़ी और उससे कहा—

तोहि छाँडि अब मै कित जाऊँ। माइ बाप सौंपा तुव ठाऊँ॥

कन्या प्रेम से उसकी सेवा करने लगी और एक दिन उसे कंधे पर बिठाकर प्रभावती तीर्थस्नान कराने ले गई, जहाँ बहुत से देवता, मुनि, किन्नर आदि निवास करते थे। वहाँ जाकर सत्यवती ने कहा "यदि मैं सच्ची सती हूँ तो रात हो जाय।" इस पर चारो ओर घोर अंधकार छा गया। सब देवता तुरंत सत्यव्रती के पास दौड़े आए। सत्यवती ने उनसे ऋतुवर्ण को सुंदर शरीर प्रदान करने का वर माँगा। व्याधि-ग्रस्त ऋतुवर्ण ने तीर्थ में स्नान किया और उसका शरीर निर्मल हो गया। देवताओं ने वहीं दोनों का विवाह करा दिया।

ईश्वरदास ने ग्रंथ के रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

भादौं मास पाष उजियारा। तिथि नौमी, औ मंगलवारा।
नषत अस्विनी, मेष क चदा। पंच जना सो सदा अंनदा।

जोगिनिपुर दिल्ली बड थाना। साह सिकंदर बड सुलताना।
कंठ बैठ सरसुती विद्या गनपति दीन्ह। ता दिन कथा आरंभ यह ईसरदास कवि कीन्ह॥

पुस्तक मे पाँच पाँच चौपाइयो (अर्द्धालियों) पर एक दोहा है। इस प्रकार ५८ दोहे पर यह समाप्त हो गई है। भाषा अयोध्या के आस पास की ठेठ अवधी है। 'बाटे' (= है) का प्रयोग जगह जगह है। यही अवधी भाषा, चौपाई-दोहे का क्रम और कहानी का रूप रग सूफी कवियों ने ग्रहण किया। आख्यान-काव्यो के लिये चौपाई दोहे की परंपरा बहुत पुराने (विक्रम की ११ वीं शती के) जैन चरित-काव्यो मे मिलती है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है[1]।

सूफियों के प्रेम-प्रबंधो मे खंडन-मंडन की बुद्धि को किनारे रखकर, मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिंदुओं और मुसलमानो पर समान रूप से पड़ता है। बीच बीच मे रहस्यमय परोक्ष की ओर जो मधुर संकेत मिलते है वे बडे हृदयग्राही होते हैं। कबीर में जो रहस्यवाद मिलता है वह बहुत कुछ उन पारिभाषिक संज्ञाओ के आधार पर है जो वेदांत और हठयोग में निर्दिष्ट हैं। पर इन प्रेम-प्रबंधकारों ने जिस रहस्यवाद का आभास बीच बीच मे दिया है उसके संकेत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी हैं। शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियो की शाखा मे सबसे प्रसिद्ध जायसी हुए, जिनकी 'पद्मावत' हिंदी-काव्यक्षेत्र मे एक अद्भुत रत्न है। इस संप्रदाय के सब कवियो ने पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी का व्यवहार किया है जिसमे गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपना रामचरितमानस लिखा है।

अपना भावात्मक रहस्यवाद लेकर सूफी जब भारत में आए तब यहाँ उन्हे केवल साधनात्मक रहस्यवाद योगियो, रसायनियो और तांत्रिको मे मिला। रसेश्वर दर्शन का उल्लेख 'सर्वदर्शनसग्रह' मे है। जायसी आदि सूफी कवियो ने हठयोग और रसायन की कुछ बातों को भी कहीं कहीं अपनी कहानियों मे स्थान दिया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा में कुछ विस्तृत रचना पहले कबीर की ही मिलती है, अतः पहले निर्गुण संप्रदाय की 'ज्ञानाश्रयी शाखा' का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है जिसमे सर्वप्रथम कबीरदासजी सामने आते है।

१—देखो पृ० ७।

# प्रकरण २

## निर्गुणधारा

### ज्ञानाश्रयी शाखा

**कबीर**—इनकी उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। कहते हैं, काशी मे स्वामी रामानंद का भक्त एक ब्राह्मण था जिसकी विधवा कन्या को स्वामीजी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लहरतारा के ताल के पास फेंक आई। अली या नीरू नाम का जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया और पालने लगा। यही बालक आगे चलकर कबीरदास हुआ। कबीर का जन्म-काल जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम संवत् १४५६ माना जाता है। कहते हैं कि आरंभ से ही कबीर में हिंदू-भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति लक्षित होती थी जिसे उसके पालनेवाले माता पिता न दबा सके। वे 'राम राम' जपा करते थे और कभी कभी माथे में तिलक भी लगा लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस समय में स्वामी रामानद का प्रभाव खूब बढ़ रहा था और छोटे बडे, ऊँच नीच सब तृप्त हो रहे थे। अतः कबीर पर भी भक्ति का यह संस्कार बाल्यावस्था से ही यदि पडने लगा हो तो कोई आश्चर्य नही। रामानंदजी के माहात्म्य को सुनकर कबीर के हृदय मे शिष्य होने की लालसा जगी होगी। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन वे एक पहर रात रहते ही उस ( पंचगंगा ) घाट की सीढ़ियो पर जा पड़े जहाँ से रामानंदजी स्नान करने के लिये उतरा करते थे। स्नान को जाते समय अँधेरे मे रामानंदजी का पैर कबीर के ऊपर पड़ गया। रामानदजी बोल उठे "राम राम कह"। कबीर ने इसी को गुरुमंत्र मान लिया और वे अपने को रामानंदजी का शिष्य कहने लगे। वे साधुओं का सत्संग भी रखते थे और जुलाहे का काम भी करते थे।

कबीर-पंथ मे मुसलमान भी है। उनका कहना है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। वे उस सूफी फकीर को ही कबीर

का गुरु मानते हैं[१]। आरंभ से ही कबीर हिंदूभाव की उपासना की ओर आकर्षित हो रहे थे। अतः उन दिनों, जब कि रामानंदजी की बड़ी धूम थी, अवश्य वे उनके सत्संग में भी सम्मिलित होते रहे होंगे। जैसा आगे कहा जायगा, रामानुज की शिष्य परंपरा में होते हुए भी रामानंदजी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे जिसमें जाति-पाँति का भेद और खान पान का आचार दूर कर दिया गया था। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को 'राम नाम' रामानंदजी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानंद के 'राम' से भिन्न हो गए। अतः कबीर को वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत नहीं ले सकते। कबीर ने दूर दूर तक देशाटन किया, हठयोगियों तथा सूफी मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया। अतः उनकी प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर दृढ़ हुई। अद्वैतवाद के स्थूल रूप का कुछ परिज्ञान उन्हें रामानंदजी के सत्संग से पहले ही था। फल यह हुआ कि कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रह गए; वे ब्रह्म के पर्याय हुए—

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

---

१—ऊजी के पीर और शेख तकी चाहे कबीर के गुरु न रहे हों पर उन्होंने उनके सत्संग से बहुत सी बातें सीखीं इसमें कोई संदेह नहीं। कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है; जैसे, "घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख"। इस बचन में कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं। कबीर ने मुसलमान फकीरों का सत्संग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे झूँसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि गए थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे।

मानिकपुर हि कबीर बसेरी। मदहति सुनी शेख तकि केरी॥
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥

पर सबकी बातों का संचय करके भी अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने के लिये तैयार नहीं थे, सब को अपना ही वचन मानने को कहते थे।

शेख अकरदी सकरदी तुम मानहु बचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग देखहु दीठि पसार॥

सारांश यह कि जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिये हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव अवश्य स्पष्ट लक्षित होते हैं।

यद्यपि कबीर की बानी 'निर्गुण बानी' कहलाती है पर उपासना-क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता। सेव्य-सेवक भाव में स्वामी में कृपा, क्षमा, औदार्य्य आदि गुणों का आरोप हो ही जाता है। इसीलिये कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्मसत्ता का संकेत मिलता है जैसे—

> पंडित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि, न सिरजनहारा॥
> जोति-सरूप काल नहि उहँवाँ, बचन न आहि सरीरा।
> थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा॥

और कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है, जैसे—

> आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती।

और कहीं सोपाधि ईश्वर की, जैसे—

> साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय।

सारांश यह कि कबीर में ज्ञानमार्ग की जहाँ तक बातें हैं वे सब हिंदू शास्त्रों की हैं जिनका संचय उन्होंने रामानंदजी के उपदेशों से किया। माया, जीव, ब्रह्म, तत्त्वमसि, आठ मैथुन (अष्टमैथुन), त्रिकुटी, छः रिपु इत्यादि शब्दों का परिचय उन्हें अध्ययन द्वारा नहीं, सत्संग द्वारा ही हुआ, क्योंकि वे, जैसा कि प्रसिद्ध है, कुछ पढ़े लिखे न थे। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के संबंध में वे कहते हैं—

> तत्वमसी इनके उपदेसा। ई उपनीषद कहैं सँदेसा॥
> जागबलिक औ जनक सँवादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा॥

यहीं तक नहीं, वेदांतियों के कनक-कुंडल न्याय आदि का व्यवहार भी इनके वचनों में मिलता है—

गहना एक कनक तें गहना, इन महँ भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापित इक निमाज, एक पूजा॥

इसी प्रकार उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (जैसे, चंद, सूर, नाद, बिंदु, अमृत, औंधा कुआँ) को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे हैं जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतंक जमाते हैं; जैसे—

सूर समाना चंद में दहूँ किया घर एक। मन का चिंता तब भया कछू पुरबिला लेख॥
आकासे मुखि औंधा कुआँ पाताले पनिहारि। ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला, आदि बिचार॥

वैष्णव संप्रदाय से उन्होंने अहिंसा का तत्त्व ग्रहण किया जो कि पीछे होनेवाले सूफी फकीरों को भी मान्य हुआ। हिंसा के लिये वे मुसलमानों को बराबर फटकारते रहे—

दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय॥
अपनी देखि करत नहीं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसका खून तुम्हारी गरदन जिन तुमको उपदेस दिया॥
बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग की बातें कबीर ने हिंदू साधु-संन्यासियों से ग्रहण कीं जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ चलाया। उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करनेवाले और कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी खरी सुनाई और 'राम रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढ़ेलिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कार-

पूर्ण बाते निकलती थी। इनकी उक्तियों मे विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था ; जैसे—

है कोई गुरुज्ञानी जगत महँ उलटि वेद बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै॥
गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता।

अथवा—

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होने ज्ञान की बाते कही हैं, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगो को चकित किया करती थीं। अनूठी अन्योक्तियो द्वारा ईश्वर-प्रेम की व्यंजना सूफियो मे बहुत प्रचलित थी। जिस प्रकार कुछ वैष्णवों में 'माधुर्य' भाव से उपासना प्रचलित हुई थी उसी प्रकार सूफियो में भी ब्रह्म को सर्वव्यापी प्रियतम या माशूक मानकर हृदय के उद्गार प्रदर्शित करने की प्रथा थी। इसको कबीरदास ने ग्रहण किया। कबीर की वाणी मे स्थान स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है। कहीं इन्होने ब्रह्म को खसम या पति मानकर अन्योक्ति बाँधी है और कहीं स्वामी या मालिक ; जैसे—

मुझको क्या तू ढूँढै बंदे मैं तो तेरे पास में।

अथवा—

साईं के सँग सासुर आई।
संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं॥
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माडो छायो।
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीर अपने श्रोताओ पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिये बड़ी लबी चौडी गर्वोक्तियाँ भी कभी कभी कहते थे। कबीर ने मगहर मे जाकर शरीर त्याग किया जहाँ इनकी समाधि अब तक बनी है। इनका मृत्युकाल संवत् १५७५ माना जाता है, जिसके अनुसार इनकी आयु १२० वर्ष की

रैदास का कोई ग्रंथ नहीं मिलता; फुटकल पद ही 'बानी' के नाम से 'संतबानी सीरीज' मे संगृहीत हैं। चालीस पद तो 'आदि गुरुग्रंथ साहब' में दिए गए हैं। कुछ पद नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

दूध त बछरै थनह बिडारेउ। फुलु भँवर, जलु मीन बिगारेउ।
माई, गविद पूजा कहा लै चरावउँ। अवरु त फूल अनूपु न पावउँ॥
मलयागिरवै रहै हैं भुअंगा। बिषु अमृत बसहीं इक संगा।
तन मन अरपउँ, पूज चढ़ावउँ। गुरु परसादि निरंजन पावउँ॥
पूजा अरचा आहि न तोरी। कह रविदास कवनि गति मोरी॥
अखिल खिलै नहिं, का कह पडित, कोई न कहै समुझाई।
अबरन बरन रूप नहिं जाके, कहँ लौ लाइ समाई॥
चद सूर नहिं, राति दिवस, नहिं धरनि अकास न भाई॥
करम अकरम नहिं, सुभ असुभ नहिं, का कहि देहुँ बडाई॥

---

जब हम होते तब तू नाही, अब तू ही, मैं नाही।
अतल अगम जैसे लहरि मइ उदधि, जल केवल जल माही॥

---

माधव क्या कहिए प्रभु ऐसा। जैसा मानिए होइ न तैसा।
नरपति एक सिहासन सोइया सपने भया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइया, सो गति भई हमारी॥

**धर्मदास**—ये बाँधवगढ़ के रहनेवाले और जाति के बनिए थे। बाल्यावस्था से ही इनके हृदय मे भक्ति का अंकुर था और ये साधुओं का सत्संग, दर्शन, पूजा, तीर्थाटन आदि किया करते थे। मथुरा से लौटते समय कबीरदास के साथ इनका साक्षात्कार हुआ। उन दिनो संत समाज मे कबीर की पूरी प्रसिद्धि हो चुकी थी। कबीर के मुख से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन आदि का खडन सुनकर इनका झुकाव 'निर्गुण संत मत' की ओर हुआ। अंत मे ये कबीर से सत्यनाम की दीक्षा लेकर उनके प्रधान शिष्यो मे हो गए और संवत् १५७५ मे कबीरदास के परलोकवास पर उनकी गद्दी इन्हीं को मिली। कहते हैं

कि कबीरदास के शिष्य होने पर इन्होंने अपनी सारी संपत्ति, जो बहुत अधिक थी लुटा दी। ये कबीरदास की गद्दी पर बीस वर्ष के लगभग रहे और अत्यत वृद्ध होकर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनकी शब्दावली का भी संतो में बड़ा आदर है। इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिए हुए है; उसमे कठोरता और कर्कशता नहीं है। इन्होने पूरबी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियो के व्यंजक चित्र अधिक मार्मिक है क्योकि इन्होंने खंडन-मंडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेमतत्त्व को ही लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है। उदाहरण के लिये कुछ पद नीचे दिए जाते है—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।

खन गरजै,खन बिजुली चमकै,लहरि उठै सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनद ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया,मिटो अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास विनवै कर जोरी, संतगुरु चरन में रहत समाय॥

---

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो।

अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुवो न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मैं बन बन ढूँढ़ौं हमरा के बिरह-बैराग दै गैलो॥
संग की सखी सब पार उतरि गइलीं,हम धनि ठाढ़ि अकेली रहि गैलों।
धरमदास यह अरज करतु है, सार सबद सुमिरन दै गैलो॥

**गुरु नानक**—गुरु नानक का जन्म सं० १५२६ कार्तिकी पूर्णिमा के दिन तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर मे हुआ। इनके पिता कालूचंद खत्री जिला लाहौर तहसील शरकपुर के तिलवडी नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदा थे। इनकी माता का नाम तृता था। नानकजी बाल्यावस्था से ही अत्यंत साधु स्वभाव के थे। स० १५४५ मे इनका विवाह गुरदासपुर के मूलचंद खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ। सुलक्षणी से इनके दो पुत्र श्रीचंद और लक्ष्मीचद हुए। श्रीचंद आगे चलकर उदासी सप्रदाय के प्रवर्त्तक हुए।

पिता ने इन्हे व्यवसाय में लगाने का बहुत उद्योग किया पर ये सासारिक व्यवहारों मे दत्तचित्त न हुए। एक बार इनके पिता ने व्यवसाय के लिये कुछ

ठहरती है। कहते हैं कि कबीरजी की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने संवत् १५२१ में किया था जब कि उनके गुरु की अवस्था ६४ वर्ष की थी। कबीरजी की वचनावली की सबसे प्राचीन प्रति, जिसका अब पता लगा है, संवत् १५६१ की लिखी है।

कबीर की वाणी का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके तीन भाग किए गए हैं—रमैनी, सबद और साखी। इसमें वेदांत-तत्त्व, हिंदू मुसलमानों को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेमसाधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि की असारता, हज नमाज, व्रत, आराधन की गौणता इत्यादि अनेक प्रसंग हैं। सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश मुख्यतः 'साखी' के भीतर हैं जो दोनों में हैं। इसकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी-मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। खुसरो के गीतों की भाषा भी ब्रज हम दिखा आए हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतों के लिये काव्य की ब्रजभाषा ही स्वीकृत थी। कबीर का यह पद देखिए—

हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन-कारनि ऐसी व्यापी मोहि।
नैन हमारे तुम्हकों चाहैं, रती न मानै हारि॥
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि।
सुनहु हमारी दादि गोसाईं, अब जनि करहु अधीर॥
तुम धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काँचे भाँडै नीर।
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर॥
देह छतां तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥

सूर के पदों की भी यही भाषा है।

भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें संदेह नहीं।

**रैदास या रविदास**—रामानंदजी के बारह शिष्यों में रैदास भी माने जाते हैं जो जाति के चमार थे। इन्होंने कई पदों में अपने को चमार कहा भी है, जैसे—

( १ ) कह रैदास खलास चमारा।

( २ ) ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार।

ऐसा जान पड़ता है कि ये कबीर के बहुत पीछे स्वामी रामानंद के शिष्य हुए क्योंकि अपने एक पद में इन्होंने कबीर और सेन नाई दोनों के तरने का उल्लेख किया है—

नामदेव कबीर तिलोचन सधना सेन तरै।
कह रविदास, सुनहु रे, संतहु! हरि जिउ तें सबहि सरै।

कबीरदास के समान रैदास भी काशी के रहनेवाले कहे जाते हैं। इनके एक पद से भी यही पाया जाता है—

जाके कुटुंब सब ढोर ढोवंत
फिरहिं अजहुँ बानारसी आसपासा।
आचार सहित बिप्र करहिं डंडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा॥

रैदास का नाम धन्ना और मीराबाई ने बड़े आदर के साथ लिया है।

रैदास की भक्ति भी निगुर्न ढाँचे की जान पड़ती है। कहीं तो वे अपने भगवान् को सब में व्यापक देखते हैं—

थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराई।

और कहीं कबीर की तरह परात्पर की ओर संकेत करके कहते हैं—

गुन निगुर्न कहियत नहिं जाके।

रैदास का अपना अलग प्रभाव पछाँह की ओर जान पड़ता है। 'साधो' का एक संप्रदाय, जो फर्रुखाबाद और थोड़ा बहुत मिर्जापुर में भी पाया जाता है, रैदास की ही परंपरा में कहा जा सकता है; क्योंकि स्थापना (संवत् १६००) करनेवाले बीरभान उदयदास के शिष्य थे और उदयदास रैदास के शिष्यों में माने जाते हैं।

धन दिया जिसको इन्होने साधुओ और गरीबों को बॉट दिया। पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से बसे थे जिससे वहाँ उनके कट्टर एकेश्वरवाद का संस्कार धीरे धीरे प्रबल हो रहा था। लोग बहुत से देवी-देवताओ की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को महत्त्व और सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। शास्त्रों के पठन-पाठन का क्रम मुसलमानो के प्रभाव से प्रायः उठ गया था जिससे धर्म और उपासना के गूढ तत्त्व समझने की शक्ति नहीं रह गई थी। अतः जहाँ बहुत से लोग जबरदस्ती मुसलमान बनाए जाते थे वहाँ कुछ लोग शौक से भी मुसलमान बनते थे। ऐसी दशा मे कबीर द्वारा प्रवर्तित 'निर्गुण सतमत' एक बड़ा भारी सहारा समझ पड़ा।

गुरु नानक आरंभ ही से भक्त थे अतः उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था जिसकी उपासना का स्वरूप हिंदुओं और मुसलमानो दोनो को समान रूप से ग्राह्य हो। उन्होने घरबार छोड़ बहुत दूर-दूर के देशो मे भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने मे उन्हे बड़ी सहायता मिली। अत मे कबीरदास की निर्गुण उपासना का प्रचार उन्होने पजाब मे आरंभ किया और वे सिख-संप्रदाय के आदि गुरु हुए। कबीरदास के समान वे भी कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे। भक्तिभाव से पूर्ण होकर वे जो भजन गाया करते थे उनका संग्रह ( संवत् १६६१ ) ग्रथ साहब मे किया गया है। ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा मे है और कुछ देश की सामान्य काव्य-भाषा हिंदी मे है। यह हिंदी कही तो देश की काव्यभाषा या ब्रजभाषा है, कहीं खड़ी बोली जिसमें इधर उधर पंजाबी के रूप भी आ गए है; जैसे— चल्या, रह्या। भक्ति या विनय के सीधे सादे भाव सीधी सादी भाषा मे कहे गए है, कबीर के समान अशिक्षितों पर प्रभाव डालने के लिये टेढ़े मेढ़े रूपकों में नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावशून्यता का परिचय मिलता है। इनका देहात संवत् १५९६ मे हुआ। संसार की अनित्यता, भगवद्भक्ति और सत स्वभाव के संबध में उदाहरण स्वरूप दो पद दिए जाते हैं—

> इस दम दा मैंनू कीवे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
> यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कही नाहि दिखाया॥

सोच विचार करे मत मन मैं जिसने ढूँढा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परमे निसदिन राम चरन चित लाया॥

---

जो नर दुख में दुख नहिं माने।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिं न तेहि घट ब्रह्म-निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सों ज्यों पानी सँग पानी॥

**दादूदयाल**—यद्यपि सिद्धात-दृष्टि से दादू कबीर के मार्ग के ही अनुयायी है पर उन्होंने अपना एक अलग पथ चलाया जो 'दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादूपंथी लोग इनका जन्म सवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान मे मानते है। इनकी जाति के सबंध में भी मतभेद है। कुछ लोग इन्हे गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर साहब की उत्पत्ति-कथा से मिलती-जुलती दादूदयाल की उत्पत्ति-कथा भी दादू-पथी लोग कहते है। उनके अनुसार दादू बच्चे के रूप मे साबरमती नदी मे बहते हुए लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते है। दादूदयाल का गुरु कौन था, यह ज्ञात नहीं ; पर कबीर का इनकी बानी मे बहुत जगह नाम आया है और इसमे कोई सदेह नहीं कि ये उन्हीं के मतानुयायी थे।

दादूदयाल १४ वर्ष तक आमेर मे रहे। वहाँ से मारवाड़ बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए संवत् १६५६ में नराना में (जयपुर से २० कोस दूर) आकर रह गए। वहाँ से तीन चार कोस पर भराने की पहाड़ी है। वहाँ भी ये अंतिम समय में कुछ दिनों तक रहे और वही संवत् १६६० मे शरीर छोड़ा। वह स्थान दादूपंथियो का प्रधान अड्डा है और वहाँ दादूजी के कपड़े और

पोथियाँ अब तक रखी हैं। और निर्गुणपंथियों के समान दादूपंथी लोग भी अपने को निरंजन निराकार का उपासक बताते हैं। ये लोग न तिलक लगाते हैं न कंठी पहनते हैं, हाथ में एक सुमिरनी रखते हैं और 'सत्तराम' कहकर अभिवादन करते हैं।

दादू की बानी अधिकतर कबीर की साखी से मिलते-जुलते दोहों में है, कहीं कहीं गाने के पद भी हैं। भाषा मिली जुली पच्छिमी हिंदी है जिसमें राजस्थानी का मेल भी है। इन्होंने कुछ पद गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी में भी कहे हैं। कबीर के समान पूरबी हिंदी का व्यवहार इन्होंने नहीं किया है। इनकी रचना में अरबी फारसी के शब्द अधिक आए हैं और प्रेमतत्त्व की व्यंजना अधिक है। घट के भीतर के रहस्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमें बहुत कम है। दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है, पर प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गंभीर है। कबीर के समान खंडन और वाद-विवाद से इन्हें रुचि नहीं थी। इनकी बानी में भी वे ही प्रसंग हैं जो निर्गुणमार्गियों की बानियों में साधारणतः आया करते हैं; जैसे ईश्वर की व्यापकता, सत्तगुरु की महिमा, जाति पाँति का निराकरण, हिंदू मुसलमानों का अभेद, संसार की अनित्यता, आत्मबोध इत्यादि। इनकी रचना का कुछ अनुमान नीचे उद्धृत पद्यों से हो सकता है—

घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर। दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और॥
वह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाइ। भीतर सेवा बंदगी बाहिर काहे जाइ॥
दादू देख दयाल को सकल रहा भरपूर। रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जानै दूर॥
केते पारखि पचि मुए कीमति कही न जाइ। दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाइ॥
जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाइ। दादू पाणी लूण ज्यों ऐसे रहै समाइ॥

---

भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।

द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
बाद बिवाद-काहु सौं नाहीं मैं हूँ जग तें न्यारा॥
समदृष्टी सूँ भाई सहज में आपहि आप बिचारा॥

मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं निरबैरी निरविकारा ॥
काम कल्पना कदे न कीजे, पूरन ब्रह्म पियारा ।
एहि पथि पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा ॥

**सुंदरदास**—ये खंडेलवाल बनिए थे और चैत्र शुक्ल ९ संवत् १६५३ में द्यौसा नामक स्थान ( जयपुर राज्य ) मे उत्पन्न हुए थे । इनके पिता का नाम परमानंद और माता का नाम सती था । जब ये ६ वर्ष के थे तब दादूदयाल द्यौसा मे गए थे । तभी से ये दादूदयाल के शिष्य हो गए और उनके साथ रहने लगे । संवत् १६६० मे दादूदयाल का देहांत हुआ । तब तक ये नराना मे रहे । फिर जगजीवन साधु के साथ अपने जन्मस्थान द्यौसा में आ गए । वहाँ संवत् १६६३ तक रहकर फिर जगजीवन के साथ काशी चले आए । वहाँ तीस वर्ष की अवस्था तक ये संस्कृत व्याकरण, वेदांत और पुराण आदि पढ़ते रहे । संस्कृत के अतिरिक्त ये फारसी भी जानते थे । काशी से लौटने पर ये राजपूताने के फतहपुर ( शेखावाटी ) नामक स्थान मे आ रहे । वहाँ के नवाब अलिफखाँ इन्हे बहुत मानते थे । इनका देहांत कार्तिक शुक्ल ८ संवत् १७४६ में साँगानेर में हुआ ।

इनका डील डौल बहुत अच्छा, रंग गोरा और रूप बहुत सुंदर था । स्वभाव अत्यंत कोमल और मृदुल था । ये बालब्रह्मचारी थे, और स्त्री की चर्चा से सदा दूर रहते थे, निर्गुणपंथियों में ये ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हे समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे । अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है । भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है । भक्ति और ज्ञानचर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बड़े सुंदर पद्य कहे हैं । और संतों ने केवल गाने के पद और दोहे कहे है, पर इन्होंने सिद्धहस्त कवियो के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे हैं । यों तो छोटे-मोटे इनके अनेक ग्रंथ है पर 'सुंदरविलास' ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसमें कवित्त, सवैये ही अधिक हैं । इन कवित्त-सवैयो मे यमक, अनुप्रास और अर्थालंकार आदि की योजना बराबर मिलती है । इनकी रचना काव्यपद्धति के अनुसार होने के कारण और संतों की रचना से भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है ।

संत तो ये थे ही, पर कवि भी थे इससे समाज की रीति-नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे। भिन्न भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी बड़ी विनोद-पूर्ण उक्तियाँ हैं, जैसे गुजरात पर—"आभड छीत अतीत सों होत बिलार औ कूकर चाटत हाँड़ी"; मारवाड़ पर—"वृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन मे गत देस है मारू"; दक्षिण पर—"राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज, करै सब भच्छन"; पूरब देश पर—"बाम्हन छत्रिय बैसरु सूदर चारोइ बर्न के मच्छ बघारत"।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पँचागिनि बारी॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुंदरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँडिकै कासन ऊपर आसन मार्यो, पै आस न मारी॥

व्यर्थ की तुकबंदी और ऊटपटाँग बानी इनको रुचिकर न थी। इसका पता इनके इस कवित्त से लगता है—

बोलिए तौ तब जब बलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामे लहिए॥
गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय
श्रवण के सुनतहीं मनै जाय गहिए।
तुकभंग छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए॥

सुशिक्षा द्वारा विस्तृत दृष्टि प्राप्त होने से इन्होंने और निर्गुणवादियों के समान लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। पातिव्रत का पालन करनेवाली स्त्रियों, रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करनेवाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में सन्मान के लिये पूरी जगह थी। दो उदाहरण अलम् है—

पति ही सूँ प्रेम होय, पति ही सूँ नेम होय,
पति ही सूँ छेम होय, पति ही सूँ रत है।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूँ मिटै सोग, पति ही को जत है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुंदर सकल बिधि एक पतिव्रत है।

---

सुनत नगारे चोट विगसै कमलमुख,
अधिक उछाह फूल्यो मात है न तन मे।
फेरै जब साँग तब कोऊ नहिं धीर धरै,
कायर कँपायमान होत देखि मन में॥
कूदि कै पतग जैसे परत पावक माहिं,
ऐसे टूटि परै बहु सावत के गन में।
मारि घमासान करि सुंदर जुहारै श्याम,
सोई सूरबीर रूपि रहै जाय रन में॥

इसी प्रकार इन्होंने जो सृष्टितत्त्व आदि विषय कहे हैं वे भी औरो के समान मनमाने और ऊटपटाँग नहीं हैं, शास्त्र के अनुकूल है। उदाहरण के लिये नीचे का पद्य लीजिए जिसमे ब्रह्म के आगे और सब क्रम साख्य के अनुकूल है—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्त्व, पुनि अहंकार है।
अहकार हू तें तीन गुण सत रज तम,
तमहू तें महाभूत विषय-पसार है॥
रजहू तें इंद्री दस पृथक् पृथक् भई,
सत्तहू तें मन आदि देवता विचार है।

ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूँ कहत गुरु,
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है॥

मलूकदास—मलूकदास का जन्म लाला सुंदरदास खत्री के घर मे वैशाख कृष्ण ५ संवत् १६३१ मे कड़ा जिला इलाहाबाद मे हुआ। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था मे सवत् १७३९ में हुई। ये औरंगजेब के समय मे दिल के अंदर खोजनेवाले निर्गुण मत के नामी संतो मे हुए है और इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल और काबुल तक मे कायम हुई। इनके संबंध मे बहुत से चमत्कार या करामाते प्रसिद्ध है। कहते है कि एक बार इन्होने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रुपयो का तोड़ा गंगाजी मे तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेजा था।

आलसियो का यह मूल मंत्र—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम॥

इन्हीं का है। इनकी दो पुस्तके प्रसिद्ध है—रत्नखान और ज्ञानबोध। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को उपदेश देने मे प्रवृत्त होने के कारण दूसरे निर्गुणमार्गी संतों के समान इनकी भाषा मे भी फारसी और अरबी शब्दों का बहुत प्रयोग है। इसी दृष्टि से बोलचाल की खड़ी बोली का पुट इन सब सतो की बानी मे एक सा पाया जाता है। इन सब लक्षणो के होते हुए भी इनकी भाषा सुव्यवस्थित और सुंदर है। कहीं कहीं अच्छे कवियो का सा पद-विन्यास और कवित्त आदि छंद भी पाए जाते है। कुछ पद्य बिलकुल खड़ी बोली मे हैं। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर इनकी बानी बड़ी मनोहर है। दिग्दर्शन मात्र के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हे—

अब तो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुआ जाके मुनि गध्रव हैं जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलौ, ऐसे रूप घनेरे॥
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तैं नैननि हेरे।

कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे ॥
नाम हमारा खाक है, हम खाकी बंदे।
खाकहि से पैदा किए, अति गाफिल गंदे ॥
कबहूँ न करते बंदगी, दुनिया मे भूले।
आसमान को ताकते घोडे चढ फूले ॥

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहि लगैं पियारे ॥
तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुँ से कोइ नहिं पाया ॥
छत्तिस पवन हमारी जाति। हमहीं दिन औ हमहीं राति ॥
हमहीं नरवर कीट पतंगा। हमही दुर्गा, हमहीं गंगा ॥
हमहीं मुल्ला हमहीं काजी। तीरथ बरत हमारी बाजी ॥
हमही दसरथ, हमही राम। हमरै क्रोध औ हमरै काम ॥
हमहीं रावन हमही कंस। हमहीं मारा अपना बंस ॥

**अक्षर अनन्य**—संवत् १७१० मे इनके वर्तमान रहने का पता लगता है। ये दतिया रियासत के अंतर्गत के सेनुहरा के कायस्थ थे और कुछ दिनों तक दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। पीछे ये विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे। प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए। एक बार ये छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जंगल में चले गए। पता लगने पर जब महाराज छत्रसाल क्षमा प्रार्थना के लिये इनके पास गए तब इन्हे एक झाड़ी के पास खूब पैर फैलाकर लेटे हुए पाया। महाराज ने पूछा "पॉव पसारा कब से?" चट उत्तर मिला—"हाथ समेटा जब से"। ये विद्वान् थे और वेदांत के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होने योग और वेदात पर कई ग्रथ राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, सिद्धातबोध, विवेकदीपिका, ब्रह्मज्ञान, अनन्यप्रकाश आदि लिखे और दुर्गा-सप्तशती का भी हिंदी पद्यों में अनुवाद किया। राजयोग के कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

यह भेद सुनौ पृथिचंदराय। फल चारहु को साधन उपाय ॥
यह लोक सधै सुख पुत्र बाम। पर लोक नसै बस नरकधाम ॥
परलोक लोक दोउ सधै जाय। सोइ राजजोग सिद्धांत आय ॥
निज राजजोग ज्ञानी करंत। हठि मूढ धर्म साधत अनंत ॥

## प्रकरण ३

## प्रेममार्गी ( सूफी ) शाखा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस काल के निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी शाखा उन सूफी कवियो की है जिन्होने प्रेमगाथाओं के रूप मे उस प्रेमतत्त्व का वर्णन किया है जो ईश्वर को मिलानेवाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप से मिलता है। इस संप्रदाय के साधु कवियो का अब वर्णन किया जाता है—

कुतबन—ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। अतः इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग ( संवत् १५५० ) था। इन्होने 'मृगावती' नाम की एक कहानी चौपाई-दोहे के क्रम से सन् ९०९ हिजरी ( संवत् १५५८ ) मे लिखी जिसमे चंद्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेमकथा का वर्णन है। इस कहानी के द्वारा कवि ने प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच बीच मे सूफियों की शैली पर बडे सुंदर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास हैं।

कहानी का सारांश यह है—चंद्रगिरि के राजा गणपतिदेव का पुत्र कंचन-नगर के राजा रूपमुरारि की मृगावती नाम की राजकुमारी पर मोहित हुआ। यह राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी। अनेक कष्ट झेलने के उपरात राजकुमार उसके पास तक पहुँचा। पर एक दिन मृगावती राजकुमार को धोखा देकर कही उड़ गई। राजकुमार उसकी खोज मे योगी होकर निकल पड़ा। समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुँचकर उसने रुक्मिनी नाम की एक सुंदरी को एक राक्षस से बचाया। उस सुंदरी के पिता ने राजकुमार के साथ उसका विवाह कर दिया। अंत मे राजकुमार उस नगर मे पहुँचा जहाँ अपने पिता की मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठकर मृगावती राज्य कर रही थी। वहाँ वह १२

वर्ष रहा। पता लगने पर राजकुमार के पिता ने घर बुलाने के लिये दूत भेजा। राजकुमार पिता का सँदेसा पाकर मृगावती के साथ चल पड़ा और उसने मार्ग में रुक्मिनी को भी ले लिया। राजकुमार बहुत दिनों तक आनद-पूर्वक रहा पर अंत में आखेट के समय हाथी से गिरकर मर गया। उसकी दोनों रानियाँ प्रिय के मिलने की उत्कंठा में बड़े आनद के साथ सती हो गईं—

रुकमिनि पुनि वैसहि मार गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

**मंझन**—इनके सबंध मे कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इनकी रची मधुमालती की एक खंडित प्रति मिली है जिससे इनकी कोमल कल्पना और स्निग्ध-सहृदयता का पता लगता है। मृगावती के समान मधुमालती मे भी पाँच चौपाइयों ( अर्द्धालियों ) के उपरात एक दोहे का क्रम रखा गया है। पर मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना भी विशद है और वर्णन भी अधिक विस्तृत और हृदयग्राही है। आध्यात्मिक प्रेमभाव की व्यंजना के लिये प्रकृति के भी अधिक दृश्यों का समावेश मंझन ने किया है। कहानी भी कुछ अधिक जटिल और लंबी है जो अत्यंत संक्षेप में नीचे दी जाती है।

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर नामक एक सोए हुए राजकुमार को अप्सराएँ रातो-रात महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी मे रख आईं। वहाँ जागने पर दोनो का साक्षात्कार हुआ और दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। पूछने पर मनोहर ने अपना परिचय दिया और कहा— "मेरा अनुराग तुम्हारे उपर कई जन्मो का है इससे जिस दिन मै इस संसार मे आया उसी दिन से तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ।" बातचीत करते करते दोनों एक साथ सो गए और अप्सराएँ राजकुमार को उठाकर फिर उसके घर पर रख आईं। दोनों जब अपने अपने स्थान पर जगे तब प्रेम मे बहुत व्याकुल हुए। राजकुमार वियोग से विकल होकर घर से निकल पड़ा और उसने समुद्र के मार्ग से यात्रा की। मार्ग मे तूफान आया जिसमे इष्ट-मित्र इधर उधर बह गए। राजकुमार एक पटरे पर बहता हुआ एक जगल मे जा लगा, जहाँ एक स्थान पर एक सुंदरी स्त्री पलँग पर लेटी दिखाई पडी। पूछने पर जान

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, निर्गुणमार्गी संत कवियों की परंपरा मे थोडे ही ऐसे हुए है जिनकी रचना साहित्य के अंतर्गत आ सकती है। शिक्षितों का समावेश कम होने से इनकी बानी अधिकतर सांप्रदायिकों के ही काम की है; उसमे मानव जीवन की भावनाओं की वह विस्तृत व्यंजना नही है जो साधारण जन समाज को आकर्षित कर सके। इस प्रकार के संतो को परंपरा यद्यपि बराबर चलती रही और नए नए पंथ निकलते रहे पर देश के सामान्य साहित्य पर उनका कोई प्रभाव न रहा। दादूदयाल की शिष्य-परंपरा मे जगजीवनदास या जगजीवन साहब हुए जो संवत् १८१८ के लगभग वर्त्तमान थे। ये चंदेल ठाकुर थे और कोटवा (बाराबंकी) के निवासी थे। इन्होने अपना एक अलग 'सत्यनामी' संप्रदाय चलाया। इनकी बानी मे साधारण ज्ञान-चर्चा है। इनके शिष्य दूलमदास हुए जिन्होने एक शब्दावली लिखी। उनके शिष्य तोवरदास और पहलवानदास हुए। तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए है। प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने इस प्रकार के बहुत से संतो की बानियाँ प्रकाशित की है।

निर्गुण-पंथ के संतो के संबंध मे यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमे कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उनपर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करेगा। उनमे जो थोड़ा बहुत भेद दिखाई पडेगा वह उन अवयवो की न्यूनता या अधिकता के कारण जिनका मेल करके निर्गुण-पंथ चला है। जैसे, किसी मे वेदांत के ज्ञान-तत्त्व का अवयव अधिक मिलेगा, किसी मे योगियों के साधना-तत्त्व का, किसी मे सूफियो के मधुर प्रेम-तत्त्व का और किसी मे व्यावहारिक ईश्वरभक्ति (कर्त्ता, पिता, प्रभु की भावना से युक्त) का। यह दिखाया जा चुका है कि निर्गुण-पंथ मे जो थोडा बहुत ज्ञानपक्ष है वह वेदांत से लिया हुआ है; जो प्रेम-तत्त्व है वह सूफियो का है, न कि वैष्णवो का[1]। 'अहिंसा' और 'प्रपत्ति' के अतिरिक्त वैष्णवत्व का और कोई अंश उसमे नही है।

---

१—देखो पृ० ६४।

उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धो के है। बौद्धधर्म के अष्टागमार्ग के अंतिम मार्ग हैं—सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। 'सम्यक् स्मृति' वह दशा है जिसमे क्षण क्षण पर मिटनेवाला ज्ञान स्थिर हो जाता है और उसकी श्रृंखला बँध जाती है। 'समाधि' मे साधक सब संवेदनो से परे हो जाता है। अतः 'सुरति', 'निरति' शब्द योगियों की बानियों से आए है, वैष्णवों से उनका कोई संबध नही।

---

पड़ा कि वह चितबिसरामपुर के राजा चित्रसेन की कुमारी प्रेमा थी जिसे एक राक्षस उठा लाया था। मनोहर कुमार ने उस राक्षस को मारकर प्रेमा का उद्धार किया। प्रेमा ने मधुमालती का पता बताकर कहा कि मेरी वह सखी है, मै उसे तुमसे मिला दूँगी। मनोहर को लिए हुए प्रेमा अपने पिता के नगर में आई। मनोहर के उपकार को सुनकर प्रेमा का पिता उसका विवाह मनोहर के साथ करना चाहता है। पर प्रेमा यह कहकर अस्वीकार करती है कि मनोहर मेरा भाई है और मैंने उसे उसकी प्रेमपात्री मधुमालती से मिलाने का वचन दिया है।

दूसरे दिन मधुमालती अपनी माता रूपमंजरी के साथ प्रेमा के घर आई और प्रेमा ने उसके साथ मनोहर कुमार का मिलाप करा दिया। सवेरे रूपमंजरी ने चित्रसारी मे जाकर मधुमालती को मनोहर के साथ पाया। जगने पर मनोहर ने तो अपने को दूसरे स्थान मे पाया और रूपमंजरी अपनी कन्या को भला बुरा कहकर मनोहर का प्रेम छोड़ने को कहने लगी। जब उसने न माना तब माता ने शाप दिया कि तू पक्षी हो जा। जब वह पक्षी होकर उड़ गई तब माता बहुत पछताने और विलाप करने लगी, पर मधुमालती का कहीं पता न लगा। मधुमालती उड़ती उड़ती बहुत दूर निकल गई। कुँवर ताराचंद नाम के एक राजकुमार ने उस पक्षी की सुदरता देख उसे पकड़ना चाहा। मधुमालती को ताराचंद का रूप मनोहर से कुछ मिलता जुलता दिखाई दिया इससे वह कुछ रुक गई और पकड़ ली गई। ताराचंद ने उसे एक सोने के पिंजरे में रखा। एक दिन पक्षी मधुमालती ने प्रेम की सारी कहानी ताराचंद से कह सुनाई जिसे सुनकर उसने प्रतिज्ञा की कि मै तुझे तेरे प्रियतम मनोहर से अवश्य मिलाऊँगा। अंत मे वह उस पिंजरे को लेकर महारस नगर मे पहुँचा। मधुमालती की माता अपनी पुत्री को पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसने मंत्र पढ़कर उसके ऊपर जल छिड़का। वह फिर पक्षी से मनुष्य हो गई। मधुमालती के माता पिता ने ताराचंद के साथ मधुमालती का ब्याह करने का विचार प्रकट किया। पर ताराचंद ने कहा कि "मधुमालती मेरी बहिन है और मैंने उससे प्रतिज्ञा की है कि मै जैसे होगा वैसे मनोहर से मिलाऊँगा।" मधुमालती की माता सारा हाल लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। मधुमालती भी उसे अपने चित्त की दशा

लिखती है। वह दोनो पत्रों को लिए हुए दुःख कर रही थी कि इतने मे उसकी एक सखी आकर सवाद देती है कि राजकुमार मनोहर योगी के वेश मे आ पहुँचा। मधुमालती का पिता अपनी रानी सहित दल-बल के साथ राजा चित्रसेन ( प्रेमा के पिता ) के नगर में जाता है और वहाँ मधुमालती और मनोहर का विवाह हो जाता है। मनोहर, मधुमालती और ताराचद तीनों बहुत दिनो तक प्रेमा के यहाँ अतिथि रहते है। एक दिन आखेट से लौटने पर ताराचंद, प्रेमा और मधुमालती को एक साथ झूला झूलते देख प्रेमा पर मोहित होकर मूर्च्छित हो जाता है। मधुमालती और उसकी सखियाँ उपचार मे लग जाती है।

इसके आगे प्रति खंडित है। पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि प्रेमा और तराचंद का भी विवाह हो गया होगा।

कवि ने नायक और नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिका की भी योजना करके कथा को तो विस्तृत किया ही है, साथ ही प्रेमा और ताराचद के चरित्र द्वारा सच्ची सहानुभूति, अपूर्व संयम और निःस्वार्थ भाव का चित्र दिखाया है। जन्म-जन्मातर और योन्यतर के बीच प्रेम की अखंडता दिखाकर मंझन ने प्रेमतत्त्व की व्यापकता और नित्यता का आभास दिया है। सूफियो के अनुसार यह सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्र मे बँधा है जिसका अवलंबन करके जीव उस प्रेममूर्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। सूफी सब रूपो में उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते है, जैसा कि मझन कहते है—

देखत ही पहिचानेउ तोही। एक रूप जेहि छँदरयो मोही॥
एही रूप वुत अहै छपाना। एही रूप सब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रकटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग मे कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता, किसी की आँखें नही खुल सकतीं—

बिरह-अवधि अवगाह अपारा। कोटि माहिं एक परै त पारा॥
बिरह कि जगत अँबिरथा जाही? बिरह रूप यह सृष्टि सबाही॥

नैन बिरह-अंजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा॥
कोटि माँहि बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह-दुख होई॥
रतन कि सागर सागरहिं? गजमोती गज कोइ।
चँदन कि बन बन उपजै, बिरह कि तन तन होइ?

जिसके हृदय मे यह विरह होता है उसके लिये यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमे परमात्मा के आभास अनेक रूपों मे पडते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रगट कर रहे है। ये भाव प्रेममार्गी सूफी संप्रदाय के सब कवियों में पाए जाते है। मंझन की रचना का यद्यपि ठीक ठीक संवत् नहीं ज्ञात हो सका है पर यह निस्संदेह है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५० और १५९५ (पदमावत का रचना-काल) के बीच में और बहुत संभव है कि मृगावती के कुछ पीछे हुई। इस शैली के सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथ 'पदमावत' मे जायसी ने अपने पूर्व के बने हुए इस प्रकार के काव्यों का संक्षेप मे उल्लेख किया है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधूपाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधे कुँवर खँडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू॥
प्रेमावति कह सुरबर साधा। उषा लागि अनिरुध-बर-बाँधा॥

इन पद्यो मे जायसी के पहले के इन चार काव्यो का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमे से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है, शेष दो अभी नही मिले है। जिस क्रम से ये नाम आए है वह यदि रचना काल के क्रम के अनुसार माना जाय तो मधुमालती की रचना कुतुबन की मृगावती के पीछे की ठहरती है।

जायसी का जो उद्धरण दिया गया है उसमे मधुमालती के साथ 'मनोहर' का नाम नही है, 'खडावत' नाम है। 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राय. फारसी अक्षरों मे ही मिलती है। मैंने चार ऐसी प्रतियाँ देखी है जिन सब मे नायक का ऐसा नाम लिखा है जिसे 'खडावत, कुंदावत, कंडावत, गधावत'

इत्यादि ही पढ़ सकते हैं। केवल एक हस्तलिखित प्रति हिंदू-विश्व-विद्यालय के पुस्तकालय मे ऐसी है जिसमे साफ 'मनोहर' पाठ है। उसमान की 'चित्रा-वली' मे मधुमालती का जो उल्लेख है उसमे भी कुँवर का नाम 'मनोहर' ही है—

मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥

यही नाम 'मधुमालती' की उपलब्ध प्रतियों मे भी पाया जाता है।

'पदमावत' के पहले 'मधुमालती' की बहुत अधिक प्रसिद्धि थी। जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित मे संवत् १६६० के आस पास की अपनी इश्कबाजी वाली जीवनचर्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उस समय मै हाट-बाजार मे जाना छोड, घर मे पडे-पडे 'मृगावती' और 'मधुमालती' नाम की पोथियाँ पढ़ा करता था—

तब घर में बैठे रहैं, नाहिंन हाट-बजार। मधुमालती, मृगावती, पोथी दोय उचार॥

इसके उपरात दक्षिण के शायर नसरती ने भी ( सवत् १७०० ) 'मधुमालती' के आधार पर दक्खिनी उर्दू मे 'गुलशने-इश्क' के नाम से एक प्रेम-कहानी लिखी।

कवित्त-सवैया बनानेवाले एक 'मंझन' पीछे हुए है जिन्हें इनसे सर्वथा पृथक् समझना चाहिए।

**मलिक मुहम्मद जायसी**—ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी ( मुही-उद्दीन ) के शिष्य थे और जायस मे रहते थे। इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'आखिरी कलाम' के नाम से फारसी अक्षरों मे छपी मिली है। यह सन् ९३६ हिजरी मे ( सन् १५२८ ईसवी के लगभग ) बाबर के समय मे लिखी गई थी। इसमें बाबर बादशाह की प्रशंसा है। इस पुस्तक में मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने जन्म के संबंध मे लिखा है—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कबि बदी॥

इन पक्तियों का ठीक तात्पर्य नहीं खुलता। जन्मकाल ९०० हिजरी मानें तो दूसरी पक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३० वर्ष पीछे जायसी कविता करने लगे और इस पुस्तक के कुछ पद्य उन्होंने बनाए।

जायसी का सबसे प्रसिद्ध ग्रथ है 'पदमावत', जिसका निर्माण-काल कवि ने इस प्रकार दिया है—

सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ-बैन कवि कहा॥

इसका अर्थ होता है कि पदमावत की कथा के प्रारभिक वचन (अरभ-बैन) कवि ने ९२७ हिजरी (सन् १५२० ई० के लगभग) मे कहे थे। पर ग्रथारंभ मे कवि ने मसनवी की रूढि के अनुसार 'शाहेवक्त' शेरशाह की प्रशसा की है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहु खड तपै जस भानू॥
ओही छाज गज औ पाटू। सब राजै भुइँ धरा ललाटू॥

शेरशाह के शासन का आरंभ ९४७ हिज़री अर्थात् सन् १५४० ई० से हुआ था। इस दशा मे यही संभव जान पडता है कि कवि ने कुछ थोडे से पद्य तो सन् १५२० ई० मे ही बनाए थे, पर ग्रंथ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय मे पूरा किया। 'पदमावत' का एक बँगला अनुवाद अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के आसपास आलो-उजालो नामक एक कवि से कराया था। उसमे भी 'नव सै सत्ताइस' ही पाठ माना गया है—

शेख महम्मद जनि जखन रचिल ग्रंथ सख्या सप्तविंश नवशत

पदमावत की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फारसी अक्षरो मे मिली हैं जिनमें 'सत्ताइस' और 'सैतालिस' प्रायः एक ही तरह लिखे जायँगे। इससे कुछ लोगो का यह भी अनुमान है कि 'सैतालिस' को लोगों ने भूल से सत्ताइस पढ लिया।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों मे गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने मे इनका बहुत मान था। जीवन के अंतिम दिनो मे जायसी अमेठी से दो मील दूर एक जंगल में रहा करते थे। वहीं इनकी मृत्यु हुई। काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने, जिन्हे अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, अपनी याददाश्त मे जायसी का मृत्युकाल ४ रजब ९४९ हिजरी लिखा है। यह काल कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता।

ये काने और देखने मे कुरूप थे। कहते है शेरशाह इनके रूप को देखकर हँसा था। इस पर ये बोले "मोहिका हँससि कि कोहरहि ?" इनके समय मे ही इनके शिष्य फकीर इनके बनाए भावपूर्ण दोहे चौपाइयाँ गाते फिरते थे। इन्होंने तीन पुस्तकें लिखीं—एक तो प्रसिद्ध 'पदमावत', दूसरी 'अखरावट' तीसरी 'आखिरी कलाम'। 'अखरावट' मे वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धात सबंधी तत्त्वों से भरी चौपाइयाँ कही गई है। इस छोटी सी पुस्तक मे ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वरप्रेम आदि विषयो पर विचार प्रकट किए गए है। 'आखिरी कलाम' मे कयामत का वर्णन है। जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पदमावत', जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और "प्रेम की-पीर" से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष मे, क्या अध्यात्मपक्ष मे, दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।

कबीर ने अपनी झाड-फटकार के द्वारा हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टर पन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढ़ानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन मे जिस हृदय साम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतबन, जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं का सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पडता है। हिंदू-हृदय और मुसलमान-हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों मे इन्ही का नाम लेना पडेगा। इन्होने मुसलमान होकर हिंदुओ की कहानियाँ हिंदुओ ही की बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।

'पदमावत' मे प्रेमगाथा की परपरा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त मिलती है। यह उस परपरा मे सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रथ है। इसकी कहानी में भी विशेषता है।

इसमे इतिहास और कल्पना का योग है। चित्तौर की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिंदू-हृदय के मर्म को स्पर्श करनेवाला है। जायसी ने यद्यपि इतिहासप्रसिद्ध नायक और नायिका ली है पर उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इस रूप में इस कहानी का पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है। पद्मावती की कथा संक्षेप मे इस प्रकार है—

सिंहलद्वीप के राजा गधर्वसेन की कन्या पद्मावती रूप और गुण मे जगत् मे अद्वितीय थी। उसके य ग्य वर कही न मिलता था। उसके पास हीरामन नाम का एक सूआ था जिसका वर्ण सोने के समान था और जो पूरा वाचाल और पडित था। एक दिन वह पद्मावती से उसके वर न मिलने के विषय मे कुछ कह रहा था कि राजा ने सुन लिया और बहुत कोप किया। सूआ राजा के डर से एक दिन उड़ गया। पद्मावती ने सुनकर बहुत विलाप किया।

सूआ बन मे उडता उडता एक बहेलिए के हाथ में पड़ गया जिसने बाजार मे लाकर उसे चित्तौर के एक ब्राह्मण क हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण को एक लाख देकर चित्तौर के राजा रतनसेन ने उसे लिया। धीरे धीरे रतनसेन उसे बहुत चाहने लगा। एक दिन राजा जब शिकार को गया था तब उसकी रानी नागमती ने, जिसे अपने रूप का बडा गर्व था, आकर सूए से पूछा कि "संसार मे मेरे समान सुदरी भी कहीं है?" इस पर सूआ हँसा और उसने सिंहल की पद्मिनी का वर्णन करके कहा कि उसमे-तुममें दिन और अँधेरी रात का अतर है। रानी ने इस भय से कि कहीं यह सूआ राजा से भी न पद्मिनी के रूप की प्रशंसा करे, उसे मारने की आज्ञा दे दी। पर चेरी ने राजा के भय से उसे मारा नहीं; अपने घर छिपा रखा। लौटने पर जब सूए के बिना राजा रतनसेन बहुत व्याकुल और क्रुद्ध हुआ तब सूआ लाया गया और उसने सारी व्यवस्था कह सुनाई। पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया और अंत में व्याकुल होकर उसकी खोज में घर से जोगी होकर निकल पडा। उसके आगे आगे राह दिखानेवाला वही हीरामन सूआ था और साथ मे सोलह हजार कुवर जोगियों के वेश में थे।

कालिंग से जोगियों का यह दल बहुत से जहाजों मे सवार होकर सिंहल की ओर चला और अनेक कष्ट झेलने के उपरांत सिंहल पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर राजा तो एक शिव मंदिर मे जोगियो के साथ बैठकर पद्मावती का ध्यान और जप करने लगा और हीरामन सूए ने जाकर पद्मावती से यह सब हाल कहा। राजा के प्रेम की सत्यता के प्रभाव से पद्मावती प्रेम मे विकल हुई। श्रीपचमी के दिन पद्मावती शिवपूजन के लिये उस मंदिर मे गई; पर राजा उसके रूप को देखते ही मूर्च्छित हो गया, उसका दर्शन अच्छी तरह न कर सका। जागने पर राजा बहुत अधीर हुआ। इसपर पद्मावती ने कहला भेजा कि समय पर तो तुम चूक गए; अब तो इस दुर्गम सिंहलगढ़ पर चढ़ो तभी मुझे देख सकते हो। शिव से सिद्धि प्राप्त कर राजा रात को जोगियों सहित गढ मे घुसने लगा, पर सवेरा हो गया और पकड़ा गया। राजा गंधर्वसेन की आज्ञा से रतनसेन को सूली देने ले जा रहे थे कि इतने मे सोलह हजार जोगियों ने गढ को घेर लिया। महादेव, हनुमान् आदि सारे देवता जोगियो की सहायता के लिये आ गए। गंधर्वसेन की सारी सेना हार गई। अंत में जोगियो के बीच शिव को पहचानकर गधर्वसेन उनके पैरो पर गिर पड़ा और बोला कि पद्मावती आपकी है जिसको चाहे दीजिए। इस प्रकार रतनसेन के साथ पद्मावती का विवाह हो गया और कुछ दिनों के उपरात दोनों चित्तौरगढ़ आ गए।

रतनसेन की सभा मे राघव चेतन नामक एक पंडित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। और पडितों को नीचा दिखाने के लिये उसने एक दिन प्रतिपदा को द्वितीया कहकर यक्षिणी के बल से चद्रमा दिखा दिया। जब राजा को यह कार्रवाई मालूम हुई तब उसने राघव चेतन को देश से निकाल दिया। राघव राजा से बदला लेने और भारी पुरस्कार की आशा से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के दरबार मे पहुँचा और उसने दान में पाए हुए पद्मावती के एक कगन को दिखाकर उसके रूप को संसार के ऊपर बताया। अलाउद्दीन ने पद्मिनी को भेज देने के लिये राजा रतनसेन को पत्र भेजा, जिसे पढ़कर राजा अत्यंत क्रुद्ध हुआ और लड़ाई की तैयारी करने लगा। कई वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ घेरे रहा पर उसे तोड़ न सका। अंत मे उसने छलपूर्वक संधि का प्रस्ताव भेजा। राजा ने स्वीकार करके बादशाह की दावत की। राजा

के साथ शतरंज खेलते समय अलाउद्दीन ने पद्मिनी के रूप की एक झलक सामने रखे हुए एक दर्पण मे देख पाई, जिसे देखते ही वह मूर्छित होकर गिर पडा। प्रस्थान के दिन जब राजा बादशाह को बाहरी फाटक तक पहुँचाने गया तब अलाउद्दीन के छिपे हुए सैनिको द्वारा पकड लिया गया और दिल्ली पहुँचाया गया।

पद्मिनी को जब यह समाचार मिला तब वह बहुत व्याकुल हुई; पर तुरत एक वीर क्षत्राणी के समान अपने पति के उद्धार का उपाय सोचने लगी। गोरा बादल नामक दो वीर क्षत्रिय सरदार ७०० पालकियों मे सशस्त्र सैनिक छिपाकर दिल्ली मे पहुँचे और बादशाह के यहाँ संवाद भेजा कि पद्मिनी अपने पति से थोडी देर मिलकर तब आपके हरम मे जायगी। आज्ञा मिलते ही एक ढकी पालकी राजा की कोठरी के पास रख दी गयी और उसमें से एक लोहार ने निकलकर राजा की बेड़ियाँ काट दी। रतनसेन पहले से ही तैयार एक घोडे पर सवार होकर निकल आए। शाही सेना पीछे आते देख वृद्ध गोरा तो कुछ सिपाहियो के साथ उस सेना को रोकता रहा और बादल रतनसेन को लेकर चित्तौर पहुँच गया। चित्तौर आने पर पद्मिनी ने रतनसेन से कुभलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही जिसे सुनते ही राजा रतनसेन ने कुभलनेर जा घेरा। लडाई मे देवपाल और रतनसेन दोनो मारे गए।

रतनसेन का शव चित्तौर लाया गया। उसकी दोनो रानियाँ नागमती और पद्मावती हँसते हँसते पति के शव के साथ चिता मे बैठ गई। पीछे जब सेना सहित अलाउद्दीन चित्तौर मे पहुँचा तब वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न मिला।

जैसा कि कहा जा चुका है, प्रेमगाथा की परंपरा मे पद्मावत सबसे प्रौढ और सरस है। प्रेममार्गी सूफी कवियो की और कथाओ से इस कथा मे यह विशेषता है कि इसके ब्योरो से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाइयो और सिद्धि के स्वरूप आदि की जगह-जगह व्यजना होती है, जैसा कि कवि ने स्वय ग्रथ की समाप्ति पर कहा है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ?
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बधा ॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू ॥

यद्यपि पदमावत की रचना संस्कृत प्रबध-काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी-शैली पर है, पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्य-परंपरा के अनुसार ही है। इसका पूर्वार्द्ध तो एकांत प्रेममार्ग का ही आभास देता है, पर उत्तरार्द्ध में लोकपक्ष का भी विधान है। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है, वह पाठक को सौंदर्य की लोकोत्तर भावना मे मग्न करनेवाला है। अनेक प्रकार के अलंकारो की योजना उसमे पाई जाती है। कुछ पद्य देखिए,—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई ॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँ पासा ॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा ॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा ॥

पद्मिनी के रूप-वर्णन मे जायसी ने कहीं कही उस अनंत सौंदर्य्य की ओर, जिसके विरह मे यह सारी सृष्टि व्याकुल सी है, बड़े ही सुंदर संकेत किए है—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी ॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहि न गने। वै सब बान ओहि के हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढे। सूतहि सूत बेध अस गाढे ॥
बरुनि-बान अस ओपहँ बेधे रन बनढाख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख ॥

इसी प्रकार योगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन मे साधक के मार्ग के विघ्नो (काम, क्रोध आदि विकारों) की व्यंजना की है—

ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई।

है आगे परवत कै बाटा । विषम पहार अगम सुठि घाटा ॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा । ठावँहि ठावँ बैठ बटपारा ॥

उसमान—ये जहाँगीर के समय मे वर्त्तमान थे और गाजीपुर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था और ये पाँच भाई थे। और चार भाइयो के नाम थे—शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह, शेख हसन। इन्होने अपना उपनाम "मान" लिखा है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरंपरा मे हाजी बाबा के शिष्य थे। उसमान ने सन् १०२२ हिजरी अर्थात् सन् १६१३ ईसवी मे 'चित्रावली' नाम की पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरंभ मे कवि ने स्तुति के उपरात पैगंबर और चार खलीफो की, बादशाह ( जहाँगीर ) की तथा शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। उसके आगे गाजीपुर नगर का वर्णन करके कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि—

आदि हुता विधि माथे लिखा । अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा ॥
देखत जगत चला सब जाई । एक बचन पै अमर रहाई ॥
बचन समान सुधा जग नाहीं । जेहि पाए कवि अमर रहाहीं ॥
मोहूँ चाउ उठा पुनि हीए । होउँ अमर यह अमरित पीए ॥

कवि ने "जोगी ढूँढ़न खड" मे काबुल, बदख्शाँ, खुरासान, रूम, साम, मिस्र, इस्तंबोल, गुजरात, सिंहलद्वीप आदि अनेक देशो का उल्लेख किया है। सबसे विलक्षण बात है जोगियो का अँगरेजो के द्वीप मे पहुँचना—

वलंदीप देखा अँगरेजा । तहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा ।
ऊँच-नीच धन-सपति हेरा । मद बराह भोजन जिन्ह केरा ॥

कवि ने इस रचना मे जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जो जो विषय जायसी ने अपनी पुस्तक मे रखे है उन विषयो पर उसमान ने भी कुछ कहा है। कही कहीं तो शब्द और वाक्यविन्यास भी वही है। पर विशेषता यह है कि कहानी बिलकुल कवि की कल्पित है, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है।

कथा एक मैं हिए उपाई । कहत मीठ औ सुनत सोहाई ॥

कथा का साराश यह है—

नैपाल के राजा धरनीधर पँवार ने पुत्र के लिये कठिन व्रत-पालन करके शिव-पार्वती के प्रसाद से 'सुजान' नामक एक पुत्र प्राप्त किया। सुजान कुमार एक दिन शिकार मे मार्ग भूल देव ( प्रेत ) की एक मढ़ी मे जा सोया। देव ने आकर उसकी रक्षा स्वीकार की। एक दिन वह देव अपने एक साथी के साथ रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्षगाँठ का उत्सव देखने के लिये गया और अपने साथ सुजान कुमारी को भी लेता गया। और कोई उपयुक्त स्थान न देख देवों ने कुमार को राजकुमारी की चित्रसारी में ले जाकर रखा और आप उत्सव देखने लगे। कुमार राजकुमारी का चित्र टँगा देख उसपर आसक्त हो गया और अपना भी एक चित्र बनाकर उसी की बगल में टाँगकर सो रहा। देव लोग उसे उठाकर फिर उसी मढ़ी में रख आए। जागने पर कुमार को चित्रवाली घटना स्वप्न सी मालूम हुई; पर हाथ मे रंग लगा देख उसके मन मे घटना के सत्य होने का निश्चय हुआ और वह चित्रावली के प्रेम मे विकल हो गया। इसी बीच में उसके पिता के आदमी आकर उसको राजधानी में ले गए। पर वहाँ वह अत्यत खिन्न और व्याकुल रहता। अंत मे अपने सहपाठी सुबुद्धि नामक एक ब्राह्मण के साथ वह फिर उसी मढ़ी मे गया और वहाँ बड़ा भारी अन्नसत्र खोल दिया।

राजकुमारी चित्रावली भी उसका चित्र देख प्रेम में विह्वल हुई और उसने अपने नपुंसक भृत्यों को, जोगियो के वेश मे, राजकुमार का पता लगाने के लिये भेजा। इधर एक कुटीचर ने कुमारी की माँ हीरा से चुगली की और कुमार का वह चित्र धो डाला गया। कुमारी ने जब यह सुना तब उसने उस कुटीचर का सिर मुँड़ाकर उसे निकाल दिया। कुमारी के भेजे हुए जोगियो मे से एक सुजान कुमार के उस अन्नसत्र तक पहुँचा और राजकुमार को अपने साथ रूपनगर ले आया। वहाँ एक शिवमदिर मे उसका कुमारी के साथ साक्षात्कार हुआ। पर ठीक इसी अवसर पर कुटीचर ने राजकुमार को अधा कर दिया और एक गुफा में डाल दिया जहाँ उसे एक अजगर निकल गया। पर उसके विरह की ज्वाला से घबराकर उसने उसे चट उगल दिया। वहीं पर एक वनमानुस ने उसे एक अजन दिया जिससे उसकी दृष्टि फिर ज्यो की त्यों हो गई। वह जंगल में घूम रहा था कि उसे एक हाथी ने पकड़ा। पर

उस हाथी को भी एक पक्षिराज ले उड़ा और उसने घबराकर कुमार को समुद्रतट पर गिरा दिया। वहाँ से घूमता-फिरता कुमार सागरगढ़ नामक नगर में पहुँचा और राजकुमारी कँवलावती की फुलवारी में विश्राम करने लगा। राजकुमारी जब सखियों के साथ वहाँ आई तब उसे देख मोहित हो गई और उसने उसे अपने यहाँ भोजन के बहाने बुलवाया। भोजन में अपना हार रखवाकर कुमारी ने चोरी के अपराध में उसे कैद कर लिया। इसी बीच में सोहिल नाम का कोई राजा कँवलावती के रूप की प्रशंसा सुन उसे प्राप्त करने के लिये चढ़ आया। सुजान कुमार ने उसे मार भगाया। अंत में सुजान कुमार ने कँवलावती से, चित्रावली के न मिलने तक समागम न करने की प्रतिज्ञा करके विवाह कर लिया। कँवलावती को लेकर कुमार गिरनार की यात्रा के लिये गया।

इधर चित्रावली के भेजे एक जोगी-दूत ने गिरनार में उसे पहचाना और चट चित्रावली को जाकर संवाद दिया। चित्रावली का पत्र लेकर वह दूत फिर लौटा और सागरगढ़ में धुईं लगाकार बैठा। कुमार सुजान उस जोगी की सिद्धि सुन उसके पास आया और उसे जानकर उसके साथ रूपनगर गया। इसी बीच वहाँ पर सागरगढ़ के एक कथक ने चित्रावली के पिता की सभा में जाकर सोहिल राजा के युद्ध के गीत सुनाए; जिन्हें सुन राजा को चित्रावली के विवाह की चिंता हुई। राजा ने चार चित्रकारों को भिन्न भिन्न देशों के राजकुमारों के चित्र लाने को भेजा। इधर चित्रावली का भेजा हुआ वह जोगी-दूत सुजान कुमार को एक जगह बैठाकर उसके आने का सामाचार कुमारी को देने आ रहा था। एक दासी ने यह समाचार द्वेषवश रानी से कह दिया और वह दूत मार्ग ही में कैद कर लिया गया। दूत के न लौटने पर सुजान कुमार बहुत व्याकुल हुआ और चित्रावली का नाम ले लेकर पुकारने लगा। राजा ने उसे मारने के लिये मतवाला हाथी छोड़ा, पर उसने उसे मार डाला। इसपर राजा उसपर चढ़ाई करने जा रहा था कि इतने में भेजे हुए चार चित्रकारों में से एक चित्रकार सागरगढ़ से सोहिल के मारनेवाले सुजान कुमार का चित्र लेकर आ पहुँचा। राजा ने जब देखा कि चित्रावली का प्रेमी वही सुजान कुमार है तब उसने अपनी कन्या चित्रावली के साथ उसका विवाह कर दिया।

कुछ दिनों में सागरगढ़ की कँवलावती ने विरह से व्याकुल होकर सुजान

कुमार के पास हंस मिश्र को दूत बनाकर भेजा जिसने भ्रमर की अन्योक्ति द्वारा कुमार को कँवलावती के प्रेम का स्मरण कराया। इसपर सुजान कुमार ने चित्रावली को लेकर स्वदेश की ओर प्रस्थान किया और मार्ग मे कँवलावती को भी साथ ले लिया। मार्ग मे कवि ने समुद्र के तूफान का वर्णन किया है। अंत मे राजकुमार अपने घर नैपाल पहुँचा और उसने वहाँ दोनो रानियो सहित बहुत दिनो तक राज्य किया।

जैसा कि कहा जा चुका है, उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी के पहले के कवियों ने पाँच पाँच चौपाइयो ( अर्द्धालियो ) के पीछे एक दोहा रखा है, पर जायसी ने सात सात चौपाइयो का क्रम रखा और यही क्रम उसमान ने भी रखा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी की रचना भी बहुत कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। कवि ने सुजान कुमार को एक साधक के रूप मे चित्रित ही नहीं किया है बल्कि पौराणिक शैली का अवलंबन करके उसने उसे परम योगी शिव के अंश मे उत्पन्न तक कहा है। महादेवजी राजा धरनीधर पर प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—

देखु देन हौं आपन अंसा। अब तोरे होइहौ निज बसा॥

कँवलावती और चित्रावली अविद्या और विद्या के रूप में कल्पित जान पड़ती हैं। सुजान का अर्थ ज्ञानवान् है। साधनाकाल मे अविद्या को बिना दूर रखे विद्या (सत्यज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी से सुजान ने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कँवलावती के साथ समागम न करने की प्रतिज्ञा की थी। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दान-महिमा आदि का वर्णन चित्रावली मे भी है। सरोवर-क्रीडा के वर्णन मे एक दूसरे ढंग से कवि ने "ईश्वर की प्राप्ति" की साधना की ओर संकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल मे यह कहकर छिप जाती है कि मुझे जो ढूँढ ले उसकी जीत समझी जायगी। सखियाँ ढूँढती है और नही पाती हैं—

सरवर ढूँढि सबै पचि रही। चित्रिन खोज न पावा कही॥
निकसीं तीर भईं बैरागी। धरे ध्यान सब बिनवै लागीं।
गुपुत तोहि पावहिं का जानी। परगट महँ जो रहै छपानी॥

चतुरानन पढ़ि चारौ बेदू । रहा खोजि पै पाव न भेदू ॥
हम अधी जेहि आप न सूझा । भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा ॥
कौन सो ठाउँ जहाँ तुम नाहीं । हम चख जोति न, देखहिं काही ॥
खोज तुम्हार सो, जेहि दिखरावहु पथ। कहा होइ जोगी भए, और बहु पढे ग्रंथ ॥

विरह-वर्णन के अतर्गत षट्‌ऋतु का वर्णन सरस और मनोहर है—

ऋतु बसत नौतन बन फूला । जहँ तहँ भौर कुसुम-रंग भूला ॥
आहि कहाँ सो, भँवर हमारा । जेहि बिनु बसत बसत उजारा ॥
रात बरन पुनि देखि न जाई । मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई ॥
रतिपति-दुरद ऋतुपती बली । कानन-देह आइ दलमली ॥

शेखनबी—ये जौनपुर जिले मे दोसपुर के पास मऊ नामक स्थान के रहनेवाले थे और सवत् १६७६ में जहाँगीर के समय मे वर्त्तमान थे। इन्होंने "ज्ञानदीप" नामक एक आख्यान-काव्य लिखा जिसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा है।

यहीं प्रेममार्गी सूफी कवियो की प्रचुरता की समाप्ति समझनी चहिए। पर जैसा कहा जा चुका है, काव्यक्षेत्र में जब कोई परंपरा चल पड़ती है तब उसके प्राचुर्य्य-काल के पीछे भी कुछ दिनो तक समय समय पर उस शैली की रचनाएँ थोड़ी बहुत होती रहती है; पर उनके बीच कालातर भी अधिक रहता है और जनता पर उनका प्रभाव भी वैसा नहीं रह जाता। अतः शेख नबी से प्रेमगाथा परपरा समाप्त समझनी चाहिए। 'ज्ञानदीप' के उपरांत सूफियो की पद्धति पर जो कहानियाँ लिखी गई उनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जाता है।

कासिमशाह—ये दरियाबाद (बाराबंकी) के रहनेवाले थे और सवत् १७८८ के लगभग वर्त्तमान थे। इन्होने "हस जवाहिर" नाम को कहानी लिखी जिसमे राजा हस और रानी जवाहिर की कथा है।

फारसी अक्षरों मे छपी (नामी प्रेस, लखनऊ) इस पुस्तक की एक प्रति हमारे पास है। उसमे कवि शाहेवक्त का इस प्रकार उल्लेख करके—

मुहमदसाह दिल्ली सुलतानू। का मन गुन ओहि केर बखानू॥
छाजै पाट छत्र सिर ताजू। नावहिं सीस जगत के राजू॥

रूपवंत दरसन मुँह राता । भागवत ओहि कीन्ह बिधाता ॥
दरबवंत धरम महँ पूरा । ज्ञानवंत खड्ग महँ सूरा ॥

अपना परिचय इन शब्दो मे दिया है—

दरियाबाद माँझ मम ठाउँ । अमानुल्ला पिता कर नाउँ ॥
तहवाँ मोहिं जनम बिधि दीन्हा । कासिम नावँ जाति कर हीना ॥
तेहूँ बीच बिधि कीन्ह कमीना । ऊँच सभा बैठे चित दीना ॥
ऊँचे संग ऊँच मन भावा । तब भा ऊँच ज्ञान-बुधि पावा ॥
ऊँचा पंथ प्रेम का होई । तेहि महँ ऊँच भए सब कोई ॥

कथा का सार कवि ने यह दिया है—

कथा जो एक गुपुत महँ रहा । सो परगट उघारि मैं कहा ॥
हंस जवाहिर बिधि औतारा । निरमल रूप सो दई सँवारा ॥
बलख नगर बुरहान सुलतानू । तेहि घर हंस भए जस भानू ॥
आलमशाह चीनपति भारी । तेहि घर जनमी जवाहिर बारी ॥
तेहि कारन वह भएउ बियोगी । गएउ सो छाडि देस होइ जोगी ॥
अंत जवाहिर हंस घर आनी । सो जग महँ यह गयउ बखानी ॥
सो सुनि ज्ञान-कथा मैं कीन्हा । लिखेउँ सो प्रेम, रहै जग चीन्हा ॥

इनकी रचना बहुत निम्न कोटि की है। इन्होंने जगह जगह जायसी की पदावली तक ली है, पर प्रौढ़ता नही है।

**नूरमुहम्मद**—ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय मे थे और सबरहद नामक स्थान के रहनेवाले थे जो जौनपुर जिले में जौनपुर-आजमगढ की सरहद पर है। पीछे सबरहद से ये अपनी सुसराल भादो ( जिला-आजमगढ़ ) चले गए। इनके श्वसुर शमसुद्दीन को और कोई वारिस न था इससे ये ससुराल ही में रहने लगे। नूरमुहम्मद के भाई मुहम्मद शाह सबरहद ही मे रहे। नूरमुहम्मद के दो पुत्र हुए—गुलाम हसनैन और नसीरुद्दीन। नसीरुद्दीन की वंश-परंपरा में शेख फिदाहुसैन अभी वर्त्तमान हैं, जो सबरहद और कभी कभी भादो में भी रहा करते हैं। अवस्था इनकी ८० वर्ष की है।

नूरमुहम्मद फारसी के अच्छे आलिम थे और इनका हिंदी काव्यभाषा का भी ज्ञान और सब सूफी कवियो से अधिक था। फारसी में इन्होने एक दीवान के अतिरिक्त 'रौजतुल हकायक' इत्यादि बहुत सी किताबें लिखी थी जो असावधानी के कारण नष्ट हो गईं। इन्होने ११५७ हिजरी ( संवत् १८०१ ) में 'इंद्रावती' नामक एक सुदर आख्यान-काव्य लिखा जिसमे कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेम-कहानी है। कवि ने प्रथानुसार उस समय के शासक मुहम्मदशाह की प्रशंसा इस प्रकार की है—

करौं मुहम्मदसाह बखानू। है सूरज देहलो सुलतानू॥
धरमपथ जग बीच चलावा। निबर न सबरे सों दुख पावा॥
बहुतै सलातीन जग केरे। आइ सहास बने हैं चेरे॥
सब काहू पर दाया धरई। धरम सहित सुलतानी करई॥

कवि ने अपनी कहानी की भूमिका इस प्रकार बाँधी है—

मन-दृग सों इक राति मझारा। सूझि परा मोहि सब संसारा॥
देखेउँ एक नीक फुलवारी। देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी॥
दोउ मुख सोभा बरनि न जाई। चंद सुरुज उतरे भुइँ आई॥
तपी एक देखेउँ तेहि ठाऊँ। पूछेउँ तासौं तिन्हकर नाऊँ॥
कहा अहै राजा औ रानी। इंद्रावति औ कुँवर गियानी॥

आगमपुर इंद्रावती कुँवर कलिंजर राय।
प्रेम हुँते दोउन्ह कह दीन्हा अलख मिलाय॥

कवि ने जायसी के पहले के कवियो के अनुसार पाँच पाँच चौपाइयों के उपरात दोहे का क्रम रखा है। इसी ग्रथ को सूफी-पद्धति का अंतिम ग्रंथ मानना चाहिए।

इनका एक और ग्रंथ फारसी अक्षरो मे लिखा मिला है जिसका नाम है 'अनुराग-बाँसुरी'। यह पुस्तक कई दृष्टियो से विलक्षण है। पहली बात तो इसकी भाषा है जो और सब सूफी-रचनाओ से बहुत अधिक संस्कृत गर्भित है। दूसरी बात है हिंदी भाषा के प्रति मुसलमानों का भाव। 'इंद्रावती' की रचना करने पर शायद नूरमुहम्मद को समय समय पर यह उपालंभ सुनने को मिलता था कि "तुम मुसलमान होकर हिंदी-भाषा में रचना करने क्यो गए"। इसी से 'अनुराग-बाँसुरी' के आरभ में उन्हे यह सफाई देने की जरूरत पड़ी—

जानत है वह सिरजनहारा । जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिंदू- मग पर पाँव न राखेउँ । का जौ बहुतै हिंदी भाखेउँ ॥
मन इसलाम मिरिकलै माँजेउँ । दीन जेंवरी करकस भाँजेउँ ॥
जहँ रसूल अल्लाह पियारा । उम्मत को मुक्तावनहारा ॥
तहाँ दूसरी कैसे भावै । जच्छ असुर सुर काज न आवै ॥

इसका तात्पर्य यह है कि संवत् १८०० तक आते आते मुसलमान हिंदी से किनारा खींचने लगे थे । हिंदी हिंदुओं के लिये छोड़कर अपने लिखने-पढ़ने की भाषा वे विदेशी अर्थात् फारसी ही रखना चाहते थे । जिसे 'उर्दू' कहते हैं उसका उस समय तक साहित्य में कोई स्थान न था, इसका स्पष्ट आभास नूर-मुहम्मद के इस कथन से मिलता है—

कामयाब कह कौन जगावा । फिर हिंदी भाखै पर आवा ॥
छाँड़ि पारसी कंद नबातैं । अरुझाना हिंदी रस-बातैं ॥

"अनुराग-बाँसुरी" का रचना-काल ११७८ हिजरी अर्थात् संवत् १८२१ है । कवि ने इसकी रचना अधिक पांडित्यपूर्ण रखने का प्रयत्न किया है और विषय भी इसका तत्त्वज्ञान-संबंधी है । शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक ( Allegory ) खड़ा करके कहानी बाँधी है । और सब सूफी कवियों की कहानियों के बीच बीच में दूसरा पक्ष व्यंजित होता है, पर यह सारी कहानी और सारे पात्र ही रूपक हैं । एक विशेषता और है । चौपाइयों के बीच बीच में इन्होंने दोहे न रखकर बरवै रखे हैं । प्रयोग भी ऐसे ऐसे संस्कृत शब्दों के हैं जो और सूफी कवियों में नहीं आए हैं । काव्यभाषा के अधिक निकट होने के कारण भाषा में कहीं कहीं व्रजभाषा के शब्द और प्रयोग भी पाए जाते हैं । रचना का थोड़ा सा नमूना नीचे दिया जाता है—

नगर एक मूरतिपुर नाऊँ । राजा जीव रहै तेहि ठाऊँ ॥
का बरनौं वह नगर सुहावन । नगर सुहावन सब मन भावन ॥

इहै सरीर सुहावन मूरतिपूर ।
इहै जीव राजा, जिव जाहु न दूर ॥

तनुज एक राजा के रहा। अंतःकरन नाम सब कहा ॥
सौम्यसील सुकुमार सयाना। सो सावित्री स्वात समाना ॥
सरल सरनि जौं सो पग धरै। नगर लोग सबै पग धरै ॥
वक्र पंथ जो राखै पाऊँ। वहै अन्त मन होइ बटाऊ ॥
रहै सँघाती ताके पत्तन ठावँ।
एक संकल्प, विकल्प सो दूसर नावँ ॥

बुद्धि चित्त दुइ सखा सरेखे। जगत बीच गुन अवगुन देखे ॥
अंतःकरन पास नित आवैं। दरसन देखि महासुख पावैं ॥
अहंकार तेहि तीसर सखा निरंत्र।
रहेउ चारि के अंतर नैसुक अंत्र ॥

अंतःकरन सदन एक रानी। महामोहनी नाम सयानी ॥
बरनि न पारौं सुंदरताई। सकल सुंदरी देखि लजाई ॥
सर्वमंगला देखि असीसै। चाहै लोचन मध्य बईसै ॥
कुंतल झारत फाँदा डारै। चख चितवन सों चपला मारै ॥
अपने मंजु रूप वह दारा। रूप गर्विता जगत मँझारा ॥
प्रीतम-प्रेम पाइ वह नारी। प्रेमगर्विता भई पियारी ॥
सदा न रूप रहत है अंत नसाइ।
प्रेम, रूप के नासहि तें घटि जाइ ॥

जैसा कि कहा जा चुका है नूरमुहम्मद को हिंदी भाषा में कविता करने के कारण जगह जगह इसका सबूत देना पड़ा है कि वे इसलाम के पक्के अनुयायी थे। अतः वे अपने इस ग्रंथ की प्रशंसा इस ढंग से करते हैं—

यह बाँसुरी सुनै सो कोई। हिरदय-स्रोत खुला जेहि होई ॥
निसरत नाद वारुनी साथा। सुनि सुधि-चेत रहै केहि हाथा ॥
सुनतै जौं यह सबद मनोहर। होत अचेत कृष्ण मुरलीधर ॥
यह मुहम्मदी जन की बोली। जामैं कंद नबातें घोली ॥
बहुत देवता को चित हरै। बहु मूरति औंधी होइ परै ॥
बहुत देवहरा ढाहि गिरावै। संखनाद की रीति मिटावै ॥

जहँ इसलामी मुख सों निसरी बात।
तहाँ सकल सुख मंगल, कष्ट नसात॥

सूफ़ी आख्यान-काव्यों की अखंडित परंपरा की यहीं समाप्ति मानी जा सकती है। इस परंपरा में मुसलमान कवि ही हुए हैं। केवल एक हिंदू मिला है। सूफ़ी मत के अनुयायी सूरदास नामक एक पंजाबी हिंदू ने शाहजहाँ के समय में 'नल दमयंती कथा' नाम की एक कहानी लिखी थी पर इसकी रचना अत्यंत निकृष्ट है।

साहित्य की कोई अखंड परंपरा समाप्त होने पर भी कुछ दिन तक उस परंपरा की कुछ रचनाएँ इधर-उधर होती रहती हैं। इस ढंग की पिछली रचनाओं में 'चतुर्मुकुट की कथा' और 'यूसुफ़-जुलेखा' उल्लेख-योग्य हैं।

---

## प्रकरण ४

## सगुण धारा

### रामभक्ति-शाखा

जगत्प्रसिद्ध स्वामी शकराचर्य्यजी ने जिस अद्वैतवाद का निरूपण किया था वह भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त न था। यद्यपि उसमे ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता का भी स्वीकार था, पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिये जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वैसा दृढ़ आधार स्वामी रामानुजाचार्य्यजी ( सं० १०७३ ) ने खडा किया। उनके विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अश जगत् के सारे प्राणी है जो उसी से उत्पन्न होते है और उसी मे लीन होते है। अतः इन जीवो के लिये उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अशी का सामीप्य लाभ करने का यत्न करे। रामानुजजी की शिष्य-परंपरा देश मे बराबर फैलती गई और जनता भक्ति-मार्ग की ओर अधिक आकर्षित होती रही। रामानुजजी के श्री सप्रदाय मे विष्णु या नारायण की उपासना है। इस संप्रदाय मे अनेक अच्छे साधु महात्मा बराबर होते गए।

विक्रम की १४वी शताब्दी के अत मे वैष्णव श्री सप्रदाय के प्रधान आचार्य्य श्री राघवानदजी काशी मे रहते थे। अपनी अधिक अवस्था होते देख वे बराबर इस चिंता मे रहा करते कि मेरे उपरांत संप्रदाय के सिद्धातो की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी। अंत मे राघवानंदजी रामानंदजी को दीक्षा प्रदान कर निश्चित हुए और थोड़े दिनो मे परलोकवासी हुए। कहते है कि रामानंदजी ने भारतवर्ष का पर्य्यटन करके अपने संप्रदाय का प्रचार किया।

स्वामी रामानंदजी के समय के संबध मे कहीं कोई लेख न मिलने से हमे उसके निश्चय के लिये कुछ आनुषंगिक बातो का सहारा लेना पड़ता है।

वैरागियों की परपरा मे रामानंदजी का मानिकपुर के शेख तकी पीर के साथ वाद-विवाद होना माना जाता है। ये शेख तकी दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी के समय मे थे। कुछ लोगो का मत है कि वे सिकदर लोदी के पीर (गुरु) थे और उन्हीं के कहने मे उसने कबीर साहब को जंजीर से बाँधकर गगा मे डुबाया था। कबीर के शिष्य धर्मदास ने भी इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है।—

साह सिकदर जल में बोरे, बहुरि अग्नि परजारे। मैमत हाथी आनि झुकाए, सिंहरूप दिखराए।
निरगुन कथै, अभयपद गावैं, जीवन को समझाए। काजी पडित सबै हराए, पार कोउ नहिं पाए ॥

शेख तकी और कबीर का सवाद प्रसिद्ध ही है। इससे सिद्ध होता है कि रामानंदजी दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी के समय मे वर्त्तमान थे। सिकदर लोदी संवत् १५४६ से सवत् १५७४ तक गद्दी पर रहा। अतः इन २८ वर्षों के काल-विस्तार के भीतर—चाहे आरभ की ओर चाहे अत की ओर—रामानंदजी का वर्त्तमान रहना ठहरता है।

कबीर के समान सेन भगत भी रामानदजी के शिष्यों मे प्रसिद्ध है। ये सेन भगत बाँधवगढ़-नरेश के नाई थे और उनकी सेवा किया करते थे। ये कौन बाँधवगढ-नरेश थे, इसका पता 'भक्तमाल-रामरसिकावली' मे रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह ने दिया है—

बाँधवगढ पूरब जो गायो। सेन नाम नापित तहँ आयो ॥
ताकी रहै सदा यह रीती। करत रहै साधुन सों प्रीती ॥
तहँ को राजा राम बघेला। बरन्यो जेहि कबीर को चेला ॥
करै सदा तिनको सेवकाई। मुकुर दिखावे तेल लगाई ॥

रीवाँ-राज्य के इतिहास मे राजा राम या रामचंद्र का समय सवत् १६११ से १६४८ तक माना जाता है। रामनदजी से दीक्षा लेने के उपरात ही सेन पक्के भगत हुए होंगे। पक्के भक्त हो जाने पर ही उनके लिये भगवान् के नाई का रूप धरनेवाली बात प्रसिद्ध हुई होगी। उक्त चमत्कार के समय वे राज-सेवा मे थे। अतः राजा रामचंद्र से अधिक से अधिक ३० वर्ष पहले यदि उन्होने दीक्षा ली हो तो संवत् १५७५ या १५८० तक रामानदजी का वर्त्तमान रहना ठहरता

है। इस दशा में स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ और १६वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना जा सकता है।

'श्रीरामार्चन-पद्धति' में रामानंदजी ने अपनी पूरी गुरु-परंपरा दी है। उसके अनुसार रामानुजाचार्य्यजी रामानंदजी से १४ पीढ़ी ऊपर थे। रामानुजाचार्य्यजी का परलोकवास संवत् ११९४ में हुआ। अब १४ पीढ़ियों के लिये यदि हम ३०० वर्ष रखें तो रामानंदजी का समय प्रायः वही आता है जो ऊपर दिया गया है। रामानंदजी का और कोई वृत्त ज्ञात नहीं।

तत्त्वतः रामानुजाचार्य्य के मतावलंबी होने पर भी अपनी उपासना-पद्धति का इन्होंने विशेष रूप रखा। इन्होंने उपासना के लिये वैकुंठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूलमंत्र हुआ राम-नाम। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इसके पूर्व देश में रामोपासक भक्त होते ही न थे। रामानुजाचार्य्यजी ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसके प्रवर्त्तक शठकोपाचार्य्य उनसे पाँच पीढ़ी पहले हुए हैं। उन्होंने अपनी 'सहस्रगीति' में कहा है—"दशरथस्य सुतं तं विना अन्यशरणवान्नास्मि"। श्री रामानुज के पीछे उनके शिष्य कुरेश स्वामी हुए जिनकी "पंचस्तवी" में राम की विशेष भक्ति स्पष्ट झलकती है। रामानंदजी ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपों में 'रामरूप' को ही लोक के लिये अधिक कल्याणकारी समझ छाँट लिया और एक सबल संप्रदाय का संगठन किया। इसके साथ ही साथ उन्होंने उदारता-पूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ सगुण भक्ति का अधिकारी माना और देशभेद, वर्णभेद, जातिभेद आदि का विचार भक्तिमार्ग से दूर रखा। यह बात उन्होंने सिद्धों या नाथ पंथियों की देखादेखी नहीं की, बल्कि भगवद्भक्ति के संबंध में महाभारत, पुराण आदि में कथित सिद्धांत के अनुसार की। रामानुज संप्रदाय में दीक्षा केवल द्विजातियों को दी जाती थी, पर स्वामी रामानंद ने राम-भक्ति का द्वार सब जातियों के लिये खोल दिया और एक उत्साही विरक्त दल का संघटन किया जो आज भी 'वैरागी' के नाम से प्रसिद्ध है। अयोध्या, चित्रकूट आदि आज भी वैरागियों के मुख्य स्थान हैं।

भक्ति-मार्ग मे इनकी इस उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है—जैसा कि कुछ लोग समझा और कहा करते है—कि रामानंदजी वर्णाश्रम के विरोधी थे। समाज के लिये वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए वे भिन्न भिन्न कर्त्तव्यो की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र मे उन्होंने सब का समान अधिकार स्वीकार किया। भगवद्भक्ति मे वे किसी भेदभाव को आश्रय नहीं देते थे। कर्म के क्षेत्र में शास्त्र-मर्यादा इन्हे मान्य थी; पर उपासना के क्षेत्र मे किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबंध ये नही मानते थे। सब जाति के लोगो को एकत्र कर राम-भक्ति का उपदेश ये करने लगे और राम-नाम की महिमा सुनाने लगे।

रामानंदजी के ये शिष्य प्रसिद्ध है—कबीरदास, रैदास, सेन नाई और गॉगरौनगढ़ के राजा पीपा, जो विरक्त होकर पक्के भक्त हुए।

रामानंदजी के रचे हुए केवल दो संस्कृत के ग्रथ मिलते है—वैष्णवमताब्ज-भास्कर और श्रीरामार्चन-पद्धति। और कोई ग्रथ इनका आज तक नहीं मिला है।

इधर साप्रदायिक झगड़े के कारण कुछ नए ग्रथ रचे जाकर रामानदजी के नाम से प्रसिद्ध किए गए हैं—जैसे, ब्रह्मसूत्रो पर आनद भाष्य और भगवद्गीता-भाष्य—जिनके संबंध मे सावधान रहने की आवश्यकता है। बात यह है कि कुछ लोग रामानुज-परंपरा से रामानदजी की परपरा को बिल्कुल स्वतत्र और अलग सिद्ध करना चाहते है। इसी से रामानदजी को एक स्वतंत्र आचार्य प्रमाणित करने के लिये उन्होंने उनके नाम पर एक वेदात भाष्य प्रसिद्ध किया है। रामानंदजो समय समय पर विनय और स्तुति के हिंदी पद भी बनाकर गाया करते थे। केवल दो-तीन पदों का पता अब तक लगा है। एक पद तो यह है जो हनुमान्जी की स्तुति मे है—

> आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्टदलन रघुनाथ कला की॥
> जाके बल-भर ते महि कॉपै। रोग सोग जाकी सिमा न चॉपै॥
> अजनी-सुत महाबल-दायक। साधु संत पर सदा सहायक॥
> बाएँ भुजा सब असुर सँहारी। दहिन भुजा सब सत उबारी॥
> लछिमन धरति में मूर्छि पर्‌यो। पैठि पताल जमकातर तर्‌यो॥

आनि सजीवन प्रान उबारयो । मही सवन कै भुजा उपारयो ॥
गाढ परे कपि सुमिरौं तोही । होहु दयाल देहु जस मोही ॥
लंकाकोट समुंदर खाई । जात पवनसुत बार न लाई ॥
लंक प्रजारि असुर सब मारयो । राजा राम के काज सँवारयो ॥
घंटा ताल भालरी बाजै । जगमग जोति अवधपुर छाजै ॥
जो हनुमानजी की आरति गावै । बसि वैकुंठ परमपद पावै ॥
लंक विधंस कियौ रघुराई । रामानंद आरती गाई ॥
सुर नर मुनि सब करहि आरती । जै जै जै हनुमान लाल की ॥

स्वामी रामानंद का कोई प्रामाणिक वृत्त न मिलने से उनके संबंध मे कई प्रकार के प्रवादों के प्रचार का अवसर लोगो को मिला है। कुछ लोगो का कहना है कि रामानंदजी अद्वैतियो के ज्योतिर्मठ के ब्रह्मचारी थे। इस संबंध मे इतना ही कहा जा सकता है कि यह संभव है कि उन्होंने ब्रह्मचारी रहकर कुछ दिन उक्त मठ मे वेदांत का अध्ययन किया हो, पीछे रामानुजाचार्य्य के सिद्धांत की ओर आकर्षित हुए हो।

दूसरी बात जो उनके संबंध मे कुछ लोग इधर- उधर कहते सुने जाते है वह यह है कि उन्होने बारह वर्ष तक गिरनार या आबू पर्वत पर योग-साधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। रामानंदजी के जो दो ग्रंथ प्राप्त हैं तथा उनके संप्रदाय मे जिस ढंग की उपासना चली आ रही है उससे स्पष्ट है कि वे खुले हुए विश्व के बीच भगवान की कला की भावना करनेवाले विशुद्ध वैष्णव भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे, घट के भीतर ढूँढनेवाले योगमार्गी नही। इसलिये योग-साधनावाली प्रसिद्धि का रहस्य खोलना आवश्यक है।

भक्तमाल में रामानंदजी के बारह शिष्य कहे गए है—अनंतानंद, सुखानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, भावानंद, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी।

अनंतानंदजी के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए जिन्होने गलता (अजमेर राज्य, राजपूताना) में रामानंद संप्रदाय की गद्दी स्थापित की। यही पहली और सबसे प्रधान गद्दी हुई। रामानुज संप्रदाय के लिये दक्षिण मे जो महत्त्व

तोताद्रि का था वही महत्त्व रामानंदी सम्प्रदाय के लिये उत्तर-भारत मे गलता को प्राप्त हुआ। वह 'उत्तर तोताद्रि' कहलाया। कृष्णदास पयहारी राजपूताने की ओर के दाहिमा ( दाधीच्य ) ब्राह्मण थे। जैसा कि आदिकाल के अंतर्गत दिखाया जा चुका है, भक्ति-आंदोलन के पूर्व, देश मे—विशेषतः राजपूताने में—नाथपंथी कनफटे योगियों का बहुत प्रभाव था जो अपनी सिद्धि की धाक जनता पर जमाए रहते थे[१]। जब सीधे-सादे वैष्णव भक्तिमार्ग का आंदोलन देश मे चला तब उसके प्रति दुर्भाव रखना उनके लिये स्वाभाविक था। कृष्णदास पयहारी जब पहले-पहल गलता पहुँचे तब वहाँ की गद्दी नाथपंथी योगियों के अधिकारी मे थी। वे रात भर टिकने के विचार से वहीं धूनी लगाकर बैठ गए। पर कनफटो ने उन्हे उठा दिया। ऐसा प्रसिद्ध है कि इसपर पयहारीजी ने भी अपनी सिद्धि दिखाई और वे धूनी की आग एक कपडे मे उठाकर दूसरी जगह जा बैठे। यह देख योगियो का महंत बाघ बनकर उनकी ओर झपटा। इस पर पयहारीजी के मुँह से निकला कि "तू कैसा गदहा है ?"। वह महंत तुरंत गदहा हो गया और कनफटों की मुद्राएँ उनके कानो से निकल-निकलकर पयहारी जी के सामने इकट्ठी हो गईं। आमेर के राजा पृथ्वीराज के बहुत प्रार्थना करने पर महंत फिर आदमी बनाया गया। उसी समय राजा पयहारीजी के शिष्य हो गए और गलता की गद्दी पर रामानंदी वैष्णवो का अधिकार हुआ।

नाथपंथी योगियों के कारण जनता के हृदय मे योग-साधना और सिद्धि के प्रति आस्था जमी हुई थी। इससे पयहारीजी की शिष्य परंपरा मे योग-साधना का भी कुछ समावेश हुआ। पयहारीजी के दो प्रसिद्ध शिष्य हुए—अग्रदास और कील्हदास। इन्हीं कील्हदास की प्रवृत्ति रामभक्ति के साथ साथ योगाभ्यास की ओर भी हुई जिससे रामानंदजी की बैरागी-परंपरा की एक शाखा मे योग-साधना का भी समावेश हुआ। यह शाखा वैरागियों में 'तपसी शाखा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। कील्हदास के शिष्य द्वारकादास ने इस शाखा को और पल्लवित किया। उनके संबंध मे भक्तमाल मे ये वाक्य है—

१—देखो पृ० १५—१६

'अष्टाग जोग तन त्यागियो द्वारकादास, जानै दुनी'

जब कोई शाखा चल पडती है तब आगे चलकर अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिये वह बहुत सी कथाओ का प्रचार करती है। स्वामी रामानद जी के बारह वर्ष तक योग-साधना करने की कथा इसी प्रकार की है जो बैरागियो की 'तपसी शाखा' मे चली। किसी शाखा की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न कथाओं की उद्भावना तक ही नही रह जाता। कुछ नए ग्रंथ भी संप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक के नाम से प्रसिद्ध किए जाते है। स्वामी रामानदजी के नाम से चलाए हुए ऐसे दो रद्दी ग्रथ हमारे पास हैं—एक का नाम है योग-चिंतामणि; दूसरे का रामरक्षा-स्तोत्र। दोनो के कुछ नमूने देखिए—

( १ )

विकट कटक रे भाई। कायॅा चढा न जाई।
जहँ नाद बिंदु का हाथी। सतगुर ले चले साथी।
जहाँ है अष्टदल कमल फूला। हसा सरोवर मे भूला।
शब्द तो हिरदय बसे, शब्द नयनों बसे,
शब्द की महिमा चार वेद गाई।
कहै गुरु रामानंद जी, सतगुर दया करि मिलिया,
सत्य का शब्द सुनु रे भाई।
सुरत-नगर कर सयल। जिसमे है आतमा का महल॥

—योगचिंतामणि से

( २ )

सध्या तारिणी सर्वदुःख-विदारिणी।

संध्या उचरै विघ्न टरै। पिंड प्राण कै रक्षा श्रीनाथ निरजन करै। नाद नाद सुषुम्ना के सान माज्या। चाचरी, भूचरी, खेचरी, अगोचरी, उनमनी पॉच मुद्रा सधत साधुराजा।

डरे डुंगरे जले और थले वाटे घाटे औघट निरजन निराकार रक्षा करे। बाघ बाघिनी का करो मुख काजा। चौसठ जोगिनी मारि कुटका किया, अखिल ब्रह्माड तिहुँलोक मे दुहाई फिरिया करै। दास रामानद ब्रह्म चीन्हा, सोइ निज तत्त्व ब्रह्मज्ञानी।

—रामरक्षा-स्तोत्र से

झाड़-फूँक के काम के ऐसे ऐसे स्तोत्र भी रामानंदजी के गले मढ़े गए हैं! स्तोत्र के आरंभ मे जो 'संध्या' शब्द है, नाथपंथ मे उसका पारिभाषिक अर्थ है—'सुषुम्ना नाड़ी की संधि मे प्राण का जाना।' इसी प्रकार 'निरंजन' भी गोरखपंथ मे उस ब्रह्म के लिये एक रूढ़ शब्द है जिसकी स्थिति वहाँ मानी गई है जहाँ नाद और बिंदु दोनों का लय हो जाता है—

नादकोटि सहस्राणि बिन्दुकोटि शतानि च। सर्वे तत्र लयं यान्ति यत्र देवो निरंजनः॥

'नाद' और 'बिंदु' क्या है, यह नाथपंथ के प्रसंग मे दिखाया जा चुका है[1]।

सिखों के ग्रंथ-साहब मे भी निर्गुण उपासना के दो पद रामानंद के नाम के मिलते है। एक यह है—

कहाँ जाइए हो घरि लागो रंग। मेरो चित चंचल मन भयो अपंग।
जहाँ जाइए तहँ जल पषान। पूरि रहे हरि सब समान।
वेद स्मृति सब मेल्हे जोइ। उहाँ जाइए हरि इहाँ न होइ।
एक बार मन भयो उमंग। घसि चोवा चंदन चारि अंग।
पूजत चाली ठाइँ ठाइँ। सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माइँ।
सतगुर मैं बलिहारी तोर। सकल विकल भ्रम जारे मोर।
रामानंद रमै एक ब्रह्म। गुरु कै एक सबद काटे कोटि क्रम्म।

इस उद्धरण से स्पष्ट हैं कि ग्रंथ-साहब मे उद्धृत दोनों पद भी वैष्णव भक्त रामानंदजी के नहीं है; और किसी रामानंद के हों तो हो सकते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वास्तव मे रामानंदजी के केवल दो संस्कृत ग्रंथ ही आज तक मिले है। 'वैष्णव-मताब्जभास्कर' मे रामानंदजी के शिष्य सुरसुरानंद ने नौ प्रश्न किए हैं जिनके उत्तर में रामतारक मंत्र की विस्तृत व्याख्या, तत्त्वोपदेश, अहिंसा का महत्त्व, प्रपत्ति, वैष्णवो की दिनचर्य्या, षोडशोपचार पूजन इत्यादि विषय है।

अर्चावतारो के चार भेद—स्वयंव्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष—करके कहा गया है कि वे प्रशस्त देशो (अयोध्या, मथुरा आदि) मे श्री सहित सदा

---

१—देखो पृ० १६—१७।

यह पदावली अँगरेजी-समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है, जिसका प्रचार पहले पहल ब्रह्मोसमाज मे, फि बँगला और हिंदी की आधुनिक समीक्षाओं में हुआ, यह हम अपने 'काव्य मे रहस्यवाद' के भीतर दिखा चुके है।

यह बात अवश्य है कि 'गोसाईं चरित्र' मे जो वृत्त दिए गए हैं, वे अधिकतर वे ही है जो परपरा से प्रसिद्ध चले आ रहे है।

गोस्वामीजी का एक और जीवन-चरित, जिसकी सूचना मर्य्यादा पत्रिका की ज्येष्ठ १९६९ की संख्या में श्रीयुत इंद्रदेव नारायणजी ने दी थी, उनके एक दूसरे शिष्य महात्मा रघुवरदासजी का लिखा 'तुलसी-चरित' कहा जाता है। यह कहाँ तक प्रामाणिक है, नहीं कहा जा सकता। दोनो चरितो के वृत्तातो मे परस्पर बहुत कुछ विरोध है। बाबा बेनीमाधवदास के अनुसार गोस्वामीजी के पिता जमुना के किनारे दुबे-पुरवा नामक गाँव के दूबे और मुखिया थे और इनके पूर्वज पत्यौजा ग्राम से यहाँ आए थे। पर बाबा रघुबरदास के 'तुलसी-चरित' मे लिखा है कि सरवार मे मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम मे गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम मिश्र—जो गाना के मिश्र थे—रहते थे। वे तीर्थाटन करते करते चित्रकूट पहुँचे और उसी ओर राजापुर में बस गए। उनके पुत्र शकर मिश्र हुए। शकर मिश्र के रुद्रनाथ मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र के मुरारि मिश्र हुए जिनके पुत्र तुलाराम ही आगे चलकर भक्तचूडामणि गोस्वामी तुलसीदासजी हुए।

दोनों चरितो में गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ दिया हुआ है। बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक मे तो श्रावण शुक्ला सप्तमी तिथि भी दी हुई है। पर इस संवत् को ग्रहण करने से तुलसीदासजी की आयु १२६ १२७ वर्ष आती है जो पुनीत आचरण के महात्माओं के लिये असभव तो नही कही जा सकती। शिवसिंहसरोज मे लिखा है कि गोस्वामीजी संवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। मिरजापुर के प्रसिद्ध रामभक्त और रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी नन्को की जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म सवत् १५८९ मानते थे। इसी सबसे पिछले संवत् को ही डा० ग्रियर्सन ने स्वीकार किया है। इनका सरयूपारी

ब्राह्मण होना तो दोनों चरितों मे पाया जाता है, और सर्वमान्य है। "तुलसी परासर गोत दूबे पतिऔजा के" यह वाक्य भी प्रसिद्ध चला आता है और पंडित रामगुलाम ने भी इसका समर्थन किया है। उक्त प्रसिद्धि के अनुसार गोस्वामीजी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। माता के नाम के प्रमाण मे रहीम का यह दोहा कहा जाता है—

सुरतिय नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

तुलसीदासजी ने कवितावली मे कहा है कि "मातु पिता जग जाइ तज्यो विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।" इसी प्रकार विनयपत्रिका मे भी ये वाक्य है—"जनक जननी तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे" तथा "तनुजन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू"। इन वचनो के अनुसार यह जनश्रुति चल पड़ी कि गोस्वामीजी अभुक्तमूल मे उत्पन्न हुए थे, इससे उनके माता पिता ने उन्हे त्याग दिया था। उक्त जनश्रुति के अनुसार गोसाईं चरित्र मे लिखा है कि गोस्वामीजी जब उत्पन्न हुए तब पाँच वर्ष के बालक के समान थे और उन्हे पूरे दाँत भी थे। वे रोए नहीं, केवल 'राम' शब्द उनके मुँह से सुनाई पड़ा। बालक को राक्षस समझ पिता ने उसकी उपेक्षा की। पर माता ने उसकी रक्षा के लिये उद्विग्न होकर उसे अपनी एक दासी मुनिया को पालने पोसने को दिया और वह उसे लेकर अपनी ससुराल चली गई। पाँच वर्ष पीछे जब मुनिया भी मर गई तब राजापुर में बालक के पिता के पास संवाद भेजा गया पर उन्होने बालक लेना स्वीकार न किया। किसी प्रकार बालक का निर्वाह कुछ दिन हुआ। अंत में बाबा नरहरिदास ने उसे अपने पास रख लिया और शिक्षा-दीक्षा दी। इन्हीं गुरु से गोस्वामीजी रामकथा सुना करते थे। इन्हीं अपने गुरु बाबा नरहरिदास के साथ गोस्वामीजी काशी मे आकर पंचगंगा घाट पर स्वामी रामानदजी के स्थान पर रहने लगे। वहाँ पर एक परम विद्वान् महात्मा शेषसनातनजी रहते थे जिन्होंने तुलसीदासजी को वेद, वेदाग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि मे प्रवीण कर दिया। १५ वर्ष तक अध्ययन करके गोस्वामीजी फिर अपनी जन्मभूमि राजापुर को लौटे; पर वहाँ इनके परिवार मे कोई नही रह गया था और घर भी गिर गया था।

निवास करते हैं। जातिभेद, क्रिया-कलाप आदि की अपेक्षा न करनेवाले भगवान् की शरण में सबको जाना चाहिए—

प्राप्तुं परां सिद्धिमकिंचनो जनो द्विजादिरिच्छेच्छरणं हरिं भजेत्।
परं दयालुं स्वगुणानपेक्षितक्रियाकलापादिकजातिभेदम्॥

**गोस्वामी तुलसीदासजी**—यद्यपि स्वामी रामानंदजी की शिष्य-परंपरा के द्वारा देश के बड़े भाग में रामभक्ति की पुष्टि निरंतर होती आ रही थी और भक्त लोग फुटकल पदों में राम की महिमा गाते आ रहे थे पर हिंदी साहित्य के क्षेत्र में इस भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने भाषा-काव्य की सारी प्रचलित पद्धतियों के बीच अपना चमत्कार दिखाया। सारांश यह कि रामभक्ति का वह परम विशद साहित्यिक संदर्भ इन्हीं भक्त-शिरोमणि द्वारा संघटित हुआ जिससे हिंदी-काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरंभ हुआ।

'शिवसिंह-सरोज' में गोस्वामीजी के एक शिष्य बेनीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित्र' का उल्लेख है। इस ग्रंथ का कहीं पता न था। पर कुछ दिन हुए सहसा यह अयोध्या से निकल पड़ा। अयोध्या में एक अत्यंत निपुण दल है जो लुप्त पुस्तकों और रचनाओं को समय समय पर प्रकट करता रहता है। कभी नंददास कृत तुलसी की वंदना का पद प्रकट होता है जिसमें नंददास कहते हैं—

श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु भ्राता-पद वंदे।
. . . . . . . .
नंददास के हृदय-नयन को खोलेउ सोई॥

कभी सूरदासजी द्वारा तुलसीदास जी की स्तुति का यह पद प्रकाशित होता है—

धन्य भाग्य मम संत सिरोमनि चरन-कमल तकि आयउँ।
. . . . . . . .

दया-दृष्टि तें मग दिसि हेरेउ, तत्त्व-स्वरूप लखायो।
कर्म उपासन-ज्ञान-जनित भ्रम संसय-मूल नसायो॥[१]

इस पद के अनुसार सूरदास का 'कर्म-उपासन-ज्ञान-जनित भ्रम' वल्लभाचार्यजी ने नहीं, तुलसीदासजी ने दूर किया था! सूरदासजी तुलसीदासजी से अवस्था में बहुत बड़े थे और उनसे पहले प्रसिद्ध भक्त हो गए थे, यह सब लोग जानते हैं।

ये दोनो पद 'गोसाईं चरित्र' के मेल मे हैं, अतः मै इन सब का उद्‌गम एक ही समझता हूँ। 'गोसाईं चरित्र' मे वर्णित बहुत सी बाते इतिहास के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं, यह डा० माताप्रसाद गुप्त अपने कई लेखो मे दिखा चुके हैं। रामानंदजी की शिष्य-परंपरा के अनुसार देखे तो भी तुलसीदास के गुरु का नाम नरहर्यानंद और नरहर्यानंद के गुरु का नाम अनंतानंद (प्रिय शिष्य अनंतानंद हते। नरहर्यानंद सुनाम छते) असंगत ठहरता है। अनंतानंद और नरहर्यानंद दोनो रामानंदजी के बारह शिष्यो मे थे। नरहरिदास को अलबत्त कुछ लोग अनंतानंद का शिष्य कहते हैं, पर भक्तमाल के अनुसार वे अनंतानंद के शिष्य श्रीरंग के शिष्य थे। गिरनार में योगाभ्यासी सिद्ध रहा करते हैं, 'तपसी शाखा' की यह बात भी गोसाईं-चरित्र में आ गई है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि तिथि, बार आदि ज्योतिष की गणना से बिलकुल ठीक मिलाकर तथा तुलसी के संबंध मे चली आती हुई सारी जन-श्रुतियों का समन्वय करके सावधानी के साथ इसकी रचना हुई है, पर एक ऐसी पदावली इसके भीतर चमक रही है जो इसे बिलकुल आजकल की रचना घोषित कर रही है। यह है 'सत्य, शिवं, सुंदरम्'। देखिए—

देखिन तिरपित दृष्टि तें सब जने, कीन्ही सही संकरम्।
द्विजापर सों लिख्यो, पढ़ै धुनि सुने, सत्यं शिवं सुंदरम्॥

---

१-ये दोनों पंक्तियाँ सूरदासजी के इस पद से खींच ली गई हैं—

कर्म जोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री बल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो॥
(सूरसागर-सारावली)

यमुना पार के एक ग्राम के रहनेवाले भारद्वाज गोत्री एक ब्राह्मण यम-द्वितीया को राजापुर मे स्नान करने आए। उन्होंने तुलसीदासजी की विद्या, विनय और शील पर मुग्ध होकर अपनी कन्या इन्हे व्याह दी। इसी पत्नी के उपदेश से गोस्वामीजी का विरक्त होना और भक्ति की सिद्धि प्राप्त करना प्रसिद्ध है। तुलसीदासजी अपनी इस पत्नी पर इतने अनुरक्त थे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर वे बढ़ी नदी पार करके उससे जाकर मिले। स्त्री ने उस समय ये दोहे कहे—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ। धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ।
अस्थि-चर्म-मय देह मम तामे जैसी प्रीति। तैसी जौ श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति॥

यह बात तुलसीदासजी को ऐसी लगी कि वे तुरत काशी आकर विरक्त हो गए। इस वृत्तात को प्रियादासजी ने भक्तमाल की अपनी टीका मे दिया है और 'तुलसी चरित्र' और 'गोसाईं चरित्र' मे भी इसका उल्लेख है।

गोस्वामीजी घर छोड़ने पर कुछ दिन काशी मे, फिर काशी से अयोध्या जाकर रहे। उसके पीछे तीर्थयात्रा करने निकले और जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम गए। वहाँ से ये कैलास और मानसरोवर तक निकल गए। अंत मे चित्रकूट आकर ये बहुत दिनों तक रहे जहाँ अनेक संतो से इनकी भेंट हुई। इसके अनतर संवत् १६३१ मे अयोध्या जाकर इन्होने रामचरितमानस का आरभ किया और उसे २ वर्ष ७ महीने मे समाप्त किया। रामायण का कुछ अंश, विशेषतः किष्किधाकाड, काशी मे रचा गया। रामायण समाप्त होने पर ये अधिकतर काशी मे ही रहा करते थे। वहाँ अनेक शास्त्रज्ञ विद्वान् इनसे आकर मिला करते थे क्योंकि इनकी प्रसिद्धि सारे देश मे हो चुकी थी। ये अपने समय के सबसे बडे भक्त और महात्मा माने जाते थे। कहते है कि उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती से इनसे वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर उन्होने इनकी स्तुति मे यह श्लोक कहा था—

आनद कानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसीतरुः। कवितामजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

गोस्वामीजी के मित्रो और स्नेहियो मे नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना, महाराज मानसिंह, नाभाजी और मधुसूदन सरस्वती आदि कहे जाते है। 'रहीम' से इनसे

समय समय पर दोहों मे लिखा-पढ़ी हुआ करती थी। काशी में इनके सबसे बडे स्नेही और भक्त भदैनी के एक भूमिहार जमींदार टोडर थे जिनकी मृत्यु पर इन्होंने कई दोहे कहे है—

चार गाँव को ठाकुरो मन को महामहीप। तुलसी या कलिकाल मे अथए टोडर दीप॥
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भारु। टोडर काँधा नहि दियो, सब कहि रहे 'उतारु'॥
रामधाम टोडर गए, तुलसी भए असोच। जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि संकोच॥

गोस्वामीजी की मृत्यु के संबंध मे लोग यह दोहा कहा करते है—

संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर। श्रावण शुक्ला सत्तमी, तुलसी तज्यो शरीर।

पर बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक मे दूसरी पंक्ति इस प्रकार है या कर दी गई है—

श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

यह ठीक तिथि है क्योंकि टोडर के वंशज अब तक इसी तिथि को गोस्वामी जी के नाम सीधा दिया करते है।

'मै पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' को लेकर कुछ लोग गोस्वामी जी का जन्मस्थान ढूँढ़ने एटा जिले के सोरो नामक स्थान तक सीधे पच्छिम दौडे है। पहले पहल उस ओर इशारा स्व० लाला सीताराम ने (राजापुर के) अयोध्याकांड के स्व-संपादित संस्करण की भूमिका में दिया था। उसके बहुत दिन पीछे उसी इशारे पर दौड लगी और अनेक प्रकार के कल्पित प्रमाण सोरो को जन्मस्थान सिद्ध करने के लिये तैयार किए गए। सारे उपद्रव की जड है 'सूकर खेत', जो भ्रम से सोरो समझ लिया गया। 'सूकर छेत्र' गोंडे के ज़िले मे सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है, जहॉ आसपास के कई जिलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।

जिन्हे भाषा की परख है उन्हे यह देखते देर न लगेगी कि तुलसीदासजी की भाषा में ऐसे शब्द, जो स्थान-विशेष के बाहर नही बोले जाते है, केवल दो स्थानो के है—चित्रकूट के आसपास के और अयोध्या के आसपास के। किसी कवि की रचना मे यदि किसी स्थान-विशेष के भीतर ही बोले जानेवाले अनेक

शब्द मिले तो उस स्थान-विशेष से कवि का निवास-संबंध मानना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर यह बात मन में बैठ जाती है कि तुलसीदास का जन्म राजापुर में हुआ जहाँ उनकी कुमार अवस्था बीती। सरवरिया होने के कारण उनके कुल के तथा संबंधी अयोध्या, गोंडा, बस्ती के आसपास थे, जहाँ उनका आना-जाना बराबर रहा करता था। विरक्त होने पर वे अयोध्या में ही रहने लगे थे। 'रामचरितमानस' में आए हुए कुछ शब्द और प्रयोग नीचे दिए जाते हैं जो अयोध्या के आसपास ही (बस्ती, गोंडे आदि के कुछ भागों में) बोले जाते हैं—

**माहुर**=विष। **सरौं**=कसरत; **फहराना या फरहराना**=प्रफुल्लचित्त होना (सरौं करहिं पायक फहराई)। **फुर**=सच। **अनभल ताकना**=बुरा मानना (जेहि राउर अति अनभल ताका)। **राउर, रउरेहि**=आपको (भलउ कहत दुख रउरेहि लागा)। **रमा लहीं**=रमा ने पाया (प्रथम पुरुष, स्त्री०, बहुवचन; उ०—भरि जनम जे पाए न ते परितोष उमा रमा लहीं)। **कूटि**=दिल्लगी, उपहास।

इसी प्रकार ये शब्द चित्रकूट के आसपास तथा बघेलखंड में ही (जहाँ की भाषा पूरबी हिंदी या अवधी ही है) बोले जाते हैं—

**कुराय**=वे गड्ढे जो करेल (पोली जमीन) में बरसात के कारण जगह जगह पड़ जाते हैं (काँट कुराय लपेटन लोटन ठाँवहिं ठाँव बझाऊ रे।—विनय०)।

**सुआर**=सूपकार, रसोइया।

ये शब्द और प्रयोग इस बात का पता देते हैं कि किन स्थानों की बोली गोस्वामीजी की अपनी थी। आधुनिक काल के पहले साहित्य या काव्य की सर्वमान्य व्यापक भाषा ब्रज ही रही है, यह तो निश्चित है। भाषा-काव्य के परिचय के लिये प्रायः सारे उत्तर भारत के लोग बराबर इसका अभ्यास करते थे और अभ्यास द्वारा सुंदर रचना भी करते थे। ब्रजभाषा में रीतिग्रंथ लिखनेवाले चिंतामणि, भूषण, मतिराम, दास इत्यादि अधिकतर कवि अवध के थे और ये ब्रजभाषा के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। दासजी ने तो स्पष्ट व्यवस्था ही दी है कि 'ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानौ'। पर पूरबी

हिंदी या अवधी के सबंध में यह बात नहीं है। अवधी भाषा में रचना करनेवाले जितने कवि हुए है सब अवध या पूरब के थे। किसी पछाहीं कवि ने कभी पूरबी हिंदी या अवधी पर ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं किया कि उसमे रचना कर सके। जो बराबर सोरों की पछाहीं बोली (व्रज) बोलता आया होगा वह 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमगल' की सी ठेठ अवधी लिखेगा, 'मानस' ऐसे महाकाव्य की रचना अवधी मे करेगा और व्याकरण के ऐसे देशबद्ध प्रयोग करेगा जैसे ऊपर दिखाए गए हैं ? भाषा के विचार मे व्याकरण के रूपो का मुख्यतः विचार होता है।

भक्त लोग अपने को जन्म-जन्मातर से अपने आराध्य इष्टदेव का सेवक मानते हैं। इसी भावना के अनुसार तुलसी और सूर दोनों ने कथा-प्रसग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट रूप में राम और कृष्ण के समीप तक पहुँचाया है। जिस स्थल पर ऐसा हुआ है वहीं कवि के निवासस्थान का पूरा सकेत भी है। 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाड मे वह स्थल देखिए जहाँ प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए राम जमुना पार करते है और भरद्वाज के द्वारा साथ लगाए हुए शिष्यो को बिदा करते है। राम-सीता तट पर के लोगो से बातचीत कर ही रहे हैं कि—

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु वयस सुहावा॥
कवि अलखित-गति वेष विरागी। मन क्रम वचन राम-अनुरागी॥
सजल नयन तन पुलक, निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड-जिमि धरनितल, दसा न जाइ बखानि॥

यह तापस एकाएक आता है। कब जाता है, कौन है, इसका कहीं कोई उल्लेख नही है। बात यह है कि इस ढंग से कवि ने अपने को ही तापस रूप में राम के पास पहुँचाया है और ठीक उसी प्रदेश मे जहाँ के वे निवासी थे, अर्थात् राजापुर के पास।

सूरदास ने भी भक्तो की इस पद्धति का अवलंबन किया है। यह तो निर्विवाद है कि वल्लभाचार्य्यजी से दीक्षा लेने के उपरात सूरदासजी गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी के मंदिर मे कीर्त्तन किया करते थे। अपने सूरसागर के दशम

स्कंध के आरंभ मे सूरदास ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये अपने को ढाढी के रूप में नंद के द्वार पर पहुँचाया है—

नद जू ! मेरे मन आनद भयो, हौं गोवर्द्धन तें आयो ।
तुम्हरे पुत्र भयो मै सुनि कै अति आतुर उठि धायो ॥

*  *  *  *

जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाउँ ।
हौं तो तेरे घर को ढाढी, सूरदास मेरो नाउँ ॥

सब का सराश यह कि तुलसीदास का जन्मस्थान जो राजापुर प्रसिद्ध चला आता है, वही ठीक है ।

एक बात की ओर और ध्यान जाता है । तुलसीदासजी रामानंद-सप्रदाय की बैरागी परंपरा मे नही जान पडते । उक्त संप्रदाय के अंतर्गत जितनी शिष्य-परपराएँ मानी जाती है उनमें तुलसीदासजी का नाम कही नहीं है । रामानंद-परपरा मे संमिलित करने के लिये उन्हे नरहरिदास का शिष्य बताकर जो परंपरा मिलाई गई है, वह कल्पित प्रतीत होती है । वे रामोपासक-वैष्णव अवश्य थे, पर स्मार्त्त वैष्णव थे ।

गोस्वामीजी के प्रादुर्भाव को हिंदी-काव्य के क्षेत्र मे एक चमत्कार समझना चाहिए । हिंदी-काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पडा । वीरगाथा-काल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र मे काव्य-भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परंपरा निभाते आ रहे थे । चलती भाषा का संस्कार और समुन्नति उनके द्वारा नही हुई । भक्तिकाल में आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा । कबीरदास ने चलती बोली मे अपनी वाणी कही । पर वह बोली बेठिकाने की थी । उसका कोई नियत रूप न था । शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिये स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव न था । उन्होने नाथपंथियो की 'सधुक्कडी भाषा' का व्यवहार किया जिसमे खड़ी बोली के बीच राजस्थानी और पंजाबी का मेल था । इसका कारण यह है कि मुसलमानो की बोली पंजाबी या खड़ी बोली हो गई थी और

निर्गुणपंथी साधुओं का लक्ष्य मुसलमानों पर भी प्रभाव डालने का था। अतः उनकी भाषा मे अरबी और फारसी के शब्दो का भी मनमाना प्रयोग मिलता है। उनका कोई साहित्यक लक्ष्य न था और वे पढ़े लिखे लोगों से दूर ही दूर अपना उपदेश सुनाया करते थे।

साहित्य की भाषा मे, जो वीरगाथा-काल के कवियों के हाथ मे बहुत कुछ अपने पुराने रूप मे ही रही, प्रचलित भाषा के सयोग से नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। भक्तवर सूरदासजी व्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोकव्यवहार के मेल में लाए। उन्होने परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक नया चलता रूप दिया। सूरसागर को ध्यानपूर्वक देखने से उसमें क्रिया के कुछ पुराने रूप, कुछ सर्वनाम ( जैसे, जासु-तासु, जेहि-तेहि ) तथा कुछ प्राकृत के शब्द पाए जायँगे। साराश यह कि वे परंपरागत काव्य-भाषा को बिलकुल अलग करके एकबारगी नई चलती बोली लेकर नहीं चले। भाषा का एक शिष्ट-सामान्य रूप उन्होने रखा जिसका व्यवहार आगे चलकर बराबर कविता में होता आया। यह तो हुई व्रजभाषा की बात। इसके साथ ही पूरबी बोली या अवधी भी साहित्य-निर्माण की ओर अग्रसर हो चुकी थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अवधी की सबसे पुरानी रचना ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' है[१]। आगे चलकर 'प्रेममार्गी शाखा' के मुसलमान कवियों ने भी अपनी कहानियों के लिये अवधी भाषा ही चुनी। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय मे काव्य-भाषा के दो रूप प्रचलित पाए—एक व्रज और दूसरी अवधी। दोनों मे उन्होंने समान अधिकार के साथ रचनाएँ कीं।

भाषा-पद्य के स्वरूप को लेते हैं तो गोस्वामीजी के सामने कई शैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें से मुख्य ये हैं—( क ) वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति, ( ख ) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, ( ग ) गंग आदि भाटो की कवित्त-सवैया-पद्धति, ( घ ) कबीरदास की नीति-सबधी बानी की दोहा-पद्धति जो

---

१—देखो पृ० ७२।

अपभ्रंश काल से चली आती थी, और (ङ) ईश्वरदास की दोहे-चौपाई वाली प्रबंध-पद्धति। इस प्रकार काव्य-भाषा के दो रूप और रचना की पाँच मुख्य शैलियाँ साहित्यक्षेत्र में गोस्वामीजी को मिलीं। तुलसीदासजी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौंदर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी मे दिखाकर साहित्यक्षेत्र मे प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिंदी कविता के प्रेमी मात्र जानते हैं कि उनका ब्रज और अवधी दोनो भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर मे पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्णगीतावली मे पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमे जायसी की पदमावत मे मिलती है वही जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवारामायण और रामललानहछू में हम पाते है। यह सूचित करने की अवश्यकता नही कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रजभाषा पर।

प्रचलित-रचना-शैलियो पर भी उनका इसी प्रकार का पूर्ण अधिकार हम पाते हैं।

(क) वीर-गाथा काल की छप्पय पद्धति पर इनकी रचना थोड़ी है, पर इनकी निपुणता पूर्ण रूप से प्रदर्शित करती है; जैसे—

कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत। कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन-चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत। विकट कटक विद्दरत वीर वारिद जिमि गज्जत॥
लगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीस पवननदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्रसर। ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर। सुरविमान हिमभानु सघटित होत परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहि राम सिवधनु दल्यौ॥

(ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति पर इन्होंने बहुत विस्तृत और बड़ी सुंदर रचना की है। सूरदासजी की रचना में संस्कृत की 'कोमल कांत पदावली' और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामीजी की

रचना मे है। दोनों भक्त-शिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और इसपर ध्यान अवश्य जाता है। गोस्वामीजी की रचना अधिक संस्कृत-गर्भित है पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनके पदों मे शुद्ध देशभाषा का माधुर्य्य नहीं है। इन्होंने दोनों प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है। विनयपत्रिका के प्रारंभिक स्तोत्रों में जो संस्कृत पदविन्यास है उसमे गीतगोविंद के पदविन्यास से इस बात की विशेषता है कि वह विषम है और रस के अनुकूल कहीं कोमल और कहीं कर्कश देखने में आता है। हृदय के विविध भावों की व्यंजना गीतावली के मधुर पदो मे देखने योग्य है। कौशल्या के सामने भरत अपनी आत्मग्लानि की व्यंजना किन शब्दों में करते हैं, देखिए—

जौ हौं मातु मते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं ?
क्यों हौ आजु होत सुचि सपथनि,कौन मानिहै साँची ?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-वच-विसिषन्ह बाँची ?

इसी प्रकार चित्रकूट मे राम के सम्मुख जाते हुए भरत की दशा का भी सुदर चित्रण है—

बिलोके दूरि ते दोउ बीर।
मन अगहुँड तन पुलक सिथिल भयो, नयन-नलिन भरे नीर।
गडत गोड मनो सकुच पंक महँ, कढत प्रेमबल धीर॥

'गीतावली' की रचना गोस्वामीजी ने सूरदासजी के अनुकरण पर की है। बाललीला के कई एक पद ज्यों के त्यों सूरसागर मे भी मिलते है, केवल 'राम', 'श्याम' का अंतर है। लंकाकाड तक तो कथा की अनेकरूपता के अनुसार मार्मिक स्थलों का जो चुनाव हुआ है वह तुलसी के सर्वथा अनुरूप है। पर उत्तर-कांड मे जाकर सूर-पद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उनका गंभीर व्यक्तित्व तरोहित सा हो गया है। जिस रूप मे राम को उन्होंने सर्वत्र लिया है, उसका भी ध्यान उन्हे नहीं रह गया है। 'सूरसागर' में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते है, होली खेलते हैं, वही करते राम भी दिखाए गए है। इतना अवश्य है कि सीता की सखियों और पुरनारियों का राम की ओर पूज्य-

भाव ही प्रगट होता है। राम की नख-शिख शोभा का अलंकृत वर्णन भी सूर की शैली पर वहुत से पदो में लगातार चला गया है। सरयूतट के इस आनंदोत्सव को आगे चलकर रसिक लोग क्या रूप देंगे, इसका ख्याल गोस्वामीजी को न रहा।

(ग) गंग आदि भाटो की कवित्त-सवैया-पद्धति पर भी इसी प्रकार सारा रामचरित गोस्वामीजी कह गए है जिसमे नाना रसो का सन्निवेश अत्यंत विशद रूप मे और अत्यंत पुष्ट और स्वच्छ भाषा मे मिलता है। नाना रसमयी रामकथा तुलसीदासजी ने अनेक प्रकार की रचनाओ मे कही है। कवितावली मे रसानुकूल शब्द-योजना बड़ी सुदर है। जो तुलसीदासजी ऐसी कोमल भाषा का व्यवहार करते है—

राम को रूप निहारत जानकि, कंकन के नग की परिछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही, पल टारति नाहीं॥

---

गोरो गरूर गुमान भरो यह, कौसिक, छोटो सो ढोटो है काको ?

---

जल को गए लक्खन, है लरिका, परिखौं, पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढे।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढे॥

वे ही वीर और भयानक के प्रसंग मे ऐसी शब्दावली का व्यवहार करते है—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड वीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरिकै।
महाबल-पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटकै लँगूर फेरि फेरिकै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहैं तुलसीस "राखि राम की सौं" टेरिकै।
ठहर ठहर परे, कहरि कहरि उठै,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै॥

---

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल लाल मानो,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम-वीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥

(घ) नीति के उपदेश की सूक्तिपद्धति पर बहुत से दोहे रामचरितमानस और दोहावली मे मिलेगे जिनमे बड़ी मार्मिकता से और कहीं कहीं बड़े रचना-कौशल से व्यवहार की बातें कही गई हैं और भक्ति प्रेम की मर्यादा दिखाई गई है।

रीझि आपनी बूझि पर, खीझि विचार-विहीन। ते उपदेस न मानहीं मोह-महोदधि मीन॥
लोगन भलो मनाव जो, भलो होन की आस। करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास॥
की तोहि लागहि राम प्रिय, की तु राम-प्रिय होइ। दुइ महँ रुचै जो सुगम सोइ कीबे तुलसी तोहि॥

(ङ) जिस प्रकार चौपाई दोहे के क्रम से जायसी ने अपना पदमावत नाम का प्रबंधकाव्य लिखा उसी क्रम पर गोस्वामीजी ने अपना परम प्रसिद्ध काव्य रामचरितमानस, जो लोगों के हृदय का हार बनता चला आता है, रचा। भाषा वही अवधी है, केवल पद-विन्यास का भेद है। गोस्वामीजी शास्त्र-पारगत विद्वान् थे अतः उनकी शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित है। जायसी मे केवल ठेठ अवधी का माधुर्य्य है, पर गोस्वामीजी की रचना मे संस्कृत की कोमल पदावली का भी बहुत ही मनोहर मिश्रण है। नीचे दी हुई कुछ चौपाइयों में दोनों की भाषा का भेद स्पष्ट देखा जा सकता है—

जब हुँत कहिगा पखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी॥
तब हुँत तुम्ह बिनु रहै न जीऊ। चातक भइउँ कहत पिउ पीऊ॥
भइउँ विरह जरि कोइलि कारी। डार डार जो कूकि पुकारी॥

—जायसी

अमियमूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥
सुकृतसंभु तनु विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी। किए तिलक गुन-गन-बस करनी॥

—तुलसी

साराश यह कि हिंदी काव्य की सब प्रकार की रचनाशैली के ऊपर

गोस्वामीजी ने अपना ऊँचा आसन प्रतिष्ठित किया है। यह उच्चता और किसी को प्राप्त नहीं।

अब हम गोस्वामीजी के वर्णित विषय के विस्तार का विचार करेंगे। यह विचार करेंगे कि मानव-जीवन की कितनी अधिक दशाओं का सन्निवेश उनकी कविता के भीतर है। इस संबंध में हम यह पहले ही कह देना चाहते हैं कि अपने दृष्टिविस्तार के कारण ही तुलसीदासजी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदय-मंदिर में पूर्ण प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे है। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले है—जैसे, वीरकाल के कवि उत्साह को; भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को; अलंकार-काल के कवि दांपत्य प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती हैं। व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यंत उज्वल छटा उसमें वर्त्तमान है।

पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण-धारा के संतों की बानी में किस प्रकार लोकधर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। सगुण-धारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोकधर्म-विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जायगा, उसकी मर्य्यादा नष्ट हो जायगी। जिस समाज से ज्ञानसंपन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले उच्चाशय व्यक्तियों, पति-परायणा सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख-सर्वस्व त्यागनेवाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। गोस्वामीजी को निर्गुण-पंथियों की बानी में लोकधर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि बहुत से अनधिकारी और अशिक्षित वेदांत

के कुछ चलते शब्दों को लेकर, बिना उनका तात्पर्य समझे, यों ही 'ज्ञानी' बने हुए, मूर्ख जनता को लौकिक कर्त्तव्यों से विचलित करना चाहते है और मूर्खता-मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रहे है। इसी दशा को लक्ष्य करके उन्होंने इस प्रकार के वचन कहे हैं—

श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ सजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहि बिमोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक॥
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहि बेद पुरान॥
बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि॥

इसी प्रकार योगमार्ग से भक्तिमार्ग का पार्थक्य गोस्वामीजी ने बहुत स्पष्ट शब्दों मे बताया है। योगमार्ग ईश्वर को अंतस्थ मानकर अनेक प्रकार की अतस्साधनाओं मे प्रवृत्त करता है। सगुण भक्तिमार्गी ईश्वर को भीतर और बाहर सर्वत्र मानकर उनकी कला का दर्शन खुले हुए व्यक्त जगत् के बीच करता है। वह ईश्वर को केवल मनुष्य के क्षुद्र घट के भीतर ही नहीं मानता। इसी से गोस्वामीजी कहते है—

अंतर्जामिहु तें बड बाहिरजामी है राम, जो नाम लिए ते।
पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें॥

'घट के भीतर' कहने से गुह्य या रहस्य की धारणा फैलती है जो भक्ति के सीधे स्वाभाविक मार्ग मे बाधा डालती है। घट के भीतर साक्षात्कार करने की बात कहनेवाले प्रायः अपने को गूढ रहस्यदर्शी प्रकट करने के लिये सीधी सादी बात को भी रूपक बाँधकर और टेढ़ी पहेली बनाकर कहा करते हैं। पर इस प्रकार के दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति को गोस्वामीजी भक्ति का विरोधी मानते है। सरलता या सीधेपन को वे भक्ति का नित्य लक्षण कहते है—मन की सरलता, वचन की सरलता और कर्म की सरलता, तीनों को—

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति। तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर-प्रेम-प्रसूति॥

वे भक्ति के मार्ग को ऐसा नहीं मानते जिसे 'लखै कोइ बिरलै'। वे उसे ऐसा

सीधासादा स्वाभाविक मार्ग बताते हैं जो सबके सामने दिखाई पड़ता है। वह संसार में सबके लिये ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जग माह॥

अभिप्राय यह कि जिस हृदय से भक्ति की जाती है वह सबके पास है। हृदय की जिस पद्धति से भक्ति की जाती है वह भी वही है जिससे माता-पिता की भक्ति, पुत्र-कलत्र का प्रेम किया जाता है। इसी से गोस्वामीजी चाहते हैं कि—

यहि जग महँ जहँ लगि या तन की प्रीति-प्रतीति सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों होइ सिमिटि इक ठाईं॥

नाथपंथी रमते जोगियों के प्रभाव से जनता अंधी भेड़ बनी हुई तरह तरह की करामतों को साधुता का चिह्न मानने लगी थी और ईश्वरोन्मुख साधना को कुछ बिरले रहस्यदर्शी लोगों का ही काम समझने लगी थी। जो हृदय सबके पास होता है वही अपनी स्वाभाविक वृत्तियों द्वारा भगवान् की ओर लगाया जा सकता है, इस बात पर परदा-सा डाल दिया गया था। इससे हृदय रहते भी भक्ति का सच्चा स्वाभाविक मार्ग लोग नहीं देख पाते थे। यह पहले कहा जा चुका है कि नाथपंथ का हठयोग-मार्ग हृदयपक्ष-शून्य है[१]। रागात्मिका वृत्ति से उसका कोई लगाव नहीं। अतः रमते जोगियों की रहस्यभरी बानियाँ सुनते सुनते जनता के हृदय में भक्ति की सच्ची भावना दब गई थी, उठने ही नहीं पाती थी। लोक की इसी दशा को लक्ष्य करके गोस्वामीजी को कहना पड़ा था कि—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांग-पूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका सामंजस्य है। न उसका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। योग का भी उसमें समन्वय है,

१—देखो पृ० ६१।

पर उतने ही का जितना ध्यान के लिये, चित्त को एकाग्र करने के लिये, आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय भक्ति-मार्ग के भीतर भी उन्होंने बहुत सी बढती हुई बुराइयो को रोकने का प्रयत्न किया। शैवो और वैष्णवों के बीच बढते हुए विद्वेष को उन्होंने अपनी सामंजस्य-व्यवस्था द्वारा बहुत कुछ रोका जिसके कारण उत्तरीय भारत में वह वैसा भयकर रूप न धारण कर सका जैसा उसने दक्षिण मे किया। यहीं तक नहीं, जिस प्रकार उन्होने लोकधर्म और भक्तिसाधना को एक मे संमिलित करके दिखाया उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच भी सामजस्य उपस्थित किया। 'मानस' के बालकाड मे संत-समाज का जो लंबा रूपक है, वह इस नाते को स्पष्ट रूप मे सामने लाता है। भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर भी लोकपक्ष उन्होने नही छोड़ा। लोकसंग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अग था। कृष्णोपासक भक्तों मे इस अंग की कमी थी। उनके बीच उपास्य और उपासक के संबंध की ही गूढ़ातिगूढ व्यजना हुई; दूसरे प्रकार के लोक-व्यापक नाना संबंधों के कल्याणकारी सौंदर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। यही कारण है कि इनकी भक्ति-रस भरी वाणी जैसी मगलकारिणी मानी गई वैसी और किसी की नही। आज राजा से रक तक के घर में गोस्वामीजी का रामचरितमानस विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी चौपाइयाँ कही जाती है।

अपनी सगुणोपासना का निरूपण गोस्वामीजी ने कई ढग से किया है। रामचरित-मानस मे नाम और रूप दोनो को ईश्वर की उपाधि कहकर वे उन्हे उसकी अभिव्यक्ति मानते है—

नाम रूप दुह ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन विच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥

दोहावली मे भक्ति की सुगमता बड़े ही मार्मिक ढंग से गोस्वामीजी ने इस दोहे के द्वारा सूचित की है—

की तोहि लागहि राम प्रिय, की तु राम-प्रिय होहि।
दुइ मँह रुचै जो सुगम सोइ, कीबे तुलसी तोहि॥

इसी प्रकार रामचरितमानस के उत्तरकांड मे उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को कहीं अधिक सुसाध्य और आशुफलदायिनी कहा है।

रचना-कौशल, प्रबंध-पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणो का समाहार हमें रामचरित मानस मे मिलता है। पहली बात जिसपर ध्यान जाता है, वह है कथा-काव्य के सब अवयवो का उचित समीकरण। कथा-काव्य या प्रबध-काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भावव्यजना और संवाद, ये अवयव होते है। न तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाललीला, नखशिख, जनक की वाटिका, अभिषेकोत्सव इत्यादि के वर्णन बहुत लंबे होने पाए है, न पात्रो के सवाद, न प्रेम शोक आदि भावो की व्यजना। इतिवृत्त की शृंखला भी कहीं से टूटती नही है।

दूसरी बात है कथा के मार्मिक स्थलो की पहचान। अधिक विस्तार हमे ऐसे ही प्रसगो का मिलता है जो मनुष्य मात्र के हृदय को स्पर्श करनेवाले है—जैसे, जनक की वाटिका मे राम-सीता का परस्पर दर्शन, रामवनगमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग मे स्त्री-पुरुषो की सहानुभूति, युद्ध, लक्ष्मण को शक्ति लगना, इत्यादि।

तीसरी बात है प्रसगानुकूल भाषा। रसों के अनुकूल कोमल-कठोर पदो की योजना तो निर्दिष्ट रूढ़ि ही है। उसके अतिरिक्त गोस्वामीजी ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानो या शिक्षितों की सस्कृत-मिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली। घरेलू प्रसग समझकर कैकेयी और मंथरा के संवाद मे उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियो मे विशेष चलते प्रयोगो का व्यवहार किया है। अनुप्रास की ओर प्रवृत्ति तो सब रचनाओं मे स्पष्ट लक्षित होती।

चौथी बात है शृंगार रस का शिष्ट-मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन।

जिस धूमधाम से 'मानस' की प्रस्तावना चली है उसे देखते ही ग्रथ के महत्त्व का आभास मिल जाता है। उससे साफ झलकता है कि तुलसीदासजी अपने ही तक दृष्टि रखनेवाले भक्त न थे, ससार को भी दृष्टि फैलाकर

देखनेवाले भक्त थे। जिस व्यक्त जगत् के बीच उन्हे भगवान् के राम-रूप की कला का दर्शन कराना था, पहले चारो ओर दृष्टि दौड़ाकर उसके अनेक-रूपात्मक स्वरूप को उन्होंने सामने रखा है। फिर उसके भले-बुरे पक्षो की विषमता देख-दिखाकार अपने मन का यह कहकर समाधान किया है—

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग-जलधि अगाधू।

इसी प्रस्तावना के भीतर तुलसी ने अपनी उपासना के अनुकूल विशिष्टाद्वैत-सिद्धात का भी आभास यह कहकर दिया—

सिया-राम-मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।

जगत् को केवल राममय न कहकर उन्होंने 'सिया-राम-मय' कहा है। सीता प्रकृतिस्वरूपा हैं और राम ब्रह्म है; प्रकृति अचित् पक्ष है और ब्रह्म चित् पक्ष। अतः पारमार्थिक सत्ता चिदचिद्विशिष्ट है, यह स्पष्ट झलकता है। चित् और अचित् वस्तुतः एक ही हैं, इसका निर्देश उन्होने

गिरा अर्थ, जल बीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न।
बंदौ सीता-राम-पद जिनहि परम प्रिय खिन्न॥

कहकर किया है।

'रामचरितमानस' के भीतर कहीं कहीं घटनाओं के थोडे ही हेर-फेर तथा स्वकल्पित सवादों के समावेश के अतिरिक्त अपनी ओर से छोटी-मोटी घटनाओ या प्रसगों की नई कल्पना तुलसीदासजी ने नहीं की है। 'मानस' मे उनका ऐसा न करना तो उनके उद्देश्य के अनुसार बहुत ठीक है। राम के प्रामाणिक चरित द्वारा वे जीवन भर बना रहनेवाला प्रभाव उत्पन्न करना चाहते थे, और काव्यों के समान केवल अल्पस्थायी रसानुभूति मात्र नहीं। 'ये प्रसंग तो केवल तुलसी द्वारा कल्पित हैं', यह धारणा उन प्रसंगों का कोई स्थायी प्रभाव श्रोताओ या पाठकों पर न जमने देती। पर गीतावली तो प्रबंध-काव्य न थी। उसमे तो सूर के अनुकरण पर वस्तु-व्यापार-वर्णन का बहुत विस्तार है। उसके भीतर छोटे छोटे नूतन प्रसंगों की उद्भावना का पूरा अवकाश था, फिर भी कल्पित घटनात्मक प्रसंग नहीं पाए जाते। इससे यही प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिभा अधिकतर उपलब्ध प्रसंगों को लेकर चलनेवाली थी; नए नए

तोड़े मरोड़े गए है। पर गोस्वामीजी की वाक्य-रचना अत्यंत प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है, एक भी शब्द फालतू नहीं। खेद है कि भाषा की यह सफाई पीछे होनेवाले बहुत कम कवियो मे रह गई। सब रसो की सम्यक् व्यंजना इन्होने की है, पर मर्यादा का उल्लंघन कही नहीं किया है। प्रेम और शृंगार का ऐसा वर्णन जो बिना किसी लज्जा और सकोच के सबके सामने पढ़ा जा सके, गोस्वामीजी का ही है। हम निस्संकोच कह सकते है कि यह एक कवि ही हिंदी को एक प्रौढ़ सहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिये काफी है।

( २ ) **स्वामी अग्रदास**—रामानदजी के शिष्य अनतानंद और अनंतानंद के शिष्य कृष्णदास पयहारी थे। कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदासजी थे। इन्ही अग्रदासजी के शिष्य भक्तमाल के रचयिता प्रसिद्ध नाभादासजी थे। गलता ( राजपूताना ) की प्रसिद्ध गद्दी का उल्लेख पहले हो चुका है[१]। वहीं ये भी रहा करते थे और संवत् १६३२ के लगभग वर्त्तमान थे। इनकी बनाई चार पुस्तकों का पता है—

१—हितोपदेश उपखाणाँ बावनी।

२—ध्यानमंजरी।

३—रामध्यान-मंजरी।

४—कुंडलिया।

इनकी कविता उसी ढंग की है जिस ढग की कृष्णोपासक नंददासजी की। उदाहरण के लिये यह पद्य देखिए—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेशा। तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए। मुख-पंकज के निकट मनो अलि-छौना आए॥

इनका एक पद भी देखिए—

पहरे राम तुम्हारे सोवत। मैं मतिमंद अध नहिं जोवत॥
अपमारग मारग महि जान्यो। इंद्री पोषि पुरुषारथ मान्यो॥
औरनि के बल अनत प्रकार। अगरदास के राम अधार॥

---

१—देखो पृ० १२०।

(३) नाभादासजी—ये उपर्युक्त अग्रदासजी के शिष्य बड़े भक्त और साधुसेवी थे। ये संवत् १६५७ के लगभग वर्त्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदासजी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित रहे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ भक्तमाल संवत् १६४२ के पीछे बना और सं० १७६६ मे प्रियादासजी ने उसकी टीका लिखी। इस ग्रंथ में २०० भक्तों के चमत्कार-पूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयो मे लिखे गए हैं। इन चरित्रों मे पूर्ण जीवनवृत्त नहीं है, केवल भक्ति की महिमा-सूचक बाते दी गई हैं। इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता मे पूज्य-बुद्धि का प्रचार जान पड़ता है। यह उद्देश्य बहुत अंशो मे सिद्ध भी हुआ। आज उत्तरीय भारत के गाँव गाँव मे साधुवेशधारी पुरुषों को शास्त्रज्ञ विद्वानों और पंडितों से कहीं बढ़कर जो सम्मान और पूजा प्राप्त है, वह बहुत कुछ भक्तों की करामातो और चमत्कारपूर्ण वृत्तातों के सम्यक् प्रचार से।

नाभाजी को कुछ लोग डोम बताते है, कुछ क्षत्रिय। ऐसा प्रसिद्ध है कि वे एक बार गो० तुलसीदासजी से मिलने काशी गए। पर उस समय गोस्वामीजी ध्यान मे थे, इससे न मिल सके। नाभाजी उसी दिन वृंदावन चले गए। ध्यान भंग होने पर गोस्वामीजी को बड़ा खेद हुआ और वे तुरंत नाभीजी से मिलने वृंदावन चल दिए। नाभीजी के यहाँ वैष्णवों का भंडारा था जिसमे गोस्वामीजी बिना बुलाए जा पहुँचे। गोस्वामीजी यह समझकर कि नाभाजी ने मुझे अभिमानी न समझा हो, सबसे दूर एक किनारे बुरी जगह बैठ गए। नाभाजी ने जान-बूझकर उनकी ओर ध्यान न दिया। परसने के समय कोई पात्र न मिलता था जिसमे गोस्वामीजी को खीर दी जाती। यह देखकर गोस्वामीजी एक साधु का जूता उठा लाए और बोले, "इससे सुदंर पात्र मेरे लिये और क्या होगा?" इस पर नाभाजी ने उठाकर उन्हें गले लगा लिया और गद्गद हो गए। ऐसा कहा जाता है कि तुलसी-संबंधी अपने प्रसिद्ध छप्पय के अंत मे पहले नाभाजी ने कुछ चिढ़कर यह चरण रखा था—"कलि कुटिल जीव तुलसी भए बालमीकि अवतार धरि।" यह वृत्तांत कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गोस्वामीजी खान-पान का विचार रखनेवाले स्मार्त्त वैष्णव थे। तुलसीदासजी के संबंध में नाभाजी का प्रसिद्ध छप्पय यह है—

प्रसगो की उद्भावना करनेवाली नहीं। उनकी कल्पना वस्तुस्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उसके मार्मिक स्वरूपो के उद्घाटन मे प्रवृत्त होती थी, नई वस्तुस्थिति खड़ी करने नहीं जाती थी। गोपियो को छकानेवाली कृष्णलीला के अंतर्गत छोटी मोटी कथा के रूप मे कुछ दूर तक मनोरंजक और कुतूहलप्रद ढंग से चलनेवाले नाना प्रसंगों की जो नवीन उद्भावना सूरसागर मे पाई जाती है, वह तुलसी के किसी ग्रंथ मे नहीं मिलती।

'रामचरितमानस' मे तुलसी केवल कवि के रूप मे ही नहीं, उपदेशक के रूप मे भी सामने आते है। उपदेश उन्होने किसी न किसी पात्र के मुख से कराए है, इससे काव्यदृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वे उपदेश पात्र के स्वभाव-चित्रण के साधनरूप है। पर बात यह नहीं है। उपदेश उपदेश के लिये ही है।

गोस्वामी के रचे बारह ग्रथ प्रसिद्ध है जिनमे ५ बडे और ७ छोटे हैं। दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, विनयपत्रिका, बड़े ग्रथ है तथा रामलला-नहछू, पार्वतीमगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, वैराग्य-सदीपिनी, कृष्णगीतावली, और रामाज्ञा-प्रश्नावली छोटे। पंडित रामगुलाम द्विवेदी ने, जो एक प्रसिद्ध भक्त और रामायणी हो गए है, इन्ही बारह ग्रंथों क गोस्वामीजी कृत माना है। पर शिवसिंहसरोज मे दस और ग्रंथो के नाम गिनाए गए है, यथा—रामसतसई, सकटमोचन, हनुमद्बाहुक, रामसलाका, छंदावली, छप्पय रामयण, कड़खा रामायण, रोलारामायण, झूलना रामायण और कुंड-लिया-रामायण। इनमे से कई एक तो मिलते ही नहीं। हनुमद्बाहुक को पंडित रामगुलामजी ने दोहावली के ही अतर्गत लिया है। रामसतसई में सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं जिनमे से डेढ़ सौ के लगभग दोहावली के ही हैं। अधिकाश दोहे उसमे कुतूहलवर्द्धक, चातुर्य्य लिए हुए और क्लिष्ट है। यद्यपि दोहा-वली में भी कुछ दोहे इस ढंग के है, पर गोस्वामी जी ऐसे गंभीर, सहृदय और कलामर्मज्ञ महापुरुष का ऐसे पद्यो का इतना बड़ा ढेर लगाना समझ मे नहीं आता। जो हो, बाबा बेनीमाधवदास के नाम पर प्रणीत चरित मे भी राम-सतसई का उल्लेख हुआ है।

कुछ ग्रंथो के निर्माण के संबंध में जो जानश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं, उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। कहते हैं कि बरवा रामायण गोस्वामीजी ने अपने स्नेही मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना के कहने पर उनके बरवा (बरवै नायिका-भेद) को देखकर बनाया था। कृष्णगीतावली वृंदावन की यात्रा के अवसर पर बनी कही जाती है। पर बाबा बेनीमाधवदास के 'गोसाईं-चरित' के अनुसार रामगीतावली और कृष्णगीतावली दोनो ग्रंथ चित्रकूट मे उस समय के कुछ पीछे लिखे गए जब सूरदासजी उनसे मिलने वहाँ गए थे। गोस्वामीजी के एक मित्र पंडित गंगाराम ज्योतिषी काशी मे प्रह्लादघाट पर रहते थे। रामाज्ञा-प्रश्न उन्हीं के अनुरोध से बना माना जाता है। हनुमानबाहुक से तो प्रत्यक्ष है कि वह बाहुओं में असह्य पीड़ा उठने के समय रचा गया था। विनयपत्रिका के बनने का कारण यह कहा जाता है कि जब गोस्वामीजी ने काशी मे रामभक्ति की गहरी धूम मचाई तब एक दिन कलिकाल तुलसीदासजी को प्रत्यक्ष आकर धमकाने लगा और उन्होंने राम के दरबार मे रखने के लिये यह पत्रिका या अर्जी लिखी।

गोस्वामीजी की सर्वांगपूर्ण काव्यकुशलता का परिचय आरंभ मे ही दिया जा चुका है। उनकी साहित्य-मर्मज्ञता, भावुकता और गंभीरता के संबंध मे इतना जान लेना और भी आवश्यक है कि उन्होंने रचना-नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन कहीं नहीं किया है और न शब्द-चमत्कार आदि के खेलवाड़ो मे वे फँसे है। अलंकारो की योजना उन्होने ऐसे मार्मिक ढंग से की है की वे सर्वत्र भावो या तथ्यो की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाए जाते है, अपनी अलग चमक-दमक दिखाते हुए नहीं। कही कहीं लंबे लंबे सांग रूपक बाँधने मे अवश्य उन्होंने एक भद्दी परंपरा का अनुसरण किया है। दोहावली के कुछ दोहो के अतिरिक्त और सर्वत्र भाषा का प्रयोग उन्होंने भावो और विचारो को स्पष्ट रूप में रखने के लिये किया है, कारीगरी दिखाने के लिये नहीं। उनकी सी भाषा की सफाई और किसी कवि मे नहीं। सूरदास मे ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचार धारा आगे बढ़ाने मे कुछ भी योग देते नही पाए जाते, केवल पादपूर्त्यर्थ ही लाए हुए जान पड़ते है। इसी प्रकार तुकांत के लिये शब्द

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन। इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि-परायन॥
अब भक्तन सुखदैन बहुरि लीला बिस्तारी। रामचरनरसमत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार-हित वालमीकि तुलसी भयो॥

अपने गुरु अग्रदास के समान इन्होंने भी रामभक्ति-संबंधिनी कविता की है। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और पद्यरचना मे अच्छी निपुणता थी। रामचरित-संबंधी इनके पदों एक छोटा-सा संग्रह अभी थोडे दिन हुए प्राप्त हुआ है।

इन पुस्तको के अतिरिक्त इन्होंने दो 'अष्टयाम' भी बनाए—एक ब्रजभाषा-गद्य मे दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा-चौपाइयो मे। दोनो के उदाहरण नीचे दिए जाते है—

(गद्य)—तब श्री महाराजकुमार प्रथम श्री वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए।

(पद्य)—

अवधपुरी की सोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी॥
रचित कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मन भावन॥
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा। चतुरबीस जोजन रस रूपा॥
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि। मनिमय तीरथ परम सुहावनि॥
बिगसे जलज, भृंग रसभूले। गुंजत जल समूह दोउ कूले॥
परिखा प्रति चहुँ दिसि लसति, कंचन कोट प्रकास।
विविध भाँति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास॥

(४) प्राणचंद चौहान—संस्कृत मे रामचरित-संबंधी कई नाटक हैं जिनमें कुछ तो नाटक के साहित्यिक नियमानुसार है और कुछ केवल संवाद-रूप में होने के कारण नाटक कहे गए है। इसी पिछली पद्धति पर संवत् १६६७ मे इन्होंने रामायण महानाटक लिखा। रचना का ढंग नीचे उद्धृत अंश से ज्ञात हो सकता है—

कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुन्य सोम कर वारा॥
ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह, सलेम दिलीपति थाना॥
संवत सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा॥
जो सारद माता करु दाया। बरनौं आदि पुरुष की माया॥
जेहि माया कह मुनि जगमूला। ब्रह्मा रहे कमल के फूला॥
निकसि न सक माया कर बाँधा। देषहु कमलनाल के राँधा॥
आदि पुरुष बरनौं केहि भाँती। चाँद सुरज तहँ दिवस न राती॥
निरगुन रूप करै सिव ध्याना। चार वेद गुन जोरि बषाना॥
तीनों गुन जानै संसारा। सिरजै पालै भंजनहारा॥
श्रवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना॥
देषै सब पै आहि न आँषी। अंधकार चोरी के साषी॥
तेहि कर दहुँ को करै बषाना। जिहि कर मर्म वेद नहिं जाना॥
माया सींव भो कोउ न पारा। शंकर पँवरि बीच टोइ हारा॥

(५) हृदयराम—ये पंजाब के रहनेवाले और कृष्णदास के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १६८० मे संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक लिखा जिसकी कविता बड़ी सुंदर और परिमार्जित है। इसमे अधिकतर कवित्त और सवैयों में बड़े अच्छे संवाद हैं। पहले कहा जा चुका है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय की सारी प्रचलित काव्य-पद्धतियों पर रामचरित का गान किया। केवल रूपक या नाटक के ढंग पर उन्होंने कोई रचना नहीं की। गोस्वामीजी के समय मे ही उनकी ख्याति के साथ साथ रामभक्ति की तरंगे भी देश के भिन्न भिन्न भागो में उठ चली थी। अतः उस काल के भीतर ही नाटक के रूप मे कई रचनाएँ हुई जिनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध हृदयराम का हनुमान्नाटक हुआ।

नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

देखन जौ पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक हाथ,
दूजो न लगाऊँ वार करौं एक कर को।
मीजि मारो उर ते उखारि भुजदंड, हाड़
तोरि डारौं बर अवलोकि रघुबर को॥

कासों राग द्विज को, रिसात भहरात राम,
अति थहरात गात लागत हैं धरको।
सीता को सँताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो,
को है वह आप चाप तोन्यो जिन हर को॥

---

जानकी को मुख न विलोक्यो ताते कुंडल
न जानत हौं, वीर पायँ छुवै रघुराइ के।
हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
ताते कंकन न देखे, बोल कह्यो सतभाइ के॥
पायँन के परिबे को जाते दास लछमन
याते पहिचानत है भूषन जे पायँ के।
बिछुआ हैं एई, अरु झाँझ हैं एई जुग,
नूपर है तेई राम जानत जराइ के॥

---

सातों सिंधु, सातों लोक, सातों रिषि हैं ससोक,
सातों रवि-घोरे थोरे देखे न डरात मैं।
सातों दीप, सातों ईति काँप्योई करत और
सातों मत रात दिन प्रान है न गात मैं॥
सातो चिरजीव बरराइ उठे बार बार,
सातों सुर हाय हाय होत दिन रात मैं।
सातहू पताल काल सबद कराल, राम
भेदे सात ताल, चाल परी सात सात मे॥

---

एहो हनू! कह्यौ श्री रघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माहीं।
है प्रभु लंक कलंक बिना सु बसै तहँ रावन बाग की छाँहीं॥
जीवति है? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं?
प्रान बसै पदपंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं॥

रामभक्ति का एक अंग आदि रामभक्त हनुमानजी की उपासना भी हुई स्वामी रामनदजी कृत हनुमानजी की स्तुति का उल्लेख हो चुका है। गोस्वामी

तुलसीदासजी ने हनुमानजी की वंदना बहुत स्थलों पर की है। 'हनुमानबाहुक' तो केवल हनुमानजी को ही संबोधन करके लिखा गया है। भक्ति के लिये किसी पहुँचे हुए भक्त का प्रसाद भी भक्तिमार्ग मे अपेक्षित होता है। संवत् १६६६ मे रायमल्ल पाँड़े ने 'हनुमच्चरित' लिखा। गोस्वामीजी के पीछे भी कई लोगो ने रामायणे लिखीं पर वे गोस्वामीजी की रचनाओं के सामने प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि रामभक्ति की और रचनाएँ उसके सामने ठहर न सकीं। विक्रम की १६वीं और २०वीं शताब्दी मे अयोध्या के महंत बाबा रामचरणदास, बाबा रघुनाथदास, रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह आदि ने रामचरित संबंधी विस्तृत रचनाएँ कीं जो सर्वप्रिय हुईं। इस काल मे रामभक्ति विषयक कविता बहुत कुछ हुई।

रामभक्ति की काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमे सब प्रकार की रचनाएँ हुईं, उसके द्वारा कई प्रकार की रचना-पद्धतियो को उत्तेजना मिली। कृष्णोपासी कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीतकाव्य की ही पूर्ति की, पर रामचरित को लेकर अच्छे अच्छे प्रबंध-काव्य रचे गए।

तुलसीदासजी के प्रसंग मे यह दिखाया जा चुका है कि रामभक्ति में भक्ति का पूर्ण स्वरूप विकसित हुआ है। प्रेम और श्रद्धा अर्थात् पूज्यबुद्धि दोनों के मेल से भक्ति की निष्पत्ति होती है। श्रद्धा धर्म की अनुगामिनी है। जहाँ धर्म का स्फुरण दिखाई पडता है वहीं श्रद्धा टिकती है। धर्म ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति है; उस स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आभास अखिल विश्व की स्थिति में मिलता है। पूर्ण भक्त व्यक्त जगत् के बीच सत् की इस सर्वशक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का, धर्म की इस मंगलमयी ज्योति के स्फुरण का, साक्षात्कार चाहता रहता है। इसी ज्योति के प्रकाश मे सत् के अनत रूप-सौंदर्य की भी मनोहर झाँकी उसे मिलती है। लोक मे जब कभी वह धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है ब मानो भगवान् उसकी दृष्टि से—उसकी खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते है और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अधकार फाड़कर धर्म-ज्योति अमोघ शक्ति के साथ फूट पड़ती है तब मानो

उसके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है। भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार कर पाता है तब 'आनंद' का आविर्भाव होता है और 'सदानद' की अनुभूति होती है।

यह है उस सगुण भक्तिमार्ग का प्रकृत पक्ष जो भगवान् के अवतार को लेकर चलता है और जिसका पूर्ण विकास तुलसी की रामभक्ति मे पाया जाता है। 'विनयपत्रिका' मे गोस्वामीजी ने लोक मे फैले अधर्म, अनाचार, अत्याचार आदि का भीषण चित्र खींचकर भगवान् से अपना सत्स्वरूप, धर्मसंस्थापक स्वरूप, व्यक्त करने की प्रार्थना की है। उन्हे दृढ़ विश्वास है कि धर्म-स्वरूप भगवान् की कला का कभी न कभी दर्शन होगा। अतः वे यह भावना करके पुलकित हो जाते है कि सत्स्वरूप का लोकव्यक्त प्रकाश हो गया, रामराज्य प्रतिष्ठित हो गया और चारो ओर फिर मंगल छा गया।

रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत-विजई हैं।
समरथ बडो सुजान सुसाहब, सुकृत-सेन हारत जितई हैं॥

जो भक्ति-मार्ग श्रद्धा के अवयव को छोड़कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा, धर्म से उसका लगाव न रह जायगा। वह एक प्रकार से अधूरा रहेगा। शृंगारोपासना, माधुर्य्यभाव आदि की ओर उसका झुकाव होता जायगा और धीरे धीरे उसमे 'गुह्य, रहस्य' आदि का भी समावेश होगा। परिणाम यह होगा कि भक्ति के बहाने विलासिता और इंद्रियासक्ति की साधना होगी। कृष्णभक्ति-शाखा कृष्ण भगवान् के धर्मस्वरूप को—लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को—छोड़कर केवल मधुर स्वरूप और प्रेमलक्षणा भक्ति की सामग्री लेकर चली। इससे धर्म-सौदर्य के आकर्षण से वह दूर पड गई। तुलसीदासजी ने भक्ति को अपने पूर्ण रूप मे, श्रद्धा-प्रेम-समन्वित रूप मे, सबके सामने रखा और धर्म या सदाचार को उसका नित्य-लक्षण निर्धारित किया।

अत्यंत खेद की बात है कि इधर कुछ दिनों से एक दल इस राजभक्ति को भी शृंगारी भावनाओ मे लपेटकर विकृत करने मे जुट गया है। तुलसीदासजी के प्रसग मे हम दिखा आए हैं कि कृष्णभक्त सूरदासजी की शृगारी रचना का कुछ अनुकरण गोस्वामीजी की 'गीतावली' के उत्तरकाड मे दिखाई पड़ता है, पर वह केवल आनंदोत्सव तक रह गया है। इधर आकर कृष्णभक्ति शाखा

का प्रभाव बहुत बढा । विषय-वासना की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण कुछ दिनों से रामभक्ति-मार्ग के भीतर भी शृंगारी भावना का अनर्गल प्रवेश हो रहा है। इस शृंगारी भावना के प्रवर्त्तक थे रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार जानकी घाट (अयोध्या) के रामचरणदासजी, जिन्होने पति-पत्नी भाव की उपासना चलाई । इन्होने अपनी शाखा का नाम 'स्वसुखी' शाखा रखा । स्त्री-वेष धारण करके पति 'लाल साहब' ( यह खिताब राम को दिया गया है ) से मिलने के लिये सोलह शृंगार करना, सीता की भावना सपत्नी रूप मे करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए । रामचरणदासजी ने अपने मत की पुष्टि के लिये अनेक नवीन कल्पित ग्रथ प्राचीन बताकर अपनी शाखा मे फैलाए, जैसे — लोमश संहिता, हनुमत्संहिता, अमर रामायण, भुशुंडी रामायण, महारामायण ( ५ अध्याय ), कोशलखड, रामनवरत्न, महारासोत्सव सटीक ( सं० १६०४ प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ मे छपा ) ।

'कोशल खंड' में राम की रासलीला, विहार आदि के अनेक अश्लील वृत्त कल्पित किए गए हैं और कहा गया है कि रासलीला तो वास्तव मे राम ने की थी । रामावतार मे ९९ रास वे कर चुके थे । एक हो शेष था जिसके लिये उन्हे फिर कृष्ण रूप में अवतार लेना पड़ा । इस प्रकार विलास-क्रीडा मे कृष्ण से कहीं अधिक राम को बढाने की होड लगाई गई । गोलोक मे जो नित्य रामलीला होती रहती है उससे कही बढ़कर साकेत मे हुआ करती है । वहाँ की नर्तकियो की नामावली मे रंभा,उर्वशी आदि के साथ साथ राधा और चद्रावली भी गिना दी गई है ।

रामचरणदास की इस शृंगारी उपासना मे चिरान-छपरा के जीवारामजी ने थोड़ा हेरफेर किया । उन्होने पति-पत्नी-भाव के स्थान पर 'सखीभाव' रखा और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा । इस 'सखीभाव' की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण किला ( अयोध्या ) वाले युगलानन्यशरण ने किया । रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इन्हे बहुत मानते थे और इन्ही की संमति से उन्होंने चित्रकूट में 'प्रमोदवन' आदि कई स्थान बनवाए । चित्रकूट की भावना वृंदावन के रूप मे की गई और वहाँ के कुज भी ब्रज के से क्रीड़ाकुंज माने गए । इस रसिकपथ का आजकल अयोध्या मे बहुत जोर है

और वहाँ के बहुत से मंदिरो मे अब राम की 'तिरछी चितवन' और 'बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे हैं। इस पंथ के लोगों का उत्सव प्रति-वर्ष चैत्र कृष्ण नवमी को वहाँ होता है। ये लोग सीता-राम को 'युगल सरकार' कहा करते हैं और अपना आचार्य्य 'कृपानिवास' नामक एक कल्पित व्यक्ति को बतलाते हैं जिसके नाम पर एक 'कृपानिवास-पदावली' सं० १६०१ मे छपी ( प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ )। इसमे अनेक अत्यंत अश्लील पद हैं, जैसे—

( १ ) नीबी करषत बरजति प्यारी।
रसलंपट सपुट कर जोरत, पद परसत पुनि लै बलिहारी॥
[ पृ० १३८ ]

( २ ) पिय हँसि रस रस कचुकि खोलैं।
चमकि निवारति पानि लाडिली, मुरक मुरक मुख बोलै।

ऐसी ही एक और पुस्तक 'श्रीरामावतार-भजन-तरंगिणी' इन लोगो की ओर से निकली है जिसका एक भजन देखिए—

हमारे पिय ठाढे सरजू तीर।
छोडि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन के बीर॥
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तब चीर।
झाऊ वृक्ष की झाडी भीतर करन लगे रति धीर।

भगवान् राम के दिव्य पुनीत चरित्र के कितने घोर पतन की कल्पना इन लोगों के द्वारा हुई है, यह दिखाने के लिये इतना बहुत है। लोकपावन आदर्श का ऐसा बीभत्स विपर्य्यय देखकर चित्त क्षुब्ध हो जाता है। रामभक्ति-शाखा के साहित्य का अनुसधान करनेवालो को सावधान करने के लिये ही इस 'रसिक शाखा' का यह थोड़ा सा विवरण दे दिया गया है। 'गुह्य', 'रहस्य', 'माधुर्य्य भाव' इत्यादि के समावेश से किसी भक्तिमार्ग की यही दशा होती है। गोस्वामीजी ने शुद्ध, सात्त्विक और खुले रूप मे जिस रामभक्ति का प्रकाश फैलाया था, वह इस प्रकार विकृत की जा रही है।

---

## प्रकरण ५

### कृष्णभक्ति-शाखा

श्रीवल्लभाचार्यजी—पहले कहा जा चुका है कि विक्रम की १५वीं और १६वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का जो आदोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रहा उसके श्री बल्लभाचार्यजी प्रधान प्रवर्त्तकों मे से थे। आचार्य्यजी का जन्म संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण ११ को और गोलोकवास सवत् १५८७ आषाढ शुक्ल ३ को हुआ। ये वेदशास्त्र मे पारंगत धुरंधर विद्वान् थे।

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य्य हुए है सबका लक्ष्य शंकराचार्य्य के मायावाद और विवर्त्तवाद से पीछा छुडाना था जिनके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती थी। शंकर ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। वल्लभ ने ब्रह्म मे सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होने लीला के लिये ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंश रूप जीवो मे बिखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। वह अपने सत्, चित् और आनंद, इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव मे सत् और चित् का आविर्भाव रहता है, पर आनद का तिरोभाव। जड मे केवल सत् का आविर्भाव रहता है, चित् और आनंद दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है जो सब दिव्य गुणो से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम-रूप मे रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएँ नित्य है। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी वैकुंठ' मे (जो विष्णु के वैकुंठ से ऊपर है) अनेक

प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते है। गोलोक इसी 'व्यापी वैकुंठ' का एक खंड है जिसमे नित्य रूप मे यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ है। भगवान् की इस 'नित्यलीला-सृष्टि' मे प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का परमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य्य ने बात उलटकर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा। भक्ति की साधना के लिये वल्लभ ने उसके 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़कर जो महत्त्व की भावना मे मग्न करता है, केवल 'प्रेम' लिया। प्रेम-लक्षणा भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की। 'चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता' मे सूरदास की एक वार्त्ता के अंतर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य बुद्धि को आनुषंगिक या सहायक कहा है—

"श्री आचार्य्य जी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरूप है? माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सुदृढ़ स्नेह की तो परम काष्ठा है। स्नेह आगे भगवान् को रहत नाही ताते भगवान बेर बेर माहात्म्य जनावत है...... ... .........इन ब्रजभक्तन को स्नेह परमकाष्ठापन्न है। ताहि समय तो माहात्म्य रहे, पीछे विस्मृत होय जाय।"

प्रेम साधना में वल्लभ ने लोक-मर्यादा और वेदमर्यादा दोनो का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान् का अनुग्रह होता है जिसे 'पोषण' या पुष्टि कहते है। इसी से वल्लभाचार्य्यजी ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टि मार्ग' रखा है।

उन्होंने जीव तीन प्रकार के माने है—( १ ) पुष्टि जीव, जो भगवान् के अनुग्रह का ही भरोसा रखते है और 'नित्यलीला' मे प्रवेश पाते है; (२) मर्यादा जीव, जो वेद की विधियों का अनुसरण करते है और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते हैं और ( ३ ) प्रवाह जीव, जो संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखो की प्राप्ति मे ही लगे रहते है।

'कृष्णाश्रय' नामक अपने एक 'प्रकरण ग्रंथ' मे वल्लभाचार्य्य ने अपने समय की अत्यंत विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमे उन्हे वेदमार्ग या मर्य्यादा-मार्ग का अनुसरण अत्यंत कठिन दिखाई पड़ा है। देश मे मुसलमानो

साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था। हिंदुओं का एकमात्र स्वतंत्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था, पर बहमनी सुलतानों के पड़ोस मे रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुए दिखाई पड़ते थे। इसलामी सस्कार धीरे धीरे जमते जा रहे थे। सूफी पीरों के द्वारा सूफी-पद्धति की प्रेमलक्षणाभक्ति का प्रचार-कार्य्य धूम से चल रहा था। एक ओर 'निर्गुन पथ के सत लोग वेद-शास्त्र की विधियों-पर से जनता की आस्था हटाने मे जुटे हुए थे। अतः वल्लभाचार्य्य ने अपने 'पुष्टि मार्ग' का प्रवर्त्तन बहुत कुछ देश-काल देखकर किया।

वल्लभाचार्य्यजी के मुख्य ग्रंथ ये है—(१) पूर्व-मीमांसा भाष्य (२) उत्तरमीमासा या ब्रह्मसूत्र भाष्य जो अणुभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इनके शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादक यही प्रधान दार्शनिक ग्रथ है (३) श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका तथा सुबोधिनी टीका (४) तत्त्वदीपनिबंध तथा (५) सोलह छोटे छोटे प्रकरण ग्रंथ। इनमे से पूर्व मीमांसा भाष्य का बहुत थोड़ा सा अंश मिलता है। 'अणुभाष्य' आचार्य्यजी पूरा न कर सके थे। अतः अंत के डेढ अध्याय उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने लिखकर ग्रथ पूरा किया। भागवत की सूक्ष्म टीका नही मिलती, सुबोधिनी का भी कुछ ही अश मिलता है। प्रकरण ग्रंथो मे 'पुष्टि-प्रवाह-मर्य्यादा' नाम की पुस्तक मूलचंद तुलसीदास तेलीवाला ने संपादित करके प्रकाशित कराई है।

रामानुजाचार्य्य के समान वल्लभाचार्य्य ने भी भारत के बहुत से भागो मे पर्य्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। अत में अपने उपास्य श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मे जाकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की और अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी का बड़ा भारी मदिर निर्माण कराया तथा सेवा का बड़ा भारी मडान बाँधा। वल्लभ सम्प्रदाय मे जो उपसना पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहण की गई उसमें भोग राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। मंदिरों की प्रशंसा "केसर की चकियाँ चलै हैं" कहकर होने लगी। भोग विलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक-सेविकाओं पर कहाँ तक अच्छा पड सकता था। जनता पर

चाहे जो प्रभाव पड़ा हो पर उक्त गद्दी के भक्त शिष्यो ने सुंदर सुदर पदो द्वारा जो मनोहर प्रेम-संगीत-धारा बहाई उसने मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को सरस और प्रफुल्ल किया। इस संगीत-धारा मे दूसरे संप्रदायों के कृष्ण भक्तों ने भी पूरा योग दिया।

सब संप्रदायों के कृष्णभक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अभी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिये कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्मसस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान् के धर्मस्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्णभक्तो मे न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्णभक्त कवि अधिकतर फुटकल शृंगारी पदों की रचना मे ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जोवन के अनेक गंभीर पक्षो के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेकरूपता आई। श्रीकृष्ण का इतना चरित ही उन्होंने न लिया जो खड-काव्य, महाकाव्य आदि के लिये पर्याप्त होता। राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही सबने गाई।

भागवत धर्म का उदय यद्यपि महाभारत-काल में ही हो चुका था और अवतारो की भावना देश मे बहुत प्राचीन काल से चली आती थी पर वैष्णव धर्म के साप्रदायिक स्वरूप का सघटन दक्षिण मे ही हुआ। वैदिक परंपरा के अनुकरण पर अनेक सहिताएँ उपनिषद्, सूत्रग्रंथ इत्यादि तैयार हुए। श्रीमद्भागवत मे श्री कृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्तिक्षेत्र मे गोपियो के ढंग के प्रेम का, माधुर्य्य भाव का रास्ता खुला। इसके प्रचार में दक्षिण के मंदिरो की देवदासी प्रथा विशेष रूप मे सहायक हुई। माता-पिता लड़कियों को मंदिरो मे चढा आते थे जहाँ उनका विवाह भी ठाकुरजी के साथ हो जाता था। उनके लिये मंदिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पति-रूप मे विधेय थी। इन्हीं देवदासियों में कुछ प्रसिद्ध भक्तिनें भी हो गई हैं।

दक्षिण मे अंदाल इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध भक्तिन हो गई है जिनका जन्म संवत् ७७३ मे हुआ था। अंदाल के पद द्रविड़ भाषा मे 'तिरुप्पावइ'

नामक पुस्तक मे मिलते हैं। अंदाल एक स्थल पर कहती है—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।" इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमे गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो ही जायगी। रहस्यवादी सूफियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिनकी उपासना भी 'माधुर्य्य भाव' की थी। मुसलमानी जमाने मे इन सूफियों का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। 'माधुर्य्य भाव' को प्रोत्साहन मिला। माधुर्य्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमे सूफियों के प्रभाव से 'आभ्यंतर मिलन', 'मूर्छा', 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूफियों का प्रभाव पाया जाता है।

**सूरदासजी**—सूरदासजी का वृत्त "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" से केवल इतना ज्ञात होता है कि वे पहले गऊघाट (आगरे और मथुरा के बीच) पर एक साधु या स्वामी के स्वरूप में रहा करते थे और शिष्य किया करते थे। गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी का मदिर बन जाने के पीछे एक बार जब वल्लभाचार्य्य जी गऊघाट पर उतरे तब सूरदास उनके दर्शन को आए और उन्हे अपना बनाया एक पद गाकर सुनाया। आचार्य्यजी ने उन्हे अपना शिष्य किया और भागवत की कथाओं को गाने योग्य पदों मे करने का आदेश दिया। उनकी सच्ची भक्ति और पद-रचना की निपुणता देख वल्लभाचार्य्यजी ने उन्हे अपने श्रीनाथजी के मंदिर की कीर्त्तन सेवा सौंपी। इस मदिर को पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर सवत् १५७६ मे पूरा बनवाकर खड़ा किया था। मदिर पूरा होने के ११ वर्ष पीछे अर्थात् संवत् १५८७ में वल्लभाचार्य्यजी की मृत्यु हुई।

श्रीनाथजी के मंदिर-निर्माण के थोड़ा ही पीछे सूरदासजी वल्लभ-संप्रदाय मे आए, यह 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—

"औरहु पद गाए तब श्रीमहाप्रभुजी अपने मन मे बिचार जो श्रीनाथजी के यहाँ और तो सब सेवा को मंडान भयो है, पर कीर्त्तन को मंडान नहीं कियो है; तातें अब सूरदास को दीजिए।"

अतः संवत् १५८० के आस-पास सूरदासजी वल्लभाचार्य के शिष्य हुए होंगे और शिष्य होने के कुछ ही पीछे उन्हे कीर्त्तन सेवा मिली होगी। तब से वे

बराबर गोवर्द्धन पर्वत पर ही मंदिर की सेवा में रहा करते थे, इसका स्पष्ट आभास 'सूरसारावली' के भीतर मौजूद है। तुलसीदास के प्रसंग में हम कह आए हैं कि भक्त लोग कभी कभी किसी ढंग से अपने को अपने इष्टदेव की कथा के भीतर डालकर उनके चरणों तक अपने पहुँचने की भावना करते हैं[1]। तुलसी ने तो अपने को कुछ प्रच्छन्न रूप में पहुँचाया है, पर सूर ने प्रकट रूप में। कृष्ण-जन्म के उपरांत नंद के घर बराबर आनंदोत्सव हो रहे हैं। उसी बीच एक ढाढ़ी आकर कहता है—

> नंद जू मेरे मन आनंद भयो, हौं गोवर्द्धन तें आयो।
> तुम्हरे पुत्र भयो, मैं सुनिकै अति आतुर उठि धायो॥
>
> × × ×
>
> जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाउँ।
> हौं तौ तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाउँ॥

वल्लभाचार्य्यजी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ के सामने गोवर्द्धन की तलहटी के पारसौली ग्राम में सूरदास की मृत्यु हुई, इसका पता भी उक्त वार्त्ता से लगता है। गोसाईं विट्ठलनाथ की मृत्यु सं० १६४२ में हुई। इसके कितने पहले सूरदास का परलोकवास हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

'सूरसागर' समाप्त करने पर सूर ने जो 'सूरसागर-सारावली' लिखी है उसमें अपनी अवस्था ६७ वर्ष की कही है—

> गुरु-परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।

तात्पर्य यह कि ६७ वर्ष के कुछ पहले वे 'सूरसागर' समाप्त कर चुके थे। सूरसागर समाप्त होने के थोड़ा ही पीछे उन्होंने 'सारावली' लिखी होगी। एक और ग्रंथ सूरदास का 'साहित्य लहरी' है, जिसमें अलंकारों और नायिका-भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले कूट पद हैं। इसका रचनाकाल सूर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> मुनि सुनि रसन के रस लेख।
> दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संबत पेख।

---

१—देखो पृ० १३१।

इसके अनुसार संवत् १६०७ मे 'साहित्य-लहरी' समाप्त हुई। यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्य-क्रीड़ा का यह ग्रंथ 'सूरसागर' से छुट्टी पाकर ही सूर ने सकलित किया होगा। उसके दो वर्ष पहले यदि 'सूरसारावली' की रचना हुई, तो कह सकते हैं कि सवत् १६०५ मे सूरदासजी ६७ वर्ष के थे। अब यदि उनकी आयु ८० या ८२ वर्ष की माने तो उनका जन्मकाल सं० १५४० के आसपास तथा मृत्युकाल सं० १६२० के आसपास ही अनुमित होता है।

'साहित्य-लहरी' के अंत मे एक पद है जिसमे सूर अपनी वंशपरंपरा देते हैं। उस पद के अनुसार सूर पृथ्वीराज के कवि चंदबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट थे। चदकवि के कुल मे हरीचंद हुए जिनके सात पुत्रो मे सबसे छोटे सूरजदास या सूरदास थे[1]। शेष ६ भाई जब मुसलमानो से युद्ध करते हुए मारे गए तब अंधे सूरदास बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहे। एक दिन वे कुएँ मे गिर पडे और ६ दिन उसी मे पडे रहे। सातवे दिन कृष्ण भगवान् उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें दृष्टि देकर अपना दर्शन दिया। भगवान् ने कहा कि दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मण-कुल द्वारा शत्रुओं का नाश होगा और तू सब विद्याओं मे निपुण होगा। इसपर सूरदास ने वर माँगा कि जिन आँखो से मैंने आपका दर्शन किया उनसे अब और कुछ न देखूँ और सदा आपका भजन करूँ। कुएँ से जब भगवान् ने उन्हे बाहर निकाला तब वे ज्यो के त्यों अंधे हो गए और ब्रज मे आकर भजन करने लगे। वहाँ गोसाईंजी ने उन्हे 'अष्ट-छाप' मे लिया।

हमारा अनुमान है कि 'साहित्य-लहरी' मे यह पद पीछे किसी भाट के द्वारा जोड़ा गया है। यह पंक्ति ही—

'प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें सत्रु ह्वैहै नास'

इसे सूर के बहुत पीछे की रचना बता रही है। 'प्रबल दच्छिन विप्रकुल' से साफ पेशवाओं की ओर संकेत है। इसे खींचकर अध्यात्म-पक्ष की ओर मोड़ने का प्रयत्न व्यर्थ है।

---

१—देखो पृ० ४५ पर चंद का वंशवृत्त।

सारांश यह कि हमे सूरदास का जो थोड़ा-सा वृत्त 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' मे मिलता है उसी पर संतोष करना पड़ता है। यह 'वार्त्ता' भी यद्यपि वल्लभाचार्य्यजी के पौत्र गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर उनकी लिखी नहीं जान पड़ती। इसमे कई जगह गोकुलनाथजी के श्रीमुख से कही हुई बातों का बड़े आदर और संमान के शब्दों मे उल्लेख है और वल्लभाचार्य्यजी की शिष्या न होने के कारण मीराबाई को बहुत बुरा भला कहा गया है और गालियाँ तक दी गई हैं। रंगढंग से यह वार्त्ता गोकुलनाथजी के पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है।

'भक्तमाल' मे सूरदास के संबंध मे केवल एक यही छप्पय मिलता है—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

इस छप्पय में सूर के अंधे होने भर का संकेत है जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है।

जीवन का कोई विशेष प्रामाणिक वृत्त न पाकर इधर कुछ लोगों ने सूर के समय के आसपास के किसी ऐतिहासिक लेख मे जहाँ कहीं सूरदास नाम मिला है वहीं का वृत्त प्रसिद्ध सूरदास पर घटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे दो उल्लेख लोगो को मिले है—

( १ ) 'आईन अकबरी' मे अकबर के दरबार मे नौकर गवैयों, बीनकारों आदि कलावंतों की जो फिहरिस्त है उसमे बाबा रामदास और उनके बेटे सूरदास दोनों के नाम दर्ज है। उसी ग्रंथ मे यह भी लिखा है कि सब कलावंतो की सात मंडलियाँ बना दी गई थीं। प्रत्येक मंडली सप्ताह में एक बार दरबार में हाजिर होकर बादशाह का मनोरंजन करती थी। अकबर संवत् १६१३ मे गद्दी पर बैठा। हमारे सूरदास सवत् १५८० के आसपास ही वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य

हो गये थे और उसके पहले भी विरक्त साधु के रूप मे गऊघाट पर रहा करते थे। इस दशा मे सवत् १६१३ के बहुत बाद वे दरबारी नौकरी करने कैसे पहुँचे? अतः 'आईन अकबरी' के सूरदास और सूरसागर के सूरदास एक ही व्यक्ति नहीं ठहरते।

(२) 'मुशियात अब्बुलफजल' नामक अब्बुलफजल के पत्रों का एक सग्रह है जिसमे बनारस के किसी सत सूरदास के नाम अब्बुलफजल का एक पत्र है। बनारस का करोड़ी इन सूरदास के साथ अच्छा बरताव नहीं करता था इससे उसकी शिकायत लिखकर इन्होंने शाही दरबार मे भेजी थी। उसी के उत्तर में अब्बुलफजल का पत्र है। बनारस के ये सूरदास बादशाह से इलाहाबाद मे मिलने के लिये इस तरह बुलाए गए है—

"हजरत बादशाह इलाहाबाद में तशरीफ लाएँगे। उम्मीद है कि आप भी शर्फ मुलाजमात से मुशर्रफ होकर मुरीद हकीकी होंगे और खुदा का शुक्र है कि हजरत भी आपको हक-शिनास जानकर दोस्त रखते है।" (फारसी का अनुवाद)

इन शब्दो से ऐसी ध्वनि निकलती है कि ये कोई ऐसे सत थे जिनके अकबर के 'दीन इलाही' मे दीक्षित होने की सभावना अब्बुलफजल समझता था। सभव है कि ये कबीर के अनुयायी कोई संत हों। अकबर का दो बार इलाहाबाद जाना पाया जाता है। एक तो सवत् १६४० मे, फिर संवत् १६६१ मे। पहली यात्रा के समय का लिखा हुआ भी यदि इस पत्र को माने तो भी उस समय हमारे सूर का गोलोकवास हो चुका था। यदि उन्हे तब तक जीवित मानें तो वे १०० वर्ष के ऊपर रहे होंगे। मृत्यु के इतने समीप आकर वे इन सब झमेलो मे क्यो पडने जायँगे, या उनके 'दीन इलाही' मे दीक्षित होने की आशा कैसे की जायगी?

श्रीवल्लभाचार्य्यजी के पीछे उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी गद्दी पर बैठे। उस समय तक पुष्टिमार्गी कई कवि बहुत से सुदर सुदर पदों की रचना कर चुके थे। इससे गोसाइँ विट्ठलनाथजी ने उनमे से आठ सर्वोत्तम कवियो को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। 'अष्टछाप' के आठ कवि ये हैं—सूरदास, कुंभन-

दास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास।

कृष्णभक्ति-परंपरा मे श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्त्व की बडे विस्तार के साथ व्यंजना हुई है; उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्णभक्तो के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओ से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बडे बडे भूपालो के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरगो से परिपूर्ण अनत सौंदर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सन्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक मे फूला फूला फिरता है। अतः इन कृष्णभक्त कवियों के संबध मे यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रग मे मस्त रहनेवाले जीव थे; तुलसीदासजी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमे न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिये जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषय-वासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पडेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तो ने अपनी गूढातिगूढ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियो ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियो से हिंदी काव्य को भर दिया।

कृष्णचरित के गान मे गीत-काव्य की जो धारा पूरब मे जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलंबन ब्रज के भक्त कवियो ने भी किया। आगे चलकर अलंकार काल के कवियो ने अपनी शृंगारमयी मुक्तक कविता के लिये राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया। इस प्रकार कृष्ण-संबधिनी कविता का स्फुरण मुक्तक के क्षेत्र मे ही हुआ, प्रबध-क्षेत्र मे नही। बहुत पीछे संवत् १८०९ मे ब्रजवासीदास ने रामचरितमानस के ढंग पर दोहा चौपाइयों मे प्रबंध-काव्य के रूप मे कृष्णचरित वर्णन किया, पर ग्रंथ बहुत साधारण कोटि का हुआ और उसका वैसा प्रसार न हो सका। कारण स्पष्ट है। कृष्णभक्त कवियों ने

श्रीकृष्ण भगवान् के चरित का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबध-काव्य के लिये पर्याप्त न था। उसमें मानव-जीवन की वह अनेकरूपता न थी जो एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये आवश्यक है। कृष्णभक्त कवियो की परंपरा अपने इष्टदेव की केवल बाललीला और यौवनलीला लेकर ही अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिये ही उपयुक्त थी। मुक्तक के क्षेत्र मे कृष्णभक्त कवियो तथा आलंकारिक कवियों ने शृंगार और वात्सल्य रसो को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया इसमे कोई संदेह नहीं।

पहले कहा गया है कि श्रीवल्लभाचार्य्यजी की आज्ञा से सूरदासजी ने श्रीमद्भागवत की कथा को पदो में गाया। इनके सूरसागर में वास्तव में भागवत के दशम स्कंध की कथा ही ली गई है। उसी को इन्होंने विस्तार से गाया है। शेष स्कंधों की कथा संक्षेपतः इतिवृत्त के रूप में थोड़े से पदों मे कह दी गई है। सूरसागर मे कृष्णजन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यंत विस्तार से फुटकल पदों में गाई गई है। भिन्न भिन्न लीलाओं के प्रसग लेकर इस सच्चे रसमग्न कवि ने अत्यंत मधुर और मनोहर पदों की झड़ी सी बाँध दी है। इन पदों के संबंध मे सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा मे सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित है। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यागपूर्ण है कि आगे होनेवाले कवियो की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती है! अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य-परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

गीतों की परंपरा तो सभ्य असभ्य सब जातियों में अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। सभ्य जातियो ने लिखित साहित्य के भीतर भी उनका समावेश किया है। लिखित रूप में आकर इनका रूप पंडितों की काव्य-परंपरा की रूढ़ियों के अनुसार बहुत कुछ बदल जाता है। इससे जीवन के कैसे कैसे योग सामान्य जनता का मर्म स्पर्श करते आए है और भाषा की किन किन पद्धतियों पर वे अपने गहरे भावो की व्यंजना करते आए हैं, इसका ठीक पता हमे बहुत काल से चले आते हुए मौखिक गीतों से ही लग सकता है। किसी

देश की काव्यधारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल से चले आते हुए इन्हीं गीतों से मिल सकता है। घर घर प्रचलित स्त्रियों के अनेक गीतों मे शृंगार और करुण दोनो का बहुत स्वाभाविक विकास हम पाएँगे। इसी प्रकार आल्हा, कड़खा आदि पुरुषों के गीतों में वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी। देश की अंतर्वर्त्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक ठीक परिचय के लिये ऐसे गीतो का पूर्ण सग्रह बहुत आवश्यक है। पर इस सग्रह कार्य मे उन्हीं का हाथ लगाना ठीक है जिन्हें भारतीय संस्कृति के मार्मिक स्वरूप की परख हो और जिनमें पूरी ऐतिहासिक दृष्टि हो।

स्त्रियों के बीच चले आते हुए बहुत पुराने गीतो को ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि उनमे स्वकीया के ही प्रेम की सरल गभीर व्यंजना है। परकीया-प्रेम के जो गीत है वे कृष्ण और गोपिकाओं की प्रेम-लीला को ही लेकर चले हैं, इससे उनपर भक्ति या धर्म का भी कुछ रग चढा रहता है। इस प्रकार के मौखिक गीत देश के प्रायः सब भागो मे गाए जाते थे। मैथिल कवि विद्यापति ( सवत् १४६० ) की पदावली मे हमें उनका साहित्यिक रूप मिलता है। जैसा कि हम पहले कह आए है, सूर के शृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। कुछ पदों के तो भाव भी बिलकुल मिलते हैं; जैसे—

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई॥

× × ×

भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत बाढ़त बिरह क बाधा॥
दुहु दिसि दारु दहन जइसे दगधइ, आकुल कीट-परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान॥

इस पद का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्णरूप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझकर राधा के वियोग मे

'राधा राधा' रटने लगती हैं। फिर जब होश मे आती है तब कृष्ण के विरह से संतप्त होकर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती है। इस प्रकार अपनी सुध मे रहती हैं तब भी, नहीं रहती हैं तब भी, दोनों अवस्थाओं मे उन्हे विरह का ताप सहना पडता है। उनकी दशा उस लकड़ी के भीतर के कीडे की सी रहती है जिसके दोनो छोरो पर आग लगी हो। अब इसी भाव का सूर का यह पद देखिए—

सुनौ स्याम! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति विरह विरहिनी कैसे कै जो सहै॥
जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधौ ह्वै जाति, सकल तनु राधा-विरह दहै॥
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताई चहै।
सूरदास अति विकल विरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥

( सूरसागर, पृ० ५६४; वेंकटेश्वर )

'सूरसागर' मे जगह जगह दृष्टिकूट वाले पद मिलते है। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। 'सारंग' शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे है। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का एक कूट देखिए—

सारँग नयन, बयन पुनि सारँग, सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग केलि करथि मधु पाने॥

पच्छिमी हिंदी बोलनेवाले सारे प्रदेशों मे गीतो की भाषा ब्रज ही थी। दिल्ली के आस-पास भी गीत ब्रजभाषा मे ही गाए जाते थे, यह हम खुसरो ( सवत् १३४० ) के गीतों मे दिखा आए है। कबीर (संवत् १५६०) के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उनकी 'साखी' की भाषा तो 'सधुक्कड़ी' है, पर पदों की भाषा काव्य मे प्रचलित ब्रजभाषा है। यह एक पद तो कबीर और सूर दोनो की रचनाओं के भीतर ज्यो का त्यों मिलता है—

है हरिभजन को परवॉन। नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो तिरे जल पापान। अधम भील, अजाति गनिका चढे जात बिवॉन॥

नवलख तारा चलै मंडल, चलै ससहर भान। दास ध्रू कौं अटल पदवी राम को दीवान॥
निगम जाकी साखि बोलैं कथैं सत सुजान। जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवान॥
(कबीर ग्रथावली, पृ० १९०)

---

है हरि-भजन को परमान। नीच पावै-ऊँच पदवी, बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो जल तरै पाषान। अजामिल अरु भील गनिका चढे जात विमान।
चलत तारे सकल, मंडल, चलत ससि अरु भान। भक्त ध्रुव को अटल पदवी राम को दीवान।
निगम जाको सुजस गावत, सुनत संत सुजान। सूर हरि की सरन आयौ, राखि ले भगवान॥
(सूरसागर, पृ० १९, वेंकटेश्वर)

कबीर की सबसे प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश मे फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए—

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि-आनन।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि वृंदावन-चंद बस किए सुनत ही कानन॥

जिस प्रकार रामचरित गान करनेवाले भक्त कवियों मे गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गानेवाले भक्त कवियो मे महात्मा सूरदासजी का। वास्तव मे ये हिंदी काव्य-गगन के सूर्य और चंद्र है। जो तन्मयता इन दोनो भक्तशिरोमणि कवियो की वाणी मे पाई जाती है वह अन्य कवियो मे कहाँ? हिंदी-काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ; इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया। सूर की स्तुति मे, एक संस्कृत श्लोक के भाव को लेकर, यह दोहा कहा गया है—

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलबीर। केशव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर। किधौं सूर को पद लग्यो, वेध्यो सकल सरीर॥

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों मे तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उनमे बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूपवर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बडा भंडार और कहीं नहीं। दो चार चित्र देखिए—

(१) काहे को आरि करत मेरे मोहन! यों तुम आँगन लोटी?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिए छोटी॥

(२) सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरै पैयाँ॥

(४) पाहुनि करि दै तनक मह्यो।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो॥
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। 'स्पर्द्धा' का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद में आया है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?
कितिक बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के ये वचन देखिए—

खेलत में को काको गोसैयाँ ?
जोति पाँति हम तें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

वात्सल्य के समान ही शृंगार के संयोग और वियोग दोनो पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि मे नहीं। गोकुल मे जब तक श्रीकृष्ण रहे तब तक का उनका सारा जीवन ही संयोग-पक्ष है। दानलीला, माखनलीला, चीरहरण-लीला, रासलीला आदि न जाने कितनी लीलाओं पर सहस्रों पद भरे पड़े हैं। राधाकृष्ण के प्रेम के प्रादुर्भाव की कैसी स्वाभाविक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है यही देखिए—

(क) करि ल्यो न्यारी, हरि आपनि गैयाँ।
नहिं न बसात लाल कछु तुमसों सबै ग्वाल इक ठैयाँ।

(ख) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन कर तें धार चलति पय मोहनि-मुख अति ही छवि बाढ़ी।

शृंगार के अंतर्गत भावपक्ष और विभावपक्ष दोनों के अत्यंत विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। राधाकृष्ण के रूप-वर्णन मे ही सैकड़ों पद कहे गए हैं जिनमे उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं; जैसे—

देखि री! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन॥
राजिवदल, इंदीवर, शतदल, कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित-प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय॥

नेत्रों के प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं—

मेरे नैना बिरह की बेल बई।
सींचत नैन-नीर के सजनी! मूल पतार गई।
बिगसति लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई।

आँख तो आँख, कृष्ण की मुरली तक में प्रेम के प्रभाव से गोपियों को ऐसी सजीवता दिखाई पड़ती है कि वे अपनी सारी प्रगल्भता उसे कोसने में खर्च कर देती हैं—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी! जदपि नँदनंदहि नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पायँ ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति।
आपुनि पौढ़ि अधर-सज्जा पर करपल्लव सों पद पलुटावति।
भ्रकुटी कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोपि कँपावति॥

कालिंदी के कूल पर शरत् की चाँदनी में होनेवाले रास की शोभा का क्या कहना है, जिसे देखने के लिये सारे देवता आकर इकट्ठे हो जाते थे। सूर ने एक न्यारे प्रेमलोक की आनद-छटा अपने बंद नेत्रो से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरहसागर उमड़ा है उसमे मग्न होने पर तो पाठको को वार-पार नही मिलता। वियोग की जितने प्रकार की दशाएँ हो सकती हैं सबका समावेश उसके भीतर है। कभी तो गोपियों को संध्या होने पर यह स्मरण आता है—

एहि-वेरियाँ वन ते चलि आवते।
दूरहि तें वह वेनु अधर धरि बारबार बजावते॥

कभी वे अपने उजडे हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती है—

मधुवन! तुम कत रहत हरे?
विरह-वियोग स्यामसुंदर के ठाढे क्यों न जरे?
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे॥

ससा स्यार औ वन के पखेरू धिक धिक सबन करे ॥
कौन काज ठाढ़े रहे वन में, काहे न उकठि परे ?

परपरा से चले आते हुए चद्रोपालभ आदि सब विषयों का विधान सूर के वियोग-वर्णन के भीतर है, कोई बात छूटी नहीं है।

सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। प्रसंगोद्भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी मे नहीं पाते। बाललीला और प्रेमलीला दोनों के अंतर्गत कुछ दूर तक चलनेवाले न जाने कितने छोटे छोटे मनोरंजक वृत्तो की कल्पना सूर ने की है। जीवन के एक क्षेत्र के भीतर कथा-वस्तु की यह रमणीय कल्पना ध्यान देने योग्य है।

राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्णभक्ति की जो काव्यधारा चली उसमें लीलापक्ष अर्थात् बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रही है। उसमें केलि, विलास, रास, छेड़छाड़, मिलन की युक्तियो आदि बाहरी बातो का ही विशेष वर्णन है। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना कम है। वियोग-वर्णन मे कुछ सचारियो का समावेश मिलता है, पर वे रूढ़ और परंपरागत हैं, उनमे नूतन उद्भावना बहुत थोड़ी पाई जाती है। भ्रमरगीत के अतर्गत अलबत सूर ने आभ्यतर पक्ष का भी विस्तृत उद्घाटन किया है। प्रेमदशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यजना गोपियो के वचनो द्वारा होती है।

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश 'भ्रमरगीत' है जिसमे गोपियो की वचनवक्रता अत्यत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ-काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग-कथा द्वारा गोपियो को प्रेम से विरत करना चाहते है और गोपियाँ उन्हे कभी पेट भर बनाती है, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं। उद्धव के बहुत बकने पर वे कहती हैं—

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहति हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी ॥

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्तशिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से—हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्क-पद्धति पर नहीं—किया है। सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाए हैं जिससे संवाद में बहुत रोचकता आ गई है। भागवत में यह प्रसंग नहीं है। सूर के समय में निर्गुण संत संप्रदाय की बातें जोर शोर से चल रही थीं। इसी से उपयुक्त स्थल देखकर सूर ने इस प्रसंग का समावेश कर दिया। जब उद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोककर इस प्रकार पूछती हैं—

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय; सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी

और कहती हैं कि चारों ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध करके तू क्यों व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर यों ही बक बक करता है।

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई संबंध हो सकता है यह तो बताओ—

रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूँ हौ पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत ?
नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत ?
सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यौं तुमको सोउ मोहत ?

अंत में वे यह कहकर बात समाप्त करती है कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमें कृष्ण के अवगुणों में ही अधिक रस जान पड़ता है—

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर श्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥

( २ ) नंददास—ये सूरदासजी के प्रायः समकालीन थे और इनकी गणना अष्टछाप में है। इनका कविता-काल सूरदासजी की मृत्यु के पीछे संवत् १६२५ या उसके और आगे तक माना जा सकता है। इनका जीवन-वृत्त पूरा पूरा और ठीक ठीक नही मिलता। नाभाजी के भक्तमाल मे इनपर जो छप्पय है उससे जीवन के सबध मे इतना ही है |

चद्रहास-अग्रज सुहृद परम-प्रेम-पथ मे पगे।

इससे इतना ही सूचित होता है कि इनके भाई का नाम चंद्रहास था। इनके गोलोकवास के बहुत दिनों पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथजी के नाम से जो "दो सौ बावन वैष्णवो की वार्त्ता" लिखी गई उसमें इनका थोड़ा-सा वृत्त दिया गया है। उक्त वार्ता में नददासजी तुलसीदासजी के भाई कहे गए हैं। गोकुलनाथजी का अभिप्राय प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदासजी से ही है, यह पूरी वार्त्ता पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। उसमे स्पष्ट लिखा है कि नंददासजी का कृष्णोपासक होना राम के अनन्य भक्त उनके भाई तुलसीदासजी को अच्छा नही लगा और उन्होने उलाहना लिखकर भेजा। यह वाक्य भी उसमे आया है—"सो एक दिन नंददासजी के मन मे ऐसा आई। जैसे तुलसीदासजी ने रामायण भाषा करी है सो हम हूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें।" गोस्वामीजी का नंददास के साथ वृंदावन जाना और वहाँ "तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबान लेव हाथ" वाली घटना भी उक्त वार्त्ता मे ही लिखी है। पर गोस्वामीजी का नंददासजी से कोई संबंध न था, यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। अतः उक्त वार्त्ता की बातो को, जो वस्तव में भक्तों का गौरव प्रचलित करने और वल्लभाचार्य्यजी की गद्दी की महिमा प्रकट करने के लिये पीछे से लिखी गई है, प्रमाण-कोटि में नहीं ले सकते।

उसी वार्त्ता में यह भी लिखा है कि द्वारका जाते हुए नंददासजी सिंधुनद ग्राम में एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए। ये उस स्त्री के घर के चारों ओर चक्कर लगाया करते थे। घरवाले हैरान होकर कुछ दिनों के लिये गोकुल चले गए। वहाँ भी ये जा पहुँचे। अंत में वहीं पर गोसाईं विट्ठलनाथजी के सदुपदेश से इनका मोह छूटा और ये अनन्य भक्त हो गए। इस कथा में

ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इन्होंने गोसाईं विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। ध्रुवदासजी ने भी अपनी 'भक्त-नामावली' में इनकी भक्ति की प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा है।

अष्टछाप मे सूरदासजी के पीछे इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इनकी रचना भी बड़ी सरस और मधुर है। इनके संबध में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया"। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रास-पंचाध्यायी' है जो रोला छंदों में लिखी गई है। इसमे, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि-युक्त साहित्यिक भाषा मे विस्तार के साथ वर्णन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही अधिक आश्रय लिया है, अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पदविन्यास आदि की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई है, पर नंददासजी में ये बातें पूर्ण रूप मे पाई जती हैं। "रास-पचाध्यायी" के अतिरिक्त इन्होंने ये पुस्तके लिखी है—

भागवत दशमस्कंध, रुक्मिणी मंगल, सिद्धांत-पचाध्यायी, रूपमंजरी, रस-मजरी, मानमंजरी, विरह-मंजरी, नामचिंतामणिमाला, अनेकार्थनाममाला (कोश) ज्ञानमंजरी, दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमंजरी श्यामसगाई, भ्रमरगीत और सुदामाचरित। दो ग्रंथ इनके लिखे और कहे जाते हैं—हितोपदेश और नासिकेतपुराण ( गद्य में )। दो सौ से ऊपर इनके फुटकल पद भी मिले हैं। जहाँ तक ज्ञात है, इनकी चार पुस्तकें ही अब तक प्रकाशित हुई हैं—रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थमंजरी और अनेकार्थनाममाला। इनमे रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत ही प्रसिद्ध है, अतः उनसे कुछ अवतरण नीचे दिए जाते है—

( रास-पंचाध्यायी से )

ताही छिन उडुराज उदित रस-रास-सहायक। कुंकुम-मंडित-वदन प्रिया जनु नागरि-नायक॥
कोमल किरन अरुन मानो वन व्यापि रही यों। मनसिज खेल्यो फागु घुमडि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों॥
फटिक-छटा सी किरन कुंज-रंध्रन जब आई। मानहुँ वितत बितान सुदेस तनाव तनाई॥
तब लीनो कर कमल योगमाया सी मुरली। अघटित-घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली॥

वर उर उरज करज विच अंकित, वाहु जुगल वलयावलि फूटी।
कंचुकि चीर विविध रँग रंजित गिरधर-अधर-माधुरी घूँटी॥
आलस-वलित नैन अनियारे, अरुन उनींदे रजनी खूटी।
परमानंद प्रभु सुरति समय रस मदन-नृपति की सेना लूटी॥

(५) कुंभनदास—ये भी अष्टछाप के एक कवि थे और परमानंददासजी के ही समकालीन थे। ये पूरे विरक्त और धन, मान, मर्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सिकरी जाना पड़ा जहाँ इनका बड़ा संमान हुआ। पर इसका इन्हें बराबर खेद ही रहा, जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है—

संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि-नाम॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम॥

इनका कोई ग्रंथ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है। फुटकल पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही कृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला है—

तुम नीके दुहि जानत गैया।
चलिए कुँवर रसिक मनमोहन लगौं तिहारे पैयाँ॥
तुमहि जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया।
निकटहि है यह खरिक हमारो, नागर लेहुँ बलैया॥
देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँट्यो सुँदरैया।
कुंभनदास प्रभु मानि लई रति गिरि-गोबरधन-रैया॥

(६) चतुर्भुजदास—ये कुंभनदासजी के पुत्र और गोसाईं विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। ये भी अष्टछाप के कवियों में हैं। इनकी भाषा चलती और सुव्यवस्थित है। इनके बनाए तीन ग्रंथ मिले हैं—द्वादशयश, भक्ति-प्रताप तथा हितजू को मंगल।

इनके अतिरिक्त फुटकल पदों के संग्रह भी इधर उधर पाए जाते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है—

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात ॥
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात ।
जौ बरजौं तौ आँखि दिखावै, रचहु नाहिं सकात ॥
और अटपटी कहँ लौं बरनौं, छुवत पानि सों गात ।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात ॥

(७) छीतस्वामी—ये विट्ठलनाथजीके शिष्य और अष्टछाप के अंतर्गत थे। पहले ये मथुरा के एक सुसंपन्न पंडा थे और राजा बीरबल ऐसे लोग इनके यजमान थे। पडा होने के कारण ये पहले बड़े अक्खड़ और उद्दड थे, पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा लेकर परम शात भक्त हो गए और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। इनकी रचनाओं का समय संवत् १६१२ के इधर मान सकते हैं। इनके फुटकल पद ही लोगों के मुँह से सुने जाते हैं या इधर उधर संग्रहीत मिलते है। इनके पदों मे शृंगार के अतिरिक्त व्रजभूमि के प्रति प्रेम-व्यंजना भी अच्छी पाई जाती है। 'हे विधना तो सों अँचरा पसारि मॉगौं जनम जनम दीजो याही व्रज बसिबो' पद इन्हीं का है। अष्टछाप के और कवियों की सी मधुरता और सरसता इनके पदों मे भी पाई जाती है; देखिए—

भोर भए नवकुंज-सदन तें आवत लाल गोवर्द्धनधारी।
लट पर पाग मरगजी माला, सिथिल अग डगमग गति न्यारी ॥
बिनु-गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वैजचंद अनुहारी।
छीतस्वामि जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी ॥

(८) गोविंदस्वामी—ये अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे जो विरक्त की भॉति आकर महावन मे रहने लगे थे। पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य हुए जिन्होने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर इन्हे अष्टछाप मे लिया। ये गोवर्द्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही इन्होंने कदंबों का एक अच्छा उपवन लगाया था जो अब तक "गोविंदस्वामी की कदंब-खंडी" कहलाता है। इनका रचना-काल संवत् १६०० और १६२५ के भीतर ही माना जा सकता है। ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैए भी थे। तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने के लिये आया करते थे। इनका बनाया एक पद दिया जाता है—

(भ्रमरगीत से)

कहन स्याम-संदेस, एक मैं तुम पै आयो। कहन समय सकेत कहूँ अवसर नहिं पायो॥
सोचत ही मन मे रह्यो, कब पाऊँ इक ठाउँ। कहि सँदेस नँदलाल को, बहुरी मधुपुरी जाउँ॥
सुनौ ब्रजनागरी।

जौ उनके गुन होय, वेद क्यों नेति बखानै। निरगुन सगुन आतमा-रुचि ऊपर सुख सानै॥
वेद पुराननि खोजि कै पायो कतहुँ न एक। गुन ही के गुन होहि तुम, कहौ अकासहि टेक॥
सुनौ ब्रजनागरी।

जौ उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ ते? बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें॥
वा गुन की परछाँह री माया-दरपन बीच। गुन तें गुन न्यारे भए, अमल वारि जल कीच॥
सखा सुनु स्याम के।

(३) कृष्णदास—ये भी वल्लभाचार्यजी के शिष्य और अष्टछाप मे थे। यद्यपि ये शूद्र थे पर आचार्य्यजी के बड़े कृपापात्र थे और मंदिर के प्रधान मुखिया हो गए थे। "चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता" मे इनका कुछ वृत्त दिया हुआ है। एक बार गोसाईं विट्ठलनाथजी से किसी बात पर अप्रसन्न होकर इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इस पर गोसाईं विट्ठलनाथजी के कृपापात्र महाराज बीरबल ने इन्हे कैद कर लिया। पीछे गोसाईंजी इस बात से बड़े दुखी हुए और इनको कारागार से मुक्त कराके प्रधान के पद पर फिर ज्यों का त्यो प्रतिष्ठित कर दिया। इन्होंने भी और सब कृष्णभक्तों के समान राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार-रस के ही पद गाए है। जुगलमान-चरित्र नामक इनका एक छोटा सा ग्रंथ मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके बनाए दो ग्रंथ और कहे जाते हैं—भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण। फुटकल पदो के संग्रह इधर उधर मिलते हैं। सूरदास और नंददास के सामने इनकी कविता साधारण कोटि की है। इनके कुछ पद नीचे दिए जाते है—

तरनि-तनया-तट आवत है प्रात समय,
कंदुक खेलत देख्यो आनंद को कँदवा॥
नूपुर पद कुनित, पीतांबर कटि बाँधे,
लाल उपरना, सिर मोरन के चँदवा॥

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंदसुवन के सगम सुखकर अधिक विराजति गोपी॥
मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित सुरत-धुजा सुख रोपी॥
बदन कांति कै सुनु री भामिनी! सवन चंद-श्री लोपी॥
प्राननाथ के चित चोरन को भौंह भुजंगम कोपी।
कृष्णदास स्वामी वस कीन्हे, प्रेमपुंज की चोपी॥

---

मो मन गिरिधर-छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गडि ठटक्यो॥
सजल स्याम-घन-बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किए प्रान निछावर, यह तन जग-सिर पटक्यो॥

कहते हैं कि इसी अंतिम पद को गाकर कृष्णदासजी ने शरीर छोड़ा था। इनका कविता-काल संवत् १६०० के आगे पीछे माना जा सकता है।

**(४) परमानंददास**—ये भी वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य और अष्टछाप में थे। ये संवत् १६०६ के आसपास वर्त्तमान थे। इनका निवासस्थान कन्नौज था। इसी से ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण अनुमान किए जाते है। ये अत्यंत तन्मयता के साथ बड़ी ही सरस कविता करते थे। कहते हैं कि इनके किसी एक पद को सुनकर आचार्य्यजी कई दिनो तक तन बदन की सुध भूले रहे। इनके फुटकल पद कृष्णभक्तो के मुँह से प्रायः सुनने मे आते हैं। इनके ८३५ पद 'परमानंद-सागर' मे हैं। दो पद देखिए—

कहा करौं बैकुंठहि जाय?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छायँ।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय॥

---

राधे जू हारावलि टूटी।
उरज कमलदल माल मरगजी, बाम कपोल अलक लट छूटी।

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर सुत को उबटि न्हवावति ।
करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि रचि पाग बनावति ॥
छुटे बंद बागे अति सोभित, बिच्च बिच्च चोव अरगजा लावति ।
सूथन लाल फूँदना सोभित, आजु कि छवि कछु कहति न आवति ॥
विविध कुसुम की माला उर धरि श्री कर मुरली बेंत गहावति ।
लै दरपन देखे श्रीमुख को, गोविंद प्रभु चरननि सिर नावति ॥

(९) हितहरिवंश—राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्त्तक गोसाईं हितहरिवंश का जन्म संवत् १५५९ मे मथुरा से ४ मील दक्षिण बादगाँव मे हुआ था। राधावल्लभी संप्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्मा ने जन्म संवत् १५३० माना है, जो सब घटनाओ पर विचार करने से ठीक नहीं जान पडता। ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्रीहरिराम व्यासजी संवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे। हितहरिवंशजी गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था।

कहते हैं हितहरिवशजी पहले माध्वानुयायी गोपालभट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हे स्वप्न मे राधिकाजी ने मंत्र दिया और इन्होने अपना एक अलग संप्रदाय चलाया। अतः हित संप्रदाय को माध्व संप्रदाय के अतर्गत मान सकते है। हितहरिवशजी के चार पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्रो के नाम बनचद्र, कृष्ण-चद्र, गोपीनाथ और मोहनलाल थे। गोसाईंजी ने संवत् १५८२ मे श्री राधा-वल्लभजी की मूर्ति वृंदावन मे स्थापित की और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। ये सस्कृत के अच्छे विद्वान् और भाषा-काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। १७० श्लोको का "राधासुधानिधि" आप ही का रचा कहा जाता है। व्रजभाषा की रचना आपकी यद्यपि बहुत विस्तृत नही है, पर है बडी सरस और हृदयग्राहिणी। आपके पदों का संग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है क्योकि उसमे ८४ पद हैं। प्रेमदास की लिखी इस ग्रंथ की एक बहुत बड़ी टीका (५०० पृष्ठों की) व्रजभाषा गद्य मे है।

इनके द्वारा व्रजभाषा की काव्यश्री के प्रसार मे बड़ी सहायता पहुँची है। इनके कई शिष्य अच्छे-अच्छे कवि हुए है। हरिराम व्यास ने इनके गोलोकवास पर बडे चुभते पद कहे है। सेवकजी, ध्रुवदास आदि इनके शिष्य बडी सुंदर

रचना कर गए हैं। अपनी रचना की मधुरता के कारण हितहरिवंशजी श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं। इनका रचना-काल संवत् १६०० से संवत् १६४० तक माना जा सकता है। 'हित चौरासी' के अतिरिक्त इनकी फुटकल बानी भी मिलती है जिसमे सिद्धात-सबधी पद्य है। इनके 'हित चौरासी' पर लोकनाथ कवि ने एक टीका लिखी है। वृंदावनदास ने इनकी स्तुति और वंदना में "हितजी की सहस्रनामावली" और चतुर्भुजदास ने 'हितजू को मगल' लिखा है। इसी प्रकार हितपरमानंदजी और ब्रजजीवनदास ने इनकी जन्म बधाइयाँ लिखी है। हितहरिवशजी की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते है जिनसे इनकी वर्णन-प्रचुरता का परिचय मिलेगा—

( सिद्धात-सबंधी कुछ फुटकल पदों से )

रहौ कोउ काहू मनहि दिए।
मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करौं तिन छिए॥
जो अवतार-कदंब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिए।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा बन बिहार रस पिए॥
खोए रतन फिरत जे घर घर कौन काज इमि जिए?
हितहरिवंस अनत सचु नाही बिन या रसहि पिए॥

( हित-चौरासी से )

ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुटमनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अँग अंग-माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कबरी गूथित कच कनक कज-बदनी।
चिकुर चंद्रिकन बीच अधर बिधु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भ्रुकुटि काम-कोदड, नैन शर, कज्जल-रेख अनी॥
भाल तिलक, ताटक गड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव, पीतम-मन-समनी॥
हितहरिवस प्रससित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत श्रवननि सुनत सुखाकर विश्व-दुरित-दवनी॥

———

विपिन घन कुंज रति केलि भुज मेलि रुचि
स्याम स्यामा मिले सरद की जामिनी।
हृदय अति फूल, रसमूल पिय नागरी
कर निकर मत्त मनु विविध गुन रागिनी॥
सरस गति हास परिहास आवेस बस
दलित दल मदन बल कोक रस जामिनी।
हितहरिवंस सुनि लाल लावन्य भिदे
प्रिया अति सूर सुख-सुरत सग्रामिनी॥

( १० ) गदाधर भट्ट—ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनके जन्म-संवत् आदि का ठीक-ठीक पता नही। पर यह बात प्रसिद्ध है कि ये श्री चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। इनका समर्थन भक्तमाल की इन पंक्तियो से भी होता है—

भागवत सुधा बरखै बदन, काहू को नाहिंन दुखद।
गुण-निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद॥

श्री चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव संवत् १५४२ मे और गोलोकवास १५८४ मे माना जाता है। अतः संवत् १५८४ के भीतर ही आपने श्री महाप्रभु से दीक्षा ली होगी। महाप्रभु के जिन छः विद्वान् शिष्यों ने गौडीय संप्रदाय के मूल संस्कृत ग्रंथों की रचना की थी उनमे जीव गोस्वामी भी थे। वे वृंदावन में रहते थे। एक दिन दो साधुओं ने जीव गोस्वामी के सामने गदाधर भट्टजी का यह पद सुनाया—

सखी हौं स्याम रग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रहो रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परै, सखि, नेकु न न्यारो होई॥
एक जु मेरी अँखियनि में निसि द्यौस रह्यो करि भौन।
गाय चरावन जात सुन्यो, सखि, सो धौं कन्हैया कौन?
कासों कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद?
कैसे कै कहि जात गदाधर गूँगे तें गुर-स्वाद?

इस पद को सुन जीव गोस्वामी ने भट्टजी के पास यह श्लोक लिख भेजा।

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्ममनाश्रित्य वृंदाटवीं तत्पदाङ्कम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचितान् कुतःश्यामसिन्धोःरसस्यावगाहः॥

यह श्लोक पढकर भट्टजी मूर्च्छित हो गए। फिर सुध आने पर सीधे वृंदावन मे जाकर चैतन्य महाप्रभु के शिष्य हुए। इस वृत्तांत को यदि ठीक माने तो इनकी रचनाओं का आरंभ १५८० से मानना पडता है और अंत सवत् १६०० के पीछे। इस हिसाब से इनकी रचना का प्रादुर्भाव सूरदासजी के रचनाकाल के साथ साथ अथवा उससे भी कुछ पहले से मानना होगा।

सस्कृत के चूडांत पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पद-विन्यास बहुत ही सुंदर है। गोस्वामी तुलसीदासजी के समान इन्होंने संस्कृत पदों के अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित भाषा-कविता भी की है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते है—

जयति श्रीराधिके, सकल-सुख-साधके,
तरुनि-मनि नित्य नवतन किसोरी।
कृष्णतन-लीन-मन रूप की चातकी,
कृष्ण-मुख हिम-किरन की चकोरी॥
कृष्ण-दृग-भृंग विश्राम हित पद्मनी,
कृष्ण - दृग - मृगज - बधन सुडोरी।
कृष्ण - अनुराग - मकरंद की मधुकरी,
कृष्ण - गुण - गान - रससिंधु बोरी॥
विमुख पर चित्त तें चित्त जाको सदा,
करति निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृति यह गदाधर कहत कैसे बनै,
अमित महिमा, इतै बुद्धि थोरी॥

---

झूलति नारि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल॥

फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान छवि प्रकट भई तिहि काल॥
सिलसिलात अति प्रिया सीस तें लटकति बेनी भाल।
जनु पिय-मुकुट-बरहि-भ्रम बस तहँ ब्याल बिकल बिहाल॥
मल्लीमाल प्रिया के उर की, पिय तुलसीदल माल।
जनु सुरसरि रवितनया मिलिकै सोभित श्रेनि-मराल॥
स्यामल गौर परस्पर प्रति छवि सोभा बिसद बिशाल।
निरखि गदाधर रसिककुँवरि-मन पर्यो सुरस-जजाल॥

(११) मीराबाई—ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ मे चोकडी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा-कुमार भोजराजजी के साथ हुआ था। ये आरंभ ही से कृष्णभक्ति मे लीन रहा करती थीं। विवाह के उपरांत थोड़े दिनों में इनके पति-का परलोकवास हो गया। ये प्रायः मंदिर में जकार उपस्थित भक्तों और सतों के बीच श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्त्ति के सामने आनद-मग्न होकर नाचती और गाती थीं। कहते हैं कि इनके इस राजकुल-विरुद्ध आचरण से इनके स्वजन लोकनिंदा के भय से रुष्ट रहा करते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि इन्हे कई बार विष देने का प्रयत्न किया गया, पर भगवत्कृपा से विष का कोई प्रभाव इनपर न हुआ। घरवालों के व्यवहार से खिन्न होकर ये द्वारका और वृंदावन के मंदिरो मे घूम घूमकर भजन सुनाया करती थीं। जहाँ जातीं वहाँ इनका देवियो का सा समान होता। ऐसा प्रसिद्ध है कि घरवालों से तंग आकर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी को यह पद लिखकर भेजा था—

स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषन दूषन-हरन गोसाईं।
बारहि बार प्रनाम करहु, अब हरहु सोक-समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु-सग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई॥
मेरे मात-पिता के सम हौ, हरिभक्तह सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई॥

इसपर गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका का यह पद लिखकर भेजा—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो नर तजिय कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जौ फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं।

पर मीराबाई की मृत्यु द्वारका मे संवत् १६०३ में हो चुकी थी। अतः यह जनश्रुति किसी की कल्पना के आधार पर चल पड़ी।

मीराबाई की उपासना 'माधुर्य' भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप मे करती थीं। पहले यह कहा जा चुका है कि इस भाव की उपासना मे रहस्य का समावेश अनिवार्य्य है[1]। इसी ढंग की उपासना का प्रचार सूफी भी कर रहे थे अतः उनका संस्कार भी इनपर अवश्य कुछ पडा। जब लोग इन्हे खुले मैदान मंदिरों मे पुरुषो के सामने जाने से मना करते तब ये कहतीं कि "कृष्ण के अतिरिक्त और पुरुष है कौन जिसके सामने मैं लज्जा करूँ?' मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तो मे है और इनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, व्यासजी, मलूकदास आदि सब भक्तो ने किया है। इनके पद कुछ तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा मे। पर सब मे प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पाई जाती है। इनके बनाए चार ग्रंथ कहे जाते है—नरसीजी का मायरा, गीत-गोविंद टीका, राग गोविंद, राग सोरठ के पद।

इनके दो पद नीचे दिए जाते है—

बसो मेरे नैनन मे नँदलाल।
मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने रसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिए भाल॥
अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्तबछल गोपाल॥

---

१—देखो पृ० १५९।

मन रे परसि हरि के चरन।

सुभग सीतल कमल-कोमल त्रिविध-ज्वाला-हरन ॥
जो चरन प्रह्लाद परसे इंद्र-पदवी-हरन।
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों राखि अपनी सरन ॥
जिन चरन ब्रह्मांड भेंट्यो नखसिखौ श्री भरन।
जिन चरन प्रभु परस लीन्हे तरी गौतम-घरनि ॥
जिन चरन धार्‌यो गोवरधन गरब-मघवा-हरन।
दास मीरा लाल गिरधर अगम तारन तरन ॥

(१२) **स्वामी हरिदास**—ये महात्मा वृंदावन में निंबार्कमतांतर्गत टट्टी संप्रदाय के संस्थापक थे और अकबर के समय में एक सिद्ध भक्त और संगीत-कला-कोविद माने जाते थे। कविता-काल १६०० से १६१७ ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य्य तानसेन इनका गुरुवत् संमान करते थे। यह प्रसिद्ध है कि अकबर बादशाह साधु के वेश में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिये गया था। कहते है कि तानसेन इनके सामने गाने लगे और उन्होंने जान-बूझकर गाने में कुछ भूल कर दी। इस पर स्वामी हरिदास ने उसी गान को शुद्ध करके गाया। इस युक्ति से अकबर को इनका गाना सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। पीछे अकबर ने बहुत कुछ पूजा चढ़ानी चाही पर इन्होंने स्वीकृत न की। इनका जन्म-संवत् आदि कुछ ज्ञात नहीं, पर इतना निश्चित है कि ये सनाढ्य ब्राह्मण थे जैसा कि सहचरिसरनदासजी ने, जो इनकी शिष्यपरंपरा में थे, लिखा है। वृंदावन से उठकर स्वामी हरिदास जी कुछ दिन निधुवन में रहे थे। इनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ कुछ ऊबड़-खाबड़ लगते हैं। पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है, पर भाव उत्कृष्ट हैं। इनके पदों के तीन-चार संग्रह 'हरिदासजी को ग्रंथ', 'स्वामी हरिदासजी के पद', 'हरिदासजी की बानी' आदि नामों से मिलते हैं। एक पद देखिए—

ज्योंही ज्योंही तुम राखत हौ, त्योंही त्योंही रहियत हौ, हे हरि!
और अपरचै पाय धरौं सुतौ कहौ कौन के पैंड भरि ॥

जदपि हौं अपनो भायो किया चाहौं, कैसे करि सकौं जो तुम राखौ पकरि।
कहै हरिदास पिंजरा के जनावर लौं तरफाय रह्यो उडिबे को कितोऊ करि॥

**( १३ ) सूरदास मदनमोहन**—ये अकबर के समय में सँडीले के अमीन थे। जाति के ब्राह्मण और गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णव थे। ये जो कुछ पास में आता प्रायः सब साधुओं की सेवा मे लगा दिया करते थे। कहते हैं कि एक बार सँडीले तहसील की मालगुजारी के कई लाख रुपए सरकारी खजाने मे आए थे। इन्होने सबका सब साधुओं को खिला पिला दिया और शाही खजाने मे कंकड़ पत्थरों से भरे संदूक भेज दिए जिनके भीतर कागज के चिट यह लिखकर रख दिए—

तेरह लाख सँडीले आए, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन आधि रातहि सटके॥

और आधी रात को उठकर कहीं भाग गए। बादशाह ने इनका अपराध क्षमा करके इन्हे फिर बुलाया, पर ये विरक्त होकर वृंदावन मे रहने लगे। इनकी कविता इतनी सरस होती थी कि इनके बनाए बहुत से पद सूरसागर में मिल गए। इनकी कोई पुस्तक प्रसिद्ध नहीं। कुछ फुटकल पद लोगों के पास मिलते हैं। इनका रचनाकाल संवत् १५९० और १६०० के बीच अनुमान किया जाता है इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

मधु के मतवारे स्याम! खोलौ प्यारे पलकैं।
सीस मुकुट लटा छुटी और छुटी अलकैं॥
सुर नर मुनि द्वार ठाढे, दरस हेतु कलकैं।
नासिका के मोती सोहै बीच लाल ललकैं॥
कटि पीतांबर मुरली कर श्रवन कुंडल झलकै।
सूरदास मदनमोहन दरस दैहौ भले कै॥

---

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया॥
करत विनोद तरनि-तनया तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया।
यौं लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया॥

उपमा को घन दामिनि नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया।
सूर मदनमोहन बलि जोरी नँदनंदन वृषभानु-दुलरिया॥

(१४) श्री भट्ट—ये निंबार्क संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी के प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता-काल संवत् १६२५ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। इनकी कविता सीधी-सादी और चलती भाषा में है। पद भी प्रायः छोटे-छोटे हैं। इनकी कृति भी अधिक विस्तृत नहीं है पर 'युगल शतक' नाम का इनका १०० पदों का एक ग्रंथ कृष्णभक्तों में बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है 'युगल शतक' के अतिरिक्त इनकी एक और छोटी सी पुस्तक 'आदि बानी' भी मिलती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब ये तन्मय होकर अपने पद गाने लगते थे तब कभी कभी उसी पद के ध्यानानुरूप इन्हें भगवान् की झलक प्रत्यक्ष मिल जाती थी। एक बार वे यह मलार गा रहे थे—

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामाजू की सुरँग चूनरी, मोहन को उपरैना॥

कहते हैं कि राधाकृष्ण इसी रूप में इन्हें दिखाई पड़ गए और इन्होंने पद इस प्रकार पूरा किया—

स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि से घिरि आई जल-सेना॥

इनके 'युगल शतक' से दो पद उद्धृत किए जाते हैं—

ब्रजभूमि मोहनी मैं जानी।
मोहन कुंज, मोहन वृंदाबन, मोहन जमुना-पानी॥
मोहन नारि सकल गोकुल की बोलति अमरित बानी।
श्रीभट के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी॥

---

बसौ मेरे नैननि में दोउ चंद।
गोर-बदनि वृषभानु-नंदिनी स्यामबरन नँदनंद॥
गोलक रहे लुभाय रूप में निरखत आनँदकंद।
जय श्रीभट्ट प्रेमरस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद॥

( १५ ) व्यासजी—इनका पूरा नाम हरीराम व्यास था और ये ओरछा के रहनेवाले सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण थे। ओरछानरेश मधुकरसाह के ये राजगुरु थे। पहले ये गौड़ संप्रदाय के वैष्णव थे, पीछे हितहरिवंशजी के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गए। इनका काल संवत् १६२० के आसपास है। पहले ये सस्कृत के शास्त्रार्थी पंडित थे और सदा शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार रहते थे। एक बार वृंदावन मे जाकर गोस्वामी हितहरिवंशजी को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। गोसाईंजीने नम्र भाव से यह पद कहा—

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनै सचु पायो।
जहँ तहँ विपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गायो॥

यह पद सुन व्यासजी चेत गए और हितहरिवंशजी के अनन्य भक्त हो गए। उनकी मृत्यु पर इन्होंने इस प्रकार अपना शोक प्रकट किया—

हुतो रस रसिकन को आधार।
बिन हरिवंसहि सरस रीति को कापै चलिहै भार?
को राधा दुलरावै गावै, वचन सुनावै चार?
वृंदावन की सहज माधुरी, कहिहै कौन उदार?
पद-रचना अब कापै ह्वैहै? निरस भयो संसार।
बडो अभाग अनन्य सभा को, उठिगो ठाट सिंगार॥
जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत सहज रूप-आगार।
व्यास एक कुल-कुमुद-चंद बिनु उडुगन जूठी थार॥

जब हितहरिवशजी से दीक्षा लेकर व्यासजी वृंदावन मे ही रह गए तब महाराज मधुकरसाह इन्हे ओरछा ले जाने के लिये आए, पर ये वृंदावन छोड़कर न गए और अधीर होकर इन्होने यह पद कहा—

वृंदावन के रूख हमारे मात पिता सुत बंध।
गुरु गोविंद साधुगति मति सुख, फल फूलन की गंध॥
इनहिं पीठि दै अनत डीठि करै सो अंधन में अंध।
व्यास इनहिं छोंडै औ छुड़ावै ताको परियो कंध॥

इनकी रचना परिमाण मे भी बहुत विस्तृत है और विषय-भेद के विचार से भी अधिकाश कृष्णभक्तो की अपेक्षा व्यापक है। ये श्रीकृष्ण की बाललीला और शृंगारलीला मे लीन रहने पर भी बीच-बीच मे संसार पर भी दृष्टि डाला करते थे। इन्होने तुलसीदासजी के समान खलों, पाखंडियो आदि का भी स्मरण किया है और रसगान के अतिरिक्त तत्त्व-निरूपण में भी ये प्रवृत्त हुए है। प्रेम को इन्होने शरीर-व्यवहार से अलग 'अतन' अर्थात् शुद्ध मानसिक या आध्यात्मिक वस्तु कहा है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनो पर बहुत से पद और सखियॉ इनकी मिलती है। इन्होंने एक 'रास पंचाध्यायी' भी लिखी है जिसे लोगो ने भूल से सूरसागर मे मिला लिया है। इनकी रचना के थोडे से उदाहरण यहॉ दिए जाते है—

आज कछु कुंजन मे बरषा सी।
बादल-दल मे देखि सखी री! चमकति है चपला सी॥
नान्ही-नान्हीं बूँदन कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी।
मंद-मंद गरजनि सी सुनियतु, नाचति मोर-सभा सी॥
इंद्रधनुष बगपंगति डोलति, बोलति कोककला सी॥
इंद्रबधू छबि छाइ रही मनु, गिरि पर अरुन-घटा सी।
उमगि महीरुह स्यों महि फूली भूली मृगमाला सी।
रटति प्यास चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी॥

---

सुघर राधिका प्रवीन बीना, बर रास रच्यो,
　　स्याम संग वर सुढंग तरनि-तनया तीरे।
आनँदकंद वृंदाबन सरद मंद मद पवन,
　　कुसुमपुंज तापदवन, धुनित कल कुटीरे॥
रुनित किंकनी सुचारु, नूपुर तिमि वलय हारु,
　　अंग बर मृदंग ताल तरल रंग भीरे।
गावत अति रग रह्यो, मोपै नहिं जात कह्यो,
　　व्यास रसप्रवाह बह्यो निरखि नैन सीरे॥

---

( साखी ) व्यास न कथनी काम की, करनी है इक सार।
भक्ति बिना पंडित वृथा ज्यों खर चंदन-भार॥
अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोर।
ज्यों त्यों सबको सेइबो एकै नंदकिसोर॥
प्रेम अतन या जगत मे जानै बिरला कोय।
व्यास सतन क्यों परसिहै पचि हार्‌यो जग रोय॥
सती, सूरमा संत जन इन समान नहिं और।
अगम पंथ पै पग धरै, डिगे न पावैं ठौर॥

( १६ ) **रसखान**—ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे इन्होंने प्रेम-बाटिका' मे अपने को शाही खानदान का कहा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा-बस की ठसक छोंडि रसखान॥

संभव है पठान बादशाहो की कुल परंपरा से इनका संबंध रहा हो। ये बड़े भारी कृष्णभक्त और गोस्वामी विट्ठलनाथजी के बड़े कृपापात्र शिष्य थे। "दो सौ बावन वैष्णवो की वार्त्ता" मे इनका वृत्तात आया है। उक्त वार्त्ता के अनुसार ये पहले एक बनिए के लड़के पर आसक्त थे। एक दिन इन्होने किसी को कहते हुए सुना कि भगवान् से ऐसा प्रेम करना चाहिए जैसे रसखान का उस बनिए के लड़के पर है। इस बात से मर्माहत होकर ये श्रीनाथजीको ढूँढते ढूँढ़ते गोकुल आए और वहाँ गोसाई विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। यही आख्यायिका एक दूसरे रूप मे भी प्रसिद्ध है। कहते है जिस स्त्री पर ये आसक्त थे वह बहुत मानवती थी और इनका अनादर किया करती थी। एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फारसी तर्जुमा पढ़ रहे थे। उसमे गोपियो के अनन्य और अलौकिक प्रेम को पढ़ इन्हे ध्यान हुआ कि उसी से क्यों न मन लगाया जाय जिसपर इतनी गोपियाँ मरती थीं। इसी बात पर ये वृंदावन चले आए। 'प्रेमवाटिका' के इस दोहे का संकेत लोग इस घटना की ओर बताते है—

तोरि मानिनी तें हियो फोरि मोहिनी-मान। प्रेमदेव की छबिहि लखि, भए मियाँ रसखान॥

वृंदावन-सत, सिंगार-सत, रस-रत्नावली, नेह-मजरी, रहस्य-मंजरी, सुख-मंजरी, रति-मजरी, वन-विहार, रंग-विहार, रस-विहार, आनंद-दसा-विनोद, रंग-विनोद, नृत्य-विलास, रग-हुलास, मान-रस-लीला, रहसलता, प्रेमलता, प्रेमावली, भजन-कुंडलिया, भक्त-नामावली, मन-सिंगार , भजन-सत, प्रीती-चौवनी, रस-मुक्तावली, बामन वृहत्-पुराण की भाषा, सभा-मंडली, रसानंदलीला, सिद्धात-विचार, रस-हीरावली, हित-सिंगार-लीला, व्रजलीला, आनद-लता, अनुराग-लता, जीवदशा, वैद्यलीला, दान-लीला, ब्याहलो ।

नाभाजी के भक्तमाल के अनुकरण पर इन्होने 'भक्तनामावली' लिखी है जिसमे अपने समय तक के भक्तो का उल्लेख किया है । इनकी कई पुस्तकों मे संवत् दिए है; जैसे—सभा-मडली १६८१, वृंदावन-सत १६८६ और रसमंजरी १६६८ । अतः इनका रचनाकाल संवत् १६६० से १७०० तक माना जा सकता है । इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते है—

( 'सिंगार-सत' से )

रूपजल उठत तरग है कटाछन के,
अग अग भौंरन की अति गहराई है ।
नैनन को प्रतिबिंब पर्‍यो है कपोलन में,
तेई भए मीन तहॉ, ऐसो उर आई है ॥
अरुन कमल मुसुकान मानो फबि रही,
थिरकन बेसरि के मोती की सुहाई है ।
भयो है मुदित सखी लाल को मराल-मन,
जीवन-जुगल ध्रुव एक ठॉव पाई है ॥

( 'नेहमंजरी' से )

प्रेम-बात कछु कहि नहि जाई । उलटी चाल तहॉ सब भाई ॥
प्रेम-बात सुनि बौरो होई । तहॉ सयान रहै नहि कोई ॥
तन मन प्रान तिही छिन हारै । भली बुरी कछुवै न विचारै ॥
ऐसो प्रेम उपजिहै जबहीं । हित ध्रुव बात बनैगी तबहीं ॥

( 'भजन-सत' से )

बहु बीती थोरी रही, सोऊ बीती जाय।
हित ध्रुव बेगि विचारि कै बसि वृंदावन आय॥
बसि वृंदावन आय त्यागि लाजहि अभिमानहि।
प्रेम लीन ह्वै दीन आपको तृन सम जानहि॥
सकल सार कौ सार, भजन तू करि रस-रीती।
रे मन सोच विचार, रही थोरा, बहु बीती॥

कृष्णोपासक भक्त कवियो की परपरा अब यहीं समाप्त की जाती है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि ऐसे भक्त कवि आगे और नहीं हुए। कृष्णगढ़-नरेश महाराज नागरीदासजी, अलबेली अलिजी, चाचा हितवृंदावनदासजी, भगवत् रसिक आदि अनेक पहुँचे हुए भक्त बराबर होते गए हैं जिन्होने बड़ी सुदर रचनाएँ की है। पर पूर्वोक्त काल के भीतर ऐसे भक्त कवियो की जितनी प्रचुरता रही है उतनी आगे चलकर नहीं। वे कुछ अधिक अतर देकर हुए है। ये कृष्ण-भक्त कवि हमारे साहित्य मे प्रेम-माधुर्य का जो सुधा-स्रोत बहा गए है उसके प्रभाव से हमारे काव्य क्षेत्र मे सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। 'दुःख-वाद' की छाया आकर भी टिकने न पाएगी। इन भक्तो का हमारे साहित्य पर बड़ा भारी उपकार है।

इन प्रवादो से कम से कम इतना अवश्य सूचित होता है कि आरंभ से ही ये बड़े प्रेमी जीव थे। वही प्रेम अत्यंत गूढ़ भगवद्भक्ति मे परिणत हुआ। प्रेम के ऐसे सुंदर उद्गार इनके सवैयों मे निकले कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार संबधी कवित्त-सवैयो को ही 'रसखान' कहने लगे—जैसे 'कोई रसखान सुनाओ'। इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडंबर-मुक्त होती थी। शुद्ध व्रज-भाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओं मे है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनका रचना-काल संवत् १६४० के उपरांत ही माना जा सकता है क्योकि गोसाई विट्ठलनाथजी का गोलोकवास संवत् १६४३ मे हुआ था। प्रेमवाटिका का रचना-काल सं० १६७१ है। अतः उनके शिष्य होने के उपरात ही इनकी मधुर वाणी स्फुरित हुई होगी। इनकी कृति परिमाण मे तो बहुत अधिक नहीं है, पर जो है वह प्रेमियो के मर्म को स्पर्श करनेवाली है। इनकी दो छोटी छोटी पुस्तकें अब तक प्रकाशित हुई हैं—प्रेम-वाटिका (दोहे) और सुजान-रसखान (कवित्त-सवैया)। और कृष्णभक्तो के समान इन्होंने 'गीताकाव्य' का आश्रय न लेकर कवित्त-सवैयो मे अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है व्रजभूमि के सच्चे प्रेम से परिपूर्ण ये दो सवैये इनके अत्यंत प्रसिद्ध है—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बसु मेरो चरौं नित नद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरदर-धारन।
जौ खग हो तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि कूल कदंब की डारन॥

---

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नद की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान जबै व्रज के बन बाग तडाग निहारौं।
केतक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

अनुप्रास की सुंदर छटा होते हुए भी भाषा की चुस्ती और सफाई कहीं नहीं जाने पाई है। बीच बीच मे भावो की बडी ही सुंदर व्यंजना है। लीला-पक्ष को लेकर इन्होंने बडी रंजनकारिणी रचनाएँ की है।

भगवान् प्रेम के वशीभूत है; जहाँ प्रेम है वहीं प्रिय है, इस बात को रसखान यों कहते हैं—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन-गानन, वेदरिचा सुनी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‍यो, रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज-कुटीर में बैठो पलोटत राधिका-पायँन॥

कुछ और नमूने देखिए—

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पीताबर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥
सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटै पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

( प्रेम-वाटिका से )

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जान कै रहि न जात कछु सेस॥
प्रेमफाँस सों फँसि मरै सोई जियै सदाहि।
प्रेम-मरम जाने बिना मरि कोउ जीवत नाहिं॥

( १७ ) **ध्रुवदास**—ये श्री हितहरिवंशजी के शिष्य स्वप्न मे हुए थे। इसके अतिरिक्त इनका कुछ जीवनवृत्त नहीं प्राप्त हुआ है। ये अधिकतर वृंदावन ही में रहा करते थे। इनकी रचना बहुत ही विस्तृत है और इन्होंने पदो के अतिरिक्त दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि अनेक छंदों मे भक्ति और प्रेमतत्त्व का वर्णन किया है। छोटे मोटे सब मिलाकर इनके ४० ग्रंथ के लगभग मिले हैं जिनके नाम ये हैं—

# प्रकरण ६

## भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच भक्ति का काव्य-प्रवाह उमडा उनका संक्षिप्त उल्लेख आरंभ मे हो चुका है[१]। वह प्रवाह राजाओं या शासकों के प्रोत्साहन आदि पर अवलंबित न था। वह जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह था जिसका प्रवर्तक काल था। न तो उसको पुरस्कार या यश के लोभ ने उत्पन्न किया था और न भय रोक सकता था। उस प्रवाह-काल के बीच अकबर ऐसे योग्य और गुणग्राही शासक का भारत के अधीश्वर के रूप मे प्रतिष्ठित होना एक आकस्मिक बात थी। अतः सूर और तुलसी ऐसे भक्त कवीश्वरो के प्रादुर्भाव के कारणो मे अकबर द्वारा संस्थापित शांति-सुख को गिनना भारी भूल है। उस शाति-सुख का परिणामस्वरूप जो साहित्य उत्पन्न हुआ वह दूसरे ढंग का था। उसका कोई निश्चित स्वरूप न था; सच पूछिए तो वह उन कई प्रकार की रचना-पद्धतियो का पुनरुत्थान था जो पठानों के शासन-काल की अशाति और विप्लव के बीच दब-सी गई थीं और धीरे-धीरे लुप्त होने जा रही थीं।

पठान शासक भारतीय संस्कृति से अपने कट्टरपन के कारण दूर ही दूर रहे। अकबर की चाहे नीति-कुशलता कहिए, चाहे उदारता; उसने देश की परपरागत संस्कृति में पूरा योग दिया जिससे कला के क्षेत्र मे फिर से उत्साह का संचार हुआ। जो भारतीय कलावंत छोटे-मोटे राजाओ के यहाँ किसी प्रकार अपना निर्वाह करते हुए संगीत को सहारा दिए हुए थे वे अब शाही दरबार मे पहुँचकर 'वाह वाह' की ध्वनि के बीच अपना करतब दिखाने लगे। जहाँ बचे हुए हिंदू राजाओ की सभाओं में ही कविजन थोड़ा बहुत उत्साहित या पुरस्कृत किए जाते थे वहाँ अब बादशाह के दरबार में भी

---

१—देखो पृ० ६०—६२।

उनका सम्मान होने लगा। कवियों के सम्मान के साथ साथ कविता का सम्मान भी यहाँ तक बढ़ा कि अब्दुर्रहीम खानखानाँ ऐसे उच्चपदस्थ सरदार क्या बादशाह तक ब्रजभाषा की ऐसी कविता करने लगे—

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि॥

साहि अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद बिलोकन बालहि।
आहट तें अबला निरख्यौ, चकि चौंकि चली करि आतुर चालहि॥
त्यौं बलि बेनी सुधारि धरी सु भई छबि यों ललना अरु लालहि।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिए अहि-बालहि॥

नरहरि और गंग ऐसे सुकवि और तानसेन ऐसे गायक अकबरी दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

यह अनुकूल परिस्थिति हिंदी-काव्य को अग्रसर करने मे अवश्य सहायक हुई। वीर, शृङ्गार और नीति की कविताओ के आविर्भाव के लिये विस्तृत क्षेत्र फिर खुल गए। जैसा आरंभकाल मे दिखाया जा चुका है, फुटकल कविताएँ अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त-सवैयो और दोहों मे हुआ करती थीं। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त प्रबंध-काव्य-परंपरा ने भी जोर पकड़ा और अनेक अच्छे आख्यान-काव्य भी इस काल मे लिखे गए। खेद है कि नाटको की रचना की ओर ध्यान नहीं गया। हृदयराम के भाषा हनुमन्नाटक को नाटक नहीं कह सकते। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि व्यासजी ( संवत् १६२० के आसपास ) के देव नामक एक शिष्य का रचा "देवमायाप्रपंचनाटक" भी नाटक नहीं, ज्ञानवार्त्ता है।

इसमे संदेह नहीं कि अकबर के राजत्वकाल में एक ओर तो साहित्य की चली आती हुई परंपरा को प्रोत्साहन मिला; दूसरी ओर भक्त कवियों की दिव्य-वाणी का स्रोत उमड़ चला। इन दोनों की सम्मिलित विभूति से अकबर का राजत्वकाल जगमगा उठा और साहित्य के इतिहास में उसका एक विशेष स्थान हुआ। जिस काल मे सूर और तुलसी ऐसे भक्ति के अवतार तथा नरहरि, गंग

और रहीम ऐसे निपुण भावुक कवि दिखाई पड़े उसके साहित्यिक गौरव की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

(१) छीहल—ये राजपुताने की ओर के थे। संवत् १५७५ में इन्होंने पंच-सहेली नाम की एक छोटी-सी पुस्तक दोहों में राजस्थानी-मिली भाषा में बनाई जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। इसमे पॉच सखियों की विरह-वेदना का वर्णन है। दोहे इस ढंग के है—

देख्या नगर सुहावना अधिक सुचंगा थानु। नाउँ चँदेरी परगटा जनु सुरलोक समान॥
ठाईं ठाईं सरवर पेखिय सूभर भरे निवाण। ठाईं ठाईं कुँवा बावरी सोहइ फटिक सवॉण॥
पंद्रह सै पचहत्तरै पूनिम फागुण मास। पंचसहेली वर्णई कवि छीहल परगास॥

इनकी लिखी एक 'बावनी' भी है जिसमे ५२ दोहे है।

(२) लालचदास—ये रायबरेली के एक हलवाई थे। इन्होंने संवत् १५८५ मे "हरि-चरित्र" और संवत् १५८७ मे "भागवत दशम स्कंध भाषा" नाम की पुस्तक अवधी-मिली भाषा मे बनाई। ये दोनो पुस्तके काव्य की दृष्टि से सामान्य श्रेणी की हैं और दोहे चौपाइयो मे लिखी गई है। दशम स्कंध भाषा का उल्लेख हिंदुस्तानी के फरासीसी विद्वान् गार्सां द तासी ने किया है और लिखा है कि उसका अनुवाद फरासीसी भाषा मे हुआ है। "भागवत भाषा" इस प्रकार की चौपाइयों मे लिखी गई है—

पंद्रह सौ सत्तासी जहिया। समय बिलंबित बरनौं तहिया॥
मास असाढ कथा अनुसारी। हरिवासर रजनी उजियारी॥
सकल संत कहँ नावौं माथा। बलि बलि जैहौं जादवनाथा॥
राय बरेली बरनि अवासा। लालच रामनाम कै आसा॥

(३) कृपाराम—इनका कुछ वृत्तांत ज्ञात नही। इन्होने संवत् १५९८ मे रस-रीति पर 'हिततरंगिणी' नामक ग्रंथ दोहों मे बनाया। रीति या लक्षण-ग्रंथों मे यह बहुत-पुराना है। कवि ने कहा है कि और कवियो ने बड़े छंदो के विस्तार मे शृंगार-रस का वर्णन किया है पर मैंने 'सुघरता' के विचार से दोहों मे वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि इनके पहले और लोगो ने भी रीति-ग्रंथ लिखे थे जो अब नही मिलते है। 'हिततरंगिणी' के कई दोहे बिहारी के

दोहो से मिलते जुलते हैं। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यह ग्रंथ बिहारी के पीछे का है क्योकि ग्रंथ मे निर्माण-काल बहुत स्पष्ट रूप से दिया हुआ है—

सिधि निधि सिव मुख चंद्र लखि माघ सुद्दि तृतियासु।
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥

दो मे से एक बात हो सकती है—या तो बिहारी ने उन दोहों को जान बूझकर लिया अथवा वे दोहे पीछे से मिल गए। हिततरंगिणी के दोहे बहुत ही सरस, भावपूर्ण तथा परिमार्जित भाषा मे हैं। कुछ नमूने देखिए—

लोचन चपल कटाच्छ सर अनियारे विषपूरि।
मन-मृग बेधैं मुनिन के जगजन सहत बिसूरि॥
आजु सबारे हौं गई नंदलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू निरखे औरै हाल॥
पति आयो परदेस तें ऋतु बसंत को मानि।
झमकि झमकि निज महल में टहलैं करै सुरानि॥

(४) महापात्र नरहरि बंदीजन—इनका जन्म संवत् १५६२ और मृत्यु संवत् १६६७ मे कही जाती है। महापात्र की उपाधि इन्हे अकबर के दरबार से मिली थी। ये असनी-फतेहपुर के रहनेवाले थे और अकबर के दरबार मे इनका बहुत मान था। इन्होंने छप्पय और कवित्त कहे हैं। इनके बनाए दो ग्रंथ परंपरा से प्रसिद्ध है—'रुक्मिणीमंगल' और 'छप्पय-नीति'। एक तीसरा ग्रंथ 'कवित्त-संग्रह' भी खोज मे मिला है। इनका वह प्रसिद्ध छप्पय नीचे दिया जाता है जिसपर, कहते है कि, अकबर ने गोवध बंद कराया था—

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहि दीन होइ॥
अमृत-पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥

( ५ ) नरोत्तमदास—ये सीतापुर जिले के बाड़ी नामक कसबे के रहनेवाले थे। शिवसिंह-सरोज मे इनका संवत् १६०२ में वर्त्तमान रहना लिखा है। इनकी जाति का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इनका 'सुदामा-चरित्र' ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसमे घर की दरिद्रता का बहुत ही सुंदर वर्णन है। यद्यपि यह छोटा है पर इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदयग्राहिणी है और कवि की भावुकता का परिचय देती है। भाषा भी बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियो के समान भरती के शब्द और वाक्य इसमे नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार इन्होने इस प्रकार का एक और खंड-काव्य 'ध्रुवचरित्र' भी लिखा है। पर वह कहीं देखने मे नहीं आया। 'सुदामा-चरित्र' का यह सवैया बहुत लोगो के मुँह से सुनाई पड़ता है—

सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु ! जानै को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी, लटी दुपटी अरु पायँ उपानह को नहिं सामा॥
द्वार खडो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

कृष्ण की दीनवत्सलता और करुणा का एक यह और सवैया देखिए—

कैसे बिहाल बिवाइन सों भए, कटक-जाल गडे पग जोए।
हाय महादुख पाए सखा ! तुम आए इतै न, कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोए॥

( ६ ) आलम—ये अकबर के समय के एक मुसलमान कवि थे जिन्होने सन् ९९१ हिजरी अर्थात् संवत् १६३९-४० मे "माधवानल कामकंदला" नाम की प्रेमकहानी दोहा-चौपाई मे लिखी। पाँच पाँच चौपाइयो ( अर्द्धालियो ) पर एक एक दोहा या सोरठा है। यह शृंगाररस की दृष्टि से ही लिखी जान पड़ती है, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। इसमे जो कुछ रुचिरता है वह कहानी की है, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना आदि की नहीं। कहानी भी प्राकृत या अपभ्रंश-काल से चली आती हुई कहानी है।

कवि ने रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

दिल्लीपति अकबर सुरताना। सप्तदीप में जाकी आना॥
धरमराज सब देस चलावा। हिंदू तुरुक पंथ सब लावा॥

*   *   *   *

सन नौ सै इकानबे आही। करौं कथा औ बोलौं ताही॥

(७) **महाराज टोडरमल**—ये कुछ दिन शेरशाह के यहाँ ऊँचे पद पर थे, पीछे अकबर के समय में भूमिकर-विभाग के मंत्री हुए। इनका जन्म संवत् १५८० और मृत्यु संवत् १६४६ में हुई। ये कुछ दिनों तक बंगाल के सूबेदार भी थे। ये जाति के खत्री थे। इन्होंने शाही दफ्तरों में हिंदी के स्थान पर फारसी का प्रचार किया जिससे हिंदुओं का झुकाव फारसी की शिक्षा की ओर हुआ। ये प्रायः नीतिसंबंधी पद्य कहते थे। इनकी कोई पुस्तक तो नहीं मिलती, फुटकल कवित्त इधर-उधर मिलते है। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा, आँधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिद को,
सेवा कहा सूम की अरंडन की डार सी।
मदपी को सुचि कहाँ, साँच कहाँ लंपट को,
नीच को बचन कहा स्यार की पुकार सी।
टोडर सुकवि ऐसे हठी तौ न टारे टरैं,
भावै कहौ सूधी बात भावै कहौ फारसी॥

(८) **महाराज बीरबल**—इनकी जन्मभूमि कुछ लोग नारनौल बतालाते हैं और इनका नाम महेशदास। प्रयाग के किले के भीतर जो अशोक-स्तंभ है उस पर यह खुदा है—"संवत् १६३२ शाके १४९३ मार्ग बदी ५ सोमवार गंगादास-सुत महाराज बीरबल श्रीतीरथराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितं।" यह लेख महाराज बीरबल के सबंध में ही जान पड़ाता है क्योकि गंगादास और महेशदास नाम मिलते जुलते है जैसे कि पिता पुत्र के हुआ करते है। बीरबल का जो उल्लेख भूषण ने किया है उससे इनके निवासस्थान का पता चलता है—

द्विज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर-सुत धीर। बसत त्रिविक्रम पुर सदा तरनि-तनूजा तीर।
बीर बीरबल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप। देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप॥

इनका जन्मस्थान तिकवाँपुर ही ठहरता है; पर कुल का निश्चय नहीं होता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ये अकबर के मंत्रियो मे थे और बड़े ही वाक्चतुर और प्रत्युत्पन्नमति थे। इनके और अकबर के बीच होनेवाले विनोद और चुटकुले उत्तर भारत के गाँव गाँव मे प्रसिद्ध हैं। महाराज बीरबल व्रजभाषा के अच्छे कवि थे और कवियों का बड़ी उदारता से सम्मान करते थे। कहते हैं, केशवदासजी को इन्होने एक बार छः लाख रुपए दिए थे और केशवदास की पैरवी से ओरछा-नरेश पर एक करोड़ का जुरमाना मुआफ करा दिया था। इनके मरने पर अकबर ने यह सोरठा कहा था—

दीन देखि सब दीन, एक न दीन्हों दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहिं राख्यो बीरबल॥

इनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती है, पर कई सौ कवित्तों का एक सग्रह भरतपुर मे है। इनकी रचना अलकार आदि काव्यागों से पूर्ण और सरस होती थी। कविता मे ये अपना नाम ब्रह्म रखते थे। दो उदाहरण नीचे दिए जाते है—

उछरि उछरि केकी झपटै उरग पर,
उरग हू केकिन पै लपटै लहकि हैं।
केकिन के सुरति हिए की ना कछू है, भए
एकी करि केहरि, न बोलत बहकि है॥
कहै कवि ब्रह्म वारि हेरत हरिन फिरैं,
बैहर बहत बडे जोर सों जहकि है।
तरनि के तावन तवा सी भई भूमि रही,
दसहू दिसान मे दवारि सी दहकि है॥

× × ×

पूत कपूत, कुलच्छनि नारि, लराक परोसि, लजायन सारो।
बंधु कुबुद्धि, पुरोहित लंपट, चाकर चोर, अतीथ धुतारो॥

साहब सूम, अड़ाक तुरंग, किसान कठोर, दिवान नकारो ।
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहौ बाँधि समुद्र में डारो ॥

(९) गंग—ये अकबर के दरबारी कवि थे और रहीम खानखानाँ इन्हे बहुत मानते थे। इनके जन्म-काल तथा कुल आदि का ठीक वृत्त ज्ञात नहीं। कुछ लोग इन्हे ब्राह्मण कहते है पर अधिकतर ये ब्रह्मभट्ट ही प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि किसी नवाब या राजा की आज्ञा से ये हाथी से चिरवा डाले गए थे और उसी समय मरने के पहले इन्होंने यह दोहा कहा था—

कबहुँ न भँडुवा रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बंब ।
सकल सभाहि प्रनाम करि बिदा होत कवि गंग ॥

इसके अतिरिक्त कई और कवियों ने भी इस बात का उल्लेख वा संकेत किया है। देव कवि ने कहा है—

"एक भए प्रेत, एक मींजि मारे हाथी"।

ये पद्य भी इस संबंध मे ध्यान देने योग्य है—

सब देवन को दरबार जुरयो तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायो ।
जब काहू तें अर्थ कह्यो न गयो, तब नारद एक प्रसंग चलायो ॥
मृतलोक में है नर एक गुनी, कवि गंग को नाम सभा में बतायो ।
सुनि चाह भई परमेसर को तब गंग को लेन गनेस पठायो ।

---

'गंग ऐसे गुनी को गयंद सो चिराइए।'

इन प्रमाणों से यह घटना ठीक ठहरती है। गंग कवि बहुत निर्भीक होकर बात कहते थे। ये अपने समय के नर-काव्य करनेवाले कवियों मे सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे। दासजी ने कहा है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार ।

कहते हैं कि रहीम खानखानाँ ने इन्हे एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। वह छप्पय यह है—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहि करत कमलबन ।
अहि फन मनि नहि लेत, तेज नहि बहत पवन बन ॥

हंस मानसर तज्यो चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुंदरि पद्मिनी पुरुष न चहै, न करै रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रविरथ खस्यो।
खानान खान बैरम-सुवन जबहिं क्रोध करि तँग कस्यो॥

सराश यह कि गंग अपने समय के प्रधान कवि माने जाते थे। इनकी कोई पुस्तक अभी नहीं मिली है। पुराने संग्रह ग्रंथो मे इनके बहुत से कवित्त मिलते है। सरस हृदय के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य भी इनमे प्रचुर मात्रा मे था। वीर और शृंगार रस के बहुत ही रमणीय कवित्त इन्होने कहे है। कुछ अन्योक्तियाँ भी बडी मार्मिक हैं। हास्यरस का पुट भी बड़ी निपुणता से ये अपनी रचना मे देते थे। घोर अतिशयोक्तिपूर्ण वस्तु-व्यग्य-पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी इन्होंने किया है। उस समय की रुचि को रंजित करनेवाले सब गुण इनमे वर्त्तमान थे, इसमे कोई संदेह नहीं। इनका कविता-काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अंत मानना चाहिए। रचना के कुछ नमूने देखिए—

बैठी ती सखिन सग, पिय को गवन सुन्यो,
सुख के समूह में बियोग-आगि भरकी।
गग कहै त्रिविध सुगंध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की॥
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर कहँ,
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी॥

---

झुकत कृपान मयदान ज्यों दोत भान,
एकन तें एक मानो सुषमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे वल को बयारि लगे,
फूटी गजघटा घनघटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमडि चली,

रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
गौरी गह्यो गिरिपति, गनपति गह्यो गौरी,
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की॥

---

देखत कै वृच्छन में दीरघ सुभायमान,
कीर चल्यो चाखिबे को, प्रेम जिय जग्यो है।
लाल फल देखि कै जटान मँडरान लागे,
देखत बटोही बहुतेरे डगमग्यो हैं।
गग कवि फल फूटे भुआ उधिराने लखि,
सबही निरास ह्वै कै निज गृह भग्यो है।
ऐसो फलहीन वृच्छ वसुधा में भयो, यारो,
सेमर बिसासी बहुतेरन को ठग्यो है॥

( १० ) **मनोहर कवि**—ये एक कछवाहे सरदार थे जो अकबर के दरबार मे रहा करते थे। शिवसिंह-सरोज मे लिखा है कि ये फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और फारसी कविता मे अपना उपनाम 'तौसनी' रखते थे। इन्होने 'शत प्रश्नोत्तरी' नाम की पुस्तक बनाई है तथा नीति और शृंगाररस के बहुत से फुटकल दोहे कहे हैं। इनका कविता-काल संवत् १६२० के आगे माना जा सकता है। इनके शृंगारिक दोहे मार्मिक और मधुर है पर उनमे कुछ फारसी-पन के छींटे मौजूद है। दो चार नमूने देखिए—

इदु बदन नरगिस नयन, सबुलवारे बार। उर कुकुम, कोकिल बयन, जेहि लखि लाजत मार॥
बिथुरे सुथुरे चीकने घने घने घुघुवार। रसिकन को जंजीर से बाला तेरे बार॥
अचरज मोहिं हिंदू तुरुक बादि करत सग्राम। इक दीपति सों दीपियत काबा काशीधाम॥

( ११ ) **बलभद्र मिश्र**—ये ओरछा के सनाढ्य ब्राह्मण पंडित काशीनाथ के पुत्र और प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई थे। इनका जन्म-काल संवत् १६०० के लगभग माना जा सकता है। इनका 'नखशिख' शृंगार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमे इन्होंने नायिका के अंगो का वर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि अलकारो के प्रचुर विधान द्वारा किया है। ये केशवदासजी के समकालीन या पहले के उन कवियों मे थे जिनके चित्त मे रीति के अनुसार काव्य-रचना की

प्रवृत्ति हो रही थी। कृपाराम ने जिस प्रकार रसरीति का अवलंबन कर नायिकाओं का वर्णन किया उसी प्रकार बलभद्र नायिका के अंगो को एक स्वतंत्र विषय बनाकर चले थे। इनका रचनाकाल संवत् १६४० के पहले माना जा सकता है। रचना इनकी बहुत प्रौढ़ और परिमार्जित है, इससे अनुमान होता है कि नखशिख के अतिरिक्त इन्होंने और पुस्तके भी लिखी होगी। संवत् १८९१ मे गोपाल कवि ने बलभद्रकृत नखशिख की एक टीका लिखी जिसमे उन्होंने बलभद्र-कृत तीन और ग्रथों का उल्लेख किया है—बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक और गोवर्द्धनसतसई टीका। पुस्तको की खोज मे इनका 'दूषण विचार' नाम का एक और ग्रंथ मिला है जिसमे काव्य के दोषों का निरूपण है। नखशिख के दो कवित्त उद्धृत किए जाते है—

पाटल नयन कोकनद के से दल दोऊ,
बलभद्र बासर उनीदी लखी बाल मैं।
सोभा के सरोवर मे बाडव की आभा कैधौं,
देवधुनी भारती मिली है पुन्यकाल मैं॥
काम-कैवरत कैधौं नासिका-उडुप बैठो,
खेलत सिकार तरुनी के मुख-ताल मैं।
लोचन सितासित में लोहित लकीर मानो,
बाँधे जुग मीन लाल रेशम कीडोर मैं॥

---

मरकत के सूत, कैधौं पन्नग के पूत, अति
राजत अभूत तमराज कैसे तार हैं।
मखतूल-गुनग्राम सोभित सरस स्याम,
काम-मृग-कानन कै कुहू के कुमार है॥
कोप की किरन, कै जलज-नाल नील ततु,
उपमा अनत चारु चँवर सिंगार हैं।
कारे सटकारे भींजे सोंधे सों सुगध बास,
ऐसे बलभद्र नवबाला तेरे बार हैं॥

---

( १२ ) जमाल—ये भारतीय काव्य-परंपरा से पूर्ण परिचित कोई सहृदय मुसलमान कवि थे जिनका रचना-काल सवत् १६२७ अनुमान किया गया है। इनके नीति और शृ गार के दोहे राजपूताने की ओर बहुत जनप्रिय हैं। भावो की व्यजना बहुत ही मार्मिक पर सीधे-सादे ढंग पर की गई है। इनका कोई ग्रंथ तो नहीं मिलता, पर कुछ संगृहीत दोहे मिलते है। सहृदयता के अतिरिक्त इनमे शब्दक्रीडा की निपुणता भी थी, इससे इन्होने कुछ पहेलियाँ भी अपने दोहो मे रखी है। कुछ नमूने दिए जाते है—

पूनम चाँद, कुसूँभ रँग नदी-तीर द्रुम-डाल। रेत भीत, भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल ॥
रँग ज चोल मजीठ का, संत वचन प्रतिपाल। पाहण-रेख रु करम गत, ए किमि मिटैं जमाल ॥
जमला ऐसी प्रीत कर जैसी केस कराय। कै काला, कै ऊजला, जब तक सिर स्यूँ जाय ॥
मनसा तो गाहक भए, नैना भए दलाल। धनी बसत बेचै नही, किस विध बनै जमाल ॥
बालपणे धौला भया, तरुणपणे भया लाल। वृद्धपणे काला भया, कारण कोण जमाल ॥
कामिण जावक-रँग रच्यो, दमकता मुकता-कोर। इम हंसा मोती तजे, इम चुग लिए चकोर ॥

( १३ ) केशवदास—ये सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु १६७४ के आसपास हुई। ओरछानरेश महाराजा रामसिंह के भाई इंद्रजीतसिंह की सभा मे ये रहते थे, जहाँ इनका बहुत मान था। इनके घराने मे बराबर संस्कृत के अच्छे पंडित होते आए थे। इनके बडे भाई बलभद्र मिश्र भाषा के अच्छे कवि थे। इस प्रकार की परिस्थिति में रहकर ये अपने समय के प्रधान साहित्य-शास्त्रज्ञ कवि माने गए। इनके आविर्भाव-काल से कुछ पहले ही रस, अलंकार आदि काव्यागो के निरूपण की ओर कुछ कवियों का ध्यान जा चुका था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिंदी-काव्य-रचना प्रचुर-मात्रा मे हो चुकी थी। लक्ष्य ग्रथो के उपरांत ही लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होता है। केशवदासजी संस्कृत के पंडित थे अतः शास्त्रीय पद्धति से साहित्य-चर्चा का प्रचार भाषा में पूर्ण रूप से करने की इच्छा इनके लिये स्वाभाविक थी।

केशवदास के पहले सं० १५६८ मे कृपाराम थोड़ा रस-निरूपण कर चुके थे। इसी समय मे चरखारी के मोहनलालमिश्र ने 'शृ गार-सागर' नामक एक

ग्रथ श्रृंगाररस-संबधी लिखा। नरहरि कवि के साथ अकबरी दरबार में जानेवाले करनेस कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबंधी लिखे थे पर अब तक किसी कवि ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे निरूपित काव्यागो का पूरा परिचय नहीं कराया था। यह काम केशवदासजी ने किया।

ये काव्य मे अलंकार का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारवादी कवि थे, जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त। भूपन बिनु न, बिराजई कविता वनिता मित्त॥

अपनी इसी मनोवृत्ति के अनुसार इन्होंने भामह, उद्भट और दंडी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया जो रस रीति आदि सब कुछ अलंकार के ही अतर्गत लेते थे; साहित्य-शास्त्र को अधिक व्यवस्थित और समुन्नत रूप मे लानेवाले मम्मट, आनंदवर्द्धनाचार्य्य और विश्वनाथ का नहीं। अलकार के सामान्य और विशेष दो भेद करके इन्होंने उसके अंतर्गत वर्णन की प्रणाली ही नही, वर्णन के विषय भी ले लिए है। 'अलंकार' शब्द का प्रयोग इन्होने व्यापक अर्थ मे किया है। वास्तविक अलंकार इनके विशेष अलंकार ही हैं। अलकारों के लक्षण इन्होने दंडी के 'काव्यादर्श' से तथा और बहुत सी बाते अमर-रचित 'काव्य-कल्पलता वृत्ति' और केशव मिश्र कृत 'अलंकार शेखर' से ली है।

पर केशव के ५० या ६० वर्ष पीछे हिंदी मे लक्षण-ग्रंथो की जो परपरा चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली। काव्य के स्वरूप के संबंध में तो वह रस की प्रधानता माननेवाले काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के पक्ष पर रही और अलंकारो के निरूपण में उसने अधिकतर चंद्रालोक और कुवलयानंद का अनुसरण किया। इसी से केशव के अलंकार-लक्षण हिंदी मे प्रचलित अलंकार-लक्षणो से नहीं मिलते। केशव ने अलंकारों पर 'कवि-प्रिया' और रस पर 'रसिकप्रिया' लिखी।

इन ग्रंथों में केशव का अपना विवेचन कही नहीं दिखाई पड़ता। सारी सामग्री कई संस्कृत-ग्रथो से ली हुई मिलती है। नामो मे अवश्य कहीं कहीं

थोड़ा हेरफेर मिलता है जिससे गड़बड़ी के सिवा और कुछ नहीं हुआ है। 'उपमा' के जो २२ भेद केशव ने रखे हैं उनमे से १५ तो ज्यो के त्यों दडी के हैं, ५ के केवल नाम भर बदल दिए गए हैं। शेष रहे दो भेद—संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा। इनमे विपरीतोपमा को तो उपमा कहना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार 'आक्षेप' के जो ६ भेद केशव ने रखे है उनमे ४ तो ज्यों के त्यो दडी के हैं। पाँचवाँ 'मरणाक्षेप' दंडी का 'मूर्च्छाक्षेप' ही है। कविप्रिया का 'प्रेमालकार' दडी के ( विश्वनाथ के नहीं ) 'प्रेयस' का ही नामातर है। 'उत्तर' अलंकार के चारों भेद वास्तव मे पहेलियाँ हैं। कुछ भेदों को दंडी से लेकर भी केशव ने उनका और का और ही अर्थ समझा है।

केशव के रचे सात ग्रंथ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचद्रिका, वीरसिंहदेव चरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीर-जस-चद्रिका।

केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमे वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि मे होनी चाहिए। वे सस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाडित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिये भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हे प्राप्त न था। अपनी रचनाओ मे उन्होने अनेक संस्कृत काव्यो की उक्तियाँ लेकर भरी हैं। पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने मे उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदो और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दो के प्रयोग और संबध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और ऊबड खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है—उनकी मौलिक भावनाओ की गंभीरता या जटिलता नहीं। 'रामचंद्रिका' मे 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'अनर्घराघव', 'कादंबरी' और 'नैषध' की बहुत सी उक्तियों का अनुवाद करके रख दिया गया है। कहीं कहीं अनुवाद अच्छा न होने के कारण उक्ति विकृत हो गई है, जैसे—प्रसन्नराघव के "प्रियतमपदैरङ्कितान्भूमिभागान्" का अनुवाद "प्यौ-पद-पंकज ऊपर" करके केशव ने उक्ति को एकदम बिगाड़ डाला है। हाँ, जिन उक्तियों में जटिलता नहीं है—समास-

शैली का आश्रय नहीं लिया गया है—उनके अनुवाद में कहीं कहीं बहुत अच्छी सफलता प्राप्त हुई है, जैसे, भरत के प्रश्न और कैकेयी के उत्तर में—

मातु, कहाँ नृप तात ? गए सुरलोकहि; क्यों ? सुत-शोक लए। जो कि हनुमन्नाटक के एक श्लोक का अनुवाद है।

केशव ने दो प्रबंध-काव्य लिखे—एक 'बीरसिंहदेव चरित' दूसरा 'रामचंद्रिका'। पहला तो काव्य ही नहीं कहा जा सकता। इसमें वीरसिंहदेव का चरित तो थोड़ा है, दान, लोभ आदि के संवाद भरे हैं। 'रामचंद्रिका' अवश्य एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पर यह समझ रखना चाहिए कि केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गंभीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। अतः वे मुक्तक-रचना के ही उपयुक्त थे, प्रबंध-रचना के नहीं। प्रबंध-पटुता उनमें कुछ भी न थी। प्रबंध-काव्य के लिये तीन बातें अनिवार्य्य हैं—१ संबंध-निर्वाह, २ कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों की पहचान और ३ दृश्यों की स्थानगत विशेषता।

संबंध निर्वाह की क्षमता केशव में न थी। उनकी 'रामचंद्रिका' अलग अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह सी जान पड़ती है। कथा का चलता प्रवाह न रख सकने के कारण ही उन्हें बोलनेवाले पात्रों के नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग सूचित करने पड़े हैं। दूसरी बात भी केशव में कम पाई जाती है। रामायण के कथा का केशव के हृदय पर कोई विशेष प्रभाव रहा हो, यह बात नहीं पाई जाती। उन्हें एक बड़ा प्रबंध-काव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिये राम की कथा ले ली। उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है। वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गए हैं या यों ही इतिवृत्त मात्र कहकर चलता कर दिया है। राम आदि को वन की ओर जाते देख मार्ग में पड़नेवाले लोगों से कुछ कहलाया भी तो यह कि "किधौं मुनिशाप-हत, किधौं ब्रह्मदोष-रत, किधौं कोऊ ठग हौ।" ऐसा अलौकिक सौंदर्य्य और सौम्य आकृति सामने पाकर सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्त्विक भावों का उदय होता है, इसका अनुभव शायद एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखनेवाले नीतिकुशल दरबारियों के बीच रहकर केशव के लिये कठिन था।

दृश्यों की स्थानगत विशेषता (Local colour) केशव की रचनाओं मे ढूँढ़ना तो व्यर्थ ही है। पहली बात तो यह है कि केशव के लिये प्राकृतिक दृश्यों मे कोई आकर्षण नहीं था। वे उनकी देशगत विशेषताओ का निरीक्षण करने क्यो जाते? दूसरी बात यह है कि केशव के बहुत पहले से ही इसकी परंपरा एक प्रकार से उठ चुकी थी। कालिदास के दृश्य-वर्णनो मे देशगत विशेषताओ का जो रग पाया जाता है, वह भवभूति तक तो कुछ रहा, उसके पीछे नहीं। फिर तो वर्णन रूढ़ हो गए। चारो ओर फैली हुई प्रकृति के नाना रूपों के साथ केशव के हृदय का सामंजस्य कुछ भी न था। अपनी इस मनोवृत्ति का आभास उन्होने यह कहकर कि—

"देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चंद,
ताते मुख मुखै, सखी, कमलौ न चंद री॥"

साफ दे दिया है। ऐसे व्यक्ति से प्राकृतिक दृश्यों के सच्चे वर्णन की भला क्या आशा की जा सकती है? पंचवटी और प्रवर्षण गिरि ऐसे रमणीय स्थलों मे शब्द-साम्य के आधार पर श्लेष के एक भद्दे खेलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा। केवल शब्द-साम्य के सहारे जो उपमान लाए गए हैं वे किसी रमणीय दृश्य से उत्पन्न सौंदर्य की अनुभूति के सर्वथा विरुद्ध या बेमेल है—जैसे प्रलयकाल, पाडव, सुग्रीव, शेषनाग। सादृश्य या साधर्म्य की दृष्टि से दृश्य वर्णन मे जो उपमाएँ उत्प्रेक्षाएँ आदि लाई गई हैं वे भी सौंदर्य की भावना मे वृद्धि करने के स्थान पर कुतूहल मात्र उत्पन्न करती हैं। जैसे श्वेत कमल के छत्ते पर बैठे हुए भौंरे पर यह उक्ति—

केशव केशवराय मनों कमलासन के सिर ऊपर सोहै।

पर कहीं कहीं रमणीय और उपयुक्त उपमान भी मिलते हैं; जैसे, जनकपुर के सूर्योदयवर्णन में; जिसमें "कापालिक-काल" को छोड़कर और सब उपमान रमणीय हैं।

सारांश यह कि प्रबंधकाव्य-रचना के योग्य न तो केशव मे अनुभूति ही थी, न शक्ति। परंपरा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के (जैसे, युद्ध, सेना की तैयारी, उपवन, राजदरबार के ठाटबाट तथा श्रृंगार और वीर रस) फुटकल

वर्णन ही अलकारो की भरमार के साथ वे करना जानते थे इसीसे बहुत से वर्णन यों ही, बिना अवसर का विचार किए, वे भरते गए है। वे वर्णन वर्णन के लिये करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। कहीं कही तो उन्होंने उचित अनुचित की भी परवा नहीं की है, जैसे—भरत की चित्रकूट-यात्रा के प्रसंग मे सेना की तैयारी और तड़क-भड़क का वर्णन। अनेक प्रकार के रूखे सूखे उपदेश भी बीच बीच मे रखना वे नहीं भूलते थे। दान-महिमा, लोभ-निंदा के लिये तो वे प्रायः जगह निकाल लिया करते थे। उपदेशों का समावेश दो एक जगह तो पात्र का बिना विचार किए अत्यत अनुचित और भद्दे रूप मे किया गया है, जैसे—बन जाते समय राम का अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत का उपदेश।

रामचंद्रिका के लबे चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गंभीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाटबाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन मे ही विशेषतः लगता है।

केशव की रचना को सब से अधिक विकृत और अरुचिकर करनेवाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति जिसके कारण न तो भावो की प्रकृत व्यंजना के लिये जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तु-वर्णन के लिये। पददोष, वाक्यदोष आदि तो बिना प्रयास जगह-जगह मिल सकते है। कहीं कही उपमान भी बहुत हीन और बेमेल है; जैसे, राम की वियोग-दशा के वर्णन मे यह वाक्य—

"बासर की सपति उलूक ज्यों न चितवत।"

रामचद्रिका मे केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है सवादों मे। इन सवादों मे पात्रो के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुंदर है (जैसे, लक्ष्मण, राम, परशुराम-सवाद तथा लवकुश के प्रसग के सवाद) तथा वाक्पटुता और राजनीति के दॉव-पेच का आभास भी प्रभावपूर्ण है। उनका रावण-अंगद-सवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुंदर है। 'रामचद्रिका' और 'कविप्रिया' दोनो का रचनाकाल कवि ने १६५८ दिया है; केवल मास मे अंतर है।

रसिकप्रिया ( सं० १६४८ ) की रचना प्रौढ है। उदाहरणो मे चतुराई और कल्पना से काम लिया गया है और पद-विन्यास भी अच्छे हैं। इन उदाहरणों मे वाग्वैदग्ध के साथ साथ सरसता भी बहुत कुछ पाई जाती है। 'विज्ञानगीता' संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय नाटक' के ढग की पुस्तक है। 'रतनबावनी' मे इन्द्रजीत के बडे भाई रत्नसिंह की वीरता का छप्पयो मे अच्छा वर्णन है। यह वीररस का अच्छा काव्य है।

केशव की रचना मे सूर, तुलसी आदि की सी सरसता और तन्मयता चाहे न हो पर काव्यागों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिये मार्ग खोला। कहते हैं, वे रसिक जीव थे। एक दिन बुड्ढे होने पर किसी कूएँ पर बैठे थे। वहाँ स्त्रियों ने 'बाबा' कहकर सबोधन किया। इसपर इनके मुँह से यह दोहा निकला—

> केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिँ।
> चद्रवदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि-कहि जाहिँ॥

केशवदास की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

> जौ हौं कहौं, रहिए तौ प्रभुता प्रगट होति,
> चलन कहौं तौ हितहानि नाहिँ सहनो।
> 'भावै सो करहु' तौ उदासभाव प्राननाथ !
> 'साथ लै चलहु' कैसे लोकलाज वहनो॥
> केसवदास की सौं तुम सुनहु, छबीले लाल,
> चलेही बनत जौ पै, नाहीं आज रहनो।
> जैसियै सिखाओ सीख तुमही सुजान प्रिय,
> तुमहि चलत मोहिं जैसो कछु कहनो॥

× × × ×

> चचल न हूजै नाथ, अचल न खैंचौ हाथ,
> सोवै नेक सारिकाऊ, सुक तौ सोवायो जू।
> मंद करौ दीप दुति चदमुख देखियत,
> दारिकै दुराय आऊँ द्वार तौ दिखायो जू॥
> मृगज मराल बाल बाहिरै बिडारि देऊँ,

भायो तुम्हे केशव सो मोहूँ मन भायो जू ॥
छल के निवास ऐसे वचन-विलास सुनि,
सौगुनो सुरत हू तें स्याम सुख पायो जू ॥

---

कैटभ सो, नरकासुर सो, पल मे मधु सो, मुर सों निज मारयो।
लोक चतुर्दश रक्षक केशव, पूरन वेद पुरान विचारयो ॥
श्री कमला - कुच - कुकुम - मडन - पडित देव अदेव निहारयो।
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने करतार पसारयो ॥

---

(रामचंद्रिका से)

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राननाथ भय। मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय ॥
परिपूरन सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट। किधौं शक्र को छत्र मढ़यो मानिक-मयूख पट ॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनि के भाल को ॥

---

विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है।
दीपति दिपति अति सातौं दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है।
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय कैधौं सूरज अमल है ॥
सब बिधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथ-पथ-गामी गंगा कैसो जल है ॥

---

मूलन ही की जहाँ अधोगति केसव गाइय। होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय ॥
दुर्गति दुर्गन ही, जो कुटिलगति सरितन ही मे। श्रीफल कौ अभिलाष प्रगट कविकुल के जी मे।

---

कुंतल ललित नील, भ्रुकुटी धनुष, नैन
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूपनन,
मध्यदेश केशरी सु जग गति भाई है॥
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है॥
रामचंद्र जू को चमू, राजश्री विभीषन की,
रावन की मीचु दर कूच चलि आई है॥

---

पढी विरंचि मौन वेद, जीव सोर छंडि रे। कुबेर बेर कै कही, न जच्छ भीर मंडि रे॥
दिनेस जाइ दूर बैठु नारदादि संगही। न बोलु चंद मंदबुद्धि, इंद्र की सभा नहीं॥

---

(१४) होलराय—ये ब्रह्मभट्ट अकबर के समय मे हरिवंश राय के आश्रित थे और कभी कभी शाही दरबार मे भी जाया करते थे। इन्होंने अकबर से कुछ जमीन पाई थी जिसमे होलपुर गॉव बसाया था। कहते है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने इन्हे अपना लोटा दिया था पर इन्होने कहा था—

लोटा तुलसीदास को लाख टका को मोल।

गोस्वामीजी ने चट उत्तर दिया—

मोल तोल कछु है नही, लेहु राय कवि होल॥

रचना इनकी पुष्ट होती थी, पर जान पड़ता है कि ये केवल राजाओं और रईसो की विरुदावली वर्णन किया करते थे जिसमें जनता के लिये ऐसा कोई विशेष आकर्षक नहीं था कि इनकी रचना सुरक्षित रहती। अकबर बादशाह की प्रशसा मे इन्होने यह कवित्त लिखा है—

दिल्ली तें न तख्त ह्वैहै, बख्त ना मुगल कैसो,
ह्वै है ना नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
गग तें न गुनी, तानसेन तें न तानबाज,
मान तें न राजा औ न दाता बीरबर तें।

खान खानखानाँ तें न, नर नरहरि तें न,
हैहै ना दीवान कोऊ बेदर दुदर तें।
नवौ खंड सात दीप, सात हू समुद्र पार,
हैहै ना जलालुदीन साह अकबर तें॥

( १५ ) रहीम ( अब्दुर्रहीम खान्खानाँ )—ये अकबर बादशाह के अभिभावक प्रसिद्ध मोगल सरदार बैरमखाँ खानखानाँ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१० मे हुआ। ये संस्कृत, अरबी और फारसी के पूर्ण विद्वान् और हिंदी काव्य के पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे। ये दानी और परोपकारी एसे थे कि अपने समय के कर्ण माने जाते थे। इनकी दानशीलता हृदय की सच्ची प्रेरणा के रूप मे थी, कीर्ति की कामना से उसका कोई संपर्क न था। इनकी सभा विद्वानो और कवियो से सदा भरी रहती थी। गंग कवि को इन्होने एक बार छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। अकबर के समय मे ये प्रधान सेना-नायक और मंत्री थे और अनेक बडे बडे युद्धो मे भेजे गए थे।

ये जहाँगीर के समय तक वर्तमान रहे। लडाई मे धोखा देने के अपराध मे एक बार जहाँगीर के समय में इनकी सारी जागीर जब्त हो गई और ये कैद कर लिए गए। कैद से छूटने पर इनकी आर्थिक अवस्था कुछ दिनो तक बड़ी हीन रही। पर जिस मनुष्य ने करोडो रुपए दान कर दिए, जिसके यहाँ से कोई विमुख न लौटा उसका पीछा याचको से कैसे छूट सकता था? अपनी दरिद्रता का दुःख वास्तव मे इन्हे उसी समय होता था जिस समय इनके पास कोई याचक जा पहुँचता और ये उसकी यथेष्ट सहायता नहीं कर सकते थे। अपनी अवस्था के अनुभव की व्यंजना इन्होने इस दोहे मे की है—

तबहीं लौं जीबो भलो दैबौ होय न धीम।
जग मे रहिबो कुँचित गति उचित न होय रहीम॥

संपत्ति के समय मे जो लोग सदा घेरे रहते है विपद आने पर उनमे से अधिकांश किनारा खींचते हैं, इस बात का द्योतक यह दोहा है—

ये रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिँ।
यारो यारी छोड़िए, अब रहीम वे नाहिँ॥

कहते हैं कि इसी दीन दशा में इन्हे एक याचक ने आ घेरा। इन्होंने यह दोहा लिखकर उसे रीवाँ-नरेश के पास भेजा—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध-नरेस।
जापर बिपदा परति है सो आवत यहि देस॥

रीवाँ-नरेश ने उस याचक को एक लाख रुपए दिए।

गो० तुलसीदासजी से भी इनका बड़ा स्नेह था। ऐसी जनश्रुति है कि एक बार एक ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के लिये धन न होने से घबराया हुआ गोस्वामीजी के पास आया। गोस्वामीजी ने उसे रहीम के पास भेजा और दोहे की यह पंक्ति लिखकर दे दी—

सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।

रहीम ने उस ब्राह्मण को बहुत सा द्रव्य देकर बिदा किया और दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार पूरी करके दे दी—

गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

रहीम ने बड़ी बड़ी चढ़ाइयाँ की थी और मोगल-साम्राज्य के लिये न जाने कितने प्रदेश जीते थे। इन्हे जागीर मे बहुत बड़े बड़े सूबे और गढ़ मिले थे। संसार का इन्हे बड़ा गहरा अनुभव था। ऐसे अनुभवों के मार्मिक पक्ष को ग्रहण करने की भावुकता इनमे अद्वितीय थी। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना इन्होंने प्राप्त की है उसी की व्यंजना अपने दोहे मे की है। तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिंदी-भाषी भूभाग मे सर्वसाधारण के मुँह पर रहते है। इसका कारण है जीवन की सच्ची परिस्थितियो का मार्मिक अनुभव। रहीम के दोहे वृंद और गिरधर के पद्यो के समान कोरी नीति के पद्य नहीं है। उनमे मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियो के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि मे होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा। रहीम का हृदय, द्रवीभूत होने के लिये, कल्पना की उड़ान की अपेक्षा नहीं रखता था। वह ससार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारों मे ही अपने द्रवीभूत होने लिये पर्य्याप्त स्वरूप पा जाता था। 'बरवै नायिका-भेद'

मे भी जो मनोहर और छलकाते हुए चित्र हैं वे भी सच्चे हैं—कल्पना के झूठे खेल नहीं है। उनमे भारतीय प्रेम-जीवन की सच्ची झलक है।

भाषा पर तुलसी का सा ही अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं। ये ब्रज और अवधी—पच्छिमी और पूरबी—दोनो काव्य-भाषाओं में समान कुशल थे। 'बरवै नायिका भेद' बड़ी सुदर अवधी भाषा मे है। इनकी उक्तियाँ ऐसी लुभावनी हुई कि बिहारी आदि परवर्त्ती कवि भी बहुतों का अपहरण करने का लोभ न रोक सके। यद्यपि रहिम सर्वसाधारण में अपने दोहो के लिये ही प्रसिद्ध है पर इन्होने बरवै, कवित्त, सवैया, सोरटा, पद—सब मे थोड़ी-बहुत रचना की है।

रहीम का देहावसान सवत् १६८३ मे हुआ। अब तक इनके निम्नलिखित ग्रथ ही सुने जाते थे—रहीम दोहावली या सतसई, बरवै नायिका-भेद, श्रृंगार-सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी। पर भरतपुर के श्रीयुत पंडित मयाशंकरजी याज्ञिक ने इनकी और भी रचनाओ का पता लगाया है—जैसे नगर-शोभा, फुटकल बरवै, फुटकल कवित्त सवैये—और रहीमम का एक पूरा सग्रह 'रहीम-रत्नावली' के नाम से निकाला है।

कहा जा चुका है कि ये कई भाषाओं और विद्याओ में पारंगत थे। इन्होने फारसी का एक दीवान भी बनाया था और 'वाक़आत-बाबरी का तुर्की से फारसी मे अनुवाद किया था। कुछ मिश्रित रचना भी इन्होंने की है—'रहीम-काव्य' हिंदी-संस्कृत की खिचड़ी है। और 'खेट कौतुम्' नामक ज्योतिष का ग्रंथ सस्कृत और फारसी की खिचडी है। कुछ संस्कृत श्लोकों की रचना भी ये कर गए हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते है—

(सतसई या दोहावली से)

दुरदिन परे रहीम कह, भूलत सब पहिचानि।
सोच नही वित-हानि को, जौ न होय हित-हानि॥
कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गए पछिताय।
संपति के सब जात हैं, बिपति सबै लै जाय॥

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय ।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय ॥
सर सूखे पच्छी उड़ैं, औरे सरन समाहिं ।
दीन मीन बिन पंख के कहु रहीम कहँ जाहिं ॥
माँगत मुकरि न को गयो केहि न त्यागियो साथ ?
माँगत आगे सुख लह्यो ते रहीम रघुनाथ ॥
रहिमन वे नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहिं ।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत "नाहिं" ॥
रहिमन रहिला की भली, जो परसै चित लाय ।
परसत मन मैलो करै, सो मैदा जरि जाय ॥

---

( बरवै नायिका-भेद से )

भोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप । घरी एक भरि अलिया ! रहु चुपचाप ॥
बाहर लैकै दियवा बारन जाइ । सासु ननद घर पहुँचत देति बुझाइ ॥
पिय आवत अँगनैया उठिकै लीन । बिहँसत चतुर तिरियवा बैठक दीन ॥
लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ । छइबै एक छतरिया बरसत पाथ ॥
पीतम इक सुमरिनियाँ मोहिं देइ जाहु । जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु ॥

---

( मदनाष्टक से )

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था । चपल-चखन-वाला चाँदनी मे खड़ा था ॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला । अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला ॥

---

( नगर-शोभा से )

उत्तम जाति है बाम्हनी, देखत चित्त लुभाय ।
परम पाप पल में हरत, परसत वाके पाय ॥
रूपरंग रतिराज में, छतरानी इतरान ।
मानो रची बिरंचि पचि, कुसुम-कनक में सान ॥

बनियाइनि बनि आइकै, बैठि रूप की हाट ।
पेम पेक तन हेरिकै, गरुवै टारति बाट ॥
गरब तराजू करति चख, भौंह मोरि मुसकाति ।
डाँडी मारति बिरह की, चित चिंता घटि जाति ॥

---

( फुटकल कवित्त आदि से )

बड़न सो जान पहचान कै रहीम कहा,
जो पै करतार ही न सुख देनहार है ।
सीतहर सूरज सों नेह कियो याहि हेत,
ताहू पै कमल जारि डारत तुषार है ॥
छीरनिधि माहिं धँस्यो संकर के सीस बस्यो,
तऊ ना कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै ।
बड़ो रिझवार या चकोर दरबार है, पै
कलानिधि-यार तऊ चाखत अँगार है ॥

---

जाति हुती सखि गोहन मे मनमोहन को लखि ही ललचानो ।
नागरि नारि नई ब्रज की उनहूँ नदलाल को रीझिबो जानो ॥
जाति भई फिरि कै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो ।
ज्यों कमनैत दमानक में फिरि तीर सों मारि लै जात निसानो ॥

---

कमलदल नैनन की उनमानि ।

बिसरति नाहिं, सखी ! मो मन ते मद मंद मुसकानि ।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधापगी बतरानि ॥
मढी रहै चित उर बिसाल की मुकुतामल थहरानि ।
नृत्य समय पीतांबर हू की फहर फहर फहरानि ॥
अनुदिन श्रीवृंदावन ब्रज तें आवन आवन जानि ।
अब रहीम चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि ॥

( १६ ) कादिर—कादिरबख्श पिहानी जिला हरदोई के रहनेवाले और सैयद इब्राहीम के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १६३५ मे माना जाता है अतः इनका कविता-काल सं० १६६० के आसपास समझा जा सकता है। इनकी कोई पुस्तक तो नहीं मिलती पर फुटकल कवित्त पाए जाते हैं। कविता ये चलती भाषा मे अच्छी करते थे। इनका यह कवित्त लोगों के मुँह से बहुत सुनने मे आता है—

गुन को न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई ! कलिकाल यों खरानो है।
पोथी औ पुरान-ज्ञान ठट्ठन में डारि देत,
चुगुल चवाइन को मान ठहरानो है॥
कादिर कहत यासों कछु कहिवे को नाहिं,
जगत की रीत देखि चुप मन मानो है।
खोलि देखौ हियौं सब ओरन सों भाँति भाँति,
गुन ना हिरानो, गुनगाहक हिरानो है॥

( १७ ) मुबारक—सैयद मुबारक अली बिलग्रामी का जन्म सं० १६४० मे हुआ था, अतः इनका कविताकाल सं० १६७० के पीछे मानना चाहिए। ये संस्कृत, फारसी और अरबी के अच्छे पंडित और हिंदी के सहृदय कवि थे। जान पड़ता है, ये केवल शृंगार की ही कविता करते थे। इन्होंने नायिका के अंगो का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। कहा जाता है कि दस अंगों को लेकर इन्होंने एक एक अंग पर सौ सौ दोहे बनाए थे। इनका प्राप्त ग्रथ "अलक-शतक और तिल-शतक" उन्हीं के अतर्गत है। इन दोहो के अतिरिक्त इनके बहुत से कवित्त सवैये संग्रह-ग्रथों में पाए जाते और लोगों के मुँह से सुने जाते हैं। इनकी उत्प्रेक्षा बहुत बढ़ी चढ़ी होती थी और वर्णन के उत्कर्ष के लिये कभी कभी ये बहुत दूर तक बढ़ जाते थे। कुछ नमूने देखिए—

( अलक-शतक और तिल-शतक से )

परी मुबारक तिय-बदन अलक ओप अति होय।
मनो चंद की गोद में रही निसा सी सोय॥

चिबुक-कूप मे मन परयो छबि-जल तृषा विचारि।
कढति मुबारक ताहि तिय अलक-डोरि सी टारि॥
चिबुक कूप रसरी-अलक, तिल सु चरस, दृग बैल।
बारी बैस सिंगार को, सीचत मनमथ-छैल॥

---

( फुटकल से )

कनक-बरन बाल, नगन-लसत भाल,
मोतिन के माल उर सोहै भली भाँति है।
चदन चढाय चारु चंद्रमुखी मोहनी सी,
प्रात ही अन्हाय पग धारे मुसकाति है॥
चूनरी विचित्र स्याम सजि कै मुबारकजू,
ढाँकि नखसिख त निपट सकुचाति है।
चंद्रमै लपेटि कै, समेटि कै नखत मानो,
दिन को प्रनाम किए राति चली जाति है॥

( १८ ) बनारसीदास—ये जौनपुर के रहनेवाले एक जैन जौहरी थे जो आमेर मे भी रहा करते थे। इनके पिता का नाम खड़गसेन था। ये संवत् १६४३ में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संवत् १६९८ तक का अपना जीवनवृत्त अर्द्धकथानक नामक ग्रंथ मे दिया है। पुराने हिंदी-साहित्य मे यही एक आत्म-चरित मिलता है, इससे इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि युवावस्था में इनका आचरण अच्छा न था और इन्हे कुष्ठ रोग भी हो गया था। पर पीछे ये सँभल गए। ये पहले शृंगाररस की कविता किया करते थे पर पीछे ज्ञान हो जाने पर इन्होने वे सब कविताएँ गोमती नदी में फेंक दीं और ज्ञानोपदेशपूर्ण कविताएँ करने लगे। कुछ उपदेश इनके ब्रजभाषा-गद्य मे भी हैं। इन्होंने जैनधर्म-सबधी अनेक पुस्तको के साराश हिंदी में कहे है। अब तक इनकी बनाई इतनी पुस्तकों का पता चला है—

बनारसी-बिलास ( फुटकल कवित्तों का संग्रह ), नाटक-समयसार ( कुंद-कुंदाचार्यकृत ग्रंथ का सार ), नाममाला ( कोश ), अर्द्धकथानक, बनारसी-

पद्धति, मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याणमंदिर भाषा, वेदनिर्णय पंचाशिका, मारगन विद्या।

इनकी रचना शैली पुष्ट है और इनकी कविता दादूपंथी सुंदरदासजी की कविता से मिलती जुलती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

भोंदू! ते हिरदय की आँखे।
जे सरबै अपनी सुख-संपति भ्रम की संपति भाखैं।
जिन आँखिन सों निरखि भेद गुन ज्ञानी ज्ञान विचारैं॥
जिन आँखिन सों लखि सरूप मुनि ध्यान धारना धारैं॥

---

काया सों विचार प्रीति, माया ही में हार जीति,
लिए हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहे भूमि,
त्योंही पायँ गाड़ै पै न छाँड़ै टेक पकरी॥
मोह की मरोर सों मरम को न ठौर पावैं,
धावैं चहुँ ओर ज्यों बढ़ावैं जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि, झूठ के झरोखे भूलि,
फूली फिरै ममता जँजीरन सों जकरी॥

(१९) **सेनापति**—ये अनूपशहर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर, पितामह का परशुराम और गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। इनका जन्मकाल संवत् १६४६ के आस-पास माना जाता है। ये बड़े ही सहृदय कवि थे। ऋतुवर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इनके ऋतुवर्णन में प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है। पदविन्यास भी इनका ललित है। कहीं कहीं विरामों पर अनुप्रास का निर्वाह और यमक का चमत्कार भी अच्छा है। सारांश यह कि अपने समय के ये बड़े भावुक और निपुण कवि थे। अपना परिचय इन्होंने इस प्रकार दिया है—

दीक्षित परशुराम दादा हैं विदित नाम,
जिन कीन्हे जज्ञ, जाकी विपुल बड़ाई है।

गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है।
महा जानमनि, विद्यादान हू में चिंतामनि,
हीरामनि दीच्छित तें पाई पंडिताई है॥
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दै सुनत कविताई है॥

इनकी गर्वोक्तियाँ खटकती नहीं, उचित जान पड़ती हैं। अपने जीवन के पिछले काल में ये संसार से कुछ विरक्त हो चले थे। जान पड़ता है कि मुसलमानी दरबारों में भी इनका अच्छा मान रहा, क्योंकि अपनी विरक्ति की झोंक में इन्होंने कहा है—

केतो करौ कोइ, पैए करम लिखोइ, तातें
दूसरी न होइ, उर सोइ ठहराइए।
आधी तें सरस बीति गई है बरस, अब
दुर्जन दरस बीच रस न बढ़ाइए॥
चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित,
सेनापति ह्वै सुचित रघुपति गुन गाइए।
चारि-बर-दानि तजि पायँ कमलेच्छन के,
पायक मलेच्छन के काहे को कहाइए॥

शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि पीछे इन्होंने क्षेत्र-संन्यास ले लिया था। इनके भक्तिभाव से पूर्ण अनेक कवित्त 'कवित्तरत्नाकर' में मिलते हैं। जैसे—

महा मोह-कंदनि में जगत-जकंदनि में,
दिन दुख-दंदनि में जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को,
सेनापति याही ते कहत अकुलाय कै॥
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं,
डारौं लोकलाज के समाज बिसराय कै।
हरिजन पुंजनि में बृंदावन-कुंजनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर-तर जाय कै॥

यद्यपि इस कवित्त में वृंदावन का नाम आया है पर इनके उपास्य राम ही जान पड़ते हैं, क्योंकि स्थान स्थान पर इन्होंने 'सियापति', 'सीतापति', 'राम' आदि नामों का ही स्मरण किया है। कवित्त-रत्नाकर इनका सबसे पिछला ग्रंथ जान पड़ता है क्योंकि उसकी रचना संवत् १७०६ में हुई है, यथा—

संवत् सत्रह सै छ में सेइ सियापति पाय।
सेनापति कविता सजी सज्जन सजौ सहाय॥

इनका एक ग्रंथ 'काव्य-कल्पद्रुम' भी प्रसिद्ध है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी और रचना बहुत ही प्रौढ़ प्रांजल है। जैसे एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता भी। श्लेष का ऐसा साफ उदाहरण शायद ही और कहीं मिले—

नाहीं नाहीं करै, थोरो माँगे सब दैन कहै,
मगन को देखि पट देत बार बार है।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सुभ जनमन भावै निरधार है॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरै, दानपाठ परवार है।
सेनापति वचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हे इकसार है॥

भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है। इनकी भाषा में बहुत कुछ माधुर्य ब्रजभाषा का ही है, संस्कृत पदावली पर अवलंबित नहीं। अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पाई है। इनके ऋतुवर्णन के अनेक कवित्त बहुत से लोगों को कंठ है। रामचरित-संबंधी कवित्त भी बहुत ही ओजपूर्ण है। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते है—

बानि सों सहित सुबरन मुँह रहै जहाँ,
धरत बहुत भाँति अरथ-समाज को।

सख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं,
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज को ॥
सुनौ महाजन ! चोरी होति चार चरन की,
तातें सेनापति कहै तजि उर लाज को।
लीजियो बचाय ज्यों चुरावै नाहिं कोउ, सौंपी
वित्त की सी थाती मैं कवित्तन के ब्याज को ॥

---

वृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालनि के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है ॥
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत
धमका विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू
घरी एक बैठी कहूँ घामैं बितवत है ॥

---

सेनापति उनए नए जलद सावन के
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैहूँ भाँति
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोय कै।
घन सों गगन छप्यो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानौं रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोय कै ॥

---

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ।

धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ ॥
आई सुधि बर की, हिय मे आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ ॥

---

बालि को सपूत कपिकुल–पुरहूत,
रघुवीर जू को दूत धरि रूप विकराल को।
युद्धमद गाढ़ो पाँव रोपि भयो ठाढ़ो, सेना-
पति बल बाढ़ो रामचंद्र भुवाल को ॥
कच्छप कहलि रह्यो, कुंडली टहलि रह्यो,
दिग्गज दहलि त्रास परो चकचाल को ॥
पाँव के धरत अति भार के परत भयो—
एक ही परत मिलि सपत-पताल को ॥

---

रावन को बीर, सेनापति रघुबीर जू की
आयो है सरन, छाँड़ि ताहि मद-अंध को।
मिलत ही ताको राम कोप कै करी है ओप
नाम जोय दुर्जनदलन दीनबंधु को ॥
देखो दानवीरता-निदान एक दान ही मे,
दीन्हे दोऊ दान, को बखानै सत्यसंध को।
लंका दसकंधर को दीनी है विभीषन को,
संका विभीषन की सो दीनी दसकंध को ॥

सेनापतिजी के भक्तिप्रेरित उद्गार भी बहुत अनूठे और चमत्कारपूर्ण है। "आपने करम करि हौं ही निब्रहौंगो तौ तौ हौं ही करतार, करतार तुम काहे के ?" वाला प्रसिद्ध कवित्त इन्हीं का है।

( ७० ) पुहकर कवि—ये परतापपुर ( जिला मैनपुरी ) के रहनेवाले थे

पर गुजरात मे सोमनाथजी के पास भूमि-गाँव मे रहते थे। ये जाति के कायस्थ थे और जहाँगीर के समय मे वर्तमान थे। कहते हैं कि जहाँगीर ने किसी बात पर इन्हे आगरे मे कैद कर लिया था। वहीं कारागार में इन्होंने 'रसरतन' नामक ग्रंथ संवत् १६७३ मे लिखा जिस पर प्रसन्न होकर बादशाह ने इन्हे कारागार से मुक्त कर दिया। इस ग्रथ मे रंभावती और सूरसेन की प्रेम-कथा कई छंदों मे, जिनमे मुख्य दोहा और चौपाई है, प्रबंध-काव्य की साहित्यिक पद्धति पर लिखी गई है। कल्पित कथा लेकर प्रबध-काव्य रचने की प्रथा पुराने हिंदी-कवियो मे बहुत कम पाई जाती है। जायसी आदि सूफी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तके लिखी है, पर उनकी परिपाटी बिलकुल भारतीय नही थी। इस दृष्टि से 'रसरतन' को हिंदी-साहित्य मे एक विशेष स्थान देना चाहिए।

इसमे सयोग और वियोग की विविध दशाओ का साहित्य की रीतिपर वर्णन है। वर्णन उसी ढंग के है जिस ढंग के शृंगार के मुक्तक-कवियो ने किए है। पूर्वराग, सखी, मडन, नखशिख, ऋतु-वर्णन आदि शृंगार की सब सामग्री एकत्र की गई है। कविता सरस और भाषा प्रौढ़ है। इस कवि के और ग्रथ नही मिले हैं पर प्राप्त ग्रंथ को देखने से ये एक अच्छे कवि जान पडते है। इनकी रचना की शैली दिखाने के लिये ये उद्धृत पद्य पर्याप्त होंगे—

चले मैमता हस्ति झूमत मत्ता। मनो बद्दला स्याम साथै चलंता॥
बनी बागरी रूप राजत दंता। मनै बग्ग आषाढ पाँतै उडंता॥
लसै पीत लालैं, सुढ्यहैं ढलक्कैं। मनों चचला चौंधि छाया छलक्कैं॥

चंद की उजारी प्यारी नैनन तिहारे, परे
चद की कला मे दुति दूनि दरसाति है।
ललित लतानि मे लता सी गहि सुकुमारि
मालती सी फूलै जब मृदु मुसुकाति है॥
पुहकर कहै जित देखिए विराजै तित
परम विचित्र चारु चित्र मिलि जाति है।
आवै मन माहि तब रहै मन ही मे गड़ि,
नैननि बिलोके बाल नैननि समाति है॥

( २ ) सुंदर—ये ग्वालियर के ब्राह्मण थे और शाहजहाँ के दरबार मे कविता सुनाया करते थे। इन्हे बादशाह ने पहिले कविराय की और फिर महा-कविराय की पदवी दी थी। इन्होने संवत् १६८८ में 'सुदर-शृंगार' नामक नायिका भेद का एक ग्रंथ लिखा। कवि ने रचना की तिथि इस प्रकार दी है।

संवत सोरह से बरस बीते अठतर सीति। कातिक सुदी सतमी गुरौ रचै ग्रंथ करि प्रीति ॥

इसके अतिरिक्त 'सिंहासन-बत्तीसी' और 'बारहमासा' नाम की इनकी दो पुस्तकें और कही जाती है। यमक और अनुप्रास की ओर इनकी कुछ विशेष प्रवृत्ति जान पड़ती है। इनकी रचना शब्द-चमत्कारपूर्ण है। एक उदाहरण दिया जाता है—

काके गए बसन ? पलटि आए बसन, सु
मेरो कछु बस न रसन उर लागे हौ।
भौहैं तिरछौहैं कवि सुंदर सुजान सोहैं,
कछु अलसौहैं गौं हैं जाके रस पागे हौ॥
परसौं मैं पाय हुते परसौं मैं पाय गहि
परसौं वे पाय निसि जाके अनुरागे हौ।
कौन बनिता के हौ जू कौन बनिता के हौ सु,
कौन बनिता के बनि, ताके संग जागे हौ ?

( २१ ) लालचंद या लक्षोदय—ये मेवाड के महाराणा जगतसिंह ( स० १६८५–१७०६ ) की माता जाम्बवतीजी के प्रधान श्रावक हंसराज के भाई डूँगरसी के पुत्र थे। इन्होंने सवत् १७०० मे 'पद्मिनी-चरित्र' नामक एक प्रबंध काव्य की रचना की जिसमे राजा रत्नसेन और पद्मिनी की कथा का राजस्थानी मिली भाषा मे वर्णन है। जायसी ने कथा का जो रूप रखा है उससे इसकी कथा में बहुत जगह भेद है—जैसे, जायसी ने हीरामन तोते के द्वारा पद्मिनी का वर्णन सुनकर रत्नसेन का मोहित होना लिखा है, पर इसमे भाटों द्वारा एकबारगी घर से निकल पड़ने का कारण इसमे यह बताया गया है कि पटरानी प्रभावती ने राजा के सामने जो भोजन रखा वह उसे पसंद न आया। इस पर रानी ने चिढ़कर कहा कि यदि मेरा भोजन अच्छा नहीं लगता तो कोई पद्मिनी ब्याह लाओ।

तब लडकी बोली तिसे जो, राखी मन धरि रोस।
नारी आणों कॉं न बीजी घो मत झूठो दोस॥
हम्मे कलेबी जीणा नहीं जी, किसूँ करीजै बाद।
पदमणि का परणो न वीजी, जिमि भोजन होय स्वाद॥

इस पर रत्नसेन यह कहकर उठ खड़ा हुआ—

राखों तो हूँ रतनसी परणूँ पद्मनि नारि।

राजा समुद्र तट पर जा पहुँचा जहॉं से औघड़नाथ सिद्ध ने अपने योग-बल से उसे सिंहलद्वीप पहुँचा दिया। वहॉं राजा की बहिन पद्मिनी के स्वयंवर की मुनादी हो रही थी—

सिंहलदीप नो राजियो रे सिंगल सिंह समान रे। तसु बहण छै पदमिणि रे, रूपे रंभसमान रे।
जीवन लहरयॉं जायछे रे, ते परणूँ भरतार रे। परतज्ञा जे पूरवै रे तासु वरै वरमाल रे।

राजा अपना पराक्रम दिखाकर पद्मिनी को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जायसी के वृत्त से और भी कई बातो मे भेद है। इस चरित्र की रचना गीति-काव्य के रूप मे समझनी चाहिए।

---

## सूफी-रचनाओं के अतिरिक्त

# भक्तिकाल के अन्य आख्यान-काव्य

आश्रयदाता राजाओ के चरित-काव्य तथा ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यानकाव्य लिखने की जैसी परंपरा हिंदुओ मे बहुत प्राचीन काल से चली आती थी वैसी पद्यबद्ध कल्पित कहानियाँ लिखने की नही थी। ऐसी कहानियॉं मिलती है, पर बहुत कम। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रसगो या वृत्तों की कल्पना की प्रवृत्ति कम थी। पर ऐसी कल्पना किसी ऐसिहासिक या पौराणिक पुरुष या घटना का कुछ—कभी कभी अत्यंत अल्प—सहारा लेकर खडी की जाती थी। कहीं कहीं तो केवल कुछ नाम ही ऐतिहासिक या पौराणिक रहते थे, वृत्त सारा कल्पित रहता था, जैसे, ईश्वरदास कृत 'सत्यवती कथा'।

आत्मकथा का विकास भी नहीं पाया जाता। केवल जैन कवि बनारसीदास का 'अर्धकथानक' मिलता है।

नीचे मुख्य आख्यान-काव्यो का उल्लेख किया जाता है—

| ऐतिहासिक-पौराणिक | कल्पित | आत्म-कथा |
| --- | --- | --- |
| १ रामचरित-मानस (तुलसी) | १ ढोला मारू रा दूहा (प्राचीन) | १ अर्धकथानक (बनारसीदास) |
| २ हरिचरित्र (लालचदास) | २ लक्ष्मणसेन पद्मावती-कथा (दामोकवि) | |
| ३ रुक्मिणी-मगल (नरहरि) | ३ सत्यवती-कथा (ईश्वरदास) | |
| ४ ,, (नंददास) | ४ माधवानल-कामकंदला (आलम) | |
| ५ सुदामाचरित्र (नरोतमदास) | ५ रसरतन (पुहकर कवि) | |
| ६ रामचद्रिका (केशवदास) | ६ पदमिनी-चरित्र (लालचद) | |
| ७ वीरसिंहदेव-चरित (केशव) | ७ कनकमंजरी (काशीराम) | |
| ८ वेलि क्रिसन रुकमणी री (जोधपुर के राठौड़ राजा प्रिथीराज) | | |

ऊपर दी हुई सूची मे 'ढोला मारू रा दूहा' और 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' राजस्थानी भाषा मे है। ढोला मारू की प्रेमकथा राजपुताने में बहुत प्रचलित है। दोहे बहुत पुराने हैं, यह बात उनकी भाषा से पाई जाती है। बहुत दिनो तक मुखाग्र ही रहने के कारण बहुत से दोहे लुप्त हो गए थे, जिससे कथा की श्रृंखला बीच बीच मे खंडित हो गई थी। इसी से संवत् १६१८ के लगभग जैनकवि कुशल-लाभ ने बीच बीच मे चौपाइयाँ रचकर जोड़ दीं। दोहो की प्राचीनता का अनुमान इस बात से हो सकता है कि कबीर की साखियों मे ढोला मारू के बहुत से दोहे ज्यो के त्यो मिलते हैं।

"वेलि क्रिसन रुकमणी री" जोधपुर के राठौड़ राजवंशीय स्वदेशाभिमानी पृथ्वीराज की रचना है जिनका महाराणा प्रताप को क्षोभ से भरा पत्र लिखना इतिहास-प्रसिद्ध है। रचना प्रौढ भी है और मार्मिक भी। इसमे श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा है।

पद्मिनी-चरित्र की भाषा भी राजस्थानी मिली है।

---

# उत्तर-मध्यकाल

## ( रीतिकाल १७००-१९०० )

### प्रकरण १

### सामान्य परिचय

हिंदी-काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था। संवत् १५९८ में कृपाराम थोड़ा बहुत रस-निरूपण भी कर चुके थे। उसी समय के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'श्रृंगार सागर' नामक एक ग्रंथ श्रृंगार-संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथी करनेस कवि ने 'कर्णाभरण', श्रुति-भूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबंधी लिखे। रस-निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदासजी ने काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें सदेह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कवि-प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।

केशव के प्रसंग में यह पहले कहा जा चुका है कि वे काव्य में अलंकारों का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारवादी कवि थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई। साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिंदी-पाठकों को काव्यांग-निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह

और उद्भट के समय में थी; उस उत्तर दशा का नहीं जो आनंदवर्धनाचार्य्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई। भामह और उद्भट के समय में अलंकार और अलंकार्य्य का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था: रस, रीति, अलंकार आदि सब के लिये 'अलंकार' शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कविप्रिया' में भी पाते हैं। उसमें 'अलंकार' के 'सामान्य' और 'विशेष' दो भेद करके, 'सामान्य' के अंतर्गत वर्ण्य विषय और 'विशेष' के अंतर्गत वास्तविक अलंकार रखे गए हैं। (विशेष दे० केशवदास)

पर केशवदास के उपरांत तत्काल रीतिग्रंथों की परंपरा चली नहीं। कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे उसकी अखंड परंपरा का आरंभ हुआ। यह परंपरा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था। हिंदी के अलंकार-ग्रंथ अधिकतर 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रंथों में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के संबंध में हिंदी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रंथों का मत ग्रहण किया। इस प्रकार दैव योग से संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिंदी में हो गई।

हिंदी रीतिग्रंथों की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए। उन्होंने संवत् १७०० के कुछ आगे पीछे 'काव्यविवेक', 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' ये तीन ग्रंथ लिखकर काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण किया और पिंगल या छंदः शास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। उसके उपरांत तो लक्षणग्रंथों की भरमार सी होने लगी। कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। हिंदी-साहित्य में यह एक अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिंदी-काव्यक्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्य्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्य्यालोचन-शक्ति की

अपेक्षा होती है उसका विकास नही हुआ। कवि लोग एक दोहे मे अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म मे प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यागो का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नए नए सिद्धातों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य मे ही लिखा जाता था। पद्य मे किसी बात की सम्यक् मीमासा या उस पर तर्क वितर्क हो नही सकता। इस अवस्था मे 'चंद्रालोक' की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण मे ही लक्षण कहकर छुट्टी ली।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी मे लक्षण-ग्रथ की परिपाटी पर रचना करनेवाले जो सैकड़ो कवि हुए वे आचार्य्य-कोटि मे नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमे आचार्य्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ है। बहुत स्थलो पर तो उनके द्वारा अलंकार आदि के स्वरूप का भी ठीक ठीक बोध नहीं हो सकता। कहीं कहीं तो उदाहरण भी ठीक नही है। 'शब्द-शक्ति' का विषय तो दो ही चार कवियो ने नाममात्र के लिये लिया है जिससे उस विषय का स्पष्ट बोध होना तो दूर रहा, कहीं कहीं भ्रात धारणा अवश्य उत्पन्न हो सकती है। काव्य के साधारणत: दो भेद किए जाते है—श्रव्य और दृश्य। इनमे से दृश्य काव्य का निरूपण तो छोड ही दिया गया। सराश यह कि इन रीतिग्रंथों पर ही निर्भर रहनेवाले व्यक्ति का साहित्यज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए। यह सब लिखने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना ही है कि यह न समझा जाय कि रीतिकाल के भीतर साहित्यशास्त्र पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नई नई बातों की उद्भावना होती रही।

केशवदास के वर्णन मे यह दिखाया जा चुका है कि उन्होने सारी सामग्री कहाँ कहाँ से ली। आगे होनेवाले लक्षणग्रंथकार कवियों ने भी सारे लक्षण और भेद संस्कृत की पुस्तकों से लेकर लिखे हैं जो कहीं कहीं अपर्याप्त हैं। अपनी ओर से उन्होंने न तो अलंकार-क्षेत्र में कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस-क्षेत्र मे। काव्यांगो का विस्तृत समावेश दासजी ने अपने 'काव्य निर्णय' मे किया है। अलकारों को जिस प्रकार उन्होने बहुत से छोटे छोटे प्रकरणो में

बाँट कर रखा है उससे भ्रम हो सकता है कि शायद किसी आधार पर उन्होंने अलकारो का वर्गीकरण किया है। पर वास्तव मे उन्होंने किसी प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न नही किया है। दासजी की एक नई योजना अवश्य ध्यान देने योग्य है। संस्कृत-काव्य मे अंत्यानुप्रास या तुक का चलन नही था, इससे संस्कृत के साहित्यग्रथो मे उसका विचार नहीं हुआ है। पर हिंदी-काव्य मे वह बराबर आरंभ से ही मिलता है। अतः दासजी ने अपनी पुस्तक मे उसका विचार करके बडा ही आवश्यक कार्य्य किया।

भूषण का 'भाविक छवि' एक नया अलकार सा दिखाई पड़ता है, पर है वास्तव में सस्कृत ग्रंथो के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप। 'भाविक' का सबंध कालगत दूरी से है; इसका देशगत से। बस इतना ही अंतर है।

दासजी के 'अतिशयोक्ति' के पाँच नए दिखाई पड़नेवाले भेदों मे से चार तो भेदो के भिन्न भिन्न योग हैं। पाँचवाँ 'संभावनातिशयोक्ति' तो सबधातिशयोक्ति ही है।

देव कवि का संचारियो के बीच 'छल' बढ़ा देना कुछ लोगो को नई सूझ समझ पड़ा है। उन्हे समझना चाहिए कि देव ने जैसे और सब बातें सस्कृत की 'रस-तरंगिणी' से ली हैं, वैसे ही यह 'छल' भी। सच पूछिए तो छल का अतर्भाव अवहित्थ मे हो जाता है।

इस बात का संकेत पहले किया जा चुका है कि हिंदी के पद्यबद्ध लक्षण-ग्रंथों मे दिए हुए लक्षणो और उदाहरणो मे बहुत जगह गड़बडी पाई जाती है। अब इस गड़बडी के संबंध मे दो बातें कही जा सकती है। या तो यह कहे कि कवियों ने अपना मतभेद प्रकट करने के लिये जानबूझकर भिन्नता कर दी है अथवा प्रमादवश और का और समझकर। मतभेद तो तब कहा जाता जब कहीं कोई नूतन विचार-पद्धति मिलती। अतः दूसरा ही कारण ठहरता है। कुछ उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जायगा—

( १ ) केशवदास ने रूपक के तीन भेद दंडी से लिए—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक और रूपक रूपक। इनमे से प्रथम का लक्षण भी स्वरूप व्यक्त

नहीं करता और उदाहरण भी अधिकतादूप्य रूपक का हो गया है। विरुद्ध-रूपक भी दंडी से नहीं मिलता और रूपकातिशयोक्ति हो गया है। रूपक-रूपक दंडी के अनुसार वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत पर एक अप्रस्तुत का आरोप करके फिर दूसरे अप्रस्तुत का भी आरोप कर दिया जाता है। केशव के न तो लक्षण में यह बात प्रकट होती है, न उदाहरण से। उदाहरण में दंडी के उदाहरण का ऊपरी ढाँचा भर कुछ झलकता है, पर असल बात का पता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि बिना ठीक तात्पर्य समझे ही लक्षण और उदाहरण हिंदी में दे दिए गए हैं।

( २ ) भूषण क्या प्रायः सब हिंदी कवियों ने 'भ्रम', 'संदेह' और 'स्मरण' अलंकारों के लक्षणों में सादृश्य की बात छोड़ दी है। इससे बहुत जगह उदाहरण अलंकार के न होकर भाव के हो गए हैं। भूषण का उदाहरण सबसे गड़बड़ है।

( ३ ) शब्द-शक्ति का विषय दास ने थोड़ा सा लिया है, पर उससे उसका कुछ भी बोध नहीं हो सकता। 'उपादान लक्षणा' का लक्षण भी विलक्षण है और उदाहरण भी असंगत। उदाहरण से साफ झलकता है कि इस लक्षण का स्वरूप ही समझने में भ्रम हुआ है।

जब कि काव्यांगों का स्वतंत्र विवेचन ही नहीं हुआ तब तरह तरह के 'वाद' कैसे प्रतिष्ठित होते ? संस्कृत-साहित्य में जैसे, अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद इत्यादि अनेक वाद पाए जाते हैं, वैसे वादों के लिये हिंदी के रीतिक्षेत्र में रास्ता ही नहीं निकला। केशव को ही अलंकार आवश्यक मानने के कारण अलंकारवादी कह सकते हैं। केशव के उपरांत रीतिकाल में होनेवाले कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया। वे रस को ही काव्य की आत्मा या प्रधान वस्तु मानकर चले। महाराज जसवंतसिंह ने अपने 'भाषा-भूषण' की रचना 'चंद्रालोक' के आधार पर की, पर उसके अलंकार की अनिवार्यतावाले सिद्धांत का समावेश नहीं किया।

इन रीति-ग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण

करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य्य यह हुआ कि रसों (विशेषतःशृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण मे प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथो से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलंकारो की अपेक्षा नायिकाभेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगाररस के अंतर्गत बहुत सुंदर मुक्तकरचना हिंदी मे हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिंदी-साहित्य मे हुआ कि इसके एक एक अंग को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ रचे गए। इस रस का सारा वैभव कवियो ने नायिका भेद के भीतर दिखाया। रसग्रंथ वास्तव मे नायिका-भेद के ही ग्रंथ है जिनमे और दूसरे रस पीछे से संक्षेप मे चलते कर दिए गए है। नायिका शृंगार रस का आलंबन है। इस आलंबन के अंगो का वर्णन एक स्वतंत्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रंथ केवल नखशिख-वर्णन के लिखे गए। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप षट्ऋतु-वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गईं। विप्रलंभ-संबंधी 'बारहमासे' भी कुछ कवियो ने लिखे।

रीति-ग्रंथो की इस परंपरा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास मे कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न भिन्न चिंत्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यो की ओर कवियो की दृष्टि नही जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों मे प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गए। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया। कुछ कवियों के बीच भाषा-शैली, पद विन्यास, अलंकार-विधान आदि बाहरी बातो का भेद हम थोड़ा बहुत दिखा सकें तो दिखा सकें, पर उनकी अभ्यंतर प्रकृति के अन्वीक्षण मे समर्थ उच्च कोटि की आलोचना की सामग्री बहुत कम पा सकते हैं।

रीति-काल मे एक बड़े भारी अभाव की पूर्त्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ो कवियो द्वारा परमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे

उस च्युत-संस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रजभाषा-काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नहीं तो वाक्य-दोषो का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा मे कुछ और सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी वाक्य-रचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होने लिया उसका पूरा आवेश उनमे था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है[१]। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपो के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिससे भाषा मे बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।

भाषा की गड़बड़ी का एक कारण व्रज और अवधी इन दोनो काव्य-भाषाओं का कवि के इच्छानुसार सम्मिश्रण भी था। यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश-विशेष के प्रयोगो तक ही परिमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है। काव्य की ब्रजभाषा के संबंध मे भी अधिकतर यही बात रही। सूरदास की भाषा मे यत्र-तत्र पूरबी प्रयोग—जैसे,मोर, हमार, कीन, अस, जस इत्यादि—बराबर मिलते हैं। बिहारी की भाषा भी 'कीन' 'दीन' आदि से खाली नहीं। रीति-ग्रंथों का विकास अधिकतर अवध मे हुआ। अतः इस काल मे काव्य की ब्रजभाषा में अवधी के प्रयोग और अधिक मिले। इस बात को किसी किसी कवि ने लक्ष्य भी किया। दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय' में काव्यभाषा पर भी कुछ दृष्टिपात किया। मिश्रित भाषा के समर्थन मे वे कहते हैं—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोई। मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रकट जु होइ॥
ब्रज, मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि। सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

उक्त दोहों मे 'मागधी' शब्द से पूरबी भाषा का अभिप्राय है। अवधी अर्द्ध-मागधी से निकली मानी जाती है और पूरबी हिंदी के अंतर्गत है। जबाँदानी के लिये ब्रज का निवास अवश्यक नहीं है, आस कवियो की वाणी भी प्रमाण है, इस बात को दासजी ने स्पष्ट कहा है—

---

१—देखो अगले प्रकरण में भूषण का परिचय।

सूर, केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम, भूषन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सों जानिए॥

मिली-जुली भाषा के प्रमाण में दासजी कहते हैं कि तुलसी और गग तक ने, जो कवियो के शिरोमणि हुए हैं, ऐसी भाषा का व्यवहार किया है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार। इनके काव्यन मे मिली भाषा विविध प्रकार॥

इस सीधे सादे दोहे का जो यह अर्थ ले कि तुलसी और गंग इसीलिये कवियो के सरदार हुए कि उनके काव्यो मे विविध प्रकार की भाषा मिली है, उसकी समझ को क्या कहा जाय?

दासजी ने काव्यभाषा के स्वरूप का जो निर्णय किया वह कोई सौ वर्षो की काव्य-परपरा के पर्य्यालोचन के उपरात। अतः उनका स्वरूप निरूपण तो बहुत ही ठीक है। उन्होंने काव्यभाषा ब्रजभाषा ही कही है जिसमे और भाषाओं के शब्दों का भी मेल हो सकता है। पर भाषा-संबंधी और अधिक मीमासा न होने के कारण कवियो ने अपने को अन्य बोलियो के शब्दो तक ही परिमित नही रखा; उनके कारकचिह्नो और क्रिया के रूपो का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे। ऐसा वे केवल सौकर्य्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धात के अनुसार नहीं। 'करना' के भूतकाल के लिये वे छंद की आवश्यकता के अनुसार 'कियो' 'कीनो', 'करयो' 'करियो' 'कीन' यहाँ तक कि 'किय' तक रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिये आवश्यक है। रूपों के स्थिर न होने से यदि कोई

विदेशी काव्य की ब्रजभाषा का अध्ययन करना चाहे तो उसे कितनी कठिनता होगी !

भक्तिकाल की प्रारंभिक अवस्था में ही किस प्रकार मुसलमानो के संसर्ग से कुछ फारसी के शब्द और चलते भाव मिलने लगे थे इसका उल्लेख हो चुका है। नामदेव और कबीर आदि की तो बात ही क्या, तुलसीदासजी ने भी गनी, गरीब, साहब, इताति, उमरदराज आदि बहुत से शब्दो का प्रयोग किया। सूर मे ऐसे शब्द अवश्य कम मिलते हैं। फिर मुसलमानी राज्य की दृढ़ता के साथ-साथ इस प्रकार के शब्दो का व्यवहार ज्यों-ज्यो बढ़ता गया त्यों-त्यों कवि लोग उन्हें अधिकाधिक स्थान देने लगे। राजा महाराजाओं के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द वहाँ चारों ओर सुनाई देने लगे। अतः भाट या कवि लोग 'आयुष्मान्' और 'जयजयकार' ही तक अपने-को कैसे रख-सकते थे ? वे भी दरबार में खड़े होकर "उमरदराज महाराज तेरी चाहिए" पुकारने लगे। 'बखतबलंद' आदि शब्द उनकी ज़बान पर भी नाचने लगे।

यह तो हुई व्यावहारिक भाषा की बात। फारसी-काव्य के शब्दों को भी थोड़ा बहुत कवियो ने अपनाना आरंभ किया। रीति-काल मे ऐसे शब्दो की संख्या कुछ और बढ़ी। पर यह देखकर हर्ष होता है कि अपनी भाषा की स्वाभाविक सरसता का ध्यान रखनेवाले उत्कृष्ट कवियो ने ऐसे शब्दो को बहुत ही कम स्थान दिया। परंपरागत साहित्य का कम अभ्यास रखनेवाले साधारण कवियों ने कहीं कहीं बड़े बेढगे तौर पर ऐसे विदेशी शब्द रखे हैं। कहीं-कहीं 'खुसबोयन' आदि उनके विकृत शब्दो को देखकर शिक्षितों को एक प्रकार की विरक्ति सी होती है और उनकी कविता गँवारो की रचना सी लगती है। शब्दो के साथ-साथ कुछ थोड़े से कवियो ने इश्क की शायरी की पूरी अलंकार-सामग्री तक उठाकर रख ली है और उनके भाव भी बाँध गए हैं। रसनिधि-कृत 'रतनहजारा' मे यह बात अरुचिकर मात्रा में पाई जाती है। बिहारी ऐसे परम उत्कृष्ट कवि भी यद्यपि फारसी भावों के प्रभाव से नहीं बचे हैं पर उन्होने उन भावों को अपने देशी साँचे मे ढाल लिया है जिससे वे खटकते क्या सहसा लक्ष्य भी नहीं होते।

उनकी विरह-ताप की अत्युक्तियों मे दूर की सूझ और नाजुकखयाली बहुत कुछ फारसी की शैली की है, पर विहारी रसभंग करनेवाले बीभत्स रूप कहीं नहीं लाए हैं।

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि रीतिकाल के कवियों के प्रिय छंद कवित्त और सवैया ही रहे। कवित्त तो शृंगार और वीर दोनो रसों के लिये समान रूप से उपयुक्त माना गया था। वास्तव मे पढ़ने के ढंग में थोड़ा विभेद कर देने से उसमे दोनो के अनुकूल नादसौदर्य पाया जाता है। सवैया, शृंगार और करुण इन दो कोमल रसों के बहुत उपयुक्त होता है, यद्यपि वीररस की कविता मे भी इसका व्यवहार कवियों ने जहाँ तहाँ किया है। वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है। शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

## प्रकरण २

## रीति-ग्रंथकार कवि

हिंदी साहित्य की गति का ऊपर जो संक्षिप्त उल्लेख हुआ उससे रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति का पता चल सकता है। अब उस काल के मुख्य-मुख्य कवियों का विवरण दिया जाता है।

( १ ) चिंतामणि त्रिपाठी—ये तिकवाँपुर (जि० कानपुर) के रहनेवाले और चार भाई थे—चिंतामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर। चारों कवि थे, जिनमें प्रथम तीन तो हिंदी साहित्य में बहुत यशस्वी हुए। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कुछ दिन से यह विवाद उठाया गया है कि भूषण न तो चिंतामणि और मतिराम के भाई थे, न शिवाजी के दरबार में थे। पर इतनी प्रसिद्ध बात का जब तक पर्याप्त विरुद्ध प्रमाण न मिले तब तक वह अस्वीकार नहीं की जा सकती। चिंतामणिजी का जन्मकाल संवत् १६६६ के लगभग और कविता-काल संवत् १७०० के आसपास ठहरता है। इनका 'कविकुलकल्पतरु' नामक ग्रंथ सं० १७०७ का लिखा है। इनके संबंध में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि ये "बहुत दिन तक नागपुर में सूर्यवंशी भोसला मकरंद शाह के यहाँ रहे और उन्हीं के नाम पर 'छंदविचार' नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रंथ बनाया और 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'रामायण' ये पाँच ग्रंथ इनके बनाए हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं। इनकी बनाई रामायण कवित्त और नाना अन्य छंदों में बहुत अपूर्व है। बाबू रुद्र-साहि सोलंकी, शाहजहाँ बादशाह और जैनदी अहमद ने इनको बहुत दान दिए हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ में कहीं-कहीं अपना नाम मणिमाल भी कहा है।"

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि चिंतामणि ने काव्य के सब अंगों पर ग्रंथ लिखे। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। अवध के पिछले कवियों की भाषा देखते हुए इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध दिखाई पड़ती है। विषय-वर्णन

की प्रणाली भी मनोहर है। ये वास्तव मे एक उत्कृष्ट कवि थे। रचना के कुछ नमूने लीजिए—

येई उधारत हैं तिन्हें जे परे मोह-महोदधि के जल-फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन, ते न परैं कबहूँ जम घेरे॥
राजै रमा-रमनी-उपधान अभै-बरदान रहैं जन नेरे।
हैं बलभार उदंड भरे हरि के भुजदंड सहायक मेरे॥

---

इक आजु मैं कुंदन-बेलि लखी मनिमंदिर की रुचिवृंद भरैं।
कुरविंद के पल्लव इंदु तहाँ अरविंदन तें मकरंद झरैं।
उत बुंदन के मुकुतागन ह्वै फल सुंदर भ्वै पर आनि परैं।
लखि यों दुति कंद अनंद कला नंदनंद सिलाद्रव रूप धरैं॥

---

आँखिन मूँदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै॥
नाह छुई छल सों छतियाँ, हँसि भौंह चढ़ाय अनंद बढावै।
जोबन के मद मत्त तिया हित सों पति को नित चित्त चुरावै॥

(२) बेनी—ये असनी के बंदीजन थे और संवत् १७०० के आसपास विद्यमान थे। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता पर फुटकल कवित्त बहुत से सुने जाते है जिनसे यह अनुमान होता है कि इन्होंने नखशिख और षट्ऋतु पर पुस्तकें लिखी होंगी। कविता इनकी साधारणतः अच्छी होती थी; भाषा चलती होने पर भी अनुप्रासयुक्त होती थी। दो उदाहरण नीचे दिए जाते है—

छहरे सिर पै छबि मोरपखा उनकी नथ के मुकुता थहरैं।
फहरै पियरो पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं॥
रसरंग भिरे अभिरे हैं तमाल दोऊ रसख्याल चहैं लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिए मे सदा बिहरैं।

---

कवि बेनी नई उनई है घटा, मोरवा बन बोलन कूकन री।
छहरै बिजुरी छिति-मंडल छ्वै लहरै मन मैन-भभूकन री॥
पहिरौ चुनरी चुनिकै दुलही, सँग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस यों ही बितावति हौ, मरिहौ, फिर बावरि! हूकन री॥

( ३ ) महाराज जसवंतसिंह—ये मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज थे जो अपने समय के सबसे प्रतापी हिंदू नरेश थे और जिनका भय औरंगजेब को बराबर बना रहता था। इनका जन्म संवत् १६८३ में हुआ। ये शाहजहाँ के समय में ही कई लड़ाइयोंपर जा चुके थे। ये महाराज गजसिंह के दूसरे पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरांत संवत् १६९५ मे गद्दी पर बैठे। इनके बड़े भाई अमरसिंह अपने उद्धत स्वभाव के कारण पिता द्वारा अधिकारच्युत कर दिए गए थे। महाराज जसवंतसिंह बड़े अच्छे साहित्यमर्मज्ञ और तत्त्वज्ञान-संपन्न पुरुष थे। उनके समय मे राज्य भर में विद्या की बड़ी चर्चा रही और अच्छे-अच्छे कवियों और विद्वानो का बराबर समागम होता रहा। महाराज ने स्वयं तो ग्रंथ लिखे ही; अनेक विद्वानों और कवियों से न जाने कितने ग्रंथ लिखाए। औरंगजेब ने इन्हें कुछ दिनों के लिये गुजरात का सूबेदार बनाया था। वहाँ से शाइस्ताखाँ के साथ ये छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गए थे। कहते हैं कि चढ़ाई मे शाइस्ताखाँ की जो दुर्गति हुई वह बहुत कुछ इन्हीं के इशारे से। अंत में ये अफगानों को सर करने के लिये काबुल भेजे गए जहाँ संवत् १७३५ मे इनका परलोकवास हुआ।

ये हिंदी-साहित्य के प्रधान आचार्यों में माने जाते हैं और इनका 'भाषा-भूषण' ग्रंथ अलंकारो पर एक बहुत ही प्रचलित पाठ्य ग्रंथ रहा है। इस ग्रंथ को इन्होंने वास्तव में आचार्य्य के रूप में लिखा है, कवि के रूप में नहीं। प्राक्कथन मे इस बात का उल्लेख हो चुका है कि रीतिकाल के भीतर जितने लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले हुए वे वास्तव में कवि थे और उन्होंने कविता करने के उद्देश्य से ही वे ग्रंथ लिखे थे, न कि विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से। पर महाराज जसवंतसिंहजी इस नियम के अपवाद थे। वे आचार्य्य की हैसियत से ही हिंदी-साहित्य क्षेत्र मे आए, कवि की हैसियत से नही। उन्होंने अपना 'भाषा-भूषण'

बिलकुल 'चंद्रालोक' की छाया पर बनाया और उसीकी संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण किया। जिस प्रकार चंद्रालोक मे प्रायः एक ही श्लोक के भीतर लक्षण और उदाहरण दोनों का सन्निवेश है उसी प्रकार भाषा-भूषण में भी प्रायः एक ही दोहे मे लक्षण और उदाहरण दोनों रखे गए हैं। इससे विद्यार्थियों को अलंकार कंठ करने मे बड़ा सुबीता हो गया और 'भाषा-भूषण' हिंदी काव्य रीति के अभ्यासियों के बीच वैसा ही सर्वप्रिय हुआ जैसा कि संस्कृत के विद्यार्थियों के बीच चंद्रालोक। भाषा-भूषण बहुत छोटा सा ग्रथ है।

भाषा-भूषण के अतिरिक्त जो और ग्रंथ इन्होंने लिखे हैं वे तत्त्वज्ञान-संबंधी हैं। जैसे—अपरोक्ष-सिद्धात, अनुभव-प्रकाश, आनंद-विलास, सिद्धात-बोध, सिद्धातसार, प्रबोधचंद्रोदय नाटक। ये सब ग्रंथ भी पद्य मे ही हैं, जिनसे पद्य-रचना की पूरी निपुणता प्रकट होती है। पर साहित्य से जहाँ तक संबंध है, ये आचार्य या शिक्षक के रूप मे ही हमारे सामने आते हैं। अलकार-निरूपण की इनकी पद्धति का परिचय कराने के लिये 'भाषा-भूषण' के दोहे नीचे दिए जाते हैं।

अत्युक्ति—अलकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें भए कल्पतरु भूप॥

---

पर्य्यस्तापह्नुति—पर्यस्त जु गुन एक को और विषय आरोप।
होइ सुधाधर नाहिं यह बदन सुधाधर ओप॥

ये दोहे चंद्रालोक के इन श्लोकों की स्पष्ट छाया हैं।

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्योदार्यादिवर्णनम्।
त्वयि दातरि राजेंद्र याचका कल्पशाखिनः॥
पर्य्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्॥

भाषा-भूषण पर पीछे तीन टीकाएँ रची गईं—'अलंकार रत्नाकर' नाम की टीका, जिसे बसीधर ने संवत् १७९२ मे बनाया, दूसरी टीका प्रतापसाहि की और तीसरी गुलाब कवि की 'भूषण-चंद्रिका'।

(४) बिहारीलाल—ये माथुर चौबे कहे जाते हैं और इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविंदपुर गाँव में संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। एक दोहे के अनुसार इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आ रहे। अनुमानतः ये संवत् १७२० तक वर्तमान रहे। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराज जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। कहा जाता है कि जिस समय ये कवीश्वर जयपुर पहुँचे उस समय महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने लीन रहा करते थे कि राजकाज देखने के लिये महलों के बाहर निकलते ही न थे। इसपर सरदारों की सलाह से बिहारी ने यह दोहा किसी प्रकार महाराज के पास भीतर भिजवाया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

कहते हैं कि इसपर महाराज बाहर निकले और तभी से बिहारी का मान बहुत अधिक बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को इसी प्रकार के सरस दोहे बनाने की आज्ञा दी। बिहारी दोहे बनाकर सुनाने लगे और उन्हें प्रति दोहे पर एक एक अशरफी मिलने लगी। इस प्रकार सात सौ दोहे बने जो संगृहीत होकर 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शृंगाररस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक एक दोहा हिंदी-साहित्य में एक एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गईं। इन टीकाओं में ४-५ टीकाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हैं—कृष्ण कवि की टीका जो कवित्तों में है, हरिप्रकाश टीका, लल्लूजी लाल की लालचंद्रिका, सरदार कवि की टीका और सूरति मिश्र की टीका। इन टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के दोहों के भाव पल्लवित करनेवाले छप्पय, कुंडलिया, सवैया आदि कई कवियों ने रचे। पठान सुलतान की कुंडलिया इन दोहों पर बहुत अच्छी है, पर अधूरी है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कुछ और कुंडलिया रचकर पूर्ति करनी चाही थी। पं० अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी बिहार' में सब दोहों के भावों को पल्लवित करके रोला छंद लगाए हैं। पं० परमानंद ने 'शृंगारसप्तशती' के नाम से दोहों का संस्कृत

अनुवाद किया है। यहाँ तक कि उर्दू शेरों में भी एक अनुवाद थोड़े दिन हुए बुंदेलखंड के मुंशी देवीप्रसाद ( प्रीतम ) ने लिखा। इस प्रकार बिहारी-संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है। बिहारी का सबसे उत्तम और प्रामाणिक संस्करण बड़ी मार्मिक टीका के साथ थोड़े दिन हुए प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ और ब्रजभाषा के प्रधान आधुनिक कवि बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने निकाला। जितने श्रम और जितनी सावधानी से यह संपादित हुआ है, आज तक हिंदी का और कोई ग्रंथ नहीं हुआ।

बिहारी ने सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा। यही एक ग्रंथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता मे जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों मे अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छींटे पड़ते है जिनसे हृदय-कालिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा समाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंडदृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मन्त्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारो का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हे अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा मे प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि मे कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना मे सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे

छंद मे इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे-छोटे छींटे हैं। इसी से किसी ने कहा है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर। देखत मे छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर॥

बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभवों के विधान में दिखाई पड़ता है। अधिक स्थलो पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति-कौशल के दर्शन होते हैं, पर इस विधान मे इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावो और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है। नीचे की हावभरी सजीव मूर्तियाँ देखिए—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ। सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह। काँटे सी कसकै हिए, गड़ी कटीली भौंह॥
ललन चलन सुनि पलन में अँसुआ झलकै आइ। भई लखाइ न सखिन्ह हू झूठे ही जमुहाइ॥

भाव व्यजना या रस-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु-व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है—विशेषतः शोभा या कांति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन मे। कहीं कहीं इनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है, जैसे—इन दोहो मे—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास। नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास॥
आले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ। झिझकति हियैं गुलाब कैं झवा झवावति पाइ॥
इत आवति, चलि जात उत चली छ सातक हाथ। चढी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ॥
सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि बिरहिनि तन ताप। बसिबे कौं ग्रीषम दिनन परयो परोसिनि पाप॥
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति। साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥

अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिये बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी में बहुत से हैं। पर यहाँ दो एक उदाहरण ही पर्य्याप्त होंगे—

डीठि परोसिनि ईठ है कहे जु गहे सयान। सबै सँदेसे कहि कह्यो मुसकाहट मैं मान॥
नए बिरह बढ़नी बिथा खरी बिकल जिय बाल। बिलखी देखि परोसिन्यौं हरषि हँसी तिहि काल॥

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बिहारी का 'गागर मे सागर' भरने का जो गुण इतना प्रसिद्ध है वह बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना से ही संभव हुआ है। यदि नायिकाभेद की प्रथा इतने जोर शोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।

अलंकारों की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी किसी दोहे में कई अलंकार उलझे पड़े हैं, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नही आया है। 'असगति' और 'विरोधाभास' की ये मार्मिक और प्रसिद्ध उक्तियाँ कितनी अनूठी हैं !

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत-चतुर-चित प्रीति। परति गाँठि दुरजन-हिए, दई नई यह रीति॥
तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रग। अनबूडे बूडे, तिरे जे बूडे सब अग॥

दो एक जगह व्यंग्य अलंकार भी बड़े अच्छे ढंग से आए हैं। इस दोहे में रूपक व्यंग्य है—

करे चाह सों चुटकि कै खरे उडौहैं मैन। लाज नवाए तरफरत करत खूँद सी नैन।

शृंगार की संचारी भावों की व्यंजना भी ऐसी मर्मस्पर्शिनी है कि कुछ दोहे सहृदयों के मुँह से बार बार सुने जाते हैं। इस स्मरण मे कैसी गभीर तन्मयता है—

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मंद समीर। मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें बहुत सी नीति-संबंधिनी है। सूक्तियों में वर्णन-वैचित्र्य या शब्द-वैचित्र्य ही प्रधान रहता है अतः उनमें से कुछ एक की ही गणना असल काव्य में हो सकती है। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिये बिहारी ने बहुत कम दोहे रचे हैं। कुछ दोहे यहाँ दिए जाते हैं—

यद्यपि सुंदर सुघर पुनि सगुनौ दीपक-देह। तऊ प्रकास करै तितो भरिए जितो सनेह॥
कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय। वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय॥
तोपर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान। तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

बिहारी के बहुत से दोहे "आर्य्यासप्तशती" और "गाथासप्तशती" की छाया

लेकर बने हैं, इस बात को पंडित पद्मसिंह शर्मा ने विस्तार से दिखाया है। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल से किस प्रकार एक स्वतंत्र और कहीं कहीं अधिक सुंदर रूप दे दिया है।

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्यरचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़ मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग भंग किया है और कहीं कहीं गढ़ंत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिये 'समर', 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि क्रांति को 'संक्रमण' (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस पास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाती' से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार्' दोनों शब्द हैं और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ?

बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रंथ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है, पर 'नख-शिख', 'नयिकाभेद', 'षट्ऋतु' के अंतर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। जैसा कि कहा जा चुका है, दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसीलिये हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।

बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर

रचना की बारीकी या काव्यांगो के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखनेवाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घंटो 'वाह वाह' किया करते हैं। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते है, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय मे किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यंतर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक एक दोहे पर ही संतोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का सा गूँजनेवाला प्रभाव बिहारी के दोहो का नहीं पड़ता।

दूसरी बात यह कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी मे नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नही पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।

(५) **मंडन**—ये जैतपुर (बुंदेलखंड) के रहनेवाले थे और संवत् १७१६ में राजा मंगदसिंह के दरबार में वर्त्तमान थे। इनके फुटकल कवित्त सवैए बहुत सुने जाते है, पर कोई ग्रंथ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। पुस्तकों की खोज मे इनके पाँच ग्रंथों का पता लगा है—रस-रत्नावली, रस-विलास, जनक-पचीसी, जानकी जू को ब्याह, नैन-पचासा।

प्रथम दो ग्रंथ रसनिरूपण पर है; यह उनके नामो से ही प्रकट होता है। सग्रह-ग्रंथों मे इनके कवित्त-सवैए बराबर मिलते हैं। "जेइ जेइ सुखद दुखद अब तेइ तेइ कवि मंडन बिछुरत जदुपत्ती" यह पद भी इनका मिलता है। इससे जान पड़ता है कि कुछ पद भी इन्होने रचे थे। जो पद्य इनके मिलते हैं उनसे ये बड़ी सरस कल्पना के भावुक कवि जान पड़ते है। भाषा इनकी बड़ी ही स्वाभाविक, चलती और व्यंजनापूर्ण होती थी। उसमे और कवियो का सा शब्दाडंबर नही दिखाई पड़ता। यह सवैया देखिए—

अलि हौं तौ गई जमुना जल को सो कहा कहौं बीर ! विपत्ति परी ।
घहराय कै कारी घटा उनई, इतनेई में गागरि सीस धरी ॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी ।
चिर जीवहु नंद को बारो, अरी, गहि बाहँ गरीब ने ठाढ़ी करी ॥

( ६ ) मतिराम—ये रीतिकाल के मुख्य कवियों में हैं और चिंतामणि तथा भूषण के भाई परंपरा से प्रसिद्ध हैं । ये तिकवाँपुर ( जिला कानपुर ) में संवत् १६७४ के लगभग उत्पन्न हुए थे और बहुत दिनों तक जीवित रहे । ये बूँदी के महाराव भावसिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे और उन्हीं के आश्रय मे अपना 'ललितललाम' नामक अलंकार का ग्रंथ संवत् १७१६ और १७४५ के बीच किसी समय बनाया । इनका 'छंदसार' नामक पिंगल का ग्रंथ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है । इनका परम मनोहर ग्रंथ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है । इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और है—'साहित्यसार' और 'लक्षण-श्रृंगार' । बिहारी सतसई के ढग पर इन्होने एक 'मतिराम-सतसई' भी बनाई जो हिंदी-पुस्तकों की खोज मे मिली है। इसके दोहे सरसता मे बिहारी के दोहों के समान ही हैं ।

मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की । भाषा शब्दाडंबर से सर्वथा मुक्त है—केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिये अशक्त शब्दो की भरती कहीं नही है । जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना मे ही प्रयुक्त हैं । रीति ग्रंथवाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों मे मिलती है, कहीं कही वह अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी पाई जाती है । साराश यह कि मतिराम की सी रस-स्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करनेवालों में बहुत ही कम मिलती है ।

भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम है और न उनके व्यजक व्यापार और चेष्टाएँ । भावों को आसमान पर चढाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं । नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के

समान मजाक इन्होने नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। वचन-वक्रता भी इन्हे बहुत पसंद न थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् वस्तु मानते थे, उसी प्रकार खयाल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमे कोई संदेह नही। भारतीय-जीवन से छाँटकर लिए हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों मे जो भाव भरे है, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग है।

'रसराज' और 'ललितललाम', मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है, क्योकि रस और अलंकार की शिक्षा मे इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव मे अपने विषय के ये अनुपम ग्रथ है। उदाहरणो की रमणीयता से अनायास रसो और अलंकारो का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही क्या है। 'ललितललाम' मे भी अलकारो के उदाहरण बहुत सरस और स्पष्ट है। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनो ग्रथ इतने सर्वप्रिय रहे हैं। रीति-काल के प्रतिनिधि कवियो मे पद्माकर को छोड़ और किसी कवि मे मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नही मिलती। बिहारी की प्रसिद्धि का कारण बहुत कुछ उनका वाग्वैदग्ध्य है। दूसरी बात यह है कि उन्होंने केवल दोहे कहे हैं, इससे उनमें वह नादसौंदर्य नहीं आ सका है जो कवित्त सवैए की लय के द्वारा संघटित होता है।

मतिराम की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।<br>
आँखिन मे अलसानि, चितौन मे मंजु विलासन की सरसाई॥<br>
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि-मिठाई।<br>
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यौं त्यौं खरी निकरै सी निकाई॥

---

क्यों इन आँखिन सों निहसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै?<br>
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसे कै जीजै?

होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै॥

---

केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
'प्यास लगी, कोउ पानी दै आइयो', भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरैं मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्ही,सुगेह की देहरि पै धरि आई॥

---

दोऊ अनंद सों आँगन माँझ विराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह में हँसी,कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद,सुहास गयो उड़ि हंस की नाई॥

---

सूबन को मेटि दिल्ली देस दलिबे को चमू,
सुभट समूह निसि वाकी उमहति है।
कहै मतिराम ताहि रोकिबे को संगर में,
काहू के न हिम्मत हिए में उलहति है॥
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब,
गरब गनीम-बरगीन को दहति है।
पति पातसाह की, इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है॥

(७) **भूषण**—वीररस के ये प्रसिद्ध कवि चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। इनका जन्मकाल संवत् १६७० है। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें कविभूषण की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण के नाम से ही प्रसिद्ध हो गए। इनका असल नाम क्या था, इसका पता नहीं। ये कई राजाओं के यहाँ रहे। अंत में इनके मन के अनुकूल आश्रयदाता, जो इनके वीर-काव्य के नायक हुए, छत्रपति महाराज शिवाजी मिले। पन्ना के महाराज छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा नाम हुआ। कहते हैं कि महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था जिसपर इन्होंने कहा था—"सिवा को

खानों कि खानों छत्रसाल को।" ऐसा प्रसिद्ध है कि इन्हे एक एक छंद पर शिवाजी से लाखों रुपए मिले। इनका परलोकवास सं० १७७२ मे माना जाता है।

रीति-काल के भीतर शृंगार रस की ही प्रधानता रही। कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति में उनके प्रताप आदि के प्रसंग मे उनकी वीरता का भी थोड़ा बहुत वर्णन अवश्य किया है पर वह शुष्क प्रथा-पालन के रूप में ही होने के कारण ध्यान देने योग्य नहीं है। ऐसे वर्णनों के साथ जनता की हार्दिक सहानुभूति कभी हो नहीं सकती थी। पर भूषण ने जिन दो नायको की कृति को अपने वीरकाव्य का विषय बनाया वे अन्याय दमन में तत्पर, हिंदू-धर्म के संरक्षक, दो इतिहास-प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और संमान की प्रतिष्ठा हिंदू-जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्ति संबंधी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी। क्या संस्कृत साहित्य मे, क्या हिंदी-साहित्य में, सहस्रों कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा मे ग्रंथ रचे जिनका आज पता तक नहीं है। पुराना वस्तु खोजनेवालो को ही कभी कभी किसी राजा के पुस्तकालय में, कहीं किसी घर के कोने मे, उनमे से दो चार इधर-उधर मिल जाते हैं। जिस भोज ने दान दे देकर अपनी इतनी तारीफ कराई उसके चरित-काव्य भी कवियों ने लिखे होंगे। पर उन्हे आज कौन जानता है?

शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनो को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। वे आश्रयदाताओ की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं हैं। इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिंदू-जनता स्मरण करती है उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि है। जैसा कि आरंभ मे कहा गया है, शिवाजी के दरबार में पहुँचने के पहले वे और राजाओं के पास भी रहे। उनके प्रताप आदि की प्रशंसा भी उन्हें

अवश्य ही करनी पड़ी होगी। पर वह झूठी थी, इसी से टिक न सकी। पीछे से भूषण को भी अपनी उन रचनाओं से विरक्ति ही हुई होगी। इनके 'शिवराज-भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दसक' ये ग्रंथ ही मिलते हैं। इनके अतिरिक्त ३ ग्रंथ और कहे जाते हैं—'भूषण उल्लास' 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा'।

जो कविताएँ इतनी प्रसिद्ध है उनके संबंध में यहाँ यह कहना कि वे कितनी ओजस्विनी और वीरदर्पपूर्ण हैं, पिष्टपेषण मात्र होगा। यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि भूषण वीररस के ही कवि थे। इधर इनके दो चार कवित्त शृंगार के भी मिले है, पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। रीति काल के कवि होने के कारण भूषण ने अपना प्रधान ग्रंथ 'शिवराज-भूषण' अलंकार के ग्रथ के रूप में बनाया। पर रीति ग्रंथ की दृष्टि से, अलंकार-निरूपण के विचार से यह उत्तम ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। लक्षणो की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं हैं। भूषण की भाषा मे ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यवस्थित है। व्याकरण का उल्लंघन प्रायः है और वाक्य-रचना भी कहीं कहीं गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त शब्दो के रूप भी बहुत बिगाड़े गए हैं और कही कहीं बिल्कुल गढ़ंत के शब्द रखे गए हैं। पर जो कवित्त इन दोषों से मुक्त है वे बड़े ही सशक्त और प्रभावशाली हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते है।

इंद्र जिमि जृंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं॥

डाढी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाढी मरजाद जस हद्द हिंदुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धक धक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की॥

---

सबन के ऊपर ही ठाढो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे।
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हों ना सलाम, न बचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उडाय गए जियरे।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भयो
स्याह मुख नौरँग, सिपाह-मुख पियरे॥

---

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे को,
बाँधिबो नहीं है कैधों मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को॥
गाढे गढ लीन्हे अरु बैरी कतलाम कीन्हे,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूडति है दिल्ली सो सँभारे क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥

---

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारि फरकति है॥
थर थर काँपत कुतुब साहि गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप-भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती धरकति है।

---

जिहि फन फूतकार उड़त पहार भार,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
बिषजाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो।
कीन्हो जिहि पान पयपान सो जहान कुल,
कोलहू उछलि जलसिंधु खलभलिगो।
खग्ग-खगराज महाराज सिवराजजू को,
अखिल भुजंग मुगलद्दल निगलिगो॥

(८) कुलपति मिश्र—ये आगरे के रहनेवाले माथुर चौबे थे और महाकवि बिहारी के भानजे प्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। कुलपतिजी जयपुर के महाराज जयसिंह (बिहारी के आश्रयदाता) के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके 'रसरहस्य' का रचनाकाल कार्तिक कृष्ण ११ संवत् १७२७ है। अब तक इनका यही ग्रंथ प्रसिद्ध और प्रकाशित है। पर खोज में इनके निम्नलिखित ग्रंथ और मिले हैं—

द्रोणपर्व (सं० १७३७), युक्ति-तरंगिणी (१७४३) नखशिख, संग्रामसार, रस रहस्य (१७२४)।

अतः इनका कविता-काल सं० १७२४ और सं० १७४३ के बीच ठहरता है। रीति-काल के कवियों में ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका 'रसरहस्य'

मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है। साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखने के कारण इनके लिये यह स्वाभाविक था कि ये प्रचलित लक्षण-ग्रंथो की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ निरूपण का प्रयत्न करें। इसी उद्देश्य से इन्होंने अपना 'रस-रहस्य' लिखा। शास्त्रीय निरूपण के लिये पद्य उपयुक्त नहीं होता, इसका अनुभव इन्होंने किया, इससे कहीं कहीं कुछ गद्य वार्त्तिक भी रखा। पर गद्य परिमार्जित न होने के कारण जिस उद्देश्य से इन्होंने अपना यह ग्रंथ लिखा वह पूरा न हुआ। इस ग्रंथ का जैसा प्रचार चाहिए था, न हो सका। जिस स्पष्टता से 'काव्यप्रकाश' मे विषय प्रतिपादित हुए है वह स्पष्टता इनके भाषा-गद्यपद्य मे न आ सकी। कहीं कहीं तो भाषा और वाक्य-रचना दुरूह हो गई है।

यद्यपि इन्होंने शब्दशक्ति और भावादि-निरूपण में लक्षण उदाहरण दोनों बहुत कुछ काव्यप्रकाश के ही दिए हैं पर अलंकार प्रकरण में इन्होंने प्रायः अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशंसा के स्वरचित उदाहरण दिए हैं। ये ब्रजमंडल के निवासी थे अतः इनको ब्रज की चलती भाषा पर अच्छा अधिकार होना ही चाहिए। हमारा अनुमान है, जहाँ इनको अधिक स्वच्छंदता रही होगी वहाँ इनकी रचना और सरस होगी। इनकी रचना का एक नमूना दिया जाता है।

ऐसिय कुंज बनी छबिपुंज रहै अलिगुंजत यों सुख लीजै।
नैन बिसाल हिए बनमाल बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै॥
जामिनि-जाम की कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै।
आनँद यों उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै॥

(९) **सुखदेव मिश्र**—दौलतपुर (जि० रायबरेली) मे इनके वंशज अब तक हैं। कुछ दिन हुए उसी ग्राम के निवासी सुप्रसिद्ध पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने इनका एक अच्छा जीवनवृत्त 'सरस्वती' पत्रिका मे लिखा था। सुखदेव मिश्र का जन्मस्थान 'कपिला' था जिसका वर्णन इन्होंने अपने "वृत्त-विचार" में किया। इनका कविता-काल संवत् १७२० से १७६० तक माना जा सकता है। इनके सात ग्रंथों का पता अब तक है—

वृत्तविचार ( संवत् १७२८ ), छंदविचार, फाजिलअली-प्रकाश, रसार्णव, श्रृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश ( १७५५ ), दशरथ राय।

अध्यात्म-प्रकाश में कवि ने ब्रह्मज्ञान-संबंधी बातें कहीं हैं जिससे यह जन-श्रुति पुष्ट होती है कि वे एक निःस्पृह विरक्त साधु के रूप में रहते थे।

काशी से विद्याध्ययन करके लौटने पर ये असोथर ( जि॰फतेहपुर ) के राजा भगवंतराय खीची तथा डौंड़िया-खेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहे। कुछ दिनों तक ये औरंगजेब के मंत्री फाजिलअलीशाह के यहाँ भी रहे। अंत में मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ गए जिनके बहुत आग्रह पर ये सकुटुंब दौलतपुर में जा बसे। राजा राजसिंह गौड़ ने इन्हें 'कविराज' की उपाधि दी थी। वास्तव में ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छंदःशास्त्र पर इनका सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है। ये जैसे पंडित थे वैसे ही काव्यकला में भी निपुण थे। "फाजिलअली-प्रकाश" और "रसार्णव" दोनों में श्रृंगाररस के उदाहरण बहुत ही सुंदर हैं। दो नमूने लीजिए—

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
संग ना सहेली, बैस नवल अकेली,
तन परी तलवेली-महा, लाग्यो मैन-सरु है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है॥

---

सोहै जहाँ मधु नंदकुमार तहाँ चलि चंदमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुंद की डारहै॥
भीतर ही जो लखी सो लखी, अब बाहिर बाहिर होति न दार है।
जोन्ह सी जोन्हैं गई मिलि यों मिलि जाति ज्यौं दूध में दूध की धार है॥

**(१०) कालिदास त्रिवेदी**—ये अंतर्वेद के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। जान पडता है कि संवत् १७४५ वाली गोलकुंडे की चढ़ाई मे ये औरंगजेब की सेना मे किसी राजा के साथ गए थे। इस लड़ाई का औरंगजेब की प्रशसा से युक्त वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया है—

गढ़न गढ़ी से गढ़ि, महल मढ़ी से मढ़ि,
बीजापुर ओप्यो दलमलि सुघराई में।
कालिदास कोप्यो बीर औलिया अलमगीर,
तीर तरवारि गहि पुहमी पराई में॥
बूँद तें निकसि महिमंडल घमंड मची,
लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई में।
गाडि के सुझंडा आड कीनी बादसाही तातें,
डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लराई मे॥

कालिदास का जंबू-नरेश जोगजीतसिंह के यहाँ भी रहना पाया जाता है जिनके लिये संवत् १७४६ मे इन्होंने 'वारवधू-विनोद' बनाया। यह नायिका-भेद और नखशिख की पुस्तक है। बत्तीस कवित्तो की इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'जँजीराबंद' भी है। 'राधा-माधव-बुधमिलन-विनोद' नाम का एक कोई और ग्रंथ इनका खोज मे मिला है। इन रचनाओं के अतिरिक्त इनका बड़ा संग्रहग्रथ 'कालिदास हजारा' बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। इस सग्रह के संबध मे शिवसिंहसरोज मे लिखा है कि इसमें संवत् १४८१ से लेकर संवत् १७७६ तक के २१२ कवियों के १००० पद्य संगृहीत हैं। कवियों के काल आदि के निर्णय में यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है। इनके पुत्र कवींद्र और पौत्र दूलह भी बड़े अच्छे कवि हुए।

ये एक अभ्यस्त और निपुण कवि थे। इनके फुटकल कवित्त इधर उधर बहुत सुने जाते है जिनसे इनकी सरस हृदयता का अच्छा परिचय मिलता है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

चूमौं करकज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह! मो तन निहारि दै।

कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै ॥
कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु,
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेहँदी लगी है नंदलाल प्यारे!
लट उरझी है नकबेसर सँभारि दै ॥

---

हाथ हँसि दीन्हों भीति अंतर बरसि प्यारी
देखत ही छकी मति कान्हर प्रवीन की।
निकस्यो झरोखे माँझ बिगस्यौ कमल सम,
ललित अँगूठी तामे चमक चुनीन की ॥
कालिदास तैसी लाल मेहँदी के बुंदन की,
चारु नख-चंदन की लाल अँगुरीन की।
कैसी छबि छाजति है छाप औ छलान की सु-
कंकन चुरीन की, जडाऊ पहुँचीन की ॥

( ११ ) राम—शिवसिंहसरोज में इनका जन्म-संवत् १७०३ लिखा है और कहा गया है कि इनके कवित्त कालिदास के हजारा में हैं। इनका नायिकाभेद का एक ग्रंथ शृंगारसौरभ है जिसकी कविता बहुत ही मनोरम है। खोज में एक "हनुमान नाटक" भी इनका पाया गया है। शिवसिंह के अनुसार इनका कविता-काल संवत् १७३० के लगभग माना जा सकता है। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

उमडि घुमडि घन छोडत अखंड-धार,
चचला उठति तामे तरजि तरजि कै।
बरही पपीहा भेक पिक खग टेरत हैं,
धुनि सुनि प्रान उठे लरजि लरजि कै ॥
कहै कवि राम लखि चमक खदोतन की,
पीतम को रही मैं तो बरजि बरजि कै।

लागे तन तावन बिना री मनभावन के,
सावन दुवन आयो गरजि गरजि कै ॥

( १२ ) **नेवाज**—ये अंतर्वेद के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग वर्त्तमान थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल के यहाँ ये किसी भगवत् कवि के स्थान पर नियुक्त हुए थे जिसपर भगवत् कवि ने यह फबती छोड़ी थी—

भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महराज।
जहँ भगवत गीता पढ़ी तहँ कवि पढ़त नेवाज॥

शिवसिंह ने नेवाज का जन्म संवत् १७३९ लिखा है जो ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि इनके 'शकुंतला नाटक' का निर्माण-काल संवत् १७३७ है। दो और नेवाज हुए हैं जिनमें एक भगवंतराय खीची के यहाँ थे। प्रस्तुत नेवाज का औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के यहाँ रहना भी पाया जाता है। इन्होंने 'शकुंतला नाटक' का आख्यान दोहा, चौपाई, सवैया आदि छंदो में लिखा। इनके फुटकल कवित्त बहुत स्थानों पर संगृहीत मिलते हैं जिनसे इनकी काव्य-कुशलता और सहृदयता टपकती है। भाषा इनकी बहुत परिमार्जित, व्यवस्थित और भावोपयुक्त है। उसमें भरती के शब्द और वाक्य बहुत ही कम मिलते हैं। इनके अच्छे शृंगारी कवि होने में संदेह नहीं। संयोग-शृंगार के वर्णन की प्रवृत्ति इनकी विशेष जान पड़ती है जिसमें कहीं कहीं ये अश्लीलता की सीमा के भीतर जा पड़ते हैं। दो सवैए इनके उद्धृत किए जाते हैं—

देखि हमैं सब आपुस मे जो कछु मन भावै सोई कहती हैं।
ये घरहाई लुगाई सबै निसि द्यौस नेवाज हमैं दहती हैं॥
बातैं चबाव भरी सुनि कै रिस आवति, पै चुप ह्वै रहती हैं।
कान्ह पियारे तिहारे लिये सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती हैं॥

---

आगे तौ कीन्ही लगालगी लोयन, कैसे छिपै अजहूँ जौ छिपावति।
तू अनुराग कौ सोध कियो, ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति॥
कौन सँकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहू तरसावति।
बावरी! जो पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥

( १३ ) देव—ये इटावा के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। 'भावविलास' का रचनाकाल इन्होंने १७४६ दिया है और उस ग्रंथ-निर्माण के समय अपनी अवस्था सोलह ही वर्ष की कही है। इस हिसाब से इनका जन्म-संवत् १७३० निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त इनका और कुछ वृत्तात नहीं मिलता। इतना अवश्य अनुमित होता है कि इन्हें कोई अच्छा उदार आश्रयदाता नहीं मिला जिसके यहाँ रहकर इन्होंने सुख से कालयापन किया हो। ये बराबर अनेक रईसों के यहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे, पर कहीं जमे नहीं। इसका कारण या तो इनकी प्रकृति की विचित्रता मानें या इनकी कविता के साथ उस काल की रुचि का असामंजस्य। इन्होंने अपने 'अष्टयाम' और 'भावविलास' को औरंगजेब के बड़े पुत्र आजमशाह को सुनाया था जो हिंदी-कविता के प्रेमी थे। इसके पीछे इन्होंने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर "भवानीविलास" और कुशलसिंह के नाम पर 'कुशलविलास' की रचना की। फिर मर्दनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह बैस के लिये 'प्रेमचंद्रिका' बनाई। इसके उपरात ये बराबर अनेक प्रदेशों में भ्रमण करते रहे। इस यात्रा के अनुभव का इन्होंने अपने 'जाति-विलास' नामक ग्रंथ में कुछ उपयोग किया। इस ग्रंथ मे भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। पर वर्णन मे उनकी विशेषताएँ अच्छी तरह व्यक्त हुई हों, यह बात नहीं है। इतने पर्यटन के उपरात जान पड़ता है कि इन्हे एक अच्छे आश्रयदाता राजा भोगीलाल मिले जिनके नाम पर संवत् १७८३ मे इन्होने 'रसविलास' नामक ग्रंथ बनाया। इन राजा भोगीलाल की इन्होंने अच्छी तारीफ की है, जैसे, "भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन्ह लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।"

रीति काल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सबसे अधिक ग्रंथ-रचना देव ने की है। कोई इनकी रची पुस्तकों की संख्या ५२ और कोई ७२ तक बतलाते हैं। जो हो, इनके निम्नलिखित ग्रंथो का तो पता है—

( १ ) भाव-विलास, ( २ ) अष्टयाम, ( ३ ) भवानी-विलास, (४) सुजान-

विनोद, ( ५ ) प्रेम-तरंग, ( ६ ) राग-रत्नाकर, ( ७ ) कुशल-विलास, ( ८ ) देव-चरित्र, ( ९ ) प्रेम-चंद्रिका, ( १० ) जाति-विलास, ( ११ ) रस-विलास, ( १२ ) काव्य-रसायन या शब्द-रसायन, ( १३ ) सुख-सागर-तरंग, ( १४ ) वृक्ष-विलास, ( १५ ) पावस-विलास, ( १६ ) ब्रह्म-दर्शन पचीसी, ( १७ ) तत्त्व-दर्शन पचीसी, ( १८ ) आत्म-दर्शन पचीसी, ( १९ ) जगद्दर्शन पचीसी, ( २० ) रसानंद लहरी, ( २१ ) प्रेमदीपिका, ( २२ ) सुमिल-विनोद, ( २३ ) राधिका-विलास, ( २४ ) नीति शतक और ( २५ ) नख-शिख-प्रेमदर्शन।

ग्रंथों की अधिक संख्या के संबंध मे यह जान रखना भी आवश्यक है कि देवजी अपने पुराने ग्रथो के कवित्तों को इधर उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रंथ प्रायः तैयार कर दिया करते थे। इससे वे ही कवित्त बार बार इनके अनेक ग्रंथों मे मिलेंगे। 'सुखसागर तरंग' तो प्रायः अनेक ग्रथो से लिए हुए कवित्तों का संग्रह है। 'राग-रत्नाकर' मे राग-रागिनियो के स्वरूप का वर्णन है। 'अष्टयाम' तो रात-दिन के भोग-विलास की दिनचर्य्या है जो मानो उस काल के अकर्मण्य और विलासी राजाओं के सामने कालयापन-विधि का ब्योरा पेश करने के लिये बनी थी। ब्रह्मदर्शन-पचीसी' और 'तत्त्व-दर्शन-पचीसी' मे जो विरक्ति का भाव है वह बहुत संभव है कि अपनी कविता के प्रति लोक की उदासीनता देखते देखते उत्पन्न हुई हो।

ये आचार्य और कवि दोनों रूपों मे हमारे सामने आते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य्यत्व के पद के अनुरूप कार्य्य करने मे रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से कोई समर्थ नही हुआ। कुलपति और सुखदेव ऐसे साहित्य-शास्त्र के अभ्यासी पंडित भी विशद रूप में सिद्धांत-निरूपण का मार्ग नहीं पा सके। बात यह थी कि एक तो ब्रजभाषा का विकास काव्योपयोगी रूप मे ही हुआ; विचार-पद्धति के उत्कर्ष-साधन के योग्य वह न हो पाई। दूसरे उस समय पद्य में ही लिखने की परिपाटी थी। अतः आचार्य्य के रूप मे देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। कुछ लोगो ने भक्ति-वश अवश्य और बहुत सी बातों के साथ इन्हे कुछ शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय भी देना चाहा है। वे ऐसे ही लोग है जिन्हें "तात्पर्य्य वृत्ति" एक नया

नाम मालूम होता है और जो संचारियों मे एक 'छल' और बढा हुआ देखकर चौंकते हैं। नैयायिकों की तात्पर्य-वृत्ति बहुत काल से प्रसिद्ध चली आ रही है और वह संस्कृत के सब साहित्य-मीमांसकों के सामने थी। तात्पर्य्य-वृत्ति वास्तव मे वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों ( शब्दों ) के वाच्यार्थ को एक में समन्वित करनेवाली वृत्ति मानी गई है अतः वह अभिधा से भिन्न नहीं, वाक्यगत अभिधा ही है। रहा 'छलसंचारी'; वह संस्कृत की 'रसतरंगिणी' से, जहाँ से और बातें ली गई हैं, लिया गया है। दूसरी बात यह कि साहित्य के सिद्धांत-ग्रंथो से परिचित मात्र जानते हैं कि गिनाए हुए ३३ संचारी उपलक्षण मात्र है, संचारी और भी कितने हो सकते है।

अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों का निरूपण हिंदी के रीति-ग्रंथो में प्रायः कुछ भी नहीं हुआ है। इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक जरा है भी कठिन। इस दृष्टि से देवजी के इस कथन पर कि—

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
> अधम व्यंजना रस-विरस, उलटी कहत नवीन॥

यहाँ अधिक कुछ कहने का अवकाश नहीं। व्यंजना की व्याप्ति कहाँ तक है, उसकी किस-किस प्रकार क्रिया होती है, इत्यादि बातों का पूरा विचार किए बिना कुछ कहना कठिन है। देवजी का यहाँ 'व्यंजना' से तात्पर्य पहेली बुझौवलवाली "वस्तुव्यंजना" का ही जान पड़ता है। यह दोहा लिखते समय उसी का विकृत रूप उनके ध्यान मे था।

कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव मे खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण मे उनकी रुचि विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडंबर की रुचि बीच ही मे उसका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था। अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्दव्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्प।

अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकांत और अनुप्रास के लिये ये कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते मरोड़ते न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह हो पाया है, या जहाँ उसमे कम बाधा पड़ी है, वहाँ की रचना बहुत ही सरस हुई है। इनका सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों मे मिलता है। रीतिकाल के कवियो मे ये बडे ही प्रगल्भ और प्रतिभा-संपन्न कवि थे, इसमें संदेह नहीं। इस काल के बडे कवियो में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और दूरारूढ है। इनकी कविता के कुछ उत्तम उदाहरण नीचे दिए जाते है।

सूनो कै परम पद, ऊनो कै अनंत मद,
नूनो कै नदीस नद, इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रजवीथी बिथुरै परी।
भादों की अँधेरी अधिराति मथुरा के पथ,
पाय के सँयोग 'देव' देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म-रासि,
जसुदा के कोरै एक बारही कुरै परी॥

---

डार द्रुम पलना, बिछौना नवपल्लव के,
सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावैं, केकी कीर बहरावैं 'देव',
कोकिल हलावैं हुलसावैं कर तारी दै॥
पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

---

सखी के सकोच, गुरु-सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
को जानै, री बीर! बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात।
बड़े बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि
गोरो-गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात॥

---

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे को आज'
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोडी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनस्याम,
वेई छाई बूँदें मेरे आँसु ह्वै दृगन मे॥

---

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

---

जब तें कुँवर कान्ह रावरी, कलानिधान!
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।
तब ही तें देव देखी देवता सी हँसति सी,
रीझति सी, खीझति सी, रूठति रिसानी सी॥

ओही सी, छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी, छिन
जकी सी, टकी सी, लगी थकी थहरानी सी।
बींधी सी, बँधी सी, विष बूडति बिमोहित सी,
बैठी बाल बकती, बिलोकति बिकानी सी॥

---

'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद-बिंदु कै भाख्यो।
कंचुकि मे चुपर्‍यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवत सिंगार कै चाख्यो।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो॥

---

धार में धाय धँसीं निरधार ह्वै, जाय फँसीं, उकसीं न उधेरी।
री! अगराय गिरी गहिरी, गहि फेरे फिरी न, घिरीं नहिं घेरी॥
'देव', कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूडि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

( १४ ) **श्रीधर या मुरलीधर**—ये प्रयाग के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग उत्पन्न हुए थे। यद्यपि अभी तक इनका "जंगनामा" ही प्रकाशित हुआ है जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदार के युद्ध का वर्णन है, पर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने इनके बनाए कई रीति-ग्रंथों का उल्लेख किया है; जैसे, नायिकाभेद, चित्रकाव्य आदि। इनका कविताकाल संवत् १७६० के आगे माना जा सकता है।

( १५ ) **सूरति मिश्र**—ये आगरे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, जैसा कि इन्होंने स्वयं लिखा है—"सूरति मिश्र कनौजिया, नगर आगरे बास"। इन्होंने 'अलंकारमाला' संवत् १७६६ मे और बिहारी सतसई की 'अमरचंद्रिका' टीका संवत् १७९४ में लिखी। अतः इनका कविता काल विक्रम की अठारहवी शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है।

ये नसरुल्लाखाँ नामक सरदार के यहाँ तथा दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में आया जाया करते थे। इन्होंने 'बिहारी-सतसई', 'कविप्रिया'

और 'रसिकप्रिया' पर विस्तृत टीकाएँ रची हैं जिनसे इनके साहित्य-ज्ञान और मार्मिकता का अच्छा परिचय मिलता है। टीकाएँ ब्रजभाषा गद्य में हैं। इन टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने 'वैताल-पंचविंशति का ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया है और निम्नलिखित रीति-ग्रंथ रचे हैं—

१—अलंकार माला, २—रसरत्न-माला ३—सरस रस, ४—रस-ग्राहक चद्रिका ५—नख शिख, ६—काव्य सिद्धांत, ७—रस-रत्नाकर।

अलंकार-माला की रचना इन्होंने 'भाषाभूषण' के ढंग पर की है। इसमें भी लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही दोहे मे मिलते हैं। जैसे—

(क) हिम सो, हर के हास सो जस **मालोपम** ठानि॥
(ख) सो **असंगति**, कारन अवर, कारज औरै थान॥
चलि अहि श्रुति आनहि डसत, नसत और के प्रान॥

इनके ग्रंथ सब मिले नहीं हैं। जितने मिले हैं उनसे ये अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कवि जान पड़ते हैं। इनकी कविता मे तो कोई विशेषता नही जान पड़ती पर साहित्य का उपकार इन्होंने बहुत कुछ किया है। 'नख-शिख' से इनका एक कवित्त दिया जाता है—

तेरे ये कपोल बाल अतिही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है॥
नेकु दरपन समता की चाह करी कहूँ,
भए अपराधी ऐसो चित्त धारियत है।
'सूरति' सो याही तें जगत बीच आजहूँ लौं
उनके बदन पर छार डारियत है॥

(१६) **कवींद्र (उदयनाथ)**—ये कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे और संवत् १७३६ के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनका "रसचंद्रोदय" नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'विनोदचंद्रिका' और 'जोगलीला' नामक इनकी दो और पुस्तकों का पता खोज मे लगा है। 'विनोदचंद्रिका' संवत्

१७७७ और 'रसचंद्रोदय' संवत् १८०४ मे बना। अतः इनका कविता-काल संवत् १८०४ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्तसिंह (भूपति) के यहाँ बहुत दिन रहे।

इनका 'रसचंद्रोदय' शृंगार का एक अच्छा ग्रंथ है। इनकी भाषा मधुर और प्रसादपूर्ण है। वर्ण्य विषय के अनुकूल कल्पना भी ये अच्छी करते थे। इनके दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

शहर मँझार ही पहर एक लागि जैहै,
छोरे पै नगर के सराय है उतारे की।
कहत कविंद मग माँझ ही परैगी साँझ,
खबर उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की॥
घर के हमारे परदेस को सिधारे,
यातें दया कै बिचारी हम रीति राहबारे की।
उतरो नदी के तीर, बर के तरे ही तुम,
चौंकौ जनि चौंकी तहीं पाहरू हमारे की॥

---

राजै रसमै री तैसी बरषा समै री चढी,
चंचला नचै री चकचौंधा कौंधा बारैं री।
व्रती व्रत हारैं हिए परत फुहारैं,
कछू छोरैं कछू धारैं जलधर जल-धारैं री॥
भनत कविंद कुंजभौन पौन सौरभ सों
काके न कँपाय प्रान परहथ पारैं री?
काम-कंदुका से फूल डोलि डोलि डारैं, मन,
औरै किए डारैं ये कदंबन की डारैं री॥

(१७) श्रीपति—ये कालपी के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १७७७ मे 'काव्य-सरोज' नामक रीतिग्रंथ बनाया। इसके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ और है—

१—कविकल्पद्रुम, २—रस-सागर, ३—अनुप्रास-विनोद, ४—विक्रम-विलास, ५—सरोज-कलिका, ६—अलंकार-गंगा।

श्रीपति ने काव्य के सब अंगों का निरूपण विशद रीति से किया है। दोषों का विचार पिछले ग्रंथों से अधिक विस्तार के साथ किया है और दोषो के उदाहरणों में केशवदास के बहुत से पद्य रखे हैं। इससे इनका साहित्यिक विषयों का सम्यक् और स्पष्ट बोध तथा विचार-स्वातंत्र्य प्रगट होता है। 'काव्य-सरोज' बहुत ही प्रौढ़ ग्रंथ है। काव्यांगों का निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होंने किया है उससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है। यदि गद्य में व्याख्या की परिपाटी चल गई होती तो आचार्य्यत्व ये और भी अधिक पूर्णता के साथ प्रदर्शित कर सकते। दासजी तो इनके बहुत अधिक ऋणी हैं। उन्होंने इनकी बहुत सी बातें ज्यों की त्यों अपने "काव्य निर्णय" में चुपचाप रख ली हैं। आचार्य्यत्व के अतिरिक्त कवित्व भी इनमें ऊँची कोटि का था। रचना-विवेक इनमें बहुत ही जाग्रत और रुचि अत्यंत परिमार्जित थी। झूठे शब्दाडंबर के फेर में ये बहुत कम पडे हैं। अनुप्रास इनकी रचनाओं में बराबर आए हैं पर उन्होंने अर्थ या भाव-व्यंजना में बाधा नहीं डाली है। अधिकतर अनुप्रास रसानुकूल वर्णविन्यास के रूप में आकर भाषा में कहीं ओज, कहीं माधुर्य्य घटित करते पाए जाते हैं। पावस ऋतु का तो इन्होंने बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जलभरे झूमैं मानौ भूमै परसत आय,
दसहू दिसान घूमैं दामिनि लए लए।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुँधारे कारे,
धुरवान धारे धावैं छवि सों छए छए॥
श्रीपति सुकवि कहै घेरि घेरि घहराहिं,
तकत अतन तन ताव तें तए तए।
लाल बिनु कैसे लाज-चादर रहैगी आज,
कादर करत मोहि बादर नए नए॥

---

सारस के नादन को वाद ना सुनात कहूँ,
नाहक ही बकवाद दादुर महा करै।
श्रीपति सुकवि जहाँ ओज ना सरोजन की,
फूल ना फुलत जाहि चित दै चहा करै॥
बकन की बानी की विराजति है राजधानी,
काई सों कलित पानी फेरत हहा करै।
घोंघन के जाल, जामे नरई सेवाल व्याल,
ऐसे पापी ताल को मराल लै कहा करै?

---

घूँघट-उदयगिरिवर तें निकसि रूप,
सुधा सों कलित छवि-कीरति बगारो है।
हरिन डिठौना स्याम सुख सील बरषत,
करषत सोक, अति तिमिर विदारो है॥
श्रीपति विलोकि सौति-वारिज मलिन होत,
हरषि कुमुद फूलै नंद को दुलारो है।
रंजन मदन, तन गंजन विरह, विवि
खंजन सहित चंदवदन तिहारो है॥

(१८) वीर—ये दिल्ली के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने "कृष्णाचंद्रिका" नामक रस और नायिकाभेद का एक ग्रंथ संवत् १७७६ में लिखा। कविता साधारण है। वीररस का एक कवित्त देखिए—

अरुन बदन और फरकैं बिसाल बाहु,
कौन को हियो है करै सामने जो रुख को।
प्रबल प्रचंड निसिचर फिरैं धाए,
धूरि चाहत मिलाए दसकंध-अंध मुख को॥
चमकै समरभूमि बरछी, सहस फन,
कहत पुकारे लंक-अंक दीह दुख को।
बलकि बलकि बोलैं वीर रघुवर धीर,
महि पर मीडि मारौं आज दसमुख को॥

(१९) कृष्ण कवि—ये माथुर चौबे थे और बिहारी के पुत्र प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के मंत्री, राजा आयामल्ल की आज्ञा से बिहारी-सतसई की जो टीका की उसमें महाराज जयसिंह के लिये वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है और उनकी प्रशंसा भी की है। अतः यह निश्चित है कि यह टीका जयसिंह के जीवनकाल में ही बनी। महाराज जयसिंह संवत् १७९९ तक वर्तमान थे। अतः यह टीका संवत् १७८५ और १७९० के बीच बनी होगी। इस टीका में कृष्ण ने दोहों के भाव पल्लवित करने के लिये सवैए लगाए हैं और वार्तिक में काव्यांग स्फुट किए हैं। काव्यांग इन्होंने अच्छी तरह दिखाए हैं और वे इस टीका के एक प्रधान अंग हैं, इसी से ये रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों के बीच ही रखे गए हैं।

इनकी भाषा सरल और चलती है तथा अनुप्रास आदि की ओर बहुत कम झुकी है। दोहों पर जो सवैए इन्होंने लगाए हैं उनसे इनकी सहृदयता, रचनाकौशल और भाषा पर अधिकार अच्छी तरह प्रमाणित होता है। इनके दो सवैए देखिए—

"सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल॥"

छबि सों फबि सीस किरीट बन्यो, रुचिसाल हिए बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चारु प्रभा बरसै॥
कवि कृष्ण कहैं लखि सुंदर मूरति यों अभिलाष हिए सरसै।
वह नंदकिसोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय माँझ बसै॥

---

"थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भए आजुकालि के दानि॥"

ह्वै अति आरत मैं बिनती बहु बार करी करुना रस-भीनी।
कृष्ण कृपानिधि दीन के बंधु सुनी अपनी तुम काहे को कीनी॥
रीझते रंचक ही गुन सों वह बानि बिसारि मनो अब दीनी।
जानि परी तुमहू हरि जू! कलिकाल के दानिन की गति लीनी॥

(२०) रसिक सुमति—ये ईश्वरदास के पुत्र थे और सन् १७८५ में वर्त्तमान थे। इन्होंने "अलंकार-चंद्रोदय" नामक एक अलंकार-ग्रंथ कुवलयानंद के आधार पर दोहों में बनाया। पद्यरचना साधारणतः अच्छी है। 'प्रत्यनीक' का लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे मे देखिए—

> प्रत्यनीक अरि सों न बस, अरि-हितूहि दुख देय।
> रवि सों चलै न, कंज की दीपति ससि हरि लेय॥

(२१) गंजन—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १७८६ मे "कमरुद्दीनखाँ हुलास" नामक शृंगाररस का एक ग्रंथ बनाया जिसमे भावभेद, रसभेद के साथ षट्ऋतु का विस्तृत वर्णन किया है। इस ग्रंथ मे इन्होंने अपना पूरा वंश-परिचय दिया है और अपने प्रपितामह मुकुटराय के कवित्व की प्रशंसा की है। कमरुद्दीनखाँ दिल्ली के बादशाह के वजीर थे और भाषाकाव्य के अच्छे प्रेमी थे। इनकी प्रशंसा गंजन ने खूब जी खोलकर की है जिससे जान पडता है इनके द्वारा कवि का बडा अच्छा संमान हुआ था। उपर्युक्त ग्रंथ एक अमीर को खुश करने के लिये लिखा गया है इससे ऋतु-वर्णन के अंतर्गत उसमें अमीरी शौक और आराम के बहुत से सामान गिनाए गए हैं। इस बात मे ये ग्वाल कवि से मिलते जुलते है। इस पुस्तक मे सच्ची भावुकता और प्रकृतिरंजन की शक्ति बहुत अल्प है। भाषा भी शिष्ट और प्रांजल नहीं। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

> मीना के महल जरबाफ दर परदा हैं,
> हलबी फनूसन मे रोशनी चिराग की।
> गुलगुली गिलम गरकआब पग होत,
> जहाँ बिछी मसनद लालन के दाम की॥
> केती महताबमुखी खचित जवाहिरन,
> गंजन सुकवि कहैं बौरी अनुराग की।
> एतमादुद्दौला कमरुद्दीखाँ की मजलिस,
> सिसिर में ग्रीषम बनाई बड़ भाग की॥

(२२) अलीमुहिबखाँ (प्रीतम)—ये आगरे के रहनेवाले थे। इन्होंने

संवत् १७८७ मे "खटमल-बाईसी" नाम की हास्यरस की एक पुस्तक लिखी। इस प्रकरण के आरंभ में कहा गया है कि रीतिकाल में प्रधानता शृंगाररस की रही। यद्यपि वीररस लेकर भी रीति-ग्रंथ रचे गए, पर किसी और रस को अकेला लेकर मैदान में कोई नहीं उतरा था। यह हौसले का काम हजरत अलीमुहिबखाँ साहिब ने कर दिखाया। इस ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व कई पक्षों में दिखाई पड़ता है। हास्य आलंबन-प्रधान रस है। आलंबन मात्र का वर्णन ही इस रस मे पर्य्याप्त होता है। इस बात का स्मरण रखते हुए जब हम अपने साहित्यक्षेत्र मे हास के आलंबनों की परंपरा की जाँच करते हैं तब एक प्रकार की बँधी रूढ़ि सी पाते हैं। संस्कृत के नाटकों में खाऊपन और पेट की दिल्लगी बहुत कुछ बँधी सी चली आई। भाषा-साहित्य में कंजूसों की बारी आई। अधिकतर ये ही हास्यरस के आलंबन रहे। खाँ साहब ने शिष्ट हास का एक बहुत अच्छा मैदान दिखाया। इन्होंने हास्यरस के लिये खटमल को पकड़ा जिसपर यह संस्कृत उक्ति प्रसिद्ध है—

कमला कमले शेते, हरश्शेते हिमालये।
क्षीराब्धौ च हरिश्शेते मन्ये मत्कुण-शंकया॥

क्षुद्र और महान् के अभेद की भावना उसके भीतर कहीं छिपी हुई है। इन सब बातों के विचार से हम खाँ साहब या प्रीतमजी को एक उत्तम श्रेणी का पथप्रदर्शक कवि मानते हैं। इनका और कोई ग्रंथ नहीं मिलता, न सही; इनकी "खटमल-बाईसी" ही बहुत काल तक इनका स्मरण बनाए रखने के लिये काफी है।

"खटमलबाईसी" के दो कवित्त देखिए—

जगत के कारन करन चारौ वेदन के,
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरिकै।
पोषन अवनि, दुख-सोषन तिलोकन के,
सागर में जाय सोए सेस सेज करिकै॥
मदन जरायो जो, सँहारै दृष्टि ही मे सृष्टि,
बसे है पहार वेऊ भाजि हरबरि कै।

बिधि हरि हर, और इनतें न कोऊ, तेऊ,
खाट पै न सोवै खटमलन कों डरिकै ॥

---

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो काहू दारू ना बताई है ॥
जब हहराय हम हरि के निकट गए,
हरि मोसों कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है ॥

---

( २३ ) दास ( भिखारीदास )—ये प्रतापगढ़ ( अवध ) के पास ट्योंगा गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अपना वंश-परिचय पूरा दिया है। इनके पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु, प्रपितामह राय रामदास और वृद्धप्रपितामह राय नरोत्तमदास थे। दासजी के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे जिनके अपुत्र मर जाने से वंशपरंपरा खंडित हो गई। दासजी के इतने ग्रंथो का पता लग चुका है—

रससाराश ( संवत् १७९९ ), छंदोर्णव पिंगल (संवत् १७९९), काव्यनिर्णय ( सवत् १८०३ ), शृंगारनिर्णय ( संवत् १८०७ ), नामप्रकाश ( कोश, संवत् १७९५ ), विष्णुपुराण भाषा ( दोहे चौपाई मे ), छंदप्रकाश, शतरंज-शतिका अमरप्रकाश ( संस्कृत अमरकोष भाषा-पद्य मे )।

'काव्यनिर्णय' में दासजी ने प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपतिसिंह के भाई बाबू हिंदूपतिसिंह को अपना आश्रयदाता लिखा है। राजा पृथ्वीपति संवत् १७९१ में गद्दी पर बैठे थे और १८०७ में दिल्ली के वजीर सफदरजंग द्वारा छल से मारे गए थे। ऐसा जान पड़ता है कि संवत् १८०७ के बाद इन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा अतः इनका कविता-काल संवत् १७८५ से लेकर संवत् १८०७ तक माना जा सकता है।

काव्यांगों के निरूपण में दासजी को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है क्योंकि इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, श्रीपति से इन्होंने बहुत कुछ लिया है[1]। इनकी विषय-प्रतिपादन-शैली उत्तम है और आलोचन शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है। जैसे, हिंदी काव्यक्षेत्र में इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अंतर्गत आता है। बहुत से स्थलों पर तो राधा-कृष्ण का नाम आने से देवकाव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इससे दासजी ने स्वकीया का लक्षण ही कुछ अधिक व्यापक करना चाहा और कहा—

श्रीमानन के भौन में भोग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहि में गनैं सुकवि-सिरमौर॥

पर यह कोई बड़े महत्त्व की उद्भावना नहीं कही जा सकती। जो लोग दासजी के दस और हावों के नाम लेने पर चौंके हैं उन्हे जानना चाहिए कि साहित्यदर्पण में नायिकाओं के स्वभावज अलंकार १८ कहे गए हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, विहृत, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इनमें से अंतिम आठ को लेकर यदि दासजी ने भाषा में प्रचलित दस हावों में और जोड़ दिया तो क्या नई बात की? यह चौंकना तब तक बना रहेगा जब तक हिंदी में संस्कृत के मुख्य सिद्धांत-ग्रंथों के सब विषयों का यथावत् समावेश न हो जायगा और साहित्य-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन न होगा।

अतः दासजी के आचार्यत्व के संबंध में भी हमारा यही कथन है जो देव आदि के विषय में। यद्यपि इस क्षेत्र में औरों को देखते दासजी ने अधिक काम किया है, पर सच्चे आचार्य का पूरा रूप इन्हे भी नहीं प्राप्त हो सका है। परिस्थिति से ये भी लाचार थे। इनके लक्षण भी व्याख्या के बिना अपर्याप्त और कहीं कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं। जैसे,

---

१—देखो पृ० २७२

उपादान-लक्षणा लीजिए। इसका लक्षण भी गड़बड़ है और उसी के अनुरूप उदाहरण भी अशुद्ध है। अतः दासजी भी औरो के समान वस्तुतः कवि के रूप मे ही हमारे सामने आते है।

दासजी ने साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का व्यवहार किया है। शृंगार ही उस समय का मुख्य विषय रहा है। अतः इन्होंने भी उसका वर्णन-विस्तार देव की तरह बढ़ाया है। देव ने भिन्न भिन्न देशों और जातियो की स्त्रियो के वर्णन के लिये जाति-विलास लिखा जिसमे नाइन, धोबिनी, सब आ गईं, पर दासजी ने रसाभास के डर से या मर्यादा के ध्यान से इनको आलंबन के रूप मे न रखकर दूती के रूप मे रखा है। इनके 'रससारांश' मे नाइन, नटिन, धोबिन, कुम्हारिन, बरइन, सब प्रकार की दूतियाँ मौजूद हैं। इनमे देव की अपेक्षा अधिक रस-विवेक था। इनका शृंगार-निर्णय अपने ढंग का अनूठा काव्य है। उदाहरण मनोहर और सरस हैं। भाषा मे शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द-चमत्कार पर टूटे है, न दूर की सूझ के लिये व्याकुल हुए है। इनकी रचना कलापक्ष मे संयत और भावपक्ष मे रजंनकारिणी है। विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त इन्होंने नीति की सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमे उक्ति-वैचित्र्य अपेक्षित होता है। देव की सी ऊँची आकांक्षा या कल्पना जिस प्रकार इनमे कम पाई जाती है उसी प्रकार उनकी सी असफलता भी कहीं नहीं मिलती। जिस बात को ये जिस ढंग से—चाहे वह ढंग बहुत विलक्षण न हो—कहना चाहते थे उस बात को उस ढंग से कहने की पूरी सामर्थ्य इनमें थी। दासजी ऊँचे दरजे के कवि थे। इनकी कविता के कुछ नमूने लीजिए—

वाही घरी तें न सान रहै, न गुमान रहै, न रहै सुघराई।
दास न लाज को साज रहै, न रहै तनकौ घरकाज की घाई॥
ह्याँ दिखसाध निवारे रहौ तब ही लौं भटू सब भाँति भलाई।
देखत कान्है न चेत रहै, नहिं चित्त रहै, न रहै चतुराई॥

---

नैननको तरसैए कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि मैं तैए?
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए?

आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैए।
मान घटे तें कहा घटिहै जु पै प्रानपियारे को देखन पैए॥

ऊधो ! तहाँ ई चलौ लै हमें जहँ कूबरि-कान्ह बसैं एक ठौरी।
देखिय दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरि-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बंदन रोरी॥

कढ़िकै निसंक पैठि जाति झुंड झुंडन में,
लोगन को देखि दास आनंद पगति है।
दौरि दौरि जहीं तहीं लाल करि डारति है,
अंक लगि कंठ लगिबे को उमगति है॥
चमक - झमक - वारी, ठमक - जमक वारी,
रमक - तमक - वारी जाहिर जगति है।
राम ! असि रावरे को रन में नरन में—
निलज वनिता सी होरी खेलन लगति है।

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री, तेरी
तन - दुति - केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी स्वाति - बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो॥
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो, री !
जियरो मनोभव - सरन को तुनीर भो।
एरी ! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु, न तौ
आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

अँखियाँ हमारी दईमारी सुधि बुधि हारीं,
मोहू तें जु न्यारी दास रहैं सब काल में।
कौन गहै ज्ञानै, काहि सौंपत सयाने, कौन
लोक ओक जानै, ये नहीं हैं निज हाल में॥
प्रेम पगि रहीं, महामोह मे उमगि रहीं,
ठीक ठगि रही, लगि रहीं बनमाल में।
लाज को अँचै कै, कुलधरम पचै कै वृथा
बंधन सँचै कै भईं मगन गोपाल में॥

( २४ ) भूपति (राजा गुरुदत्तसिंह)—ये अमेठी के राजा थे। इन्होंने संवत् १७९१ मे शृंगार के दोहों की एक सतसई बनाई। उदयनाथ कवींद्र इनके यहाँ बहुत दिनो तक रहे। ये महाशय जैसे सहृदय और काव्य-मर्मज्ञ थे वैसे ही कवियों का आदर-संमान करनेवाले थे। क्षत्रियों की वीरता भी इनमे पूरी थी। एक बार अवध के नवाब सआदतखाँ से ये विगड़ खड़े हुए। सआदतखाँ ने जब इनकी गढ़ी घेरी तब ये बाहर सआदतखाँ के सामने ही बहुतों को मारकाटकर गिराते हुए जंगल की ओर निकल गए। इसका उल्लेख कवींद्र ने इस प्रकार किया है—

समर अमेठी के सरेष गुरुदत्तसिंह,
सादत की सेना समरसेन सों भानी है।
भनत कवींद्र काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति सरसानी है॥
तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी लै उडी,
सोनित पियत ताकी उपमा बखानी है।
प्यालो लै चिनी को नीको जोबन-तरंग मानो,
रंग हेतु पीवत मजीठ मुगलानी है॥

'सतसई' के अतिरिक्त भूपतिजी ने 'कंठाभूषण' और 'रसरत्नाकर' नाम के दो रीति-ग्रंथ भी लिखे थे जो कहीं देखे नहीं गए हैं। शायद अमेठी मे हों। सतसई के दोहे दिए जाते है—

घूँघट पट की आड़ दै हँसति जबै वह दार।
ससि-मंडल तें कढ़ति छनि जनु पियूष की धार॥
भए रसाल रसाल हैं भरे पुहुप मकरंद।
मान-सान तोरत तुरत भ्रमत भ्रमर मद-मंद॥

(२५) तोषनिधि—ये एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। ये शृंगवेरपुर (सिगरौर जिला इलाहाबाद) के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १७६१ मे 'सुधानिधि' नामक एक अच्छा बडा ग्रंथ रसभेद और भाव-भेद का बनाया। खोज में इनकी दो पुस्तकें और मिली हैं—विनयशतक और नखशिख। तोषजी ने काव्यांगों के बहुत अच्छे लक्षण और सरस उदाहरण दिए हैं। उठाई हुई कल्पना का अच्छा निर्वाह हुआ है और भाषा स्वाभाविक प्रवाह के साथ आगे बढ़ती है। तोपजी एक बड़े ही सहृदय और निपुण कवि थे। भावों का विधान सघन होने पर भी कहीं उलझा नहीं है। बिहारी के समान इन्होंने भी कहीं कहीं ऊहात्मक अत्युक्ति की है। कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

---

भूषन-भूषित दूषन-हीन प्रवीन महारस मैं छबि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जेहि में परमारथ स्वारथ पाई॥
औ उकतैं मुकतैं उलही कवि तोष अनोष-धरी चतुराई।
होत सबै सुख की जनिता बनि आवति जौं बनिता कविताई॥

---

एक कहैं हँसि ऊधवजू! ब्रज की जुवती तजि चंद्रप्रभा सी।
जाय कियो कह तोष प्रभू! एक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी॥
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो हहा! मथुरा में कहा मति नासी॥
जीव नहीं उबियात जबै ढिग पौढति है कुबजा कछुवा सी?

---

श्रीहरि की छबि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहिं में करि देतो।
बैनन के सुनिबे हित स्रौत जितै-तित सो करतौ करि हेतो॥
मो ढिग छाँडि न काम कहूँ रहे तोष कहै लिखितो बिधि एतो।
तौ करतार इतो करनी करिकै कालि में कल कीरति लेतो॥

तौ तन में रवि को प्रतिबिंब परै किरनैं सो घनी सरसाती।
भीतर हू रहि जात नहीं, अँखियाँ चकचौंधि ह्वै जाति हैं राती॥
बैठि रहौ, बलि, कोठरी में कह तोष करौं बिनती बहु भाँती।
सारसी-नैनि लै आरसी सो अँग काम कहा कढि धाम में जाती?

( २६-२७ ) **दलपतिराय और बंसीधर**—दलपतिराय महाजन और बंसीधर ब्राह्मण थे। दोनो अहमदाबाद (गुजरात) के रहनेवाले थे। इन लोगों ने संवत् १७६२ मे उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के नाम पर "अलंकार-रत्नाकर" नामक ग्रंथ बनाया। इसका आधार महाराज जसवंतसिंह का 'भाषा-भूषण' है। इसका 'भाषाभूषण' के साथ प्रायः वही संबंध है जो 'कुवलयानंद' का 'चंद्रालोक' के साथ। इस ग्रंथ मे विशेषता यह है कि इसमे अलकारो का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य के लिये गद्य व्यवहृत हुआ है। रीतिकाल के भीतर व्याख्या के लिये कभी कभी गद्य का उपयोग कुछ ग्रंथकारो की सम्यक् निरूपण की उत्कंठा सूचित करता है। इस उत्कठा के साथ ही गद्य की उन्नति की आकांक्षा का सूत्रपात समझना चाहिए जो सैकड़ो वर्ष बाद पूरी हुई।

'अलंकार-रत्नाकर' में उदाहरणों पर अलंकार घटाकर बताए गए हैं और उदाहरण दूसरे अच्छे कवियो के भी बहुत से हैं। इससे यह अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी है। दंडी आदि कई संस्कृत आचार्यों के उदाहरण भी लिए गए है। हिंदी कवियों की लंबी नामावली ऐतिहासिक खोज मे बहुत उपयोगी है।

कवि भी ये लोग अच्छे थे। पद्य-रचना निपुणता के अतिरिक्त इनमे भावुकता और बुद्धि-वैभव दोनों है। इनका एक कवित्त नीचे दिया जाता है।

अरुन हरौल नभ-मंडल-मुलुक पर
चढ्यो अक्क चक्कवै कि तानि कै किरिन-कोर।
आवत ही साँवत नछत्र जोय धाय धाय,
घोर घमसान करि काम आए ठौर ठौर॥
ससहर सेत भयो, सटक्यो सहमि ससी,
आमिल-उलूक जाय गिरे कंदरन ओर।

टूट देखि अरविंद - बंदीखाने तें भगाने
पायक पुलिंद वै मलिंद मकरंद - चोर ॥

( २८ ) **सोमनाथ**—ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १७९४ में 'रसपीयूषनिधि' नामक रीति का एक विस्तृत ग्रंथ बनाया जिसमें पिंगल, काव्यलक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। यह दासजी के काव्य-निर्णय से बड़ा ग्रंथ है। काव्यांग-निरूपण में ये श्रीपति और दास के समान ही हैं। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत अच्छी है।

विषय-निरूपण के अतिरिक्त कवि-कर्म में भी ये सफल हुए हैं। कविता में ये अपना उपनाम 'ससिनाथ' भी रखते थे। इनमें भावुकता और सहृदयता पूरी थी, इससे इनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं आने पाई। इनकी एक अन्योक्ति कल्पना की मार्मिकता और प्रसादपूर्ण व्यंग्य के कारण प्रसिद्ध है। सघन और पेचीले मजमून गाँठने के फेर में न पड़ने के कारण इनकी कविता को साधारण समझना सहृदयता के सर्वथा विरुद्ध है। 'रसपियूष-निधि' के अतिरिक्त खोज में इनके तीन और ग्रंथ मिले हैं—

कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी ( संवत् १८०० )
सुजान-विलास ( सिंहासन-बत्तीसी, पद्य में ; संवत् १८०७ )
माधव-विनोद नाटक ( संवत् १८०९ )

उक्त ग्रंथों के निर्माण-काल की ओर ध्यान देने से इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८१० तक ठहरता है।

रीतिग्रंथ और मुक्तक-रचना के सिवा इस सत्कवि ने प्रबंधकाव्य की ओर भी ध्यान दिया। सिंहासन-बत्तीसी के अनुवाद को यदि हम काव्य न मानें तो कम से कम पद्यप्रबंध अवश्य ही कहना पड़ेगा। 'माधव-विनोद' नाटक शायद मालती-माधव के आधार लिखा हुआ प्रेमप्रबंध है। पहले कहा जा चुका है कि कल्पित कथा लिखने की प्रथा हिंदी के कवियों में प्रायः नहीं के बराबर रही। जहाँगीर के समय में संवत् १६७३ में बना पुहकर कवि का 'रसरत्न' ही

अबतक नाम लेने योग्य कल्पित प्रबंधकाव्य था। अतः सोमनाथजी का यह प्रयत्न उनके दृष्टि-विस्तार का परिचायक है। नीचे सोमनाथजी की कुछ कविताएँ दी जाती हैं—

दिसि विदिसन तें उमडि मढ़ि लीनो नभ,
छाँडि दीने धुरवा, जवासे-जूथ जरि गे।
डहडहे भए द्रुम रंचक हवा के गुन,
कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरि गे॥
रहि गए चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहै बूँदाबूँदि हू न करि गे।
सोर भयो घोर चारो ओर महिमंडल में,
'आए घन, आए घन', आयकै उघरि गे॥

---

प्रीति नई नित कीजत है, सब सों छलि की बतरानि परी है।
सीखी ढिठाई कहाँ ससिनाथ, हमैं दिन द्वैक तें जानि परी है॥
और कहा लहिए, सजनी! कठिनाई गरै अति आनि परी है।
मानत है बरज्यो न कछू अब ऐसी सुजानहिं बानि परी है॥

---

झमकतु बदन मतंग कुंभ उत्तंग अंग वर।
बंदन-बलित भुसुंड कुंडलित सुंड सिद्धिधर॥
कंचन-मनिमय मुकुट जगमगै सुघर सीस पर।
लोचन तीनि बिसाल चार भुज ध्यावत सुर नर॥
ससिनाथ नंद स्वच्छंद निति कोटि-बिघन-छरछंद-हर।
जय बुद्धि-बिलंद अमंद दुति इंदुभाल आनंदकर॥

(२९) रसलीन—इनका नाम सैयद गुलाम नबी था। ये प्रसिद्ध बिलग्राम (जि० हरदोई) के रहनेवाले थे, जहाँ अच्छे अच्छे विद्वान् मुसलमान होते आए हैं। अपने नाम के आगे 'बिलगरामी' लगाना एक बड़े संमान की बात यहाँ के लोग समझते थे। गुलाम नबी ने अपने पिता का नाम बाकर लिखा

है। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अंगदर्पण" संवत् १७६४ मे लिखी जिसमें अंगों का, उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है। सूक्तियों के चमत्कार के लिये यह ग्रंथ काव्य-रसिकों मे बराबर विख्यात चला आया है। यह प्रसिद्ध दोहा जिसे जनसाधारण बिहारी का समझा करते हैं, अंगदर्पण का ही है—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥

'अगदर्पण' के अतिरिक्त रसलीनजी ने सं० १७६८ मे 'रसप्रबोध' नामक रसनिरूपण का ग्रंथ दोहों में बनाया। इसमें ११५५ दोहे है और रस, भाव, नायिकाभेद, पट्ऋतु, बारहमासा आदि अनेक प्रसग आए है। इस विषय का अपने ढंग का यह छोटा सा अच्छा ग्रंथ है। रसलीन ने स्वयं कहा है कि इस छोटे ग्रंथ को पढ़ लेने पर रस का विषय जानने के लिये और ग्रंथ पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी। पर यह ग्रंथ अंगदर्पण के ऐसा प्रसिद्ध न हुआ।

रसलीन ने अपने को दोहों की रचना तक ही रखा जिनमे पदावली की गति द्वारा नाद-सौंदर्य का अवकाश बहुत ही कम रहता है चमत्कार और उक्ति वैचित्र्य की ओर इन्होंने अधिक ध्यान रखा। नीचे इनके कुछ दोहे दिए जाते हैं—

धरति न चौकी नगजरी, यातें उर में लाय।
छाँह परे पर-पुरुष की, जनि, तिय-धरम नसाय॥
चख चलि स्रवन मिल्यो चहत, कच बढि छुवन छवानि।
कटि निज दरब धर्‌यो चहत, वक्षस्थल मे आनि॥
कुमति चंद प्रति द्यौस बढ़ि, मास मास कढ़ि आय।
तुव मुख-मधुराई लखे फीको परि घटि जाय॥
रमनी-मन पावत नहीं लाज प्रीति को अंत।
दुहूँ ओर ऐंचो रहै, जिमि बिबि तिय को कंत॥
तिय-सैसव-जोबन मिले, भेद न जान्यो जात।
प्रात समय निसि द्यौस के दुवौ भाव दरसात॥

( ३० ) रघुनाथ—ये बंदीजन एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं जो काशिराज

महाराज बरिवंडसिंह की सभा को सुशोभित करते थे। काशी-नरेश ने इन्हे चौरा ग्राम दिया था। इनके पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ और गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने महाभारत का भाषा-अनुवाद किया जो काशिराज के पुस्तकालय मे है। शिवसिंहजी ने इनके चार ग्रथो के नाम लिखे हैं—

काव्य-कलाधर, रसिकमोहन, जगतमोहन, और इश्क-महोत्सव। बिहारी-सतसई की एक टीका का भी उल्लेख उन्होंने किया है। इसका कविता-काल संवत् १७६० से १८१० तक समझना चाहिए।

'रसिकमोहन' (स० १७६६) अलंकार का ग्रंथ है। इसमे उदाहरण केवल शृंगार के ही नहीं है, वीर आदि अन्य रसों के भी बहुत अधिक है। एक अच्छी विशेषता तो यह है कि इसमे अलंकारों के उदाहरण मे जो पद्य आए हैं उनके प्रायः सब चरण प्रस्तुत अलकार के सुंदर और स्पष्ट उदाहरण होते है। इस प्रकार इनके कवित्त या सवैया का सारा कलेवर अलंकार को उदाहृत करने मे प्रयुक्त हो जाता है। भूषण आदि बहुत से कवियों ने अलंकारों के उदाहरण मे जो पद्य रखे है उनका अतिम या और कोई चरण ही वास्तव में उदाहरण होता है। उपमा के उदाहरण मे इनका यह प्रसिद्ध कवित्त लीजिए—

> फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन,
>
> कहै रघुनाथ भरे चैनरस सिय रे।
>
> दौरि आए भौंर से करत गुनी गुनगान,
>
> सिद्ध से सुजान सुखसागर सों नियरे॥
>
> सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी,
>
> चिरिया सी जागी चिंता जनक के जियरे।
>
> धनुष पै ठाढे राम रवि से लसत आजु,
>
> भोर कैसे नखत नरिंद भए पियरे॥

"काव्य-कलाधर" (सं० १८०२) रस का ग्रंथ है। इसमे प्रथानुसार भावभेद, रसभेद, थोडा बहुत कहकर नायिकाभेद और नायकभेद का ही विस्तृत वर्णन है। विषय-निरूपण इसका उद्देश्य नहीं जान पड़ता। 'जगत्मोहन' (स०

१८०७ ) वास्तव में एक अच्छे प्रतापी और ऐश्वर्यवान् राजा की दिनचर्या बताने के लिये लिखा गया है। इसमें कृष्ण भगवान् की १२ घंटे की दिनचर्या कही गई है। इसमें ग्रंथकार ने अपनी बहुज्ञता अनेक विषयों—जैसे राजनीति सामुद्रिक, वैद्यक, ज्योतिष, शालिहोत्र, मृगया, सेना, नगर, गढ़-रक्षा, पशुपक्षी, शतरज इत्यादि—के विस्तृत और अरोचक वर्णनों द्वारा प्रदर्शित की है। इस प्रकार वास्तव में पद्य में होने पर भी यह काव्यग्रंथ नहीं है। 'इश्क-महोत्सव' में आपने 'खड़ी बोली' की रचना का शौक दिखाया है। उससे सूचित होता है कि खड़ी बोली की धारणा तब तक अधिकतर उर्दू के रूप में ही लोगों को थी।

कविता के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

ग्वाल संग जैबो, ब्रज गैयन चरैबो ऐबो,
अब कहा दाहिने ये नैन फरकत हैं।
मोतिन की माल वारि डारौं गुंजमाल पर,
कुंजन की सुधि आए हियो धरकत हैं॥
गोवर को गारो रघुनाथ कछू यातें भारो,
कहा भयो महलनि मनि मरकत हैं।
मंदिर हैं मंदर तें ऊँचे मेरे द्वारका के,
ब्रज के खरिक तऊ हिये खरकत हैं॥

---

कैधौं सेस देस तें निकसि पुहुमी पै आय,
बदन उचाय बानी जस-असपंद की।
कैधौं छिति चँवरी उसीर की दिखावति है,
ऐसी सोहै उज्ज्वल किरन जैसे चंद की॥
आनि दिनपाल श्रीनृपाल नंदलाल जू को,
कहै रघुनाथ पाय सुघरी अनंद की।
छूटत फुहारे कैधौं फूल्यो है कमल, तासों
अमल अमंद कढ़ै धार मकरंद की॥

---

सुधरे सिलाह राखै, वायु वेग वाह राखै,
रसद की राह राखै, राखे रहै बैन को।
चोर को समाज राखै बजा औ नजर, राखै
खबरि के काज बहुरूपी हर फन को॥
आगम-भखैया राखै, सगुन-लेवैया राखै,
कहै रघुनाथ औ बिचार वीच मन को।
बाजी हारै कबहूँ न औसर के परे जौन
ताजी राखै प्रजन को, राजी सुभटन को॥

---

आप दरियाव, पास नदियों के जाना नहीं,
दरियाव, पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि-आसरे को कभी राखता न,
दरखत ही के आसरे को वेलि पावैगी॥
मेरे तो लायक जो था कहना सो कहा मैंने,
रघुनाथ मेरी मति न्याव ही को गावैगी।
वह मुहताज आपकी है; आप उसके न,
आप क्यों चलोगे ? वह आप पास आवैगी॥

(३१) दूलह—ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ 'कवींद्र' के पुत्र थे। ऐसा जान पड़ता है कि ये अपने पिता के सामने ही अच्छी कविता करने लगे थे। ये कुछ दिनों तक अपने पिता के सम-सामयिक रहे। कवींद्र के रचे ग्रंथ १८०४ तक के मिलते हैं। अतः इनका कविता-काल संवत् १८०० से लेकर संवत् १८२५ के आसपास तक माना जा सकता है। इनका बनाया एक ही ग्रथ "कविकुल-कंठाभरण" मिला है जिसमे निर्माण-काल नहीं दिया है। पर इनके फुटकल कवित्त और भी सुने जाते है।

"कविकुल-कठाभरण" अलंकार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें यद्यपि लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य मे कहे गए है पर कवित्त और सवैया के समान बडे छद लेने से अलंकार-स्वरूप और उदाहरण दोनों के सम्यक् कथन के लिये पूरा अवकाश मिला है। भाषाभूषण आदि दोहों मे रचे हुए इस

प्रकार के ग्रंथों से इसमे यही विशेषता है। इसके द्वारा सहज मे अलंकारों का चलता बोध हो सकता है। इसी से दूलहजी ने इसके संबंध मे आप कहा है—

जो या कंठाभरण को, कंठ करै चित लाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलकृती ठहराय॥

इनके कविकुल-कंठाभरण में केवल ८५ पद्य हैं। फुटकल जो कवित्त मिलते हैं वे अधिक से अधिक १५ या २० होंगे। अतः इनकी रचना बहुत थोड़ी है; पर थोड़ी होने पर भी उसने इन्हें बडे अच्छे और प्रतिभा-संपन्न कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है। देव, दास, मतिराम आदि के साथ दूलह का भी नाम लिया जाता है। इनकी इस सर्वप्रियता का कारण इनकी रचना की मधुर कल्पना, मार्मिकता और प्रौढ़ता है। इनके वचन अलकारों के प्रमाण मे भी सुनाए जाते हैं और सहृदय श्रोताओं के मनोरंजन के लिये भी। किसी कवि ने इनपर प्रसन्न होकर यहाँ तक कहा है कि "और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय"।

इनकी रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

माने सनमाने तेइ माने सनमाने सन,
　　माने सनमाने सनमान पाइयतु है।
कहै कवि दूलह अजाने अपमाने,
　　अपमान सों सदन तिनही को छाइयतु है॥
जानत हैं जेऊ तेऊ जात हैं बिराने द्वार,
　　जानि बूझि भूले तिनको सुनाइयतु है।
कामवस परे कोऊ गहत गरूर तौ वा,
　　अपनी जरूर जाजरूर जाइयतु है॥

---

धरी जब बाहीं तब करी तुम 'नाहीं',
　　पायँ दियौ पलकाही 'नाहीं नाहीं' कै सुहाई हौ॥
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
　　कवि दूलह, उछाही लाख भाँतिन लहाई हौ॥

चुंबन मे नाहीं, परिरंभन मे नाहीं,
सब आसन विलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ ॥
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्हीं चितचाही, यह
'हा' तें भली 'नाही' सो कहाँ ते सीखि आई हौ ॥

---

उरज उरज धँसे, बसे उर आडे लसे,
बिन गुन माल गरे धरे छवि छाए हौ ।
नैन कवि दूलह हैं राते, तुतराते बैन,
देखे सुने सुख के समूह सरसाए हौ ॥
जावक सों लाल भाल पलकन पीकलीकी,
प्यारे ब्रज चद सुचि सूरज सुहाए हौ ।
होत अरुनोद यहि कोद मति बसी आजु,
कौन घरवसी घर बसी करि आए हौ ?

---

सारी की सरौंट सब सारी में मिलाय दीन्हीं,
भूषन की जेब जैसे जेब जहियतु है ।
कहे कवि दूलह छिपाए रदछद मुख,
नेह देखे सौतिन की देह दहियतु है ॥
बाला चित्रसाला तें निकसि गुरुजन आगे,
कीन्हीं चतुराई सो लखाई लहियतु है ।
सारिका पुकारै "हम नाहीं, हम नाही",
"एजू! राम राम कहौ", 'नाहीं नाही' कहियतु है ॥

---

फल विपरीत को जतन सों 'विचित्र';
हरि ऊँचे होत वामन भे बलि के सदन में ।
आधार बड़े तें बडो आधेय 'अधिक' जानौ,
चरन समानो नाहिं चौदहो भुवन में ॥

छाया छत्र ह्वै करि करति महिपालन को,
पालन को पूरो फैलो रजत अपार ह्वै।
मुकुत उदार ह्वै लगत सुख श्रौनन में,
जगत जगत हंस, हास, हीरहार ह्वै॥
ऋषिनाथ सदानंद-सुजस बिलंद,
तमवृंद के हरैया चंदचंद्रिका सुढार ह्वै।
हीतल को सीतल करत घनसार ह्वै,
महीतल को पावन करत गंगधार ह्वै॥

(३७) बैरीसाल—ये असनी के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके वंशधर अब तक असनी में हैं। इन्होंने 'भाषाभरण' नामक एक अच्छा अलंकार-ग्रंथ सं० १८२५ में बनाया जिसमें प्रायः दोहे ही हैं। दोहे बहुत सरस हैं और अलंकारों के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दो दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

नहिं कुरंग नहिं ससक यह, नहिं कलंक, नहिं पंक।
बीस बिसे बिरहा दही गडी दीठि ससि अंक॥
करत कोकनद मदहि रद तुव पद हर सुकुमार।
भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार॥

(३८) दत्त—ये माढ़ी (जिला कानपुर) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और चरखारी के महाराज खुमानसिंह के दरबार में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८३० माना जा सकता है। इन्होंने 'लालित्यलता' नाम की एक अलंकार की पुस्तक लिखी है जिससे ये बहुत अच्छे कवि जान पड़ते हैं। एक सवैया दिया जाता है—

ग्रीषम में तपै भीषम भानु, गई बनकुंज सखीन की भूल सों।
घाम सों वाम-लता मुरझानी, बयारि करैं घनश्याम दुकूल सों॥
कंपत यों प्रकट्यो तन स्वेद उरोजन दत्त जू ठोढ़ी के मूल सों।
द्वै अरविंद-कलीन पै मानो गिरै मकरंद गुलाब के फूल सों॥

(३९) रतन कवि—इनका वृत्त कुछ ज्ञात नहीं। शिवसिंह ने इनका जन्मकाल सं० १७९८ लिखा है। इससे इनका कविता-काल सं० १८३० के

आसपास माना जा सकता है। ये श्रीनगर ( गढ़वाल ) के राजा फतहसाहि के यहाँ रहते थे। उन्हीं के नाम पर 'फतेहभूषण' नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ इन्होंने बनाया। इसमें लक्षणा, व्यंजना, काव्यभेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। उदाहरण में शृंगार के ही पद्य न रखकर इन्होंने अपने राजा की प्रशंसा के कवित्त बहुत रखे हैं। संवत् १८२७ में इन्होंने 'अलंकारदर्पण' लिखा। इनका निरूपण भी विशद है और उदाहरण भी बहुत ही मनोहर और सरस हैं। ये एक उत्तम श्रेणी के कुशल कवि थे, इसमें संदेह नहीं। कुछ नमूने लीजिए—

बैरिन की बाहिनी को भीषन निदाघ-रवि,
कुवलय केलि को सरस सुधाकरु है।
दान-झरि सिंधुर है, जग को बसुंधर है,
विबुध कुलनि को फलित कामतरु है॥
पानिप मनिन को, रतन रतनाकर को,
कुबेर पुन्य जनन को, छमा महीधरु है।
अंग को सनाह, बन-राह को रमा को नाह,
महाबाह फतेहसाह एकै नरवरु है॥

---

काजर की कोरवारे भारे अनियारे नैन,
कारे सटकारे बार छहरे छवानि छ्वै।
श्याम सारी भीतर भभक गोरे गातन की,
ओपवारी न्यारी रही बदन उजारी ह्वै॥
मृगमद बेंदी भाल में दी, याही आभरन,
हरन हिए को तू है रंभा रति ही अवै।
नीके नथुनी के तैसे सुंदर सुहात मोती,
चंद पर च्वै रहे सु मानो सुधाबुंद द्वै॥

( ४० ) नाथ ( हरिनाथ )—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १८२६ में "अलंकार-दर्पण" नामक एक छोटा सा ग्रंथ

आधेय अधिक तें आधार की अधिकताई,
"दूसरो अधिक" आयो ऐसो गननन में,
तीनों लोक तन में, अमान्यो ना गगन में,
बसैं ते संत-मन में, कितेक कहौ मन मे ॥

( ३२ ) कुमारमणिभट्ट—इनका कुछ वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १८०३ के लगभग "रसिक रसाल" नामक एक बहुत अच्छा रीतिग्रंथ बनाया। ग्रंथ मे इन्होंने अपने को हरिवल्लभ का पुत्र कहा है। शिवसिंह ने इन्हे गोकुलवासी कहा है। इनका एक सवैया देखिए—

गावै वधू मधुरे सुर गीतन, प्रीतम संग न बाहिर आई।
छाई कुमार नई छिति में छवि, मानो बिछाई नई दरियाई॥
ऊँचे अटा चढ़ि देखि चहूँ दिसि बोली यों बाल गरो भरि आई।
कैसी करौं हहरै हियरा, हरि आए नहीं उलही हरिआई॥

( ३३ ) शंभुनाथ मिश्र—इस नाम के कई कवि हुए हैं जिनमें से एक संवत् १८०६ में, दूसरे १८६७ मे और तीसरे १६०१ में हुए हैं। यहाँ प्रथम का उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने 'रसकल्लोल', 'रसतरंगिणी और' 'अलंकार-दीपक' नामक तीन रीतिग्रंथ बनाए हैं। ये असोथर ( जि० फतेहपुर ) के राजा भगवंतराय खीची के यहाँ रहते थे। 'अलंकारदीपक' मे अधिकतर दोहे हैं, कवित्त सवैया कम। उदाहरण शृंगार-वर्णन मे अधिक प्रयुक्त न होकर आश्रयदाता के यश और प्रताप-वर्णन में अधिक प्रयुक्त है। एक कवित्त दिया जाता है—

आजु चतुरंग महाराज सेन साजत ही,
धौंसा की धुकार धूरि परी मुँह माही के।
भय के अजीरन तें जीरन उजीर भए,
सूल उठी उर में अमीर जाही ताही के॥
बीर खेत बीच बरछी लै बिरुझानो, इतै
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के।

भूप भगवंत बीर ग्वाही कै खलक सब,
स्याही लाई बदन तमाम पातसाही के ॥

( ३४ ) **शिवसहायदास**—ये जयपुर के रहने वाले थे। इन्होंने सवत् १८०९ मे 'शिवचौपाई' और लोकोक्तिरस-कौमुदी' दो ग्रंथ बनाए। लोकोक्तिरस-कौमुदी में विचित्रता यह है कि पखानों या कहावतों को लेकर नायिकाभेद कहा गया है, जैसे—

करौ रुखाई नाहिंन बाम। वेगहिं लै आऊँ घनश्याम ॥
कहै पखानो भरि अनुराग। बाजी ताँत, कि बूझ्यौ राग ॥
बोलै निठुर पिया बिनु दोस। आपुहि तिय बैठी गहि रोस ॥
कहै पखानो जेहि गहि मोन। बैल न कूद्यो, कूदी गोन ॥

( ३५ ) **रूपसाहि**—ये पन्ना के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होने संवत् १८१३ मे 'रूपविलास' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमे दोहे मे ही कुछ पिंगल, कुछ अलंकार, कुछ नायिकाभेद आदि है। दो दोहे नमूने के लिये दिए जाते हैं—

जगमगाति सारी जरी झलमल भूपन-जोति ;
भरी दुपहरी तिया की भेंट पिया सों होंति ॥
लालन वेगि चलौ न क्यों ? बिना तिहारे बाल।
मार मरोरनि सों मरति; करिए परसि निहाल ॥

---

( ३६ ) **ऋषिनाथ**—ये असनी के रहनेवाले बदीजन, प्रसिद्ध कवि ठाकुर के पिता और सेवक के प्रपितामह थे। काशिराज के दीवान सदानद और रघुवर कायस्थ के आश्रय में इन्होने 'अलंकारमणि-मंजरी' नाम की एक अच्छी पुस्तक बनाई जिसमें दोहों की सख्या अधिक है यद्यपि बीच बीच मे घनाक्षरी और छप्पय भी है। इसका रचना-काल स० १८३१ है जिससे यह इनकी वृद्धावस्था का ग्रंथ जान पड़ता है। इनका कविता-काल सं० १७९० से १८३१ तक माना जा सकता है। कविता ये अच्छी करते थे। एक कवित्त दिया जाता है—

छाया छत्र ह्वै करि करति महिपालन को,
पालन को पूरो फैलो रजत अपार ह्वै।
मुकुत उदार ह्वै लगत सुख श्रौनन में,
जगत जगत हंस, हास, हीरहार ह्वै॥
ऋषिनाथ सदानंद-सुजस बिलंद,
तमवृंद के हरैया चंदचंद्रिका सुढार ह्वै।
हीतल को सीतल करत घनसार ह्वै,
महीतल को पावन करत गंगधार ह्वै॥

(३७) बैरीसाल—ये असनी के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके वंशधर अब तक असनी मे हैं। इन्होंने 'भाषाभरण' नामक एक अच्छा अलंकार-ग्रंथ स० १८२५ मे बनाया जिसमे प्रायः दोहे ही हैं। दोहे बहुत सरस हैं और अलंकारों के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दो दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

नहिं कुरंग नहिं ससक यह, नहिं कलक, नहिं पक।
बीस बिसे बिरहा दही गडी दीठि ससि अक॥
करत कोकनद मदहि रद तुव पद हर सुकुमार।
भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार॥

(३८) दत्त—ये माढ़ी (जिला कानपुर) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और चरखारी के महाराज खुमानसिंह के दरबार में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८३० माना जा सकता है। इन्होने 'लालित्यलता' नाम की एक अलकार की पुस्तक लिखी है जिससे ये बहुत अच्छे कवि जान पड़ते हैं। एक सवैया दिया जाता है—

ग्रीषम में तपै भीषम भानु, गई बनकुंज सखीन की भूल सों।
घाम सों बाम-लता मुरझानी, बयारि करैं घनश्याम दुकूल सों॥
कंपत यों प्रकट्यो तन स्वेद उरोजन दत्त जू ठोढ़ी के मूल सों।
द्वै अरविंद-कलीन पै मानो गिरै मकरंद गुलाब के फूल सों॥

(३९) रतन कवि—इनका वृत्त कुछ ज्ञात नहीं। शिवसिंह ने इनका जन्मकाल सं० १७९८ लिखा है। इससे इनका कविता-काल सं० १८३० के

आसपास माना जा सकता है। ये श्रीनगर ( गढ़वाल ) के राजा फतहसाहि के यहाँ रहते थे। उन्हीं के नाम पर 'फतेहभूषण' नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ इन्होंने बनाया। इसमे लक्षणा, व्यंजना, काव्यभेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। उदाहरण में शृंगार के ही पद्य न रखकर इन्होंने अपने राजा की प्रशसा के कवित्त बहुत रखे है। संवत् १८२७ मे इन्होंने 'अलंकारदर्पण' लिखा। इनका निरूपण भी विशद है और उदाहरण भी बहुत ही मनोहर और सरस हैं। ये एक उत्तम श्रेणी के कुशल कवि थे, इसमे सदेह नहीं। कुछ नमूने लीजिए—

बैरिन की बाहिनी को भीषन निदाघ-रवि,
कुवलय केलि को सरस सुधाकरु है।
दान-झरि सिंधुर है, जग को बसुंधर है,
बिबुध कुलनि को फलित कामतरु है॥
पानिप मनिन को, रतन रतनाकर को,
कुबेर पुन्य जनन को, छमा महीधरु है।
अग को सनाह, बन-राह को रमा को नाह,
महाबाह फतेहसाह एकै नरवरु है॥

---

काजर की कोरवारे भारे अनियारे नैन,
कारे सटकारे बार छहरे छवानि छ्वै।
श्याम सारी भीतर भभक गोरे गातन की,
ओपवारी न्यारी रही बदन उजारी ह्वै॥
मृगमद बेंदी भाल में दी, याही आभरन,
हरन हिए को तू है रभा रति ही अवै।
नीके नथुनी के तैसे सुंदर सुहात मोती,
चंद पर च्वै रहै सु मानो सुधाबुंद द्वै॥

( ४० ) नाथ ( हरिनाथ )—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १८२६ मे "अलकार-दर्पण" नामक एक छोटा सा ग्रंथ

बनाया जिसमे एक एक पद के भीतर कई कई उदाहरण हैं। इनका क्रम औरों से विलक्षण है। ये पहले अनेक दोहो में बहुत से लक्षण कहते गए हैं फिर एक साथ सबके उदाहरण कवित्त आदि में देते गए है। कविता साधारणतः अच्छी है। एक दोहा देखिए—

तरुनी लसति प्रकास तें, मालति लसत सुबास।
गोरस गोरस देत नहिं गोरस चहति हुलास॥

( ४१ ) मनीराम मिश्र—ये कन्नौज-निवासी इच्छाराम मिश्र के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १८२९ मे 'छंदछप्पनी' और 'आनंदमंगल' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। 'आनंदमंगल' भागवत दशम स्कंध का पद्य में अनुवाद है। 'छंदछप्पनी' छंदःशास्त्र का बड़ा ही अनूठा ग्रंथ है।

( ४२ ) चंदन—ये नाहिल पुवायाँ ( जिला शाहजहाँपुर ) के रहनेवाले बंदीजन थे और गौड़ राजा केसरीसिंह के पास रहा करते थे। इन्होंने 'शृंगार-सागर, 'काव्याभरण,' 'कल्लोलतरंगिणी' ये तीन रीतिग्रथ लिखे। इनके निम्न-लिखित ग्रथ और है—

( १ ) केसरीप्रकाश, ( २ ) चदन-सतसई, ( ३ ) पथिकबोध, ( ४ ) नख-शिख, ( ५ ) नाममाला ( क प ), ( ६ ) पत्रिका-बोध, ( ७ ) तत्त्वसंग्रह, ( ८ ) सीतवसंत ( कहानी ), ( ९ ) कृष्णकाव्य, ( १० ) प्राज्ञ-विलास।

ये एक अच्छे चलते कवि जान पड़ते हैं। इन्होंने 'काव्याभरण' सवत् १८४५ मे लिखा। फुटकल रचना तो इनकी अच्छी है ही। सीतवसंत की कहानी भी इन्होंने प्रबंधकाव्य के रूप मे लिखी है। सीतवसंत की रोचक कहानी इन प्रांतों मे बहुत प्रचलित है। उसमें विमाता के अत्याचार से पीडित सीत-बसंत नामक दो राजकुमारो की बड़ी लंबी कथा है। इनकी पुस्तकों की सूची देखने से यह धारणा होती है कि इनकी दृष्टि रीतिग्रंथों तक ही बद्ध न रहकर साहित्य के और और अंगों पर भी थी।

ये फारसी के भी अच्छे शायर थे और अपना तखल्लुस 'संदल' रखते थे। इनका 'दीवाने संदल' कहीं कहीं मिलता है। इनका कविता-काल संवत् १८२० से १८५० तक माना जा सकता है। इनका एक सवैया नीचे दिया जाता है—

ब्रजवारी गँवारी दै जानै कहा, यह चातुरता न लुगायन में।
पुनि बारिनी जानि अनारिनी है, रुचि एती न चंदन नायन में॥
छवि रंग सुरंग के बिंदु बने लगैं इंद्रवधू लघुतायन में।
चित जो चहै दी चकि सी रहैं दी केहि दी मेंहदी इन पायन में॥

( ४३ ) देवकीनंदन—ये कन्नौज के पास मकरंदनगर ग्राम के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम शबली शुक्ल था। इन्होंने सं० १८४१ में 'शृंगार-चरित्र' और १८५७ मे 'अवधूत-भूषण' और 'सरफराज-चद्रिका' नामक रस और अलंकार के ग्रंथ बनाए। संवत् १८४३ में ये कुँवर सरफराज गिरि नामक किसी धनाढ्य महंत के यहाँ थे जहाँ इन्होंने 'सरफराज-चद्रिका' नामक अलंकार का ग्रथ लिखा। इसके उपरांत ये रुद्दामऊ ( जिला हरदोई ) के रईस अवधूत-सिंह के यहाँ गए जिनके नाम पर 'अवधूत-भूषण' बनाया। इनका एक नखशिख भी है। शिवसिंह को इनके इस नखशिख का ही पता था, दूसरे ग्रथों का नहीं।

'शृंगारचरित्र' मे रस, भाव, नायिकाभेद आदि के अतिरिक्त अलकार भी आ गए हैं। 'अवधूत-भूषण' वास्तव मे इसी का कुछ प्रवर्द्धित रूप है। इनकी भाषा मँजी हुई और भाव प्रौढ़ हैं। बुद्धि-वैभव भी इनकी रचना मे पाया जाता है। कहीं कहीं कूट भी इन्होंने कहे है। कला-वैचित्र्य की ओर अधिक झुकी हुई होने पर भी इनकी कविता मे लालित्य और माधुर्य्य पूरा है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

बैठी रंग-रावटी में हेरत पिया की बाट,
आए न बिहारी भई निपट अधीर मैं।
देवकीनदन कहै स्याम घटा घिरि आई,
जानि गति प्रलय की डरानी बहु, बीर! मैं॥
सेज पै सदासिव की मूरति बनाय पूजी,
तीनि डर तीनहू की करी तदबीर मैं।
पाखन मे सामरे, सुलाखन में अखैबट,
ताखन में लाखन की लिखी तसबीर मैं॥

---

मोतिन की माल तोरि, चीर सब चीरि डारे,
फेरि कै न जैहौं आली, दुख विकरारे हैं।
देवकीनंदन कहै चोखे नागछौनन के,
अलकैं प्रसून नोचि नोचि निरवारे हैं॥
मानि मुख चंद-भाव चोंच दई अधरन,
तीनौ ये निकुंजन में एकै तार तारे हैं।
ठौर ठौर डोलत मराल मतवारे, तैसे
मोर मतवारे त्यों चकोर मतवारे हैं॥

(४४) महाराज रामसिंह—ये नरवलगढ़ के राजा थे। इन्होंने रस और अलंकार पर तीन ग्रंथ लिखे हैं—अलंकार-दर्पण, रसनिवास (सं० १८३६) और रसविनोद (सं० १८६०)। अलंकार-दर्पण दोहों में है। नायिकाभेद भी अच्छा है। ये एक अच्छे और प्रवीण कवि थे। उदाहरण लीजिए—

सोहत सुंदर स्याम सिर मुकुट मनोहर जोर।
मनो नीलमनि सैल पर नाचत राजत मोर॥
दमकन लागी दामिनी, करन लगे घन रोर।
बोलति माती कोइलैं, बोलत माते मोर॥

(४५) भान कवि—इनके पूरे नाम तक का पता नहीं। इन्होंने संवत् १८४५ मे 'नरेंद्र-भूषन' नामक अलंकार का एक ग्रंथ बनाया जिससे केवल इतना ही पता लगता है कि ये राजा जोरावरसिंह के पुत्र थे और राजा रनजोरसिंह बुंदेले के यहाँ रहते थे। इन्होंने अलंकारो के उदाहरण शृंगाररस के प्रायः बराबर ही वीर, भयानक, अद्भुत आदि रसो के रखे है। इससे इनके ग्रंथ में कुछ नवीनता अवश्य दिखाई पड़ती है जो शृंगार के सैकड़ों वर्ष के पिष्ठपेषण से ऊबे हुए पाठक को विराम सा देती है। इनकी कविता में भूषण की सी फड़क और प्रसिद्ध शृंगारियों की सी तन्मयता और मधुरता तो नहीं है, पर रचना प्रायः पुष्ट और परिमार्जित है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

रन-मतवारे ये जोरावर-दुलारे तव,
बाजत नगारे भए गालिब दिलीस पर।

दल के चलत भर भर होत चारों ओर,
चालति धरनि भारी भार सों फनीस पर ॥
देखि कै समर-सनमुख भयो ताहि समै,
बरनत भान पैज कै कै बिसे बीस पर ।
तेरी समसेर की सिफत सिंह रनजोर,
लखी एकै साथ हाथ अरिन के सीस पर ॥

---

घन से सघन स्याम, इंदु पर छाय रहे,
बैठी तहाँ असित द्विरेफन की पाँति सी।
तिनके समीप तहाँ खंज की सी जोरी, लाल!
आरसी से अमल निहारे बहु भाँति सों ॥
ताके ढिग अमल ललौंह बिबि बिद्रुम से,
फरकति ओप जामैं मोतिन की कांति सी।
भीतर तें कढ़ति मधुर बीन कैसी धुनि,
सुनि करि भान परि कानन सुहाति सी ॥

( ४६ ) **थान कवि**—ये चदन बंदीजन के भानजे थे और डौड़ियाखेरे ( जिला रायबरेली ) मे रहते थे। इनका पूरा नाम थानराय था । इनके पिता निहालराय, पितामह महासिंह और प्रपितामह लालराय थे। इन्होंने संवत् १८५८ मे 'दलेलप्रकाश' नामक एक रीतिग्रंथ चँड़रा ( बैसवारा ) के रईस दलेलसिंह के नाम पर बनाया। इस ग्रंथ में विषयों का कोई क्रम नहीं है। इसमें गणविचार, रस-भाव-भेद, गुणदोष आदि का कुछ निरूपण है और कहीं कहीं अलंकारो के कुछ लक्षण आदि भी दे दिए गए है। कहीं राग-रागिनियों के नाम आए, तो उनके भी लक्षण कह दिए। पुराने टीकाकारो की सी गति है। अंत में चित्रकाव्य भी रखे हैं। साराश यह है कि इन्होंने कोई सर्वांगपूर्ण ग्रंथ बनाने के उद्देश्य से इसे नहीं लिखा है। अनेक विषयों में अपनी निपुणता का प्रमाण सा इन्होने उपस्थित किया है। ये इसमे सफल हुए हैं, यह अवश्य कहना पड़ता है। जो विषय लिया है उसपर उत्तम कोटि

काल संवत् १८४६ से १८८० तक माना जा सकता है। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे देखिए—

अलि टसे अधर सुगंध पाय आनन को,
कानन में ऐसे चारु चरन चलाए हैं।
फटि गई कंचुकी लगे तें कट कुंजन के,
वेनी बरहीन खोली, बार छबि छाए हैं॥
वेग तें गवन कीनो, धक धक होत सीनो,
ऊरध उसासैं तन सेद सरसाए हैं।
भली प्रीति पाली वनमाली के बुलाइबे को,
मेरे हेत आली बहुतेरे दुख पाए हैं॥

---

घर घर घाट घाट बाट बाट ठाट ठटे,
वेला औ कुवेला फिरैं चेला लिए आस पास।
कविन सों वाद करैं, भेद बिन नाद करैं,
महा उनमाद करैं, धरम करम नास॥
वेनी कवि कहैं विभिचारिन को बादसाह,
अतन प्रकासत न सतन सरम तास।
ललना ललक, नैन मैन की भलक,
हँसि हेरत अलक रद खलक ललकदास॥

---

चींटी की चलावै को ? मसा के मुख आपु जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है॥
वेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सों लगत है॥

(४८) **बेनी प्रवीन**—ये लखनऊ के वाजपेयी थे और लखनऊ के बादशाह गाजीउद्दीन हैदर के दीवान राजा दयाकृष्ण कायस्थ के पुत्र नवल कृष्ण उर्फ ललनजी के आश्रय में रहते थे जिनकी आज्ञा से सं० १८७४ मे इन्होने 'नवरस-तरंग' नामक ग्रंथ बनाया। इसके पहले 'शृगार-भूषण' नामक एक ग्रंथ ये बना चुके थे। ये कुछ दिन के लिये महाराज नाना राव के पास बिठूर भी गए थे और उनके नाम पर "नानाराव प्रकाश" नामक अलंकार का एक बड़ा ग्रंथ कविप्रिया के ढंग पर लिखा था। खेद है इनका कोई ग्रंथ अब तक प्रकाशित न हुआ। इनके फुटकल कवित्त इधर उधर बहुत कुछ सग्हीत और उद्धृत मिलते है। कहते हैं कि बेनी बंदीजन (भॅड़ौवावाले) से इनसे एक बार कुछ वाद हुआ था जिसमें प्रसन्न होकर इन्होने इन्हे 'प्रवीन' की उपाधि दी थी। पीछे से रुग्ण होकर ये सपत्नीक आबू चले गए और वहीं इनका शरीर-पात हुआ। इन्हे कोई पुत्र न था।

इनका 'नवरस-तरंग' बहुत ही मनोहर ग्रंथ है। उसमे नायिकाभेद के उपरात रसभेद और भावभेद का संक्षेप मे निरूपण हुआ है। उदाहरण और रसो के भी दिए हैं पर रीतिकाल के रससंबधी और ग्रंथों की भॉति यह शृगार का ही ग्रंथ है। इसमे नायिकाभेद के अंतर्गत प्रेम-क्रीड़ा की बहुत सी सुदर कल्पनाऍ भरी पड़ी हैं। भाषा इनकी बहुत साफ सुथरी और चलती है, बहुतो की भाषा की तरह लद्दू नहीं। ऋतुओं के वर्णन भी उद्दीपन की दृष्टि से जहाँ तक रमणीय हो सकते हैं किए हैं, जिनमें प्रथानुसार भोग-विलास की सामग्री भी बहुत कुछ आ गई है। अभिसारिका आदि कुछ नायिकाओ के वर्णन बड़े ही सरस हैं। ये व्रजभाषा के मतिराम ऐसे कवियों के समकक्ष है और कहीं कहीं तो भाषा और भाव के माधुर्य्य मे पद्माकर तक से टक्कर लेते है। जान पड़ता है, शृंगार के लिये सवैया ये विशेष उपयुक्त समझते थे। कविता के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते है—

> भोर ही न्योति गई ती तुम्हे वह गोकुल गॉव की ग्वालिनि गोरी।
> आधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि करी बरजोरी॥
> आवै हँसी मोहिं देखत लालन, भाल में दीन्हीं महावर घोरी।
> एते बडे ब्रजमंडल में न मिली कहुँ मॉगेहु रंचक रोरी॥

की रचना की है। भाषा में मंजुलता और लालित्य है। ह्रस्व वर्णों की मधुर योजना इन्होंने बड़ी सुंदर की है। यदि अपने ग्रंथ को इन्होंने भानमती का पिटारा न बनाया होता और एक ढंग पर चले होते तो इनको बडे कवियों की सी ख्याति होती, इसमें संदेह नहीं। इनकी रचना के दो नमूने देखिए—

दासन पै दाहिनी परम हंसवाहिनी हौं,
पोथी कर, बीना सुरमंडल मढ़त है।
आसन कँवल, अंग अंबर धवल,
मुख चंद सो अवँल, रंग नवल चढ़त है॥
ऐसी मातु भारती की आरती करत थान,
जाको जस विधि ऐसो पंडित पढ़त है।
ताकी दया-दीठि लाख पाथर निराखर के,
मुख ते मधुर मंजु आखर कढ़त है॥

---

कलुष-हरनि सुख-करनि सरनजन
बरनि बरनि जस कहत धरनिधर।
कलिमल-कलित वलित-अघ खलगन
लहत परमपद कुटिल कपटतर॥
मदन-कदन सुर-सदन बदन ससि,
अमल नवल दुति भजन भगतधर।
सुरसरि! तव जल दरस परस करि,
सुर सरि सुभगति लहत अधम नर॥

(४७) बेनी बंदीजन—ये बैंती (जिला रायबरेली) के रहनेवाले थे और अवध के प्रसिद्ध वजीर महाराज टिकैतराय के आश्रय मे रहते थे। उन्हीं के नाम पर इन्होंने "टिकैतराय प्रकाश" नामक अलंकार-ग्रंथ संवत् १८४९ मे बनाया। अपने दूसरे ग्रथ "रसविलास" मे इन्होंने रस-निरूपण किया है। पर ये अपने इन दोनों ग्रंथो के कारण इतने प्रसिद्ध नहीं है जितने

अपने भँड़ौवों के लिये। इनके भँड़ौवों का एक संग्रह "भँड़ौवा-संग्रह" के नाम से भारतजीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

भँडौवा हास्यरस के अंतर्गत आता है। इसमे किसी की उपहासपूर्ण निंदा रहती है। यह प्रायः सब देशों मे साहित्य का एक अंग रहा है। जैसे फारसी और उर्दू की शायरी में 'हजो' का एक विशेष स्थान है वैसे ही ॲंगरेजी मे सटायर ( Satire ) का। पूरबी साहित्य मे 'उपहास-काव्य' के लक्ष्य अधिकतर कंजूस अमीर या आश्रयदाता ही रहे हैं और योरपीय साहित्य मे समसामयिक कवि और लेखक। इससे योरप के उपहास-काव्य मे साहित्यिक मनोरंजन की सामग्री अधिक रहती थी। उर्दू-साहित्य मे सौदा 'हजो' के लिये प्रसिद्ध है। उन्होने किसी अमीर के दिए घोडे की इतनी हँसी की है कि सुननेवाले लोट पोट हो जाते है। इसी प्रकार किसी कवि ने औरंगजेब की दी हुई हथिनी की निंदा की है—

तिमिरलंग लइ मोल, चली बाबर के हलके।
रही हुमायूँ संग फेरि अकबर के दल के॥
जहाँगीर जस लियो पीठि को भार हटायो।
साहजहाँ करि न्याव ताहि पुनि माँड चटायो॥

बल-रहित भई, पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार-डर।
औरगजेब करिनी सोई लै दीन्ही कविराज कर॥

इस पद्धति के अनुयायी बेनीजी ने भी कहीं बुरी रजाई पाई तो उसकी निंदा की, कहीं छोटे आम पाए तो उनकी निंदा जी खोल कर की।

पर जिस प्रकार उर्दू के शायर कभी कभी दूसरे कवि पर भी छींटा दे दिया करते है, उसी प्रकार बेनीजी ने भी लखनऊ के ललकदास महत ( इन्होने 'सत्योपाख्यान' नामक एक ग्रंथ लिखा है, जिसमे रामकथा बडे विस्तार से चौपाइयो मे कही है ) पर कुछ कृपा की है। जैसे "बाजे बाजे ऐसे डलमऊ मे बसत जैसे मऊ के जुलाहे, लखनऊ के ललकदास"। इनका 'टिकैत-प्रकाश' सवत् १८४६ मे और 'रसविलास' सवत् १८७४ में बना। अतः इनका कविता-

जान्यो न मैं ललिता अलि ताहि जो सोवत माहिं गई करि हाँसी।
लाए हिए नख केहरि के सम, मेरी तऊ नहिं नींद बिनासी॥
लै गई अंबर बेनी प्रवीन ओढ़ाय लटी दुपटी दुखरासी।
तोरि तनी, तन छोरि अभूपन भूलि गई गर देन को फाँसी॥

घनसार पटीर मिलै मिलै नीर चहै तन लावै न लावै चहै।
न बुझै बिरहागिनि झार झरी हू चहै घन लावै न लावै चहै॥
हम टेरि सुनावतीं बेनी प्रवीन चहै मन लावै न लावै चहै।
अब आवै बिदेस तें पीतम गेह, चहै धन लावै, न लावै चहै॥

कालि ही गूँथी बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ तें यहाँ पुखराज की, संग एई जमुना तट बाला॥
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन, हँसैं सुनि बैनन नैन रसाला।
जानति ना अँग की बदली, सब सौं "बदली बदली" कहै माला॥

---

सोभा पाई कुंजभौन जहाँ जहाँ कीन्हो गौन,
सरस सुगंध पौन पाई मधुपनि है।
बीथिन बिथोरे मुकुताहल मराल पाए,
आली दुसाल साल पाए अनगनि है॥
रैनि पाई चाँदनी फटक सी चटक रुख,
सुख पायो पीतम प्रवीन बेनी धनि है।
बैन पाई सारिका, पढ़न लागी कारिका,
सो आई अभिसारिका कि चारु चिंतामनि है।

(४९) जसवंतसिंह द्वितीय—ये बघेल क्षत्रिय और तेरवाँ (कन्नौज के पास) के राजा थे और बड़े विद्या-प्रेमी थे। इनके पुस्तकालय मे संस्कृत और भाषा के बहुत से ग्रंथ थे। इनका कविताकाल संवत् १८५६ अनुमान किया गया है। इन्होंने दो ग्रंथ लिखे—एक सालिहोत्र और दूसरा शृंगार-शिरोमणि। यहाँ इसी दूसरे ग्रंथ से प्रयोजन है, जो शृंगार रस का एक बड़ा ग्रंथ है। कविता साधारण है। एक कवित्त देखिए—

घनन के घोर, सोर चारों ओर मोरन के,
अति चितचोर तैसे अंकुर मुनै रहैं।
कोकिलन कूक हूक होति बिरहीन हिय
लूक से लगत चीर चारन चुनै रहैं॥
झिल्ली भनकार तैसी पिकन पुकार डारी,
मारि डारी डारी द्रुम अंकुर सु नै रहैं।
लुनै रहैं प्रान प्रानप्यारे जसवंत बिनु,
कारे पीरे लाल ऊदे बादर उनै रहे॥

(५०) यशोदानंद—इनका कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं। शिवसिंहसरोज मे जन्म संवत् १८२८ लिखा पाया जाता है। इनका एक छोटा-सा ग्रथ "बरवै नायिका-भेद" ही मिलता है जो निस्संदेह अनूठा है और रहीमवाले से अच्छा नहीं तो उसकी टक्कर का है। इसमे ६ बरवा संस्कृत मे और ५३ ठेठ अवधी भाषा मे है। अत्यंत मृदु और कोमल भाव अत्यत सरल और स्वाभाविक रीति से व्यंजित हैं। भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है। इस दृष्टि से इनकी यह छोटी सी रचना बहुत सी बडी बडी रचनाओ से मूल्य में बहुत अधिक है। कवियो की श्रेणी मे ये निस्संदेह उच्च स्थान के अधिकारी हैं। इनके बरवै के नमूने देखिए—

(संस्कृत) यदि च भवति बुध-मिलनं किं, त्रिदिवेन।
यदि च भवति शठ-मिलनं किं निरयेण॥

---

(भाषा) अहिरिनि मन कै गहिरिनि उतरु न देइ।
नैना करै मथनिया, मन मथि लेइ॥
तुरकिनि जाति हुरुकिनी अति इतराई।
छुवन न देइ इजरवा मुरि मुरि जाइ॥
पीतम तुम कचलोइया, हम गजवेलि।
सारस कै असि जोरिया फिरौ अकेलि।

(५१) करन कवि—ये षट्कुल कान्यकुब्जो के अतर्गत पॉड़े थे और

छत्रसाल के वंशधर पन्ना-नरेश महाराज हिंदूपति की सभा में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८६० के लगभग माना जा सकता है। इन्होंने 'साहित्यरस' और 'रसकल्लोल' नामक दो रीतिग्रंथ लिखे हैं। 'साहित्यरस' में इन्होंने लक्षणा, व्यंजना, ध्वनिभेद, रसभेद, गुण, दोष आदि काव्य के प्रायः सब विषयों का विस्तार से वर्णन किया है। इस दृष्टि से यह एक उत्तम रीतिग्रंथ है। कविता भी इसकी सरस और मनोहर है। इससे इनका एक सुविज्ञ कवि होना सिद्ध होता है। इनका एक कवित्त देखिए—

कंटकित होत गात विपिन-समाज देखि,
हरी हरी भूमि हेरि हियो लरजतु है।
एते पै करन धुनि परति मयूरन की,
चातक पुकारि तेह ताप सरजतु है॥
निपट चवाई भाई बंधु जे बसत गाँव,
दावँ परे जानि कै न कोऊ बरजतु है।
अरज्यो न मानी तू, न गरज्यो चलत बार,
एरे घन बैरी ! अब काहे गरजतु है॥

---

खल खंडन, मंडन धरनि, उद्धत उदित उदंड।
दलमंडन दारुन समर, हिंदुराज भुजदंड॥

( ५२ ) गुरदीन पाँड़े—इनके संबंध मे कुछ ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १८६० मे 'बागमनोहर' नामक एक बहुत ही बड़ा रीतिग्रंथ कविप्रिया की शैली पर बनाया। 'कवि-प्रिया' से इसमे विशेषता यह है कि इसमें पिंगल भी आ गया है। इस एक ही ग्रंथ में पिंगल, रस, अलंकार, गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि सब कुछ अध्ययन के लिये रख दिया गया है। इससे यह साहित्य का एक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें हर प्रकार के छंद है। संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में बड़ी सुंदर रचना है। यह अत्यंत रोचक और उपादेय ग्रंथ है। कुछ पद्य देखिए—

मुख-ससी ससि दून कला धरे। कि मुकता-गन जावक में भरे।
ललित कुंदकली अनुहारि के। दसन हैं वृषभानु-कुमारि के॥
सुखद जंत्र कि भाल सुहाग के। ललित मंत्र किधौं अनुराग के।
भ्रुकुटियों वृषभानु-सुता लसैं। जनु अनंग-सरासन को हँसैं॥
मुकुर तौ पर-दीपति को धनी। ससि कलंकित, राहु-बिथा घनी।
अपर ना उपमा जग में लहै। तव प्रिया! मुख के सम को कहै?

(५३) ब्रह्मदत्त—ये ब्राह्मण थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायण-सिंह के छोटे भाई बाबू दीपनारायणसिंह के आश्रित थे। इन्होंने संवत् १८६० मे 'विद्वद्विलास' और १८६५ में 'दीपप्रकाश' नामक एक अच्छा अलकार का ग्रंथ बनाया। इनकी रचना सरल और परिमार्जित है। आश्रय-दाता की प्रशंसा मे यह कवित्त देखिए—

कुसल कलानि में, करनहार कीरति को,
कवि कोविदन को कलप-तरवर है।
सील सममान बुद्धि विद्या को निधान ब्रह्म,
मतिमान हसन को मानसरवर है॥
दीपनारायन, अवनीप को अनुज प्यारो,
दीन दुख देखत हरत हरबर है।
गाहक गुनी को, निरवाहक दुनी को नीको,
गनी गज-बकस, गरीबपरवर है॥

(५४) पद्माकर भट्ट—रीतिकाल के कवियो मे सहृदय-समाज इन्हे बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आता है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड दूसरा नही हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है। रीतिकाल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचकर फिर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि है उसी प्रकार प्रसिद्धि मे अंतिम भी। देश मे जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नही।

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल भट्ट का जन्म बाँदे मे हुआ

था। ये पूर्ण पंडित और अच्छे कवि भी थे जिसके कारण इनका कई राजधानियों मे अच्छा समान हुआ था। ये कुछ दिनो तक नागपुर के महाराज रघुनाथराव ( अप्पा साहब ) के यहाँ रहे, फिर पन्ना के महाराज हिंदूपति के गुरु हुए और कई गाँव प्राप्त किए। वहाँ से ये फिर जयपुर-नरेश महाराजा प्रतापसिंह के यहाँ जा रहे जहाँ इन्हे 'कविराज-शिरोमणि' की पदवी और अच्छी जागीर मिली। उन्हीं के पुत्र सुप्रसिद्ध पद्माकरजी हुए। पद्माकरजी का जन्म संवत् १८१० में बाँदे मे हुआ। इन्होने ८० वर्ष की आयु भोगकर अत मे कानपुर में गंगातट पर संवत् १८९० मे शरीर छोड़ा। ये कई स्थानो पर रहे। सुगरा के नोने अर्जुनसिंह ने इन्हे अपना मत्रगुरु बनाया। सवत् १८४६ मे ये गोसाई अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ गए जो बडे अच्छे योद्धा थे और पहले बाँदे के नवाब के यहाँ थे, फिर अवध के बादशाह के यहाँ सेना के बडे अधिकारी हुए थे। इनके नाम पर पद्माकरजी ने "हिम्मत बहादुर विरदावली" नाम की वीररस की एक बहुत ही फड़कती हुई पुस्तक लिखी। संवत् १८५६ में ये सितारे के महाराज रघुनाथराव ( प्रसिद्ध राघोबा ) के यहाँ गए और एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव पाए। इसके उपरांत पद्माकरजी जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ पहुँचे और वहाँ बहुत दिन तक रहे। महाराज प्रतापसिंह के पुत्र महाराज जगतसिंह के समय मे भी ये बहुत काल तक जयपुर रहे और उन्हीं के नाम पर अपना ग्रंथ 'जगद्विनोद' बनाया। ऐसा जान पड़ता है जयपुर मे ही इन्होंने अपना अलंकार का ग्रंथ 'पद्माभरण' बनाया जो दोहो मे है। ये एक बार उदयपुर के महाराणा भीमसिंह के दरबार मे भी गए थे जहाँ इनका बहुत अच्छा संमान हुआ था। महाराणा साहब की आज्ञा से इन्होंने "गनगौर" के मेले का वर्णन किया था। महाराज जगतसिंह का परलोकवास संवत् १८६० मे हुआ। अतः उसके अनतर ये ग्वालियर के महाराज दौलतराव सेंधिया के दरबार मे गए और यह कवित्त पढ़ा—

मीनागढ बंबई सुमंद मंदराज बंग
बंदर को बद करि बंदर बसावैगो।

कहै पदमाकर कसकि कासमीर हू को,
पिंजर सों घेरि के कलिंजर छुड़ावैगो ॥
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं,
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावैगो ।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्ट करि,
कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो ॥

सेंधिया दरबार मे भी इनका अच्छा मान हुआ। कहते है कि वहाँ सरदार ऊदाजी के अनुरोध से इन्होंने हितोपदेश का भाषानुवाद किया था। ग्वालियर से ये बूँदी गए और वहाँ से फिर अपने घर बाँदे मे आ रहे। आयु के पिछले दिनो मे ये रोगग्रस्त रहा करते थे। उसी समय इन्होंने "प्रबोध-पचासा" नामक विराग और भक्तिरस से पूर्ण ग्रंथ बनाया। अतिम समय निकट जान पद्माकर जी गगातट के विचार से कानपुर चले आए और वहीं अपने जीवन के शेष सात वर्ष पूरे किए। अपनी प्रसिद्ध 'गगालहरी' इन्होने इसी समय के बीच बनाई थी।

'राम-रसायन' नामक वाल्मीकि-रामायण का आधार लेकर लिखा हुआ एक चरित-काव्य भी इनका दोहे चौपाइयो में है पर उसमे इन्हे काव्य संबधिनी सफलता नहीं हुई है। संभव है वह इनका न हो।

मतिरामजी के 'रसराज' के समान पद्माकरजी का 'जगद्विनोद' भी काव्य रसिको और अभ्यासियों दोनों का कंठहार रहा है। वास्तव मे यह श्रृंगाररस का सार-ग्रथ सा प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भावपूर्ण मूर्तिविधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति मे मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्त्ति-विधान करनेवाली कल्पना विहारी को छोड़ और किसी कवि मे नहीं पाई जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती, या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का सयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप से विकसित हो सकती है। भाषा की सब प्रकार की शक्तियो पर इन कवि का अधिकार दिखाई

पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव-भरी प्रेम-मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्यजीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है। सरांश यह कि इनकी भाषा मे वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि मे होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदासजी मे दिखाई पड़ती हैं।

अनुप्रास की प्रवृत्ति तो हिंदी के प्रायः सब कवियो मे आवश्यकता से अधिक रही है। पद्माकरजी भी उसके प्रभाव से नहीं बचे है। पर थोड़ा ध्यान देने पर यह प्रवृत्ति इनमे अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यों मे ही मिलेगी जिसमे ये जान बूझकर शब्द-चमत्कार प्रकट करना चाहते थे। अनुप्रास की दीर्घ शृंखला अधिकतर इनके वर्णनात्मक ( Descriptive ) पद्यों मे पाई जाती है। जहाँ मधुर कल्पना के बीच सुंदर कोमल भाव-तरंग का स्पंदन है वहाँ की भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ-सुथरी है—वहाँ अनुप्रास भी है तो बहुत संयत रूप में। भाव-मूर्त्ति-विधायिनी कल्पना का क्या कहना है? ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मजमून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमे थी। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्तिमान कर देते है कि सुननेवालो का हृदय आप से आप हामी भरता है। यह लाक्षणिकता भी इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

पद्माकरजी की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते है—

फागु की भीर, अभीरिन मे गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु विदा दई मीडि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी"॥

आई संग आलिनि के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंडुरी सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई, तामे
मधुर मलार गाई ओर बंसीबट की।
तान लागी लटकी, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥

---

गोकुल के, कुल के, गली के गोप गाँवन के
जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पदमाकर परोस पिछवारन के
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली! याही कोद कहूँ
नीके कै निहारैं ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो श्यामरंग में चोराइ चित चोराचोरी॥
बोरत तो बोरयो, पै निचोरत बनै नहीं॥

---

आरस सों आरत, सँभारत न सीस-पट,
गजब गुजारति गरीबन की धार पर।
कहै पदमाकर सुरा सों सरसार, तैसे
बिथुरि बिराजै बार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि-मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर॥

---

मोहिं लखि सोवत बिथोरिगो सुबेनी बनी,
तोरिगो हिए को हार, छोरिगो सुगैया को।
कहै पद्माकर त्यों घोरिगो घनेरो दुख,
बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया को॥
अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास? यातें
सोचन खरी मैं परी जोवति जुन्हैया को।
बूझिहैं चवैया तब कैहौं कहा, दैया!
इत पारिगो को, मैया! मेरी सेज पै कन्हैया को?

---

एहो नदलाल! ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जोरे जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तौ ये झकोरे लगे,
औरे लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सों
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौही लगि चैन जौ लौं चेतिहै न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी॥

---

चालो सुनि चंदमुखी चित में सुचैन करि,
तित बन बागन घनेरे अलि घूमि रहे।
कहै पदमाकर मयूर मंजु नाचत है,
चाय सों चकोरनी चकोर चूमि चूमि रहे।
कदम, अनार, आम, अगर, असोक-थोक
लतनि समेत लोने लोने लगि भूमि रहे।
फूलि रहे, फलि रहे, फबि रहे, फैलि रहे,
झपि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे।

---

तीखे तेगवाही जे सिपाही चढ़ैं घोड़न पै,
स्याही चढ़ैं अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहै पदमाकर निसान चढ़ैं हाथिन पै,
धूरि धार चढ़ै पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जग जीतिबे के हेतु,
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहाली चढ़ैं बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़ै बैल पै॥

---

ए ब्रजचंद गोविंद गोपाल! सुन्यौं क्यौं न एते कलाम किए मैं।
त्यों पदमाकर आनँद के नद हौ, नँदनंदन! जानि लिए मैं॥
माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
दूरि न दौरि दुरयो जौ चहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिए मैं?

(५५) ग्वाल कवि—ये मथुरा के रहनेवाले बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं। इनका कविताकाल संवत् १८७९ से संवत् १९१८ तक है। अपना पहला ग्रंथ 'यमुना लहरी' इन्होंने संवत् १८७९ में और अंतिम ग्रंथ 'भक्तभावन' संवत् १९१९ में बनाया। रीतिग्रंथ इन्होंने चार लिखे है—'रसिकानंद' (अलंकार), 'रसरंग' (संवत् १९०४) कृष्णजू को नख-शिख (संवत् १८८४) और 'दूषण-दर्पण' (संवत् १८९१)। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और मिले हैं—हम्मीर हठ (संवत् १८८१) और गोपी पचीसी।

और भी दो ग्रंथ इनके लिखे कहे जाते हैं—'राधा माधव-मिलन' और 'राधा-अष्टक'। 'कविहृदय-विनोद' इनकी बहुत सी कविताओं का संग्रह है।

रीतिकाल की सनक इनमे इतनी अधिक थी कि इन्हे 'यमुना लहरी' नामक देवस्तुति मे भी नवरस और षट्ऋतु सुझाई पड़ी है। भाषा इनकी चलती और व्यवस्थित है। वाग्विदग्धता भी इनके अच्छी है। षट्ऋतुओं का वर्णन इन्होंने विस्तृत किया है, पर वही शृंगारी उद्दीपन के ढंग का। इनके कवित्त

लोगो के मुँह से अधिक सुने जाते है जिनमे बहुत से भोग-विलास के अमीरी सामान भी गिनाए गए हैं। ग्वाल कवि ने देशाटन अच्छा किया था और इन्हे भिन्न भिन्न प्रांतो की बोलियों का अच्छा ज्ञान हो गया था। इन्होंने ठेठ पूरबी हिंदी, गुजराती और पंजाबी भाषा में भी कुछ कवित्त सवैए लिखे हैं। फारसी-अरबी शब्दों का इन्होने बहुत प्रयोग किया है। सारांश यह कि ये एक विदग्ध और कुशल कवि थे पर कुछ फक्कड़पन लिए हुए। इनकी बहुत सी कविता बाजारी है। थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते है—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झलेहू ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी॥
ग्वाल कवि कहै कोरे कुभन तें कूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेरि अब,
पीवत हूँ पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥

---

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोर हू रही न घन घने या फरद की।
अंबर अमल, सर सरिता विमल भल,
पंक को न अंक औ न उड़न गरद की॥
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए
पंथिन की दूर भई दूषन दरद की।
जल पर, थल पर, महल, अचल पर,
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की॥

---

जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ,
ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।

जाकी बदजाती बदजाती यहाँ चारन में,
तार्को बदजाती बदजाती हाँ उराहना ॥
ग्वाल कवि वे ही परसिद्ध सिद्ध जो हैं जग,
वे ही परसिद्ध ताकी यहाँ हाँ सराहना।
जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना ॥

---

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि,
खाव पियो, देव लेव, यहीं रह जाना है।
राजा राव उमराव केते बादसाह भए,
कहाँ ते कहाँ को गए, लग्यो न ठिकाना है ॥
ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे !
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है।
आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है ॥

( ५६ ) प्रतापसाहि—ये रतनेस बंदीजन के पुत्र थे और चरखारी ( बुंदेलखंड ) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १८८२ मे "व्यंग्यार्थ-कौमुदी" और संवत् १८८६ में "काव्य-विलास" की रचना की। इन दोनो परम प्रसिद्ध ग्रंथो के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकें इनकी बनाई हुई और हैं—

जयसिंह प्रकाश ( सं० १८५२ ), शृंगार-मंजरी ( सं० १८८९ ), शृंगार शिरोमणि ( सं० १८९४ ), अलंकार-चिंतामणि ( सं० १८९४ ), काव्य-विनोद ( १८९६ ), रसराज की टीका ( सं० १८९६ ), रत्नचंद्रिका ( सतसई की टीका सं० १८९६ ), जुगल नखशिख ( सीताराम का नखशिख वर्णन ), बलभद्र नखशिख की टीका।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८८० से १९०० तक ठहरता है। पुस्तकों के नाम से ही इनकी साहित्य-मर्मज्ञता और पांडित्य का

तक यह न ज्ञात हो कि कवि-परंपरा में आँख की उपमा मछली से दिया करते हैं, जब तक यह सब अर्थ स्फुट नहीं हो सकता।

प्रतापसाहिजी का यह कौशल अपूर्व है कि उन्होंने एक रसग्रंथ के अनुरूप नायिकाभेद के क्रम से सब पद्य रखे हैं जिससे उनके ग्रंथ को जी चाहे तो नायिकाभेद का एक अत्यंत सरस और मधुर ग्रथ भी कह सकते हैं। यदि हम आचार्य्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करते हैं तो मतिराम, श्रीपति और दास से ये कुछ बीस ही ठहरते हैं। इधर भाषा की स्निग्ध सुख-सरल गति, कल्पना की मूर्त्तिमत्ता और हृदय की द्रवणशीलता मतिराम, श्रीपति और बेनी प्रवीन के मेल मे जाती है तो उधर आचार्य्यत्व इन तीनो से भी और दास से भी कुछ आगे ही दिखाई पडता है। इनकी प्रखर प्रतिभा ने मानो पद्माकर के साथ साथ रीतिबद्ध काव्यकला को पूर्णता पर पहुँचाकर छोड़ दिया। पद्माकर की अनुप्रास-योजना कभी कभी रुचिकर सीमा के बाहर जा पड़ी है, पर भावुक और प्रवीण की वाणी मे यह दोष कहीं नहीं आने पाया है। इनकी भाषा मे बड़ा भारी गुण यह है कि वह बराबर एक समान चलती है—उसमे न कहीं कृत्रिम आडंबर का अड़गा है, न गति का शैथिल्य और न शब्दो की तोड़-मरोड़। हिंदी के मुक्तक-कवियों मे समस्यापूर्ति की पद्धति पर रचना करने के कारण एक अत्यंत प्रत्यक्ष दोष देखने मे आता है। उनके अंतिम चरण की भाषा तो बहुत ही गँठी हुई, व्यवस्थित और मार्मिक होती है पर शेष तीनो चरणो मे यह बात बहुत ही कम पाई जाती है। बहुत से स्थलो पर तो प्रथम तीन चरणों की वाक्यरचना बिल्कुल अव्यवस्थित और बहुत सी पद-योजना निरर्थक होती है। पर 'प्रताप' की भाषा एकरस चलती है। इन सब बातो के विचार से हम प्रतापजी को पद्माकरजी के समकक्ष ही बहुत बड़ा कवि मानते है।

प्रतापजी की कुछ रचनाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं —

> चचलता अपनी तजि कै रस ही रस सों रस सुंदर पीजियो।
> कोऊ कितेक कहै तुमसों तिनकी कही बातन को न पतीजियो॥

चोज चवाइन के सुनियो न, यही- इक मेरी कही नित कीजियो ।
मंजुल मंजरी पैहो, मलिंद ! विचारि कै भार, सँभारि कै दीजियो ॥

---

तड़पै तड़िता चहुँ ओरन तें छिति छाई समीरन की लहरैं ।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं ॥
इनकी करनी बरनी न परै, मगरूर गुमानन सों गहरैं ।
घन ये नभ मंडल में छहरैं, घहरैं कहुँ जाय, कहूँ ठहरैं ॥

---

कानि करै गुरुलोगन की, न सखीन की सीखन ही मन लावति ।
एड़-भरी अँगराति खरी, कत घूँघट में नए नैन नचावति ॥
मंजन कै दृग अंजन आँजति, अंग अनंग-उमंग बढ़ावति ।
कौन सुभाव री तेरो परयो, खिन आँगन मे, खिन पौरि में आवति ॥

---

कहा जानि, मन में मनोरथ बिचारि कौन,
चेति कौन काज, कौन हेतु उठि आई प्रात ।
कहै परताप छिन डोलिबो पगन कहूँ,
अंतर को खोलिबो न बोलिबो हमैं सुहात ॥
ननद जिठानी सतरानी, अनखानि अति,
रिस कै रिसानी, सो न हमैं कछू जानी जात ।
चाहौ पल बैठी रहौ, चाहौ उठि जाव तौ न;
हमको हमारी परी, बूझै को तिहारी बात ?

---

चंचल चपला चारु चमकत चारो ओर,
झूमि झूमि धुरवा धरनि परसत है ।
सीतल समीर लगै दुखद वियोगिन्ह,
सँयोगिन्ह समाज सुखसाज सरसत है ॥
कहै परताप अति निविड़ अँधेरी माँह,
मारग चलत नाहिं नेकु दरसत है ।

झुमडि झलानि चहुँ कोद तें उमडि आज
धाराधर धारन अपार बरसत है ॥

---

महाराज रामराज रावरो सजत दल
होत मुख अमल अनंदित महेस के।
सेवत दरीन केते गब्बर गनीम रहैं,
पन्नग पताल त्योंही डरन खगेस के ॥
कहैं परताप धरा धँसत त्रसत,
कसमसत कमठ-पीठि कठिन कलेस के।
कहरत कोल, हहरत है दिगीस दस,
लहरत सिंधु, थहरत फन सेस के ॥

( ५७ ) **रसिक गोविंद**—ये निंबार्क संप्रदाय के एक महात्मा हरिव्यास की गद्दी के शिष्य थे और वृंदावन में रहते थे। हरिव्यासजी की शिष्यपरपरा मे सर्वेश्वरशरण देवजी बडे भारी भक्त हुए है। रसिकगोविंदजी उन्हीं के शिष्य थे। ये जयपुर ( राजपूताना ) के रहनेवाले और नटाणी जाति के थे। इनके पिता का नाम शालिग्राम, माता का गुमाना, चाचा का मोतीराम और बड़े भाई का बालमुकुंद था। इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८९० तक अर्थात् विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर अत तक स्थिर होता है। अब तक इनके ९ ग्रंथो का पता चला है—

( १ ) **रामायण सूचनिका**—३३ दोहों में अक्षर-क्रम से रामायण की कथा संक्षेप में कही गई है। यह सं० १८५८ के पहले की रचना है। इसके ढंग का पता इन दोहों से लग सकता है—

चकित भूप बानी सुनत गुरु बसिष्ठ समुझाय।
दिए पुत्र तब, ताडका मग में मारी जाय ॥
छाँडत सर मारिच उड्यो, पुनि प्रभु हत्यो सुबाह।
मुनि मख पूरन, सुमन सुर बरसत अधिक उछाह ॥

# प्रकरण ३

## रीतिकाल के अन्य कवि

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों का, जिन्होंने लक्षणग्रंथ के रूप मे रचनाएँ की हैं, संक्षेप मे वर्णन हो चुका है। अब यहाँपर इस काल के भीतर होनेवाले उन कवियों का उल्लेख होगा जिन्होंने रीति-ग्रंथ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तके लिखी हैं। ऐसे कवियों मे कुछ ने तो प्रबंध-काव्य लिखे हैं, कुछ ने नीति या भक्ति सबंधी पद्य और कुछ ने शृंगार रस की फुटकल कविताएँ लिखी है। ये पिछले वर्ग कवि प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अंतर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और उन्होंने भी शृंगार-रस के फुटकल पद्य कहे है। रचना-शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ऐसे कवियों में घनानंद सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। इस प्रकार के अच्छे कवियों की रचनाओं मे प्रायः मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या कुछ अधिक पाई जाती है। बात यह है कि इन्हे कोई बंधन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी ये लिख गए। रीतिबद्ध ग्रंथ जो लिखने बैठते थे उन्हे प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिये पद्य लिखना आवश्यक था जिनमें सब प्रसग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे। रसखान, घनानद, आलम, ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए हैं उनमें किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की है।

प्रबंध-काव्य की उन्नति इस काल मे कुछ विशेष न हो पाई। लिखे तो अनेक कथा-प्रबंध गए पर उनमे से दो ही चार में कवित्व का यथेष्ट आकर्षण पाया जाता है। सबलसिंह का महाभारत, छत्रसिंह की विजयमुक्तावली, गुरु गोविंदसिंहजी का चडीचरित्र, लाल कवि का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मीर-रासो, गुमान मिश्र का नैषधचरित, सरयूराम का जैमिनि पुराण, सूदन का सुजानचरित्र, देवीदत्त की बैतालपचीसी, हरनारायण की माधवानल कामकंदला,

ब्रजवासीदास का ब्रजविलास, गोकुलनाथ आदि का महाभारत, मधुसूदनदास का रामाश्वमेध, कृष्णदास की भाषा भागवत, नवलसिंहकृत भाषा सप्तशती, आल्हारामायण, आल्हाभारत, मूलढोला तथा चंद्रशेखर का हम्मीर हठ, श्रीधर का जंगनामा, पद्मकार का रामरसायन, ये इस काल के मुख्य कथात्मक काव्य है। इनमे चद्रशेखर के हम्मीरहठ, लाल कवि के छत्रप्रकाश, जोधराज के हम्मीररासो, सूदन के सुजानचरित्र और गोकुलनाथ आदि के महाभरत मे ही काव्योपयुक्त रसात्मकता भिन्न भिन्न परिमाण मे पाई जाती है। 'हम्मीररासो' की रचना बहुत प्रशस्त है। 'रामाश्वमेध' की रचना भी साहित्यिक है। 'ब्रजविलास' मे काव्य के गुण अल्प है पर उसका थोड़ा बहुत प्रचार कम पढ़े लिखे कृष्णभक्तों मे है।

कथात्मक प्रबंधों से भिन्न एक और प्रकार की रचना भी बहुत देखने मे आती है जिसे हम वर्णनात्मक प्रबंध कह सकते है। दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली-वर्णन, जन्मोत्सव वर्णन, मंगलवर्णन, रामकलेवा, इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ है। बडे बड़े प्रबधकाव्यों के भीतर इस प्रकार के वर्णनात्मक प्रसंग रहा करते हैं। काव्य-पद्धति मे जैसे शृंगाररस से नखशिख', 'षट्ऋतु' आदि लेकर स्वतंत्र पुस्तकें बनने लगी वैसे ही कथात्मक महाकाव्यो के अंग भी निकालकर अलग पुस्तके लिखी गईं। इनमे बड़े विस्तार के साथ वस्तुवर्णन चलता है। कभी कभी तो इतने विस्तार के साथ कि परिमार्जित साहित्यिक रुचि के सर्वथा विरुद्ध हो जाता है। जहाँ कविजी अपने वस्तु-परिचय का भंडार खोलते है—जैसे, बरात का वर्णन है तो घोड़े की सैकडो जातियों के नाम, वस्त्रों का प्रसंग आया तो पचीसों प्रकार के कपड़ों के नाम और भोजन की बात आई तो सैकड़ों मिठाइयों, पकवानो और मेवो के नाम— वहाँ तो अच्छे अच्छे धीरो का धैर्य्य छूट जाता है।

चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहनेवालो का है। इनको हम 'कवि' कहना ठीक नही समझते। इनके तथ्य-कथन के ढंग में कभी कभी वाग्वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य के द्वारा काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कही कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तको मे आ जाते हैं जिनमें कुछ

( २ ) रसिक गोविंदानंदघन—यह सात आठ सौ पृष्ठों का बड़ा भारी रीतिग्रंथ है जिसमें रस, नायक-नायिकभेद, अलंकार, गुण-दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। इसे इनका प्रधान ग्रंथ समझना चाहिए। इसका निर्माणकाल वसंत पंचमी संवत् १८५८ है। यह चार प्रबंधों मे विभक्त है। इसमें बड़ी भारी विशेषता यह है कि लक्षण गद्य मे हैं और रसो अलंकारो आदि के स्वरूप गद्य मे समझाने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के बडे बडे आचार्यों के मतो का उल्लेख भी स्थान स्थान पर है। जैसे, रस का निरूपण इस प्रकार है—

"अन्य-ज्ञानरहित जो आनद सो रस। प्रश्न—अन्य-ज्ञान-रहित आनंद तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन। भरत आचार्य्य सूत्रकर्त्ता को मत—विभाव, अनुभाव, संचारो, भाव के जोग तें रस की सिद्धि। अथ काव्यप्रकाश को मत—कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इनही को नाट्य में, काव्य में, विभाव सज्ञा है। अथ टीकाकर्त्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद, चित्, अन्य ज्ञान नहि संग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस"।

इसके आगे अभिनवगुप्ताचार्य्य का मत कुछ विस्तार से दिया है। साराश यह कि यह ग्रंथ आचार्य्यत्व की दृष्टि से लिखा गया है और इसमे संदेह नहीं कि और ग्रंथों की अपेक्षा इसमें विवेचन भी अधिक है और छूटी हुई बातो का समावेश भी। दोषो का वर्णन, जो हिंदी के लक्षण ग्रंथो में बहुत कम पाया जाता है, इन्होंने काव्यप्रकाश के अनुसार विस्तार से किया है। रसों, अलंकारो आदि के उदाहरण कुछ तो अपने हैं, पर बहुत से दूसरे कवियो के। उदाहरणों के चुनने मे इन्होंने बड़ी सहृदयता का परिचय दिया है। संस्कृत के उदाहरणों के अनुवाद भी बहुत सुंदर करके रखे हैं। साहित्यदर्पण के मुग्धा के उदाहरण ( दत्ते सालसमंथरं...इत्यादि ) को देखिए हिंदी मे ये किस सुंदरता से लाए हैं—

आलस सों मंद मंद धरा पै धरति पाय,
भीतर तें बाहिर न आवै चित चाय कै।
रोकति दृगनि छिनछिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसी की दीनी बानि बिसराय कै॥

बोलति बचन मृदु मधुर बनाय, उर
अंतर के भाव की गँभीरता जनाय कै।
बात सखी सुंदर गोविंद की कहात तिन्हैं
सुंदरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै॥

(३) लछिमन चंद्रिका—'रसिकगोविंदानंदघन' में आए लक्षणों का संक्षिप्त संग्रह जो संवत् १८८६ में लछिमन कान्यकुब्ज के अनुरोध से कवि ने किया था।

(४) अष्टदेशभाषा—इसमें व्रज, खड़ी बोली, पंजाबी, पूरबी आदि आठ बोलियों में राधा-कृष्ण की श्रृंगारलीला कही गई है।

(५) पिंगल।

(६) समय प्रबंध—राधाकृष्ण की ऋतुचर्य्या ८५ पद्यों में वर्णित है।

(७) कलिजुग रासो—इसमें १६ कवित्तों में कलिकाल की बुराइयों का वर्णन है। प्रत्येक कवित्त के अंत में "कीजिए सहाय जू कृपाल श्रीगोविंदराय, कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है" यह पद आता है। निर्माणकाल संवत् १८६५ है।

(८) रसिक गोविंद—चंद्रालोक या भाषाभूषण के ढंग की अलंकार की एक छोटी पुस्तक जिसमें लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में है। रचना-काल सं० १८९० है।

(९) युगलरस माधुरी—रोला छंद में राधाकृष्णविहार और वृंदावन का बहुत ही सरस और मधुर भाषा में वर्णन है जिससे इनकी सुहृदयता और निपुणता पूरी पूरी टपकती है। कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं—

मुकलित पल्लव फूल सुगंध परागहि झारत।
जुग मुख निरखि विपिन जनु राई लोन उतारत॥
फूल फलन के भार डार झुकि यों छवि छाजै।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकन काजै॥
मधु मकरंद पराग-लुब्ध अलि मुदित मत्त मन।
बिरद पढ़त ऋतुराज नृपन के मनु बंदीजन॥

---

मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति से भी संबंध रखते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः ऐसी रचना करनेवालों को हम 'कवि' न कहकर 'सूक्तिकार' कहेंगे। रीतिकाल के भीतर वृंद, गिरिधर, घाघ और बैताल अच्छे सूक्तिकार हुए हैं।

पाँचवाँ वर्ग ज्ञानोपदेशकों का है जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्य में कहते हैं। ये कभी कभी समझाने के लिये उपमा रूपक आदि का प्रयोग कर देते हैं, पर समझाने के लिये ही करते हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं। इनका उद्देश्य अधिकतर बोधवृत्ति जाग्रत करने का रहता है, मनोविकार उत्पन्न करने का नहीं। ऐसे ग्रंथकारों को हम केवल 'पद्यकार' कहेंगे। हाँ, इनमें जो भावुक और प्रतिभा-संपन्न हैं, जो अन्योक्तियों आदि का सहारा लेकर भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं वे अवश्य ही कवि क्या, उच्चकोटि के कवि, कहे जा सकते हैं।

छठा वर्ग कुछ भक्त कवियों का है जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढंग पर गाए हैं।

इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा मे वीररस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं, जिनमे युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भरी रहती थी। ऐसी कविताएँ थोड़ी बहुत तो रसग्रंथों के आदि में मिलती हैं, कुछ अलंकार ग्रंथो के उदाहरण रूप (जैसे, शिवराजभूषण) और कुछ अलग पुस्तकाकार जैसे "शिवा-बावनी", "छत्रसाल-दशक", "हिम्मतबहादुर-विरुदावली" इत्यादि। ऐसी पुस्तकों में सर्वप्रिय और प्रसिद्ध वे ही हो सकी हैं जो या तो देवकाव्य के रूप मे हुई है अथवा जिनके नायक कोई देशप्रसिद्ध वीर या जनता के श्रद्धाभाजन रहे है—जैसे, शिवाजी, छत्रसाल, महाराज प्रताप आदि। जो पुस्तके यों ही खुशामद के लिये, आश्रित कवियों की रूढ़ि के अनुसार लिखी गईं, जिनके नायको के लिये जनता के हृदय मे कोई स्थान न था, वे प्राकृतिक नियमानुसार प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। बहुत सी तो लुप्त हो गईं। उनकी रचना मे सच पूछिए तो कवियो ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय ही किया। उनके द्वारा कवियो को अर्थ-सिद्धि भर प्राप्त हुई, यश

का लाभ न हुआ। यदि बिहारी ने जयसिंह की प्रशसा मे ही अपने सात सौ दोहे बनाए होते तो उनके हाथ केवल अशर्फियाँ ही लगी होती। सस्कृत और हिंदी के न जाने कितने कवियो का प्रौढ़ साहित्यिक श्रम इस प्रकार लुप्त हो गया। काव्यक्षेत्र में यह एक शिक्षाप्रद घटना हुई है।

भक्तिकाल के समान रीतिकाल मे भी थोड़ा बहुत गद्य इधर-उधर दिखाई पड़ जाता है पर अधिकाश कच्चे रूप में। गोस्वामियों की लिखी 'वैष्णव-वार्ताओं' के समान कुछ पुस्तकों में ही पुष्ट ब्रजभाषा मिलती है। रही खड़ी बोली। वह पहले कुछ दिनों तक तो मुसलमानों के व्यवहार की भाषा समझी जाती रही। मुसलमानों के प्रसंग मे उसका कभी-कभी प्रयोग कवि लोग कर देते थे, जैसे—अफजल खान को जिन्होने मैदान मारा (भूषण)। पर पीछे दिल्ली राजधानी होने से रीतिकाल के भीतर ही खड़ी बोली शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो गई थी और उसमे अच्छे गद्य ग्रंथ लिखे जाने लगे थे। सवत् १७६८ मे रामप्रसाद निरंजनी ने 'योगवासिष्ठ भाषा' बहुत ही परिमार्जित गद्य मे लिखा। ( विशेष दे० आधुनिक काल )।

इसी रीतिकाल के भीतर रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह ने हिंदी का प्रथम नाटक ( आनंदरघुनदन ) लिखा। इसके उपरात गणेश कवि ने 'प्रद्युम्न-विजय' नामक एक पद्यबद्ध नाटक लिखा जिसमे पात्रप्रवेश, विष्कभक, प्रवेशक आदि रहने पर भी इतिवृत्तात्मक पद्य रखे जाने के कारण नाटक का प्रकृत स्वरूप न दिखाई पड़ा।

( १ ) **बनवारी**—ये सवत् १६६० और १७०० के बीच वर्त्तमान थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होने महाराज जसवतसिंह के बड़े भाई अमर-सिंह की वीरता की बड़ी प्रशंसा की है। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि एक बार शाहजहाँ के दरबार मे सलावतखाँ ने किसी बात पर अमरसिंह को गँवार कह दिया, जिसपर उन्होंने चट तलवार खींचकर सलावतखाँ को वहीं मार डाला। इस घटना का बड़ा ओजपूर्ण वर्णन इनके इन पद्यों मे मिलता है—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हन्यो सलावत खान।

उत गकार मुख ते कढ़ी इतै कढ़ी जमधार ।
'वार' कहन पायो नहीं भई कटारी पार ॥

---

आनि कै सलावत खाँ जोर कै जनाई बात,
तोरि धर-पंजर करेजे जाय करकी ।
दिलीपति साहि को चलन चलिवे को भयो,
गाज्यो गजसिंह को, सुनी जो बात बर की ॥
कहै बनवारी बादसाही के तखत पास,
फरकि फरकि लोथ लोथिन सों अरकी ।
कर की बड़ाई, कै बड़ाई बाहिबे की करौं,
बाढ़ की बड़ाई, कै बड़ाई जमधर की ॥

बनवारी कवि की शृंगाररस की कविता भी बड़ी चमत्कारपूर्ण होती थी। यमक लाने का ध्यान इन्हें विशेष रहा करता था। एक उदाहरण लीजिए—

नेह बर साने तेरे नेह बरसाने देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे ।
साजु लाल सारी, लाल करैं लालसा री,
देखिबे की लालसा री, लाल देखे सुख पावैंगे ॥
तू ही उर बसी, उर बसी नाहिं और तिय,
कोटि उरवसी तजि तोसों चित लावैंगे ।
सजे बनवारी बनवारी तन आभरन,
गोरे-तन-वारी बनवारी आजु आवैंगे ॥

( २ ) सबलसिंह चौहान—इनके निवासस्थान का ठीक निश्चय नहीं। शिवसिंहजी ने यह लिखकर की कोई इन्हें चंदागढ़ का राजा और कोई सबलगढ़ का राजा बतलाते हैं, यह अनुमान किया है कि ये इटावे के किसी गाँव के जमींदार थे। सबलसिंहजी ने औरंगजेब के दरबार मे रहनेवाले किसी राजा मित्रसेन के साथ अपना संबंध बताया है। इन्होंने सारे महाभारत की कथा दोहों चौपाइयों में लिखी है। इनका महाभारत बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसे इन्होंने

संवत् १७१८ और संवत् १७८१ के बीच पूरा किया। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इन्होंने 'ऋतुसंहार' का भाषानुवाद, 'रूपविलास' और एक पिंगल ग्रंथ भी लिखा था पर वे प्रसिद्ध नहीं हुए। ये वास्तव मे अपने महाभारत के लिये ही प्रसिद्ध हैं। उसमे यद्यपि भाषा का लालित्य या काव्य की छटा नहीं है पर सीधी-सादी भाषा मे कथा अच्छी तरह कही गई है। रचना का ढंग नीचे के अवतरण से विदित होगा।

अभिमनु धाइ खडग परहारे। सम्मुख जेहि पायो तेहि मारे॥
भूरिश्रवा बान दस छाँटे। कुँवर-हाथ के खडगहि काटे॥
तीनि बान सारथि उर मारे। आठ बान तें अस्व सँहारे॥
सारथि जूझि गिरे मैदाना। अभिमनु बीर चित्त अनुमाना॥
यहि अंतर सेना सब धाई। मारु मारु कै मारन आई॥
रथ को खैंचि कुँवर कर लीन्हे। ताते मार भयानक कीन्हे॥
अभिमनु कोपि खंभ परहारै। इक इक घाव बीर सब मारे॥

अर्जुनसुत इमि मार किय महाबीर परचंड।
रूप भयानक देखियत जिमि जम लीन्हे दंड॥

---

(३) वृंद—ये मेड़ता (जोधपुर) के रहनेवाले थे और कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह के गुरु थे। संवत् १७६१ मे ये शायद कृष्णगढ़-नरेश के साथ औरंगजेब की फौज मे ढाके तक गए थे। इनके वंशधर अब तक कृष्णगढ़ मे वर्त्तमान हैं। इनकी "वृंदसतसई" (संवत् १७६१), जिसमे नीति के सात सौ दोहे है, बहुत प्रसिद्ध है। खोज मे 'शृंगारशिक्षा' (संवत् १७४८) और 'भावपंचाशिका' नाम की दो रस-संबंधी पुस्तकें और मिली हैं पर इनकी ख्याति अधिकतर सूक्तिकार के रूप मे ही है। वृंदसतसई के कुछ दोहे नीचे दिए जाते है—

भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परत है काग पिक ऋतु बसंत के माहिं॥

हितहू की कहिए न तेहि जो नर होत अबोध ।
ज्यों नकटे को आरसो होत दिखाए क्रोध ॥

( ४ ) छत्रसिंह कायस्थ—ये बटेश्वर क्षेत्र के अटेर नामक गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके आश्रय-दाता अमरावती के कोई कल्याणसिंह थे। इन्होंने 'विजयमुक्तावली' नाम की पुस्तक संवत् १७५७ में लिखी जिसमें महाभारत की कथा एक स्वतंत्र प्रबंधकाव्य के रूप में कई छंदों में वर्णित है। पुस्तक में काव्य के गुण यथेष्ट परिमाण में हैं और कहीं-कहीं की कविता बड़ी ओजस्विनी है। कुछ उदाहरण लीजिए—

निरखत ही अभिमन्यु को, बिदुर डुलायो सीस ।
रच्छा बालक की करौ, ह्वै कृपाल जगदीस ॥
आपुन काँधौ युद्ध नहिं, धनुष दियो भुव डारि ।
पापी बैठे गेह कब, पाडुपुत्र तुम चारि ॥
पौरुष तजि लज्जा तजी, तजी सकल कुलकानि ।
बालक रनहिं पठाय कै आपु रहे सुख मानि ॥

---

कवच कुडल इंद्र लीने, बाण कुंती लै गई ।
भई बैरिनि मेदिनी चित कर्ण के चिंता भई ॥

( ५ ) बैताल—ये जाति के बंदीजन थे और राजा विक्रमसाहि की सभा में रहते थे। यदि ये विक्रमसाहि चरखारीवाले प्रसिद्ध विक्रमसाहि ही हैं जिन्होंने 'विक्रमसतसई' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं और जो खुमान, प्रताप आदि कई कवियों के आश्रयदाता थे, तो बैताल का समय संवत् १८३९ और १८८६ के बीच मानना पड़ेगा। पर शिवसिंहसरोज में इनका जन्मकाल सं० १७३४ लिखा हुआ है। बैताल ने गिरिधरराय के समान नीति की कुंडलियों की रचना की है और प्रत्येक कुंडलिया विक्रम को संबोधन करके कही है। इन्होंने लौकिक व्यवहार-संबंधी अनेक विषयों पर सीधे-सादे पर जोरदार पद्य कहे हैं। गिरिधरराय के समान इन्होंने भी वाक्चातुर्य या उपमा रूपक आदि लाने का प्रयत्न नहीं किया है। बिलकुल सीधी-सादी बात ज्यों की त्यों छंदोबद्ध कर दी गई है।

फिर भी कथन के ढंग में अनूठापन है। एक कुंडलिया नीचे दी जाती है—

मरै बैल गरियार, मरै वह अडियल टट्टू।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू॥
बाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावै॥

अरु बेनियाव राजा मरै तवै नींद भर सोइए।
बैताल कहै बिक्रम सुनौ एते मरे न रोइए॥

( ६ ) आलम—ये जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रँगरेजिन के प्रेम मे फँसकर पीछे से मुसलमान हो गए और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। आलम को शेख से जहान नामक एक पुत्र भी हुआ। ये औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय मे रहते थे जो पीछे बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। अतः आलम का कविताकाल संवत् १७४० से सवत् १७६० तक माना जा सकता है। इनकी कविताओ का एक संग्रह 'आलमकेलि' के नाम से निकला है। इस पुस्तक मे आए पद्यों के अतिरिक्त इनके और बहुत से सुंदर और उत्कृष्ट पद्य ग्रंथो में संगृहीत मिलते हैं और लोगो के मुँह से सुने जाते हैं।

शेख रँगरेजिन भी अच्छी कविता करती थी। आलम के साथ प्रेम होने की विचित्र कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि आलम ने एक बार उसे पगड़ी रँगने को दी जिसकी खूँट मे भूल से कागज का चिट बँधा चला गया। उस चिट मे दोहो की यह आधी पंक्ति लिखी थी "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन"। शेख ने दोहा इस तरह पूरा करके "कटि को कंचन काट बिधि कुचन मध्य धरि दीन", उस चिट को फिर ज्यों का त्यों पगडी की खूँट मे बाँधकर लौटा दिया। उसी दिन से आलम शेख के पूरे प्रेमी हो गए और अत मे उसके साथ विवाह कर लिया। शेख बहुत ही चतुर और हाजिरजवाब स्त्री थी। एक बार शाहजादा मुअज्जम ने हँसी से पूछा—"क्या आलम की औरत आप ही है?" शेख ने चट उत्तर दिया कि "हाँ, जहाँपनाह! जहान की माँ मै ही हूँ।" "आलम-केलि" में बहुत से कवित्त शेख के रचे हुए हैं। आलम के कवित्त-सवैयों मे भी बहुत सी रचना शेख की मानी जाती है। जैसे, नीचे लिखे कवित्त मे चौथा

चरण शेख का बनाया कहा जाता है—

> प्रेमरंग-पगे जगमगे जगे जामिनि के,
> 　　जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
> मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
> 　　झूमत हैं झुकि झुकि झँपि उघरत हैं ॥
> आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
> 　　पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं ।
> चाहत हैं उडिबे को, देखत मयंक-मुख,
> 　　जानत हैं रैनि तातें ताहि मे रहत हैं ॥

आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले नहीं थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसीसे इनकी रचनाओं मे हृदय-तत्त्व की प्रधानता है। "प्रेम की पीर" वा "इश्क का दर्द" इनके एक एक वाक्य मे भरा पाया जाता है। उत्प्रेक्षाएँ भी इन्होंने बड़ी अनूठी और बहुत अधिक कही है। शब्दवैचित्र्य, अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति इनमे विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। शृंगाररस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना मे मिलती हैं कि पढ़ने और सुननेवाले लीन हो जाते है। यह तन्मयता सच्ची उमंग मे ही संभव है। रेखता या उर्दू भाषा मे भी इन्होंने कवित्त कहे है। भाषा भी इस कवि की परिमार्जित और सुव्यवस्थित है पर उसमे कही कहीं "कीन, दीन, जौन" आदि अवधी या पूरबी हिंदी के प्रयोग भी मिलते है। कहीं कहीं फारसी की शैली के रस-बाधक भाव भी इनमें मिलते हैं। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान' और 'घनानंद' की कोटि में होनी चाहिए। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

> जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं ।
> जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ॥
> आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ।
> नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥

---

कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न बोलत है, ए दई !
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधौं बगपाँति उत अंतगति ह्वै गई ?
आलम कहै, हो आली ! अजहूँ न आए प्यारे,
कैधौं उत रीत विपरीत बिधि ने ठई ?
मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही,
जूझि गए मेघ, कैधौं बीजुरी सती भई ? ॥

---

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते राते
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढे जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं॥
ज्यों ज्यों लै सलिल चख 'सेख' धोवै बार बार,
त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात है।
कैबर के भाले, कैधौं नाहर नहनवाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं ?

---

दाने की न पानी की, न आवै सुध खाने की,
याँ गली महबूब की अराम खुसखाना है।
रोज ही से है जो राजी यार की रजाय बीच,
नाज की नजर तेज तीर का निशाना है।
सूरत चिराग रोशनाई आशनाई बीच,
बार बार बरै बलि जैसे परवाना है।
दिल से दिलासा दीजै हाल के न ख्याल हूजै,
बेखुद फकीर वह आशिक दीवाना है ॥

**(७) गुरु गोविंदसिंहजी**—ये सिखो के महापराक्रमी दसवे या अतिम गुरु थे। इनका जन्म सं० १७२३ मे और सत्यलोक-वास संवत् १७६५ मे हुआ।

यद्यपि सब गुरुओं ने थोड़े बहुत पद भजन आदि बनाए हैं पर ये महाराज काव्य के अच्छे ज्ञाता और ग्रंथकार थे। सिखों में शास्त्रज्ञान का अभाव इन्हें बहुत खटका था और इन्होंने बहुत से सिखों को व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि के अध्ययन के लिये काशी भेजा था। ये हिंदू भावों और आर्य्य संस्कृति की रक्षा के लिये बराबर युद्ध करते रहे। 'तिलक' और 'जनेऊ' की रक्षा में इनकी तलवार सदा खुली रहती थी। यद्यपि सिख-संप्रदाय की निर्गुण उपासना है पर सगुण स्वरूप के प्रति इन्होंने पूरी आस्था प्रकट की है और देवकथाओं की चर्चा बड़े भक्तिभाव से की है। यह बात प्रसिद्ध है कि ये शक्ति के आराधक थे। इनके इस पूर्ण हिंदू-भाव को देखते यह बात समझ में नहीं आती कि वर्त्तमान में सिखों की एक शाखा-विशेष के भीतर पैगंबरी मजहबों का कट्टरपन कहाँ से और किसकी प्रेरणा से आ घुसा है।

इन्होंने हिंदी में कई अच्छे और साहित्यिक ग्रंथों की रचना की है जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—सुनीति-प्रकाश, सर्वलोह-प्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर और चंडीचरित्र। चंडीचरित्र की रचनापद्धति बड़ी ही ओजस्विनी है। ये प्रौढ़ साहित्यिक ब्रजभाषा लिखते थे। चंडीचरित्र में दुर्गासप्तशती की कथा बड़ी सुंदर कविता में कही गई है। इनकी रचना के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

> निर्जन निरूप हौ, कि सुंदर स्वरूप हौ,
> कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान हौ ?
> प्रान के बचैया, दूध पूत के देवैया,
> रोग सोग के मिटैया, किधौं मानी महामान हौ ?
> विद्या के बिचार हौ, कि अद्वैत अवतार हौ,
> कि सुद्धता की मूर्त्ति हौ, कि सिद्धता की सान हौ ?
> जोबन के जाल हौ, कि कालहू के गाल हौ,
> कि सत्रुन के साल हौ कि मित्रन के प्रान हौ ?

(८) श्रीधर या मुरलीधर—ये प्रयाग के रहनेवाले थे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी और बहुत सी फुटकल कविता बनाई है। संगीत की पुस्तक, नायिकाभेद, जैन मुनियों के चरित्र, कृष्णलीला के फुटकल पद्य, चित्रकाव्य

इत्यादि के अतिरिक्त इन्होंने 'जंगनामा' नामक एक ऐतिहासिक प्रबंध-काव्य लिखा जिसमे फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है। यह ग्रंथ काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस छोटी सी पुस्तक मे सेना की चढ़ाई, साज समान आदि का कवित्त-सवैयो मे अच्छा वर्णन है। इनका कविता-काल सं० १७६७ के आसपास माना जा सकता है। 'जंगनामा' का एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

इत गलगाजि चल्यो फरुखसियरसाह,
उत मौजदीन करी भारी भट भरती।
तोप की डकारनि सों बीर हहकारनि सों,
धौंसे की धुकारनि धमकि उठी धरती।
श्रीधर नवाव फरजदखाँ सुजंग । जुरे,
जोगिनी अघाई जुग जुगन की बरती।
हहरयौ हरौल, भीर गोल पै परी ही तून
करतो हरौली तौ हरौली भीर परती॥

( ९ ) लाल कवि—इनका नाम गोरेलाल पुरोहित था और ये मऊ ( बुंदेलखंड ) के रहनेवाले थे। इन्होंने प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल की आज्ञा से उनका जीवन-चरित चौपाइयों में बड़े ब्योरे के साथ वर्णन किया है। इस पुस्तक मे छत्रसाल का संवत् १७६४ तक का ही वृत्तात आया है, इससे अनुमान होता है कि या तो यह ग्रंथ अधूरा ही मिला है अथवा लाल कवि का परलोकवास छत्रसाल के पूर्व ही हो गया था। जो कुछ हो, इतिहास की दृष्टि से "छत्र-प्रकाश" बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इसमे सब घटनाएँ सच्ची और सब ब्योरे ठीक ठीक दिए गए है। इसमे वर्णित घटनाएँ और सवत् आदि ऐतिहासिक खोज के अनुसार बिल्कुल ठीक हैं, यहाँ तक कि जिस युद्ध मे छत्रसाल को भागना पड़ा है उसका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह ग्रथ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

ग्रंथ की रचना प्रौढ और काव्यगुण-युक्त है। वर्णन की विशदता के अतिरिक्त स्थान स्थान पर ओजस्वी भाषण हैं। लाल कवि मे प्रबंधपटुता पूरी

थी। संबंध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिये मार्मिक स्थलों का चुनाव भी। वस्तु-परिगणन द्वारा वर्णनो का अरुचिकर विस्तार बहुत ही कम मिलता है। साराश यह कि लाल कवि का सा प्रबंध-कौशल हिंदी के कुछ इने-गिने कवियो मे ही पाया जाता है। शब्दवैचित्र्य और चमत्कार के फेर मे इन्होंने कृत्रिमता कहीं से नहीं आने दी है। भावों का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियो का ही समावेश किया है, न तो कल्पना की उड़ान दिखाई है और न ऊहा की जटिलता। देश की दशा की ओर भी कवि का पूरा ध्यान जान पड़ता है। शिवाजी का जो वीरव्रत था वही छत्रसाल का भी था। छत्रसाल का जो भक्ति-भाव शिवाजी पर कवि ने दिखाया है तथा दोनों के संमिलन का जो दृश्य खींचा है दोनों इस संबध मे ध्यान देने योग्य हैं।

"छत्रप्रकाश" में लाल कवि ने बुंदेल वश की उत्पत्ति, चंपतराय के विजय-वृत्तात, उनके उद्योग और पराक्रम, चंपतराय के अंतिम दिनो मे उनके राज्य का मोगलों के हाथ मे जाना, छत्रसाल का थोड़ी सी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार, फिर क्रमशः विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मोगलो का नाकों दम करना इत्यादि बातो का विस्तार से वर्णन किया है। काव्य और इतिहास दोनो की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी मे अपने ढंग का अनूठा है। लाल कवि का एक और ग्रंथ 'विष्णु-विलास' है जिसमे बरवै छद मे नायिकाभेद कहा गया है। पर इस कवि की कीर्त्ति का स्तंभ 'छत्रप्रकाश' ही है।

'छत्रप्रकाश' से नीचे कुछ पद्य उद्धृत किए जाते है—

(छत्रसाल-प्रशंसा)

लखत पुरुष लच्छन सब जाने। पच्छी बोलत सगुन बखानै॥
सतकवि कवित सुनत रस पागै। बिलसति मति अरथन में आगै॥
रुचि सों लखत तुरग जो नीके। बिहँसि लेत मोजरा सब ही के॥

चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं सूबा खान खुमान।
अब धौं धावैं कौन पर छत्रसाल बलवान॥

( युद्ध-वर्णन )

छत्रसाल हाडा तहँ आयो। अरुन रंग आनन छवि छायो ॥
भयो हरौल बजाय नगारो। सार धार को पहिरनहारो ॥
दौरि देस मुगलन के मारी। दपटि दिली के दल संहारी ॥
एक आन सिवराज निबाही। करै आपने चित की चाही ॥
आठ पातसाही झकझोरे। सूबनि पकरि दंड लै छोरै ॥

काटि कटक किरवान बल, बाँटि जबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सों, बाँटि धरनि धरि लेहु ॥

चहूँ ओर सों सूबनि घेरो। दिमनि-अलातचक्र सो फेरो ॥
पजरे सहर साहि के बाँके। धूम धूम में दिनकर ढाँके ॥
कबहूँ प्रगटि युद्ध में हाँकै। मुगलनि मारि पुहुमि तल ढाँकै ॥
बानन बरखि गयदनि फोरै। तुरकनि तमक तेग तर तोरै ॥
कबहूँ उमहि अचानक आवै। घनसम घुमडि लोह बरसावै ॥
कबहूँ हाँकि हरौलन कूटै। कबहूँ चापि चँदालनि लूटै ॥
कबहूँ देस दौरि कै लावै। रसद कहूँ की कढन न पावै ॥

( १० ) **घन आनंद**—ये साक्षात् रसमूर्ति और व्रजभाषा के प्रधान स्तभो में हैं। इनका जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था और ये संवत् १७९६ मे नादिरशाही में मारे गए। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मद-शाह के मीरमुंशी थे। कहते हैं कि एक दिन दरबार मे कुछ कुचक्रियो ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब गाते बहुत अच्छा है। बादशाह से इन्होंने बहुत टालमटोल किया। इसपर लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे, यदि इनकी प्रेमिका सुजान नाम की वेश्या कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गई। इन्होंने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाया कि सब लोग तन्मय हो गए। बादशाह इनके गाने पर जितना ही खुश हुआ उतना ही बेअदबी पर नाराज। उसने इन्हे शहर से निकाल दिया। जब ये चलने लगे तब सुजान से भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इसपर इन्हे विराग उत्पन्न हो गया और ये वृंदावन जाकर निंबार्क-संप्रदाय के वैष्णव हो गए और

वहीं पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे। वृंदावन-भूमि का प्रेम इनके इस कवित्त से झलकता है—

गुरनि बतायो, राधा मोहन हू गायो,
सदा सुखद सुहायो बृंदावन गाढ़े गहि रे।
अद्भुत अभूत महिमडन, परे तें परे,
जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहि रे॥
आनँद को घन छायो रहत निरंतर ही,
सरस सुदेय सो, पपीहापन वहि रे।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे॥

संवत् १७९६ मे जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगों ने उनसे कह दिया कि वृंदावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है: उसके पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने इन्हे आ घेरा और 'जर जर जर' (अर्थात् धन, धन, धन, लाओ) चिल्लाने लगे। घनानंदजी ने शब्द को उलटकर 'रज' 'रज' कहकर तीन मुट्ठी वृंदावन की धूल उनपर फेंक दी। उनके पास सिवा इसके और था ही क्या? सैनिकों ने क्रोध मे आकर इनका हाथ काट डाला। कहते है कि मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन-भावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घनआनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

घन-आनंदजी के इतने ग्रंथों का पता लगता है—सुजान सागर, विरह-लीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड। इसके अतिरिक्त इनके कवित्त सवैयो के फुटकल संग्रह डेढ़ सौ से लेकर सवा चार सौ कवित्तों तक के मिलते हैं। कृष्णभक्ति संबंधी इनका एक बहुत बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राज-पुस्तकालय मे है जिसमे प्रियाप्रसाद, व्रजव्यवहार, वियोगवेली, कृपाकद निबध, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धाम चमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृंदावन-मुद्रा, प्रेमपत्रिका, रस वसंत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। इनकी विरह-लीला' व्रजभाषा मे पर फारसी के छंद मे है।

इनकी सी विशुद्ध, सरस, और शक्तिशालिनी व्रजभाषा लिखने मे और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य्य भी अपूर्व ही है। विप्रलभ शृंगार ही अधिकतर इन्होंने लिया है। ये वियोग-शृगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। "प्रेम की पीर" ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखनेवाला व्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। अतः इनके संबंध मे निम्न-लिखित उक्ति बहुत ही सगत है—

> नेही महा, व्रजभाषा-प्रवीन औ सुंदरताइ के भेद को जानै।
> योग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै।
> चाह के रग में भीज्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम साति न मानै।
> भाषा-प्रवीन, सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै॥

इन्होंने अपनी कविताओं मे बराबर 'सुजान' को संबोधन किया है जो शृंगार मे नायक के लिये और भक्तिभाव मे कृष्ण भगवान् के लिये प्रयुक्त मानना चाहिए। कहते हैं कि इन्हे अपनी पूर्व प्रेयसी 'सुजान' का नाम इतना प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होंने उसे नहीं छोड़ा। यद्यपि अपने पिछले जीवन में घनानद विरक्त भक्त के रूप में वृंदावन जा रहे पर इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की कोटि मे नहीं आएगी, शृंगार की ही कही जायगी। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुए। कविता इनकी भावपक्षप्रधान है। कोरे विभावपक्ष का चित्रण इनमें कम मिलता है। जहाँ रूप-छटा का वर्णन

इन्होंने किया भी है वहाँ उसके प्रभाव का ही वर्णन मुख्य है। इनकी वाणी की प्रवृत्ति अंतर्वृत्ति-निरूपण की ओर ही विशेष रहने के कारण बाह्यार्थ-निरूपक रचना कम मिलती है। होली के उत्सव, मार्ग में नायक-नायिका की भेंट, उनकी रमणीय चेष्टाओं आदि के वर्णन के रूप में ही वह पाई जाती है। संयोग का भी कहीं कहीं बाह्य वर्णन मिलता है, पर उसमें भी प्रधानता बाहरी व्यापारों या चेष्टाओं की नहीं है, हृदय के उल्लास और लीनता की ही है।

प्रेमदशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का उद्घाटन जैसा इनमें है वैसा हिंदी के अन्य शृंगारी कवि में नहीं। इस दशा का पहला स्वरूप है हृदय या प्रेम का आधिपत्य और बुद्धि का अधीन पद, जैसा कि घनानंद ने कहा है—

"रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी।"

प्रेमियों की मनोवृत्ति इस प्रकार की होती है कि वे प्रिय की कोई साधारण चेष्टा भी देखकर उसका अपनी ओर झुकाव मान लिया करते हैं और फूले फिरते हैं। इसका कैसा सुंदर आभास कवि ने नायिका के इस वचन द्वारा दिया है जो मन को संबोधन करके कहा गया है—

"रुचि के वे राजा जान प्यारे हैं अनंदघन,
होत कहा हेरे, रंक! मानि लीनो मेल सो" ॥

कवियों की इसी अंतर्दृष्टि की ओर लक्ष्य करके एक प्रसिद्ध मनस्तत्त्ववेत्ता ने कहा है कि भावों या मनोविकारों के स्वरूप-परिचय के लिये कवियों की वाणी का अनुशीलन जितना उपयोगी है उतना मनोविज्ञानियों के निरूपण नहीं।

प्रेम की अनिर्वचनीयता का आभास घनानंद ने विरोधाभासों के द्वारा दिया है। उनके विरोध-मूलक वैचित्र्य की प्रवृत्ति का कारण यही समझना चाहिए।

यद्यपि इन्होंने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है, पर वियोग की अंतर्दशाओं की ओर ही दृष्टि अधिक है। इसी से इनके वियोग संबंधी पद्य ही प्रसिद्ध हैं। वियोग-वर्णन भी अधिकतर अंतर्वृत्ति-निरूपक है, बाह्यार्थ-निरूपक नहीं। घनानंद ने न तो बिहारी की तरह विरह ताप को बाहरी मान से मापा है, न बाहरी उछल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है—

बाहर से वह वियोग प्रशांत और गंभीर है; न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है। उनकी "मौन मधि पुकार" है।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़ कर ऐसी वशवर्त्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ साथ जिस रूप मे चाहते थे उस रूप मे मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बँधी प्रणाली पर से हटा कर अपनी नई प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चला कर इन्होंने उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानंदजी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिये भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करनेवाला हिंदी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।

लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिंदी-कवियों ने उसके भीतर बहुत ही कम पैर बढ़ाया। एक घनानंद ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध मे, अर्थात् वर्तमान काल की नूतन काव्यधारा में ही, 'अभि-व्यंजना-वाद' के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुई। घनानंद का प्रयोगवैचित्र्य दिखाने के लिये कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

(क) अरसानि गही वह बानि कछू, सरसानि सो आनि निहोरत है।

(ख) ह्वै है सोऊ घरी भाग-उघरी अनंदघन सुरस बरसि, लाल! देखिहौ हरी हमे। ('खुले भाग्यवाली घड़ी' मे विशेषण-विपर्यय)।

(ग) उघरो जग, छाय रहे घन-आनँद, चातक ज्यों तकिए अब तौ। (उघरो जग=संसार जो चारो ओर घेरे था वह दृष्टि से हट गया।)

(घ) कहिए सु कहा, अब मौन भली, नहिं खोवते जौ हमैं पावते जू।
( हमैं=हमारा हृदय )।

विरोधमूलक वैचित्र्य भी जगह जगह बहुत सुंदर मिलता है, जैसे—

(च) झूठ की सचाई छाक्यो, त्यों हित-कचाई पाक्यो, ताके गुनगन घनआनँद कहा गनौं।

(छ) उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ, सुबस सुदेस जहाँ रावरे बसत हो।

(ज) गति सुनि हारी, देखि थकनि मे चली जाति, थिर चर दसा कैसी ढकी उघरति हैं।

(झ) तेरे ज्यौं न लेखो, मोहिं मारत परेखो महा, जान घनआनँद पै खोयबो लहत हैं।

इन उद्धरणों से कवि की चुभती हुई वचन-वक्रता पूरी पूरी झलकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की उक्ति ने वक्र पथ हृदय के वेग के कारण पकड़ा है।

भाव का स्रोत जिस प्रकार टकराकर कहीं कहीं वक्रोक्ति के छींटे फेंकता है उसी प्रकार कहीं कहीं भाषा के स्निग्ध, सरल और चलते प्रवाह के रूप मे भी प्रकट होता है। ऐसे स्थलों पर अत्यत चलती और प्रांजल ब्रज-भाषा की रमणीयता दिखाई पड़ती है—

कान्ह परे बहुतायत में, इकलैन की वेदन जानौ कहाँ तुम ?
हौ मन-मोहन,मोहे कहूँ न,बिथा बिमनेन की मानौ कहा तुम ?
बौरे वियोगिन्ह आप सुजान है,हाय! कछु उर आनौ कहा तुम ?
आरतिवंत पपीहन को घन आनँद जू ! पहिचानौ कहा तुम ?

---

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री,
　　कूकि कूकि अबही करेजो किन कोरि लै।
पैंढ परै पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यों ही,
　　चातक रे घातक है तूहू कान फोरि लै॥

आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान विना,
जानि कै अकेली सब घेरो-दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥

इस प्रकार की सरल रचनाओं में कहीं कहीं नाद-व्यंजना भी बड़ी अनूठी है। एक उदाहरण लीजिए—

ए रे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, वारि
तो सों और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बडे को समान, घन
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा को मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पायँन की हा हा ! नैकु आनि दै॥

ऊपर के कवित्त के दूसरे चरण मे आए हुए "आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै" में मृदंग की ध्वनि का बड़ा सुदर अनुकरण है।

उक्ति का अर्थगर्भत्व भी घनानंद का स्वतंत्र और स्वावलंबी होता है, बिहारी के दोहो के समान साहित्य की रूढ़ियो ( जैसे, नायिकाभेद ) पर आश्रित नहीं रहता। उक्तियो की सांगोपांग योजना या अन्विति इनकी निराली होती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यो।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि यों पचि कै रचि राखि बिसेख्यो॥
ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जो आन कथा न कहूँ अवरेख्यो।
सो घन-आनँद जान अजान लौं टूक कियो, पर बाँचि न देख्यो॥

---

आनाकानी-आरसी निहारिबो करौगे कौलो ?
कहा मो चकित दसा त्यों न दीठि डोलिहै ?

मौन हू सों देखिहौं कितेक पन पालिहौ जू,
कूक-भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै।
जान घन-आनँद यों मोहिं तुम्हैं पैज परी,
जानियैगो टेक टरे कौन धौं मलोलिहै।
रूई दिए रहौगे कहाँ लौं बहरायबे की ?
कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलिहै॥

---

अतर में बासी पै प्रवासी कैसो अंतर है,
मेरी न सुनत, दैया ! आपनीयौ ना कहौ।
लोचननि तारे ह्वै सुझाओ सब, सूझौ नाहिं,
बूझी न परति ऐसो सोचनि कहा दहौ।
हौं तौ जानराय, जाने जाहु न, अजान यातें,
आनँद के घन छाया छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा ! सूरति दिखैए नैकु,
हमैं खोय या बिधि हो ! कौनधौं लहा लहौ॥

---

मूरति सिंगार की उजारी छवि आछी भाँति,
दीठि-लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति-रसना-सवाद पाँवड़े पुनीतकारी पाय,
चूमि चूमि कै कपोलनि सों माँजिहौं।
जान प्यारे प्रान अंग-अंग-रुचि-रंगनि में,
बोरि सब अंगन अनंग-दुख भाँजिहौं।
कब घन-आनँद ढरौही बानि देखें,
सुधा-हेत मन-घट दरकनि सुठि राँजिहौं॥
( राँजना=फूटे बरतन में जोड़ या टाँका लगाना )

---

निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी छवि रंग-भरी मुरि चाहन की।
तकि मोरनि त्यों चख ढोरि रहैं, ढरिगो हिय ढोरनि बाहनि की।
चट दै कटि पै बट प्रान गए गति सों मति में अवगाहनि की।
घन आनँद जान लख्यो जब तें जग लागियै मोहि कराहनि की॥

इस अंतिम सवैये के प्रथम तीन चरणों मे कवि ने बहुत सूक्ष्म कौशल दिखाया है। 'मुरि चाहनि' और 'तकि मोरनि' से यह व्यक्त किया गया है कि एक बार नायक ने नायिका की ओर मुड़कर देखा फिर देखकर मुड़ गए और अपना रास्ता पकड़ा। देख कर जब वे मुडे तब नायिका का मन उनकी ओर इस प्रकार ढल पडा जैसे पानी नाली मे ढल जाता है। कटि मे बल देकर प्यारे नायिका के मन मे डूबने के ढब से निकल गए।

घनानंद के ये दो सवैये बहुत प्रसिद्ध हैं—

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही बिधि सुंदरता सरसौ॥
घनआनँद जीवनदायक हौ, कबौं मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥

---

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नही।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नही॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढे हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

---

( 'विरहलीला' से )

सलो॰ श्याम प्यारे क्यों न आवौ। दरस प्यासी मरैं तिनकौं जिवावौ॥
कहाँ हौ जू, कहाँ हौ जू, कहाँ हौ। लगे ये प्रान तुमसौं हैं जहाँ हौ॥
रहौ केन प्रान प्यारे नैन आगैं। तिहारे कारनै दिनरात जागैं॥
सजन हित मान कै ऐसी न कीजै। भई है बावरी सुध आय लीजै॥

( ११ ) रसनिधि—इनका नाम पृथ्वीसिंह था और दतिया के एक

जमींदार थे। इनका संवत् १७१७ तक वर्तमान रहना पाया जाता है। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने बिहारी-सतसई के अनुकरण पर "रतनहजारा" नामक दोहों का एक ग्रंथ बनाया। कहीं कहीं तो इन्होंने बिहारी के वाक्य तक रख लिए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी बहुत से दोहे बनाए जिनका संग्रह बाबू जगन्नाथप्रसाद (छत्रपुर) ने किया है। "अरिल्ल और मॉझो" का संग्रह भी खोज मे मिला है। ये शृंगार-रस के कवि थे। अपने दोहों मे इन्होंने फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई दिखाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है। फारसी की आशिकी कविता के शब्द भी इन्होंने इस परिमाण मे कहीं कहीं रखे हैं कि सुरुचि और साहित्यिक शिष्टता को आघात पहुँचता है। पर जिस ढग की कविता इन्होंने की है उसमे इन्हें सफलता हुई है। कुछ दोहे उद्धृत किए जाते है—

अद्भुत गति यहि प्रेम की, बैनन कही न जाय।
दरस-भूख लागै दृगन, भूखहिं देत भगाय॥
लेहु न मजनू-गोर ढिग, कोऊ लैला नाम।
दरदवत को नेकु तौ, लेन देहु बिसराम॥

---

चतु चितेरे तुव सखी लिखत न हिय ठहराय।
कलम छुवत कर-ऑगुरी कटी कटाछन जाय॥
मनगयद छबिमद-छके तोरि जँजीर भगात।
हिय के झीने तार सों सहजै ही बँधि जात॥

(१२) **महाराज विश्वनाथसिंह**—ये रीवॉ के बडे ही विद्यारसिक और भक्त नरेश तथा प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह के पिता थे। आप संवत् १८७० से लेकर १९११ तक रीवॉ की गद्दी पर रहे। ये जैसे भक्त थे वैसे ही विद्या-व्यसनी तथा कवियो और विद्वानों के आश्रयदाता थे। काव्य-रचना में भी ये सिद्धहस्त थे। यह ठीक है कि इनके नाम से प्रख्यात बहुत से ग्रथ दूसरे कवियो के रचे है पर इनको रचनाएँ भी कम नही हैं। नीचे इनकी

बनाई पुस्तकों के नाम दिए जाते हैं जिनसे विदित होगा कि कितने विषयों पर इन्होंने लिखा है—

( १ ) अष्टयाम-आह्निक, ( २ ) आनद-रघुनंदन नाटक, ( ३ ) उत्तम-काव्य-प्रकाश, ( ४ ) गीता-रघुनंदन शतिका, ( ५ ) रामायण, ( ६ ) गीता-रघुनंदन प्रामाणिक, ( ७ ) सर्वसंग्रह, ( ८ ) कबीर बीजक की टीका, ( ९ ) विनयपत्रिका की टीका, ( १० ) रामचंद्र की सवारी, ( ११ ) भजन, ( १२ ) पदार्थ, ( १३ ) धनुर्विद्या, ( १४ ) आनद रामायण, ( १५ ) परधर्म-निर्णय, ( १६ ) शाति-शतक, ( १७ ) वेदांत-पंचक शतिका, ( १८ ) गीतावली पूर्वार्द्ध ( १९ ) ध्रुवाष्टक, ( २० ) उत्तम नीतिचद्रिका, ( २१ ) अबोधनीति, ( २२ ) पाखंड-खडिनी, ( २३ ) आदिमगल, ( २४ ) बसत-चौंतीसी, ( २५ ) चौरासी रमैनी, ( २६ ) ककहरा, ( २७ ) शब्द, ( २८ ) विश्वभोजन-प्रसाद, ( २९ ) ध्यानमंजरी, ( ३० ) विश्वनाथ-प्रकाश, ( ३१ ) परमतत्त्व, ( ३२ ) सगीत रघुनंदन, इत्यादि ।

यद्यपि ये रामोपासक थे पर कुलपरंपरा के अनुसार निर्गुण संत मत की बानी का भी आदर करते थे। कबीरदास के शिष्य धर्मदास का बाँधव नरेश के यहाँ जाकर उपदेश सुनाना परंपरा से प्रसिद्ध है। 'ककहरा', 'शब्द', 'रमैनी' आदि उसी प्रभाव के द्योतक हैं। पर इनकी साहित्यिक रचना प्रधानतः रामचरित-संबंधिनी है। कबीर-बीजक की टीका इन्होंने निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण राम पर घटाई है। ब्रजभाषा मे नाटक पहले पहल इन्हीं ने लिखा। इस दृष्टि से इनका "आनद-रघुनंदन नाटक" विशेष महत्त्व की वस्तु है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इसे हिंदी का प्रथम नाटक माना है। यद्यपि इसमे पद्यों की प्रचुरता है पर संवाद सब ब्रजभाषा गद्य में हैं। अकविधान और पात्रविधान भी है। हिंदी के प्रथम नाटककार के रूप मे ये चिरस्मरणीय है।

इनकी कविता अधिकतर या तो वर्णनात्मक है अथवा उपदेशात्मक। भाषा स्पष्ट और परिमार्जित है। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते है—

भाइन भृत्यन विष्णु सो, रैयत भानु सो, सत्रुन काल सो भावै।
शत्रु बली सों बचै करि बुद्धि औ अस्त्र सों धर्म की रीति चलावै॥

जीतन को करै केते उपाय औ दीरघ दृष्टि सबै फल पावै।
भाखत है बिसुनाथ ध्रुवै नृप सो कबहूँ नहिं राज गँवावै॥

---

बाजि गज सोर रथ सुतुर कतार जेते,
प्यादे ऐंडवारे जे सबीह सरदार के।
कुँवर छबीले जे रसीले राजबंसवारे,
सूर अनियारे अति प्यारे सरकार के॥
केते जातिवारे, केते केते देसवारे,
जीव स्वान सिंह आदि सैलवारे जे सिकार के।
डंका की धुकार ह्वै सवार सबै एक बार,
राज वार पार कार कोशलकुमार के॥

---

उठौ कुँवर दोउ प्रान पियारे।
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभसर पसरे पुहकर तारे॥
जगवन महँ निकस्यो हरषित हिय विचरन हेत दिवस मनियारो।
बिश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहु दिसिनि उजियारो॥

---

करि जो कर मैं कयलास लियो कसिकै अब नाक सिकोरत है।
दइ तालन बीस भुजा झहराय झुको धनु को झकझोरत है॥
तिल एक हलै न हलै पुहुमी रिसि पीसि कै दाँतन तोरत है।
मन में यह ठीक भयो हमरे मद काको महेस न मोरत है॥

(१३) **भक्तवर नागरीदासजी**—यद्यपि इस नाम के कई भक्त कवि व्रज में हो गए पर उसमे सबसे प्रसिद्ध कृष्णगढ़-नरेश महाराज सावंतसिंहजी हैं जिनका जन्म पौष कृष्ण १२ संवत् १७५६ में हुआ था। ये बाल्यावस्था से ही बड़े शूरवीर थे। १३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को मारा था। संवत् १८०४ मे ये दिल्ली के शाही दरबार में थे। इसी बीच में इनके पिता महाराज राजसिंह का देहांत हुआ। बादशाह

अहमदशाह ने इन्हें दिल्ली में ही कृष्णगढ़ राज्य का उत्तराधिकार दिया। पर जब ये कृष्णगढ़ पहुंचे तब राज्य पर अपने भाई बहादुरसिंह का अधिकार पाया जो जोधपुर की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठे थे। ये ब्रज की ओर लौट आए और मरहठों से सहायता लेकर इन्होंने अपने राज्य पर अधिकार किया। पर इस गृहकाल से इन्हें कुछ ऐसी विरक्ति हो गई कि ये सब छोड़-छाड़कर वृंदावन चले गए और वहाँ विरक्त भक्त के रूप में रहने लगे। अपनी उस समय की चित्तवृत्ति का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन को सूल।
सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल॥
कहा भयो नृप हू भए, ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरिभक्ति को सकल सुखन का सार॥
मैं अपने मन मूढ तैं डरत रहत हौं हाय।
वृंदावन की ओर तें मति कबहूँ फिर जाय॥

वृंदावन पहुँचने पर वहाँ के भक्तों ने इनका बड़ा आदर किया। ये लिखते हैं कि पहले तो "कृष्णगढ के राजा" यह व्यावहारिक नाम सुनकर वे कुछ उदासीन से रहे पर जब उन्होंने 'नागरीदास' ('नागरी' शब्द श्रीराधा के लिये आता है) नाम को सुना तब तो उन्होंने उठकर दोनो भुजाओं से मेरा आलिंगन किया—

सुनि व्यवहारिक नाम को ठाढे दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥

एक मिलत भुजन भरि दौर दौर। इक टेरि बुलावत और ठौर॥

वृंदावन मे उस समय वल्लभाचार्य्यजी की गद्दी की पाँचवीं पीढी थी। वृंदावन से इन्हें इतना प्रेम था कि एक बार ये वृंदावन के उस पार जा पहुँचे। रात को जब जमुना किनारे लौटकर आए तब वहाँ कोई नाव-बेड़ा न था। वृंदावन का वियोग इतना असह्य हो गया कि ये जमुना मे कूद

पड़े और तैरकर वृंदावन आए। इस घटना का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

देख्यो श्रीवृंदाविपिन पार। विच बहति महा गंभीर धार॥
नहिं नाव, नही कछु और दाव। हे दई! कहा कीजै उपाव॥
रहे वार लगन की लगी लाज। गए पारहि पूरै सकल काज॥
यह चित्त माहिं करि कै विचार। परे कूदि कूदि जलमध्य-धार॥

वृंदावन मे इनके साथ इनकी उपपत्नी 'बणीठणीजी' भी रहती थीं, जो कविता भी करती थीं।

ये भक्त कवियों मे बहुत ही प्रचुर कृति छोड़ गए हैं। इनका कविता-काल सं० १७८० से १८१९ तक माना जा सकता है। इनका पहला ग्रंथ "मनोरथ-मंजरी" संवत् १७८० मे पूरा हुआ। इन्होंने सवत् १८१४ मे आश्विन शुक्ल १० को राज्य पर अपने पुत्र सरदारसिंहजी को प्रतिष्ठित करके घरबार छोड़ा। इससे स्पष्ट है कि विरक्त होने के बहुत पहिले ही ये कृष्ण-भक्ति और ब्रजलीला-संबंधिनी बहुत सी पुस्तकें लिख चुके थे। कृष्णगढ़ मे इनकी लिखी छोटी बड़ी सब मिलाकर ७३ पुस्तकें सगृहीत हैं, जिनके नाम ये हैं—

सिंगारसार, गोपीप्रेमप्रकाश ( १८०० ), पदप्रसंगमाला, ब्रजवैकुंठ तुला, ब्रजसार ( संवत् १७९९ ), भोरलीला, प्रातरस-मंजरी, विहार-चंद्रिका ( सं० १७८८ ), भोजनानंदाष्टक, जुगलरस माधुरी, फूलविलास, गोधन-आगमन दोहन, आनदलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्म-विहार, पावसपचीसी, गोपीवैनविलास, रास-रसलता, नैनरूपरस शीतसार, इश्कचमन, मजलिस मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षा ऋतु की माँझ, हारी की माँझ, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रियाजन्मोत्सव कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्धन-धारन के कवित्त, होरी के कवित्त, फागगोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमगदीपिका ( सं० १८०२ ), तीर्थानंद ( १८१० ), फाग विहार ( १८०८ ), बालविनोद, बन-विनोद, (१८०९), सुजानानंद ( १८१० ) भक्तिसार ( १७९९ ) देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिक-रत्नावली ( १७८२ ), कलि-वैराग्य-वल्लरी ( १७९५ ), अरिल्ल-पचीसी, छूटक-विधि, पारायण-विधि-प्रकाश

( १७६६ ), शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चचरियाँ रेखता, मनोरथ-मंजरी ( १७८० ), रामचरित्रमाला, पद-प्रबोधमाला, जुगल-भक्तिविनोद ( १८०८ ), रसानुक्रम के दोहे, शरद की माँझ, साँझी फूल-बीनन सवाद, वसंत-वर्णन, रसनानुक्रम के कवित्त, फाग-खेलन समेतानुक्रम के कवित्त, निकुंज विलास ( १७६४ ) गोविंद परचई, वनजन-प्रशसा, छूटक दोहा, उत्सव-माला, पद-मुक्तावली।

इनके अतिरिक्त "वैन-विलास" और "गुप्तरस-प्रकाश" नाम की दो अप्राप्य पुस्तके भी है। इस लंबी सूची को देखकर आश्चर्य करने के पहले पाठको को यह जान लेना चाहिए कि ये नाम भिन्न भिन्न प्रसंगों या विषयो के कुछ पद्यों में वर्णन मात्र है, जिन्हे यदि एकत्र करे तो ५ या ७ अच्छे आकार की पुस्तकों मे आ जायँगे। अतः ऊपर लिखे नामों को पुस्तको के नाम न समझकर वर्णन के शीर्षक मात्र समझना चाहिए। इनमे से बहुतो को पाँच पाँच, दस दस, पचीस पचीस पद्य मात्र समझिए। कृष्णभक्त कवियों की अधिकाश रचनाएँ इसी ढग की हैं। भक्तिकाल के इतने अधिक कवियो की कृष्णलीला-संबंधिनी फुटकल उक्तियो से ऊबे हुए और केवल साहित्यिक दृष्टि रखनेवाले पाठकों को नागरीदासजी की ये रचनाएँ अधिकाश मे पिष्टपेषण सी प्रतीत होंगी। पर ये भक्त थे और साहित्य-रचना की नवीनता आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। फिर भी इनकी शैली और भावों मे कुछ नवीनता और विशिष्टता है। कहीं कहीं बड़े सुदर भावों की व्यंजना इन्होने की है। काल-गति के अनुसार फारसी काव्य का आशिकी और सूफियाना रग-ढंग भी कहीं कहीं इन्होंने दिखाया है। इन्होंने गाने के पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रोला आदि कई छदो का व्यवहार किया है। भाषा भी सरस और चलती है, विशेषतः पदों की। कवित्तो की भाषा मे वह चलतापन नहीं है। कविता के नमूने देखिए—

( वैराग्य-सागर से )

काहे को रे नाना मत सुनै तू पुरान के,
तै ही कहा? तेरी मूढ़ मूढ मति पंग की।

( इश्क-चमन से )

सब मजहब सब इल्म अरु सबै ऐश के स्वाद । अरे ! इश्क के असर बिनु ये सब ही बरबाद ॥
आया इश्क लपेट में लागो चश्म चपेट । सोई आया खलक में और भरैं सब पेट ॥

---

( वर्षा के कवित्त से )

भादों की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै ।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस-रीति मलारहि गावै ॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै ।
पौन मया करि घूँघट टारे, दया करि दामिनि दीप दिखावै ॥

( १४ ) जोधराज—ये गौड़ ब्राह्मण बालकृष्ण के पुत्र थे। इन्होंने नीवँगढ़ ( वर्त्तमान नीमराणा—अलवर ) के राजा चंद्रभान चौहान के अनुरोध से "हम्मीर रासो" नामक एक बड़ा प्रबंध-काव्य संवत् १८७५ में लिखा जिसमे रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव का चरित्र वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति पर वर्णन किया गया है। हम्मीरदेव सम्राट् पृथ्वीराज के वंशज थे। उन्होंने दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन को कई बार परास्त किया था और अंत में अलाउद्दीन की चढ़ाई में ही वे मारे गए थे। इस दृष्टि से इस काव्य के नायक देश के प्रसिद्ध वीरों में हैं। जोधराज ने चंद आदि प्राचीन कवियो की पुरानी भाषा का भी यत्र तत्र अनुकरण किया है;—जैसे जगह जगह 'हि' विभक्ति के प्राचीन रूप 'ह' का प्रयोग। 'हम्मीररासो' की कविता बड़ी ओजस्विनी है। घटनाओं का वर्णन ठीक ठीक और विस्तार के साथ हुआ है। काव्य का स्वरूप देने के लिये कवि ने कुछ घटनाओं की कल्पना भी की है। जैसे महिमा मंगोल का अपनी प्रेयसी वेश्या के साथ दिल्ली से भागकर हम्मीरदेव की शरण में आना और अलाउद्दीन का दोनों को माँगना। यह कल्पना राजनीतिक उद्देश्य हटाकर प्रेम-प्रसंग को युद्ध का कारण बताने के लिये, प्राचीन कवियो की प्रथा के अनुसार, की गई है। पीछे संवत् १९०२ मे चंद्रशेखर वाजपेयी ने जो हम्मीरहठ लिखा उसमें भी यह घटना ज्यों की त्यो ले ली गई है। ग्वाल कवि के हम्मीरहठ मे भी, बहुत संभव है कि, यह घटना ली गई होगी।

प्राचीन वीरकाल के अंतिम-राजपूत वीर का चरित जिस रूप में और जिस प्रकार की भाषा में अंकित होना चाहिए था उसी रूप और उसी प्रकार की भाषा में जोधराज अंकित करने में सफल हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इन्हें हिंदी-काव्य की ऐतिहासिक परंपरा की अच्छी जानकारी थी, यह बात स्पष्ट लक्षित होती है। नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

कब हठ करै अलावदीं रणथँभवर गढ़ आहि। कबै सेख सरनै रहै बहुरयो महिमा साहि।
सूर सोच मन में करौ, पदवी लहौ न फेरि। जो हठ छंडो राव तुम, उत न लजै अजमेरि।
सरन राखि सेख न तजौं, सीस गढ देस। रानी राव हमीर कों यह दीन्हों उपदेस।

---

कहँ पँवार जगदेव सीस आपन-कर कट्टयो। कहाँ भोज विक्रम सुराव जिन पर-दुख मिट्टयो॥
सवा भार नित करन कनक विप्रन को दीनो। रह्यो न रयिए कोय देव नर नाग सु चीनो।
यह बात राव हम्मीर सूँ रानी इमि आसा कही। जो भई चक्कवै-मंडली सुनौ राव दीखै नही।

---

जीवन-मरन-सँजोग जग कौन मिटावै ताहि। जो जनमै संसार में अमर रहै नहिं आहि।
कहाँ जैत कहँ सूर, कहाँ सोमेश्वर राणा। कहाँ गए प्रथिराज साह दल जीति न आणा।
होतब मिटै न जगत में कीजै चिंता कोहि। आसा कहै हमीर सौं अब चूकौ मत सोहि।

---

पुंडरीक-सुत-सुता तासु पद-कमल मनाऊँ।
बिसद बरन वर बसन बिपद भूषन हिय ध्याऊँ।
विपद जत्र सुर सुद्ध तंत्र तुबर जुत सोहै।
विपद ताल इक भुजा, दुतिय पुस्तक मन मोहै॥
गति राजहंस हंसह चढी रटी सुरन कीरति विमल।
जय मातु सदा वरदायिनी, देहु सदा वरदान-बल॥

( १५ ) बख्शी हंसराज—ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका जन्म संवत् १७९९ में पन्ना में हुआ था। इनके पूर्वज बख्शी हरकिशुनजी पन्ना राज्य के मंत्री थे। हंसराजजी पन्नानरेश श्रीअमानसिंहजी के दरबारियों में थे। ये व्रज की व्यासगद्दी के "विजय सखी" नामक महात्मा के शिष्य थे, जिन्होंने इनका

साम्प्रदायिक नाम 'प्रेमसखी' रखा था। 'सखी-भाव' के उपासक होने के कारण इन्होंने अत्यंत प्रेम-माधुर्य्य-पूर्ण रचनाएँ की है। इनके चार ग्रंथ पाए जाते है–

( १ ) सनेह सागर, ( २ ) विरहविलास, ( ३ ) रायचंद्रिका, (४) बारहमासा ( संवत् १८११ )

इनमें से प्रथम बड़ा ग्रंथ है। दूसरा शायद इनकी पहली रचना है। 'सनेह-सागर' का संपादन श्रीयुत लाला भगवानदीनजी बड़े अच्छे ढग से कर चुके हैं। शेष ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए।

'सनेह-सागर' नौ तरगों मे समाप्त हुआ है जिनमे कृष्ण की विविध लीलाएँ सार छंद मे वर्णन की गई है। भाषा बहुत ही मधुर, सरस और चलती है। भाषा का ऐसा स्निग्ध सरल प्रवाह बहुत कम देखने मे आता है। पद-विन्यास अत्यंत कोमल और ललित है। कृत्रिमता का लेश नहीं। अनुप्रास बहुत ही संयत मात्रा मे और स्वाभाविक है। माधुर्य प्रधानतः संस्कृत की पदावली का नहीं, भाषा की सरल सुबोध पदावली का है। शब्द का भी समावेश व्यर्थ केवल पादपूर्त्यर्थ नहीं है। सराश यह कि इनकी भाषा सब प्रकार से आदर्श भाषा है। कल्पना भाव-विधान में ही पूर्णतया प्रवृत्त है, अपनी अलग उड़ान दिखाने में नहीं। भाव-विकास के लिये अत्यंत परिचित और स्वाभाविक व्यापार ही रखे गए हैं। वास्तव मे 'सनेह-सागर' एक अनूठा ग्रथ है। उसके कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

दमकति दिपति देह दामिनि सी चमकत चचल नैना।
घूँघट बिच खेलत खंजन से उडि उडि दीठि लगै ना॥
लटकति ललित पीठ पर चोटी बिच बिच सुमन सँवारी।
देखे ताहि मैर सो आवत, मनहुँ भुजंगिनि कारी॥

---

इत तें चली राधिका गोरी सौंपन अपनी गैया।
उत तें अति आतुर आनँद सों आए कुँवर कन्हैया॥
कसि भौंहें, हँसि कुँवरि राधिका कान्ह कुँवर सों बोली।
अँग अँग उमगि भरे आनँद सों, दरकति छिन छिन चोली।

---

एरे मुकुटवार चरवाहे ! गाय हमारी लीजो ।
जाय न कहूँ तुरत की ब्यानी, सौंपि खरक कै दीजो ॥
होहु चरावनहार गाय के बाँधनहार छुरैया ।
कर दीजो तुम आय दोहनी, पावै दूध लुरैया ॥

---

कोऊ कहूँ आय वन-वीथिन या लीला लखि जैहै ।
कहि कहि कुटिल कठिन कुटिलन सों सिगरे ब्रज बगरैहै ॥
जो तुम्हरी इनकी ये बातैं सुनिहै कीरति रानी ।
तौ कैसे पटिहै पाटे ते, घटिहै कुल को पानी ॥

( १६ ) जनकराज-किशोरीशरण—ये अयोध्या के एक वैरागी थे और संवत् १७६७ मे वर्त्तमान थे । इन्होंने भक्ति, ज्ञान और रामचरित-संबंधिनी बहुत सी कविता की है । कुछ ग्रंथ सस्कृत मे भी लिखे हैं । हिंदी कविता साधारणतः अच्छी है । इनकी बनाई पुस्तको के नाम ये है—

आदोलरहस्य दीपिका, तुलसीदासचरित्र, विवेकसार चंद्रिका, सिद्धांतचौतीसी, बारहखड़ी, ललित-शृंगार-दीपक, कवितावली, जानकीसरणाभरण- सीताराम-सिद्धांतमुक्तावली. अनन्य-तरंगिणी, रामरस तरंगिणी, आत्मसबंध-दर्पण, होलिका-विनोद-दीपिका, वेदांतसार, श्रुति दीपिका, रसदीपिका, दोहावली, रघुवर-करुणाभरण ।

उपर्युक्त सूची से प्रकट है कि इन्होने राम-सीता के शृंगार, ऋतुविहार आदि के वर्णन मे ही भाषा कविता की है । इनका एक पद्य नीचे दिया जाता है—

फूले कुसुम द्रुम विविध रग सुगंध के चहुँ चाव ।
गुंजत मधुप मधुमत्त नाना रंग रज अँग फाव ॥
सीरो सुगंध सुमद बात विनोद कत वहत ।
परसत अनग उदोत हिय अभिलाप कामिनि कत ॥

( १७ ) अलबेली अलि—ये विष्णुस्वामी संप्रदाय के महात्मा 'वंशीअलि' जी के शिष्य थे । इसके अतिरिक्त इनका और कोई वृत्त ज्ञात नहीं । अनुमान

से इनका कविता-काल विक्रम की १८ वीं शताब्दी का अंतिम भाग आता है। ये भाषा के सत्कवि होने के अतिरिक्त संस्कृत में भी सुंदर रचना करते थे जिसका प्रमाण इनका लिखा 'श्रीस्तोत्र' है। इन्होंने "समय-प्रबंध-पदावली" नामक एक ग्रंथ लिखा है जिसमें ३१३ बहुत भी भाव भरे पद है नीचे कुछ पद उद्धृत किए जाते हैं—

लाल तेरे लोभी लोलुप नैन।

केहि रस-छकनि छके हौ छबीले मानत नाहिन चैन।
नींद नैन घुरि घुरि आवत अति, घोरि रही कछु नैन॥
अलबेली अलि रस के रसिया, कत वितरत ये बैन।

---

बने नवल प्रिय प्यारी।
सरद रैन उजियारी॥

सरद रैन सुखदैन मैनमय जमुना-तीर सुहायो।
सकल कला-पूरन ससि सीतल महि-मडल पर आयो॥
अतिमय सरस सुगंध मद गति बहत पवन रुचिकारी।
नव नव रूप नवल नव जोबन बने नवल पिय प्यारी॥

(१८) **चाचा हित वृंदावन दास**—ये पुष्कर क्षेत्र के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण थे और सवत् १७६५ मे उत्पन्न हुए थे। ये राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूपजी के शिष्य थे। तत्कालीन गोसाईंजी के पिता के गुरुभ्राता होने के कारण गोसाईंजी की देखादेखी सब लोग इन्हे "चाचाजी" कहने लगे। ये महाराज नागरीदासजी के भाई बहादुरसिंहजी के आश्रय मे रहते थे, पर जब राजकुल में विग्रह उत्पन हुआ तब ये कृष्णगढ़ छोडकर वृंदावन चले आए और अत समय तक वही रहे। सवत् १८०० से लेकर सवत् १८४४ तक की इनकी रचनाओं का पता लगता है। जैसे सूरदास के सवा लाख पद बनाने की जनश्रुति है वैसे ही इनके भी एक लाख पद और छद बनाने की बात प्रसिद्ध है। इनमें से २०००० के लगभग पद्य तो इनके मिले है। इन्होंने नखशिख, अष्टयाम, समय प्रबध, छद्मलीला आदि असंख्य प्रसंगों का विशद वर्णन किया

है। छद्मलीलाओं का वर्णन तो बड़ा ही अनूठा है। इनके ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं। रागरत्नाकर आदि ग्रंथ में इनके बहुत से पद संगृहीत मिलते हैं। छत्रपुर के राज-पुस्तकालय में इनकी बहुत सी रचनाएँ सुरक्षित हैं।

इतने अधिक परिमाण में होने पर भी इनकी रचना शिथिल या भरती की नहीं है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार प्रकट होता है। लीलाओं के अंतर्गत वचन और व्यापार की योजना भी इनकी कल्पना की स्फूर्ति का परिचय देती है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

( मनिहारी लीला से )

मिठबोलनी नवल मनिहारी।

भौहैं गोल गरूर हैं, याके नयन चुटीले भारी।
चूरी लखि मुख तें कहै, घूँघट में मुसकाति।
ससि मनु बदरी ओट तें दुरि दरसत यहि भाँति॥
चूरो बड़ो है मोल को, नगर न गाहक कोय।
मो फेरी खाली परी, आई सब घर टोय॥

---

प्रीतम तुम मो दृगन बसत हौ।

कहा भरोसे ह्वै पूछत हौ, कै चतुराई करि जु हँसत हौ॥
लीजै परखि स्वरूप आपनो, पुतरिन में तुमहीं तौ लसत हौ।
वृंदावन हित रूप-रसिक तुम, कुंज लड़ावत हिय हुलसत हौ॥

( १९ ) गिरिधर कविराज—इनका कुछ भी वृत्तात ज्ञात नहीं। नाम से भाट जान पड़ते हैं। शिवसिंह ने इनका जन्म संवत् १७७० दिया है जो संभवतः ठीक हो। इस हिसाब से इनका कविताकाल संवत् १८०० के उपरांत ही माना जा सकता है। इनकी नीति की कुंडलियाँ ग्राम ग्राम में प्रसिद्ध हैं। अपढ़ लोग भी दो चार चरण जानते हैं। इस सर्वप्रियता का कारण है बिल्कुल सीधी सादी भाषा में तथ्य मात्र का कथन। इनमें न तो अनुप्रास आदि द्वारा भाषा की सजावट है, न उपमा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार। कथन की पुष्टि मात्र के लिये ( अलंकार की दृष्टि से नहीं ) दृष्टांत आदि इधर उधर मिलते हैं। कहीं

कहीं, पर बहुत कम, कुछ अन्योक्ति का सहारा इन्होंने लिया है। इन सब बातों के विचार से ये कोरे पद्यकार ही कहे जा सकते हैं, सूक्तिकार नहीं। वृंद कवि में और इनमें यही अंतर है। वृंद ने स्थान स्थान पर अच्छी घटती हुई और सुंदर उपमाओं आदि का भी विधान किया है। पर इन्होंने कोरा तथ्य-कथन किया है। कहीं कहीं तो इन्होंने शिष्टता का ध्यान भी नहीं रखा है। पर घर गृहस्थी के साधारण व्यवहार, लोकव्यवहार आदि का बड़े स्पष्ट शब्दों में इन्होंने कथन किया है। यही स्पष्टता इनकी सर्वप्रियता का एक मात्र कारण है। दो कुंडलियाँ दी जाती हैं—

साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुस अरु कंस को गयो दुहुन को राज॥
गयो दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरे।
दुसमन दावागीर भए महिमंडल सिगरे॥
कह गिरिधर कविराय जुगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई?

---

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहि में सोय।
छाहँ न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जैहै॥
कह गिरिधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए॥

(२०) भगवत रसिक—ये टट्टी संप्रदाय के महात्मा स्वामी ललितमोहनी-दास के शिष्य थे। इन्होंने गद्दी का अधिकार नहीं लिया और निर्लिप्त भाव से भगवद्भजन में ही लगे रहे। अनुमान से इनका जन्म संवत् १७९५ के लगभग हुआ। अतः इनका रचनाकाल संवत् १८३० और १८५० के बीच माना जा सकता है। इन्होंने अपनी उपासना से संबंध रखनेवाले अनन्य-प्रेम-रसपूर्ण बहुत से पद, कवित्त, कुंडलिया, छप्पय आदि रचे हैं जिनमें एक ओर तो वैराग्य का

भाव और दूसरी ओर अनन्य प्रेम का भाव झलकता है। इनका हृदय प्रेम-रस-पूर्ण था। इसीसे इन्होंने कहा है कि "भगवत रसिक रसिक की बातैं रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।" ये कृष्णभक्ति में लीन एक प्रेमयोगी थे। इन्होंने प्रेमतत्त्व का निरूपण बड़े ही अच्छे ढंग से किया है। कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

कुंजन तें उठि प्रात गात जमुना में धोवै।
निधुवन करि दंडवत बिहारी को मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेय प्रसाद लगै जब भोजन-साधा॥

संग करै भगवत रसिक, कर करवा, गूदरि गरे।
वृंदावन बिहरत फिरै, जुगल रूप नैनन भरे॥

---

हमरो वृंदावन उर और।
माया काल तहाँ नहि व्यापै जहाँ रसिक-सिरमौर॥
छूटि जात सत असत वासना, मन की दौरा-दौर।
भगवत रसिक बतायो श्री गुरु, अमल अलौकिक ठौर॥

(२१) श्री हठीजी—ये श्रीहितहरिवंशजी की शिष्य-परंपरा मे बड़े ही सहित्यमर्मज्ञ और कला-कुशल कवि हो गए है। इन्होंने संवत् १८३७ मे "राधा-सुधाशतक" बनाया जिसमे ११ दोहे और १०३ कवित्त-सवैए है। अधिकांश भक्तों की अपेक्षा इनमे विशेषता यह है कि इन्होंने कला-पक्ष पर भी पूरा जोर दिया है। इनकी रचना मे यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का बाहुल्य पाया जाता है। पर साथ ही भाषा या वाक्य-विन्यास मे लद्धड़पन नहीं आने पाया है। वास्तव मे "राधासुधाशतक" छोटा होने पर भी अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। भारतेंदु हरिश्चंद्र को यह ग्रंथ अत्यत प्रिय था। उससे कुछ अवतरण दिए जाते हैं—

कलप लता के कैधों पल्लव नवीन दोऊ,
हरन मंजुता के कंज ताके बनिता के हैं।

पावन पतित गुन गावैं मुनि ताके छवि,
छलै सविता के जनता के गुरुता के हैं ॥
नवी निधि ताके सिद्धता के आदि आलै हठी,
तीनी लोकता के प्रभुता के प्रभु ताके हैं।
कटै पाप ताकै बढ़ैं पुन्य के पताके जिन,
ऐसे पद ताके वृषभानु के सुता के हैं ॥

---

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कौन ? तौन जौन राधे राधे नाम रटै,
तट कीजै बर कूल कालिंदी-कगर को ॥
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
रखिए न आन फेर हठी के झगर को।
गोपी पद-पकज-पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर को ॥

(२२) **गुमान मिश्र**—ये महोवे के रहनेवाले गोपालमणि के पुत्र थे। इनके तीन भाई और थे। दीपसाहि, सुमान और अमान। गुमान ने पिहानी के राजा अकबरअली खाँ के आश्रय मे संवत् १८०० मे श्रीहर्षकृत नैपध काव्य का पद्यानुवाद नाना छदों में किया। यही ग्रथ इनका प्रसिद्ध है और प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त खोज मे इनके दो ग्रथ और मिले हैं—कृष्ण-चंद्रिका और छंदाटवी (पिंगल)। कृष्णचंद्रिका का निर्माण-काल संवत् १८३८ है। अतः इनका कविताकाल संवत् १८०० से सवत् १८४० तक माना जा सकता है। इन तीन ग्रंथों के अतिरिक्त रस, नायिकाभेद, अलंकार आदि कई और ग्रथ सुने जाते हैं।

यहाँ केवल इनके नैषध के संबंध में ही कुछ कहा जा सकता है। इस ग्रंथ मे इन्होंने बहुत से छंदों का प्रयोग किया है और बहुत जल्दी जल्दी छद बदले है। इंद्रवज्रा, वंशस्थ, मंदाक्राता, शार्दूलविक्रीड़ित आदि कठिन वर्णवृत्तों से

लेकर दोहा चौपाई तक मौजूद हैं। ग्रंथारंभ में अकबरअली खाँ की प्रशसा मे जो बहुत से कवित्त इन्होंने कहे हैं, उनसे इनकी चमत्कार-प्रियता स्पष्ट प्रकट होती है। उनमे परिसंख्या अलंकार की भरमार है। गुमानजी अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कला-कुशल थे, इसमें कोई सदेह नहीं। भाषा पर भी इनका अधिकार था। जिन श्लोकों के भाव जटिल नहीं है उनका अनुवाद बहुत ही सरस और सुदर है। वह स्वतंत्र रचना के रूप में प्रतीत होता है पर जहाँ कुछ जटिलता है वहाँ की वाक्यावली उलझी हुई और अर्थ अस्पष्ट है। विना मूल श्लोक सामने आए ऐसे स्थलों का स्पष्ट अर्थ निकालना कठिन ही है। अतः सारी पुस्तक के सबंध मे यही कहना चाहिए कि अनुवाद मे वैसी सफलता नहीं हुई है। संस्कृत के भावों के सम्यक् अवतरण मे यह सफलता गुमान ही के सिर नहीं मढ़ी जा सकती। रीतिकाल के जिन जिन कवियों ने संस्कृत से अनुवाद करने का प्रयत्न किया है उनमे से बहुत से असफल हुए हैं। ऐसा जान पडता है कि इस काल मे जिस मधुर रूप में व्रजभाषा का विकास हुआ वह सरल रस-व्यंजना के तो बहुत ही अनुकूल हुआ पर जटिल भावो और विचारो के प्रकाशन में वैसा समर्थ नहीं हुआ। कुलपति मिश्र ने अपने "रसरहस्य" मे काव्यप्रकाश का जो अनुवाद किया है उसमे भी जगह जगह इसी प्रकार की अस्पष्टता है।

गुमानजी उत्तम श्रेणी के कवि थे, इसमें संदेह नहीं। जहाँ वे जटिल भाव भरने की उलझन में नहीं पड़े हैं वहाँ की रचना अत्यंत मनोहारिणी हुई है। कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

दुर्जन की हानि, बिरधापनोई करे पीर,
गुन लोप होत एक मोतिन के हार ही।
टूटे मनिमालै, निरगुन गाय ताल लिखै,
पोथिन ही अंक, मन कलह विचार ही॥
संकर बरन पसु पच्छिन में पाइयत,
अलक ही पारैं असभंग निराधार ही।
चिर चिर राजौ राज अली अकबर सुरराज,
के समाज जाके राज पर वारही॥

दिग्गज दबत, दबकत दिगपाल भूरि,
धूरि की धुँधेरी सों अँधेरी आभा भान की।
धाम और धरा को, माल बाल अबला को अरि,
तजत परान राह चाहत परान की॥
सैयद समर्थ भूप अली अकबर-दल
चलत बजाय मारू दुंदुभी धुकान की।
फिरि फिरि फननि फनीस उलटतु ऐसे,
चोली खोलि ढोलो ज्यों तमोली पाके पान की॥

---

न्हाती वहाँ सुनयना नित बावली में,
छूटे उरोजतल कुंकुम नीर ही में।
श्रीखंड चित्र दृग-अंजन संग साजै,
मानौ त्रिवेनि नित ही घर ही बिराजै॥

---

हाटक-हंस चल्यो उड़िकै नभ में, दुगनी तन-ज्योति भई।
लीक सी खैंचि गयो छन में, छहराय रही छवि सोनमई॥
नैनन सों निरख्यो न बनायके, कै उपमा मन मोहिं लई।
स्यामल चीर मनौ पसर्‌यो, तेहि पै कल कंचन बेलि नई॥

(२३) सरजूराम पंडित—इन्होंने "जैमिनि पुराण भाषा" नामक एक कथात्मक ग्रंथ संवत् १८०५ में बनाकर तैयार किया। इन्होंने अपना कुछ भी परिचय अपने ग्रंथ में नहीं दिया है। जैमिनी पुराण दोहों चौपाइयों में तथा और कई छंदों में लिखा गया है और ३६ अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसमें बहुत सी कथाएँ आई हैं; जैसे, युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, संक्षिप्त रामायण, सीतात्याग, लवकुश-युद्ध, मयूरध्वज, चंद्रहास आदि राजाओं की कथाएँ। चौपाइयों का ढंग "रामचरितमानस" का सा है। कविता इनकी अच्छी हुई है। उसमें गांभीर्य है। नमूने के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

गुरुपद पंकज पावन रेनू । कहा कलपतरु, का सुरधेनू ॥
गुरुपद-रज अज हरिहर धामा । त्रिभुवन-विभव, विस्व विश्रामा ॥
तब लगि जग जड जीव भुलाना । परम तत्त्व गुरु जिय नहिं जाना ॥
श्रीगुरु पंकज पाँव पसाऊ । स्रवत सुधामय तीरथराऊ ॥
सुमिरत होत हृदय असनाना । मिटत मोहमय मन-मल नाना ॥

( २४ ) भगवंतराय खीची—ये असोथर (जिला फतहपुर) के एक बड़े गुणग्राही राजा थे जिनके यहाँ बराबर अच्छे कवियो का सत्कार होता रहता था। शिवसिंह सरोज में लिखा है कि इन्होंने सातों कांड रामायण बड़े सुंदर कवित्तों मे बनाई है। यह रामायण तो इनकी नहीं मिलती पर हनुमानजी की प्रशसा के ५० कवित्त इनके अवश्य पाए गए हैं जो सभव है रामायण के ही अश हो। खोज मे जो इनकी "हनुमत् पचीसी" मिली है उसमे निर्माणकाल १८१७ दिया है। इनकी कविता बड़ी ही उत्साहपूर्ण और ओजस्विनी है। एक कवित्त देखिए—

विदित विसाल ढाल भालु-कपि-जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की ॥
जाहीं सों चपेटि कै गिराए गिरि गढ, जासों
कठिन कपाट तोरे, लकिनी सों मार की ॥
भनैं भगवंत जासों लागि भेटे प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।
ओड़े ब्रह्मअस्त्र की अवाती महाताती, वदौं
युद्ध-मद-माती छाती पवन-कुमार की ॥

( २५ ) सूदन—ये मथुरा के रहनेवाले माथुर चौवे थे। इनके पिता का नाम वसंत था। सूदन भरतपुर के महाराज वदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। उन्हीं के पराक्रमपूर्ण चरित्र का वर्णन इन्होने "सुजानचरित्र" नामक प्रबंधकाव्य मे किया है। मोगल-सम्राज्य के गिरे दिनो मे भरतपुर के जाट राजाओं का कितना प्रभाव बढ़ा था यह इतिहास में प्रसिद्ध है। उन्होने शाही महलों और खजानों को कई बार लूटा था। पानीपत की अंतिम

लड़ाई के संबध में इतिहासज्ञो की यह धारणा है कि यदि पेशवा की सेना का संचालन भरतपुर के अनुभवी महाराज के कथनानुसार हुआ होता और वे रूठकर न लौट आए होते तो मरहठों की हार कभी न होती। इतने ही से भरतपुरवालो के आतंक और प्रभाव का अनुमान हो सकता है। अतः सूदन को एक सच्चा वीर चरित्रनायक मिल गया।

'सुजानचरित्र' बहुत बड़ा ग्रंथ है। इसमे संवत् १८०२ से लेकर १८१० तक की घटनाओं का वर्णन है। अतः इसकी समाप्ति १८१० के दस पंद्रह वर्ष पीछे मानी जा सकती है। इस हिसाब से इनका कविता-काल संवत् १८२० के आसपास माना जा सकता है। सूरजमल की वीरता की जो घटनाएँ कवि ने वर्णित की हैं वे कपोलकल्पित नही, ऐतिहासिक हैं। जैसे अहमदशाह बादशाह के सेनापति असदखाँ के फतहअली पर चढाई करने पर सूरजमल का फतहअली के पक्ष में होकर असदखाँ का ससैन्य नाश करना, मेवाड़, माँडौगढ आदि जीतना, संवत् १८०४ मे जयपुर की ओर होकर मरहठों को हटाना, संवत् १८०५ में बादशाही सेनापति सलाबतखाँ बख्शी को परास्त करना, संवत् १८०६ मे शाही वजीर सफदरजंग मंसूर की सेना से मिलकर बंगश पठानो पर चढ़ाई करना, बादशाह से लड़कर दिल्ली लूटना, इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों के विचार से 'सुजानचरित्र' का ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत कुछ है।

इस काव्य की रचना के संबंध में सबसे पहली बात जिसपर ध्यान जाता है वह वर्णनों का अत्यधिक विस्तार और प्रचुरता है। वस्तुओं की गिनती गिनाने की प्रणाली का इस कवि ने बहुत अधिक अवलंबन किया है, जिससे पाठकों को बहुत से स्थलों पर अरुचि हो जाती है। कहीं घोड़ों की जातियों के नाम ही नाम गिनाते चले गए हैं, कहीं अस्त्रो और वस्त्रों की सूची की भरमार है, कहीं भिन्न भिन्न देशवासियो और जातियो की फिहरिस्त चल रही है। इस कवि को साहित्यिक मर्यादा का ध्यान बहुत ही कम था। भिन्न भिन्न भाषाओ और बोलियों को लेकर कहीं कहीं इन्होंने पूरा खेलवाड़ किया है। ऐसे चरित्र को लेकर जो गाभीर्य कवि मे होना चाहिए वह इनमे नहीं पाया जाता। पद्य मे व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम भरने की निपुणता इस कवि की एक विशेषता

समझिए। ग्रंथारंभ में ही १७५ कवियों के नाम गिनाए गए हैं। सूदन में युद्ध, उत्साहपूर्ण भाषण, चित्त की उमंग आदि वर्णन करने की पूरी प्रतिभा थी पर उक्त त्रुटियों के कारण उनके ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व बहुत कुछ घटा हुआ है। प्रगल्भता और प्रचुरता का प्रदर्शन सीमा का अतिक्रमण कर जाने के कारण जगह जगह खटकता है। भाषा के साथ भी सूदनजी ने पूरी मनमानी की है। पंजाबी, खड़ी बोली, सब का पुट मिलता है। न जाने कितने गढ़त के और तोड़े मरोड़े शब्द लाए गए हैं। जो स्थल इन सब दोषों से मुक्त हैं वे अवश्य मनोहर हैं पर अधिकतर शब्दों की तड़ातड़ भड़ाभड़ से जी ऊबने लगता है। यह वीर-रसात्मक ग्रंथ है और इसमें भिन्न भिन्न युद्धों का ही वर्णन है इससे अध्यायों का नाम जंग रखा गया है। सात जंगों में ग्रंथ समाप्त हुआ है। छंद बहुत से प्रयुक्त हुए हैं। कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

बखत बिलंद तेरी दुंदुभी धुकारन सों,
दुंद दबि जात देस देस सुख जाही के।
दिन दिन दूनों महिमंडल प्रताप होत,
सूदन दुनी में ऐसे बखत न काही के॥
उद्धत सुजान सुत बुद्धि बलवान सुनि,
दिल्ली के दरनि बाजैं आवज उछाही के।
जाही के भरोसे अब तखत उमाही करैं,
पाही से खरे हैं जो सिपाही पातसाही के॥

---

दुहुँ ओर बदूक जहँ चलत बेचूक,
रव होत धुकधूक, किलकार कहुँ कूक।
कहुँ धनुपटकार जिहि बान झंकार,
भट देत हुंकार सकार मुँह सूक॥
कहुँ देखि दपटंत, गज बाजि झपटंत,
अरिब्यूह लपटंत, रपटंत कहुँ चूक।

समसेर सटकन, सर सेल फटकन,
कहुँ जात हटकत, लटकत लगि भूऱू ॥

---

दब्बत लुत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से।
चब्बत लोह, अचब्बत सोनित गब्बत से ॥
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही।
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तेग गही।
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही।
छुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही ॥

---

धड़धद्धरं, धड़धद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं।
तड़तत्तरं तड़तत्तरं कड़कक्करं कड़कक्करं ॥
घड़घग्घरं घड़घग्घरं, झड़झज्झरं झड़झज्झरं।
अररर्ररं अररर्ररं सररर्ररं सररर्ररं ॥

---

सोनित अरघ ढारि, लुत्थ जुत्थ पाँवड़े दै,
दारूधूम धूपदीप, रजंक की ज्वालिका।
चरबी को चंदन, पुहुप पल टूकन के,
अच्छत अखंड गोला गोलिन की चालिका ॥
नैवेद्य नीको साहि सहित दिली को दल,
कामना विचारी मनसूर-पन-पालिका ॥
कोटरा के निकट विकट जंग जोरि सूजा,
भली विधि पूजा कै प्रसन्न कीन्ही कालिका ॥

---

इसी गल्ल धरि कन्न में वकसी मुसक्याना।
हमनूँ बूझन हो तुसी 'क्यों किया पयाना' ॥
'असी आवने भेदनू तूने कहि जाना।
साह अहम्मद ने मुझे अपना करि माना' ॥

---

ढोलतीं खरानी खतरानी बतरानी वेवे,
कुड़िए न वेखी अणी मीं गुरून पावाँ हाँ।
कित्थे जला पेऊँ, कित्थे उज्जले भिड़ाऊँ असी,
तुसी को लै गीवा असी जिंदगी बचावा हाँ॥
भट्टरा साहि हुआ चंदला वजीर वेखो,
एहा हाल कीता, वाह गुरूनूँ मनावा हाँ।
जावाँ कित्थे जावा अनमा वावे केही पावाँजली,
एही गल्ल अक्खैं लक्खाँ लक्खाँ गली जावाँ हाँ॥

(२६) हरनारायण—इन्होंने 'माधवानल कामकंदला' और 'बैताल पचीसी' नामक दो कथात्मक काव्य लिखे हैं। 'माधवानल कामकंदला' का रचना-काल सं० १८१२ है। इनकी कविता अनुप्रास आदि से अलंकृत है। एक कवित्त दिया जाता—

सोहै मुंड चंद सों, त्रिपुंड सों विराजै भाल,
तुंड राजै रदन उदंड के मिलन तें।
पाप-रूप-पानिप विघन-जल-जीवन के,
कुंड सोखि सुजन बचावैं अखिलन ते॥
ऐसे गिरिनंदिनी के नंदन को ध्यान ही मे
कवि छाडि सकल अपानहि ढिलन तें।
भुगुति मुकति ताके तुंड तें निकसि तापै
कुंड बाँधि कढ़ती भुसुंड के बिलन तें॥

(२७) ब्रजवासीदास—ये वृंदावन के रहनेवाले और वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने संवत् १८२७ मे 'ब्रजविलास' नामक प्रबंधकाव्य तुलसीदासजी के अनुकरण पर दोहों चौपाइयों मे बनाया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक का अनुवाद भी विविध छंदों मे किया है। पर इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रजविलास' ही है जिसका प्रचार साधारण श्रेणी के पाठकों मे है। इस ग्रंथ मे कथा भी सूरसागर के क्रम से ली गई है और बहुत से स्थलों

पर सूर के शब्द और भाव भी चौपाइयों मे करके रख दिए गए हैं। इस बात को ग्रंथकार ने स्वीकार भी किया है—

यामें कछुक बुद्धि नहीं मेरी। उक्ति युक्ति सब सूरहि केरी॥

इन्होंने तुलसी का छंदःक्रम ही लिया है, भाषा शुद्ध ब्रजभाषा ही है। उसमे कहीं अवधी या बैसवाडी का नाम तक नहीं है। जिनको भाषा की पहचान तक नहीं, जो वीर-रस वर्णन-परिपाटी के अनुसार किसी पद्य मे वर्णों का द्वित्व देख उसे प्राकृत भाषा कहते है, वे चाहे जो कहे। ब्रजविलास मे कृष्ण की भिन्न भिन्न लीलाओं का जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक का वर्णन किया गया है। भाषा सीधी-सादी, सुव्यवस्थित और चलती हुई है। व्यर्थ शब्दों की भरती न होने से उसमे सफाई है। यह सब होने पर भी इसमे वह बात नहीं है जिसके बल से गोस्वामीजी के रामचरितमानस का इतना देशव्यापी प्रचार हुआ। जीवन की परिस्थितियों की वह अनेकरूपता, गंभीरता और मर्मस्पर्शिता इसमे कहाँ जो रामचरित और तुलसी की वाणी में है? इसमें तो अधिकतर क्रीड़ामय जीवन का ही चित्रण है। फिर भी साधारण श्रेणी के कृष्णभक्त पाठकों मे इसका प्रचार है। आगे कुछ पद्य दिए जाते हैं—

कहति जसोदा कौन विधि, समझाऊँ अब कान्ह।<br>
भूलि दिखायो चंद मैं, ताहि कहत हरि खान॥

यहै देत नित माखन मोकों। छिन छिन देति तात सो तोकों॥<br>
जो तुम स्याम चद को खैहौ। बहुरो फिर माखन कहँ पैहौ?<br>
देखत रहौ खिलौना चदा। हठ नहिं कीजै बालगोविंदा॥<br>
पा लागौं हठ अधिक न कीजै। मैं बलि, रिसहि रिसहि तन छीजै॥<br>
जसुमति कहति कहा धौं कीजै। माँगत चंद कहाँ तें दीजै॥<br>
तब जसुमति इक जलपुट लीनो। कर मैं लै तेहि ऊँचो कीनो॥<br>
ऐसे कहि स्यामै बहरावै। आव चंद! तोहि लाल बुलावै॥<br>
हाथ लिए तेहि खेलत रहिए। नैकु नहीं धरनी पै धरिए॥

(२८) गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव—इन तीनो महानुभावों ने मिलकर हिंदी-साहित्य मे बडा भारी काम किया है। इन्होने समग्र महाभारत

और हरिवंश ( जो महाभारत का ही परिशिष्ट माना जाता है ) का अनुवाद अत्यत मनोहर विविध छंदो मे पूर्ण कवित्व के साथ किया है। कथा प्रबंध का इतना बड़ा काव्य हिंदी-साहित्य मे दूसरा नहीं बना। यह लगभग दो हजार पृष्ठो मे समाप्त हुआ है। इतना बडा ग्रंथ होने पर भी न तो इसमे कहीं शिथिलता आई है और न रोचकता और काव्यगुण में कमी हुई है। छंदों का विधान इन्होंने ठीक उसी रीति से किया है जिस रीति से इतने बडे ग्रंथ मे होना चाहिए। जो छद उठाया है उसका कुछ दूर तक निर्वाह किया है। केशवदास की तरह छंदो का तमाशा नहीं दिखाया है। छंदों का चुनाव भी बहुत उत्तम हुआ है। रूपमाला, घनाक्षरी, सवैया आदि मधुर छंद अधिक रखे गए है; बीच बीच मे दोहे और चौपाइयाँ भी हैं। भाषा प्रांजल और सुव्यवस्थित है। अनुप्रास आदि का अधिक आग्रह न होने पर भी आवश्यक विधान है। रचना सब प्रकार से साहित्यिक और मनोहर है और लेखको की काव्यकुशलता का परिचय देती है। इस ग्रंथ के बनने में भी ५० वर्ष के ऊपर लगे है। अनुमानतः इसका आरंभ संवत् १८३० में हो चुका था और यह संवत् १८८४ मे जाकर समाप्त हुआ है। इसकी रचना काशीनरेश महाराज उदितनारायणसिह की आज्ञा से हुई जिन्होने इसके लिये लाखों रुपए व्यय किए। इस बड़े भारी साहित्यिक यज्ञ के अनुष्ठान के लिये हिंदी-प्रेमी उक्त महाराज के सदा कृतज्ञ रहेगे।

गोकुलनाथ और गोपीनाथ प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बंदीजन के पुत्र और पौत्र थे। मणिदेव बदीजन भरतपुर राज्य के जहानपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे और अपनी विमाता के दुर्व्यवहार से रुष्ट होकर काशी चले आए थे। काशी मे वे गोकुलनाथजी के यहाँ ही रहते थे। और स्थानों पर उनका बहुत मान हुआ था। जीवन के अतिम दिनों मे वे कभी कभी विक्षिप्त भी हो जाया करते थे। उनका परलोकवास सवत् १९२० मे हुआ।

गोकुलनाथ ने इस महाभारत के अतिरिक्त निम्नलिखित और भी ग्रंथ लिखे है—

चेतचंद्रिका, गोविंद-सुखदविहार, राधाकृष्ण-विलास (सं० १८५८) 'राधा-

नखशिख, नामरत्नमाला ( कोश ) ( सं० १८७० ), सीताराम-गुणार्णव, अमर-कोष भाषा ( सं० १८७० ), कविमुखमंडन ।

चेतचंद्रिका अलंकार का ग्रंथ है जिसमें काशिराज की वंशावली भी दी हुई है । 'राधाकृष्ण-विलास' रस संबंधी ग्रंथ है और 'जगतविनोद' के बराबर है । 'सीताराम-गुणार्णव' अध्यात्मरामायण का अनुवाद है जिसमे पूरी रामकथा वर्णित है । 'कविमुखमडन' भी अलकार संबंधी ग्रंथ है । गोकुलनाथ का कविता काल सवत् १८४० से १८७० तक माना जा सकता है । ग्रंथो की सूची से ही स्पष्ट है कि ये कितने निपुण कवि थे । रीति और प्रबंध दोनों ओर इन्होने प्रचुर रचना की है । इतने अधिक परिमाण मे और इतने प्रकार की रचना वही कर सकता है जो पूर्ण साहित्यमर्मज्ञ, काव्यकला मे सिद्धहस्त और भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाला हो । अतः महाभारत के तीनों अनुवादको मे तो ये श्रेष्ठ हैं ही, साहित्य क्षेत्र में भी ये बहुत ही ऊँचे पद के अधिकारी हैं । रीतिग्रंथ-रचना और प्रबंध-रचना दोनों मे समान रूप से कुशल और कोई दूसरा कवि रीति-काल के भीतर नहीं पाया जाता ।

महाभारत के जिस जिस अंश का अनुवाद जिसने जिसने किया है उस उस अंश मे उनका नाम दिया हुआ है । नीचे तीनों कवियो की रचना के कुछ उदाहरण दिए जाते है ।

गोकुलनाथ—

सखिन के श्रुति में उकुति कल कोकिल की
गुरुजन हू पै पुनि लाज के कथान की ।
गोकुल अरुन चरनांबुज पै गुंजपुंज
धुनि सी चढति चंचरीक चरचान की ॥
पीतम के श्रवन समीप ही जुगुति होति
मैन-तन्त्र-मन्त्र के बरन गुनगान की ।
सौतिन के कानन में हलाहल ह्वै हलति,
एरी सुखदानि ! तौ बजनि बिछुवान की ॥
( राधाकृष्णविलास )

दुर्ग अतिही महत् रचित भटन सों चहुँ ओर।
ताहि घेर्‌यो शाल्व भूपति सेन लै अति घोर॥
एक मानुष निकसिबे की रही कतहुँ न राह।
परी सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध-उछाह॥

---

लहि सुदेष्णा की सुआज्ञा नीच कीचक जौन।
जाय सिंहिनि पास जंबुक तथा कीनो गौन।
लग्यो कृष्णा सों कहन या भाँति सस्मित बैन।
यहाँ आई कहाँ तें? तुम कौन हौ छवि-ऐन?

---

नहीं तुम सी लखी भू पर भरी-सुषमा वाम।
देवि, जच्छिनि, किन्नरी, कै श्री, सची अभिराम॥
कांति सों अति भरो तुम्हरो लखत वदन अनूप।
करैगो नहिं स्ववस काको महा मन्मथ भूप॥

(महाभार

---

गोपीनाथ—

सर्वदिसि मे फिरत भीषम को सुरथ मन-मान।
लखे सब कोउ तहाँ भूप अलातचक्र समान॥
सर्व थर सबरथिन सों तेहिं समय नृप सब ओर।
एक भीषण सहस सम रन जुरो हो तहँ जोर॥

---

मणिदेव—

वचन यह सुनि कहत भो चक्राग हंस उदार।
उड़ौगे मम संग किमि तुम कहहु सो उपचार॥
खाय जूठो पुष्ट, गर्वित काग सुनि ये बैन।
कह्यो जानत उड़न की शत रीति हम बलऐन॥

(२९) बोधा—ये राजापुर (जि० बाँदा) के रहनेवाले सरयूपारी ब्राह्मण थे। पन्ना दरबार में इनके संबंधियों की अच्छी प्रतिष्ठा थी। उसी संबंध से ये बाल्यकाल ही मे पन्ना चले गए। इनका नाम बुद्धिसेन था, पर महाराज इन्हे प्यार से 'बोधा' कहने लगे और वही नाम इनका प्रसिद्ध हो गया। भाषा-काव्य के अतिरिक्त इन्हे संस्कृत और फारसी का भी अच्छा बोध था। शिवसिंह-सरोज मे इनका जन्म-संवत् १८०४ दिया हुआ है। इनका कविता-काल संवत् १८३० से १८६० तक माना जा सकता है।

बोधा एक बड़े रसिक जीव थे। कहते है कि पन्ना दरबार मे सुभान (सुबहान) नाम की एक वेश्या थी जिसपर इनका प्रेम हो गया। इसपर रुष्ट *होकर महाराज ने इन्हे ६ महीने देश-निकाले का दंड दिया। सुभान के वियोग* मे ६ महीने इन्होंने बड़े कष्ट से बिताए और उसी बीच मे "विरह-वारीश" नामक एक पुस्तक लिखकर तैयार की। ६ महीने पीछे जब ये फिर दरबार मे लौटकर आए तब अपने "विरह-वारीश" के कुछ कवित्त सुनाए। महाराज ने प्रसन्न होकर इनसे कुछ माँगने को कहा। इन्होने कहा "सुभान अल्लाह"। महाराज ने प्रसन्न होकर सुभान को इन्हे दे दिया और इनकी मुराद पूरी हुई।

'विरह-वारीश' के अतिरिक्त "इश्कनामा" भी इनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इनके बहुत से फुटकल कवित्त सवैए इधर उधर पाए जाते है। बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे, इससे इन्होंने कोई रीतिग्रंथ न लिखकर अपनी मौज के अनुसार फुटकल पद्यो की ही रचना की है। ये अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि थे। प्रेममार्ग के निरूपण मे इन्होंने बहुत से पद्य कहे है। 'प्रेम की पीर' की व्यंजना भी इन्होने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है। यत्र तत्र व्याकरण-दोष रहने पर भाषा इनकी चलती और मुहावरेदार होती थी। उससे प्रेम की उमंग छलकी पड़ती है। इनके स्वभाव मे फक्कड़पन भी कम नहीं था। 'नेजे', 'कटारी' और 'कुरबान' वाली बाजारी ढंग की रचना भी इन्होंने कहीं कहीं की है। जो कुछ हो, ये भावुक और रसज्ञ कवि थे, इसमें कोई संदेह नही। कुछ पद्य इनके नीचे दिए जाते है—

अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सकै न, तहाँ परतीति को टाँडो लदावनो है॥

कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है॥

---

एक सुभान के आनन पै कुरवान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटिए लखि कै मुसकाहट ताको॥
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरा न तहाँ को।
जान मिलै तौ जहान मिलै, नहिं जान मिलै तौ जहान कहाँ को॥

---

'कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो' यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर तें कढ़ि आवै, गरे तें फिरै, मन की मन ही मे सिरैबो करै॥
कवि बोधा न चाँड सरी कबहूँ, नितही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै॥

---

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हेत,
हितको न जानै ताको हितू न विसाहिए।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै,
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिए॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भाँति अहै,
आपको सराहै ताहि आपहू सराहिए।
दाता कहा, सूर कहा, सुंदर सुजान कहा,
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिए॥

(३०) रामचंद्र—इन्होंने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। भाषा-महिम्न के कर्त्ता काशीवासी मनियारसिंह ने अपने को "चाकर अखंडित श्रीरामचंद्र पंडित के" लिखा है। मनियारसिंह ने अपना "भाषा-महिम्न" संवत् १८४१ में लिखा। अतः इनका समय संवत् १८४० माना जा सकता है। इनकी एक ही पुस्तक "चरणचंद्रिका" ज्ञात है जिसपर इनका सारा यश स्थिर है। यह भक्ति-रसात्मक ग्रंथ केवल ६२ कवित्तों का है। इसमे

पार्वतीजी के चरणो का वर्णन अत्यंत रुचिर और अनूठे ढंग से किया गया है। इस वर्णन से अलौकिक सुषमा, विभूति, शक्ति और शाति फूटी पड़ती है। उपास्य के एक अंग मे अनंत ऐश्वर्य की भावना भक्ति की चरम भावुकता के भीतर ही संभव है। भाषा लाक्षणिक और पांडित्यपूर्ण है। कुछ और अधिक न कहकर इनके दो कवित्त ही सामने रख देना ठीक है।

नूपुर बजत मानि मृग से अधीन होत,
मीन होत जानि चरनामृत-झरनि को।
खंजन से नचैं देखि सुषमा सरद की सी,
सचैं मधुकर से पराग केसरनि को॥
रीझि रीझि तेरी पदछवि पै तिलोचन के,
लोचन ये अब धारैं केतिक धरनि को।
फूलत कुमुद से मयंक से निरखि नख,
पंकज से खिलैं लखि तरवा-तरनि को॥

---

मानिए करींद्र जो हरींद्र को सरोष हर,
मानिए तिमिर घेरै भानु किरनन को।
मानिए चटक बाज जुर्रा को पटकि मारै,
मानिए भटकि डारै भेक भुजगन को॥
मानिए कहै जो वारिधार पै दवारि औ
अगार बरसाइबो बतावै बारिदन को।
मानिए अनेक विपरीत की प्रतीत, पै न
भीति आई मानिए भवानी-सेवकन को॥

(३१) मंचित—ये मऊ (बुँदेलखंड) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३६ मे वर्त्तमान थे। इन्होने कृष्ण-चरित संबंधी दो पुस्तकें लिखी हैं—सुरभी-दानलीला और कृष्णायन। सुरभी-दानलीला मे बाललीला, यमलार्जुन-पतन और दान-लीला का विस्तृत वर्णन सार छंद मे किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण का नखशिख भी बहुत अच्छा कहा गया है। कृष्णायन

तुलसीदासजी की रामायण के अनुकरण पर दोहों चौपाइयों में लिखी गई है। इन्होंने गोस्वामीजी की पदावली तक का अनुकरण किया है। स्थान-स्थान पर भाषा अनुप्रासयुक्त और संस्कृत-गर्भित है, इससे ब्रजवासीदास की चौपाइयों की अपेक्षा इनकी चौपाइयाँ गोस्वामीजी की चौपाइयो से, कुछ अधिक मेल खाती हैं। पर यह मेल केवल कहीं कहीं दिखाई पड जाता है। भाषा-मर्मज्ञ को दोनों का भेद बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाता है। इनकी भाषा ब्रज है, अवधी नहीं। इसमे वह सफाई और व्यवस्था कहाँ? कृष्णायन की अपेक्षा इनकी सुरभी-दानलीला की रचना अधिक सरस है। दोनो से कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं।

कुंडल लोल अमोल कान के छुवत कपोलन आवैं।
डुलैं आप से खुलैं जोर छवि बरवस मनहिं चुरावैं॥
खौर विसाल भाल पर सोभित केसर की चित भावैं।
ताके बीच बिंदु रोरी को, ऐसो वेस बनावैं॥
भ्रुकुटी बंक नैन खंजन से कंजन गंजनवारे।
मद भंजन खग-मीन सदा जे मनरंजरन अनियारे॥

(सुरभी-दानलीला से)

अचरज अमित भयो लखि सरिता। दुतिय न उपमा कहि सम-चरिता॥
कृष्णदेव कहँ प्रिय जमुना सी। जिमि गोकुल गोलोक-प्रकासी॥
अति विस्तार पार, पय -पावन। उभय करार घाट मनभावन॥
बनचर -बनज विपुल बहु पच्छी। अलि-अवली-धुनि सुनि अति अच्छी॥
नाना जिनिस जीव सरि सेवैं। हिंसाहीन असन सुचि जेवैं॥

(कृष्णायन)

(३२) मधुसूदनदास—ये माथुर चौबे थे। इन्होंने गोविंददास नामक किसी व्यक्ति के अनुरोध से संवत् १८३९ मे "रामाश्वमेध" नामक एक बड़ा और मनोहर प्रबंधकाव्य बनाया जो सब प्रकार से गोस्वामीजी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रंथ होने के योग्य है। इसमे श्रीरामचंद्र द्वारा अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान, घोड़े के साथ गई हुई सेना के साथ सुबाहु, दमन, विद्युन्माली

राक्षस, वीरमणि, शिव, सुरथ आदि का घोर युद्ध; अंत मे राम के पुत्र लव और कुश के साथ भयंकर संग्राम, श्रीरामचंद्र द्वारा युद्ध का निवारण और पुत्रो सहित सीता का अयोध्या में आनयन; इन सब प्रसंगों का पद्मपुराण के आधार पर बहुत ही विस्तृत और रोचक वर्णन है। ग्रंथ की रचना बिलकुल रामचरितमानस की शैली पर हुई है। प्रधानता दोहों के साथ चौपाइयो की है, पर बीच बीच मे गीतिका आदि और छंद भी है। पद-विन्यास और भाषा-सौष्ठव रामचरितमानस का सा ही है। प्रत्यय और रूप भी बहुत कुछ अवधी के रखे गए हैं। गोस्वामीजी की प्रणाली के अनुसरण मे मधुसूदनदासजी को पूरी सफलता हुई है। इनकी प्रबंधकुशलता, कवित्व-शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनो उच्च कोटि की हैं। इनकी चौपाइयाँ अलबत्तः गोस्वामीजी की चौपाइयों मे बेखटके मिलाई जा सकती हैं। सूक्ष्म दृष्टि वाले भाषा मर्मज्ञो को केवल थोडे ही ऐसे स्थलों मे भेद लक्षित हो सकता है जहाँ बोलचाल की छाया होने के कारण भाषा का असली रूप अधिक स्फुटित है। ऐसे स्थलो पर गोस्वामीजी के अवधी के रूप और प्रत्यय न देखकर भेद का अनुभव हो सकता है। पर जैसा कहा जा चुका है, पदविन्यास की प्रौढता और भाषा का सौष्ठव गोस्वामीजी के मेल का है।

सिय-रघुपति-पदकंज पुनीता। प्रथमहिं बंदन करौं सप्रीता॥
मृदु मंजुल सुंदर सब भाँती। ससि-कर-सरिस सुभग नख-पाँती॥
प्रणत कल्पतरु तर सब ओरा। दहन अज्ञ तम जन-चितचोरा॥
त्रिविध कलुष कुंजर घनघोरा। जगप्रसिद्ध केहरि बरजोरा॥
चिंतामणि पारस सुरधेनू। अधिक कोटि गुन अभिमत देनू॥
जन-मन-मानस रसिक मराला। सुमिरत भंजन विपति बिसाला॥

---

निरखि कालजित कोपि अपारा। विदित होय करि गदा प्रहारा॥
महावेगयुत आवै सोई। अष्टधातुमय जाय न जोई॥
अयुत भार भरि भार प्रमाना। देखिय जमपति-दंड समाना॥
देखि ताहि लव हनि इषु चंडा। कीन्ही तुरत गदा त्रय खंडा॥
जिमि नभ माँह मेघ-समुदाई। बरषहिं वारि महा झरि लाई॥

तिमि प्रचंड सायक जनु ब्याला । हने कीस-तन लव तेहि काला ॥
भए विकल अति पवनकुमारा । लगे करन तब हृदय विचारा ॥

( ३२ ) मनियारसिंह—ये काशी के रहनेवाले क्षत्रिय थे। इन्होंने देव-पक्ष में ही कविता की है और अच्छी की है। इनके निम्नलिखित ग्रंथों का पता है—

महिम्न भाषा, सौंदर्य लहरी ( पार्वती या देवी की स्तुति ), हनुमत छब्बीसी, सुंदरकांड। भाषा महिम्न इन्होंने संवत् १८४१ में लिखा। इनकी भाषा सानुप्रास शिष्ट और परिमार्जित है और उसमें ओज भी पूरा है। ये अच्छे कवि हो गए हैं। रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

मेरो चित्त कहाँ दीनता में अति दूबरो है,
अधरम-धूमरो न सुधि के सँभारे पै।
कहाँ तेरी ऋद्धि कवि बुद्ध-धारा-ध्वनि तें,
त्रिगुण तें, परे है दिखात निरधारे पै॥
मनियार यातें मति थकित जकित ह्वै कै,
भक्तिबस धरि उर धीरज विचारे पै।
विरची कृपाल वाक्यमाल या पुहुपदंत,
पूजन करन काज चरन तिहारे पै॥

---

तेरे पद-पंकज-पराग राज-राजेश्वरी!
वेद-बंदनीय बिरुदावलि बढ़ी रहै।
जाकी किनुकाई पाय धाता ने धरित्री रची,
जापै लोक लोकन की रचना कढ़ी रहै॥
मनियार जाहि विष्णु सेवैं सर्व पोषत में,
सेस हू के सदा सीस सहस मढ़ी रहै।
सोई सुरासुर के सिरोमनि सदाशिव के
भसम के रूप है सरीर पै चढ़ी रहै॥

---

अभय कठोर बानी सुनि लछमन जू की
मारिबे को चाहि जो सुधारि खल तरवारि।
वीर हनुमंत तेहि गरजि सुहास करि,
उपटि पकरि ग्रीव भूमि लै परे पछारि॥
पुच्छ तें लपेटि फेरि दंतन दरदराइ,
नखन बकोटि चोंथि देत महि डारि डारि।
उदर विदारि मारि लुत्थन को टारि वीर,
जैसे मृगराज गजराज डारै फारि फारि॥

( ३४ ) **कृष्णदास**—ये मिरजापुर के रहनेवाले कोई कृष्णभक्त जान पड़ते हैं। इन्होंने संवत् १८५३ में "माधुर्य्य लहरी" नाम की एक बड़ी पुस्तक ४२० पृष्ठों की बनाई जिसमें विविध छंदों में कृष्णचरित का वर्णन किया गया है। कविता इनकी साधारणतः अच्छी है। एक कवित्त देखिए—

कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,
बार बार कहो नरदेव कहाँ पाइए।
दुर्लभ समाज मिल्यो सकल सिद्धांत जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइए॥
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सो न रीति जासों दंपति रिझाइए।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैननहू,
धन्य धन्य राधाकृष्ण नित ही गनाइए।

( ३५ ) **गणेश**—ये नरहरि बंदीजन के वंश में लाल कवि के पौत्र और गुलाब कवि के पुत्र थे। ये काशीराज महाराज उदितनारायणसिंह के दरबार में थे और महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह के समय तक जीवित रहे। इन्होंने तीन ग्रंथ लिखे—१—वाल्मीकी रामायण श्लोकार्थ प्रकाश। ( बालकांड समग्र और किष्किंधा के पाँच अध्याय ) २—प्रद्युम्नविजय नाटक। ३—हनुमत् पचीसी।

प्रद्युम्नविजय नाटक समग्र पद्यबद्ध है और अनेक प्रकार के छंदों में सात

अंकों में समाप्त हुआ है। इसमें दैत्यों के वज्रनाभपुर नामक नगर में प्रद्युम्न के जाने और प्रभावती से गांधर्व विवाह होने की कथा है। यद्यपि इसमें पात्र-प्रवेश, विष्कंभक, प्रवेशक आदि नाटक के अंग रखे गए हैं पर इतिवृत्त का भी वर्णन पद्य में होने के कारण नाटकत्व नहीं आया है। एक उदाहरण दिया जाता है—

ताही के उपरांत कृष्ण इंद्र आवत भए।
भेंटि परस्पर कांत बैठ सभासद मध्य तहँ॥

बोले हरि इंद्र सों बिनै कै कर जोरि दोऊ,
आजु दिग्विजय हमारे हाथ आयो है।
मेरे गुरु लोग सब तोषित भए हैं आजु,
पूरो तप दान, भाग्य सफल सुहायो है।
कारज समस्त सरे, मंदिर में आए आप,
देवन के देव मोहि धन्य ठहरायो है।
सो सुनि पुरंदर उपेंद्र लखि आदर सों,
बोले सुनौ बंधु! दानवीर नाम पायो है॥

(३६) सम्मन—ये मल्लावाँ (जि० हरदोई) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३४ में उत्पन्न हुए थे। इनके नीति के दोहे गिरिधर की कुंडलियाँ के समान गाँवों तक में प्रसिद्ध हैं। इनके कहने के ढंग में कुछ मार्मिकता है। "दिनों के फेर" आदि के संबंध में इनके मर्मस्पर्शी दोहे स्त्रियों के मुँह से बहुत सुने जाते हैं। इन्होंने संवत् १८७६ में "पिंगल काव्य-भूषण" नामक एक रीति-ग्रंथ भी बनाया। पर ये अधिकतर अपने दोहों के लिये ही प्रसिद्ध हैं। इनका रचनाकाल संवत् १८६० से १८८० तक माना जा सकता है। कुछ दोहे देखिए—

निकट रहे आदर घटै, दूर रहे दुख होय।
सम्मन या संसार में प्रीति करो जनि कोय॥
सम्मन चहौ सुख देह कौ तौ छाँड़ौ ये चारि।
चोरी, चुगुली, जामिनी और पराई नारि॥

सम्मन मीठी बात सों होत सबै सुख पूर।
जेहि नहिं सीखो बोलिबो, तेहि सीखो सब धूर॥

( ३७ ) **ठाकुर**—इस नाम के तीन कवि हो गए हैं जिनमे दो असनी के ब्रह्मभट्ट थे और एक बुंदेलखंड के कायस्थ। तीनो की कविताएँ ऐसी मिल जुल गई हैं कि भेद करना कठिन है। हाँ, बुंदेलखंडी ठाकुर की वे कविताएँ पहचानी जा सकती हैं जिनमे बुंदेलखडी कहावते या मुहावरे आए है।

## असनीवाले प्राचीन ठाकुर

ये रीतिकाल के आरभ मे सवत् १७०० के लगभग हुए थे। इनका कुछ वृत्त नहीं मिलता; केवल फुटकल कविताएँ इधर उधर पाई जाती है। संभव है इन्होंने रीतिबद्ध रचना न करके अपने मन की उमंग के अनुसार ही समय-समय पर कवित्त सवैए बनाए हो जो चलती और स्वच्छ भाषा मे है। इनके ये दो सवैए बहुत सुने जाते हैं—

सजि सूहे दुकलन बिज्जुछटा सी अटान चढी घटा जोवति है।
सुचिती ह्वै सुनै धुनि मोरन की, रसमाती सँयोग सँजोवति हैं॥
कवि ठाकुर वै पिय दूरि बसे, हम आँसुन सों तन धोवति है।
धनि वै धनि पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवति हैं॥

---

बौरे रसालन की चढ़ि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहै ना।
ठाकुर कुंजन कुंजन गुंजत, भौंरन भीर चुपैबो चहै ना॥
सीतल मंद सुगंधित, बीर, समीर लगे तन धीर रहै ना।
व्याकुल कीन्हो बसंत बनाय कै, जाय कै कंत सों कोऊ कहै ना॥

## असनीवाले दूसरे ठाकुर

ये ऋषिनाथ कवि के पुत्र और सेवक कवि के पितामह थे। सेवक के भतीजे श्रीकृष्ण ने अपने पूर्वजों का जो वर्णन लिखा है उसके अनुसार ऋषिनाथजी के पूर्वज देवकीनंदन मिश्र गोरखपुर जिले के एक कुलीन सरयूपारी ब्राह्मण—पयासी के मिश्र—थे और अच्छी कविता करते थे। एक बार मँझौली के राजा

के यहाँ विवाह के अवसर पर देवकीनदनजी ने भाटो की तरह कुछ कवित्त पढे और पुरस्कार लिया। इसपर उनके भाई-बंधुओं ने उन्हे जातिच्युत कर दिया और वे असनी के भाट नरहर कवि की कन्या के साथ अपना विवाह करके असनी मे जा रहे और भाट हो गए। उन्हीं देवकीनंदन के वंश मे ठाकुर के पिता ऋषिनाथ कवि हुए।

ठाकुर ने सवत् १८६१ मे "सतसई बरनार्थ" नाम की "बिहारी सतसई" की एक टीका (देवकीनदन टीका) बनाई। अतः इनका कविता-काल संवत् १८६० के इधर उधर माना जा सकता है। ये काशिराज के संबंधी काशी के नामी रईस (जिनकी हवेली अब तक प्रसिद्ध है) बाबू देवकीनंदन के आश्रित थे। इनका विशेप वृत्तात स्व० पंडित अंबिकादत्त व्यास ने अपने "बिहारी विहार" की भूमिका मे दिया है। ये ठाकुर भी बडी सरस कविता करते थे। इनके पद्यो मे भाव या दृश्य का निर्वाह अबाध रूप में पाया जाता है। दो उदाहरण लीजिए—

कारे लाल करहे पलासन के पुंज तिन्हैं
अपने झकोरन झुलावन लगी है री।
ताही की ससेटी तृन-पत्रन-लपेटि धरा-
धाम तें अकास धूरि धावन लगी है री॥
ठाकुर कहत सुचि सौरभ प्रकासन मों
आछी भाँति रुचि उपजावन लगी है री।
ताती सीरी बैहर वियोग वा संयोगवारी,
आवनि वसत की जनावन लगी है री॥

---

भान झुकामुकि भेप छपाय कै गागर लै घर ते निकरी ती।
जानि परी न कितीक अबार है, जाय परी जहँ होरी धरी ती॥
ठाकुर दौरि परे मोहिं देखि कै, भागि बची री, बडी सुघरी ती।
बीर की सौं जौ किवार न देऊँ तौ मैं होरिहारन हाथ परी ती॥

## तीसरे ठाकुर बुँदेलखंडी

ये जाति के कायस्थ थे और इनका पूरा नाम लाला ठाकुरदास था। इनके पूर्वज काकोरी ( जिला लखनऊ ) के रहनेवाले थे और इनके पितामह खड्गरायजी बड़े भारी मंसबदार थे। उनके पुत्र गुलाबराय का विवाह बड़ी धूमधाम से ओरछे ( बुंदेलखंड ) के रावराजा ( जो महाराज ओरछा के मुसाहब थे ) की पुत्री के साथ हुआ था। ये ही गुलाबराय ठाकुर कवि के पिता थे। किसी कारण से गुलाबराय अपनी ससुराल ओरछे मे ही आ बसे जहाँ संवत् १८२३ में ठाकुर का जन्म हुआ। शिक्षा समाप्त होने पर ठाकुर अच्छे कवि निकले और जैतपुर में संमान पाकर रहने लगे। उस समय जैतपुर के राजा केसरीसिंहजी थे। ठाकुर के कुल के कुछ लोग बिजावर मे भी जा बसे थे। इससे ये कभी कभी वहाँ भी रहा करते थे। बिजावर के राजा ने भी एक गाँव देकर ठाकुर का संमान किया। जैतपुर-नरेश राजा केसरीसिंह के उपरांत जब उनके पुत्र राजा पारीछत गद्दी पर बैठे तब ठाकुर उनकी सभा के रत्न हुए। ठाकुर की ख्याति उसी समय से फैलने लगी और वे बुंदेलखंड के दूसरे राज दरबारों में भी आने जाने लगे। बाँदे के हिम्मतबहादुर गोसाईं के दरबार मे कभी कभी पद्माकरजी के साथ ठाकुर की कुछ नोक झोंक की बाते हो जाया करती थीं। एक बार पद्माकरजी ने कहा "ठाकुर कविता तो अच्छी करते है पर पद कुछ हलके पड़ते हैं।" इस पर ठाकुर बोले "तभी तो हमारी कविता उड़ी उड़ी फिरती है।"

इतिहास मे प्रसिद्ध है कि हिम्मतबहादुर कभी अपनी सेना के साथ अँगरेजो का कार्य्यसाधन करते और कभी लखनऊ के नवाब के पक्ष में लड़ते। एक बार हिम्मतबहादुर ने राजा पारीछत के साथ कुछ धोखा करने के लिये उन्हे बाँदे बुलाया। राजा पारीछत वहाँ जा रहे थे कि मार्ग मे ठाकुर कवि मिले और दो ऐसे संकेत-भरे सवैए पढ़े कि राजा पारीछत लौट गए। एक सवैया यह है—

कैसे सुचित भए निकसौ बिहँसौ बिलसौ हरि दै गलबाहीं।
ये छल छिद्रन की बतियाँ छलती छिन एक घरी पल माहीं॥

ठाकुर वै जुरि एक भई, रचिहैं परपंच कछू ब्रज माहीं।
हाल चवाइन की दुहचाल की लाल तुम्हें है दिखात कि नाहीं॥

कहते हैं कि यह हाल सुनकर हिम्मतबहादुर ने ठाकुर को अपने दरबार में बुला भेजा। बुलाने का कारण समझकर भी ठाकुर बेधड़क चले गए। जब हिम्मतबहादुर इन पर झल्लाने लगे तब इन्होंने यह कवित्त पढ़ा—

वेई नर निर्णय निदान में सराहे जात,
सुखन अघात प्याला प्रेम को पिए रहैं।
हरि-रस चदन चढाय अंग अंगन में,
नीति को तिलक, बेंदी जस की दिए रहैं॥
ठाकुर कहत मंजु कंजु तें मृदुल मन,
मोहनी सरूप, धारे हिम्मत हिए रहैं।
भेंट भए समये असमये, अचाहे चाहे,
ओर लौं निबाहैं, आँखें एकसी किए रहैं॥

इस पर हिम्मतबहादुर ने जब कुछ और कटु वचन कहे तब सुना जाता है कि ठाकुर ने म्यान से तलवार निकाल ली और बोले—

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिए के विसुद्ध हैं, सनेही साँचे उर के॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियों ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के॥

हिम्मतबहादुर यह सुनते ही चुप हो गए। फिर मुस्कराते हुए बोले—"कविजी बस! मैं तो यही देखा चाहता था कि आप कोरे कवि ही हैं या पुरखों की हिम्मत भी आप में है।" इस पर ठाकुरजी ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया—महाराज! हिम्मत तो हमारे ऊपर सदा अनूप रूप से बलिहार रही है,

आज हिम्मत कैसे गिर जायगी ?" (गोसाईं हिम्मत गिरि का असल नाम अनूप गिरि था ; हिम्मतबहादुर शाही खिताब था।)

ठाकुर कवि का परलोकवास संवत् १८८० के लगभग हुआ। अतः इनका कविता-काल सवत् १८५० से १८८० तक माना जाता है। इनकी कविता का एक अच्छा संग्रह "ठाकुर-ठसक" के नाम से श्रीयुत लाला भगवानदीनजी ने निकाला है। पर इसमे भी दूसरे दो ठाकुर की कविताएँ मिली हुई हैं। इस सग्रह में विशेषता यह है कि कवि का जीवन-वृत्त भी बहुत कुछ दे दिया गया है। ठाकुर के पुत्र दरियावसिंह (चातुर) और पौत्र शकरप्रसाद भी कवि थे।

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडबर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। जैसे भावो का जिस ढग से मनुष्य मात्र अनुभव करते है वैसे भावो को उसी ढग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा मे उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा मे भाव का ज्यों का त्यो सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री-पात्रो के ही मुख की वाणी होती हैं अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया उससे उक्तियो में और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात बात मे कहावतें कहा करती हैं। उनके हृदय के भावों की भरपूर व्यजना के लिये ये कहावतें मानो एक सचित वाङ्मय हैं। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। इन कहावतों मे से कुछ तो सर्वत्र प्रचलित हैं और कुछ खास बुंदेलखड की है। ठाकुर सच्चे उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे इसी से इनकी कविताएँ विशेषतः सवैए इतने लोकप्रिय हुए। ऐसा स्वच्छंद कवि किसी क्रम से बद्ध होकर कविता करना भला कहाँ पसंद करता ? जब जिस विषय पर जी मे आया कुछ कहा।

ठाकुर प्रधानतः प्रेमनिरूपक होने पर भी लोकव्यापार के अनेकागदर्शी कवि थे। इसी से प्रेमभाव की अपनी स्वाभाविक तन्मयता के अतिरिक्त कभी तो ये अखती, फाग, बसंत, होली, हिडोरा आदि उत्सवों के उल्लास मे मग्न

दिखाई पड़ते हैं; कभी लोगों की क्षुद्रता, कुटिलता, दुःशीलता आदि पर क्षोभ प्रकट करते पाए जाते है और कभी काल की गति पर खिन्न और उदास देखे जाते है। कविकर्म को ये कठिन समझते थे। रूढ़ि के अनुसार शब्दों की लड़ी जोड़ चलने को ये कविता नहीं कहते थे। नमूने के लिये यहाँ इनके थोड़े ही से पद्य दिए जा सकते है—

सीखि लीन्हों मीन मृग खजन कमल नैन,
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

---

दस बार, बीस बार बरजि दई है जाहि,
एते पै न मानै जौ तौ जरन बरन देव।
कैसो कहा कीजै कछू आपनो करो न होय,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव॥
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ
प्रेम निहसक रस-रंग बिहरन देव।
बिधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव॥

---

अपने अपने सुठि गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भींजत प्रेम भरे, समयो लखि मैं बलि जावँ पै री॥
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों रंग ह्वै उमड़े दोउ ठावँ पै री।
सखी, कारी घटा बरसै बरसाने पै, गोरी घटा नँदगाँव पै री॥

---

या निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै।
बारहिं बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति, ह्वैहै॥
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत हैं नित मेरे लिये, इतनो तौ बिशेष कै जानति ह्वैहै॥

---

यह चारहु ओर उदी मुखचंद की चाँदनी चारु निहारि लै री।
बलि जौ पै अधीन भयो पिय, प्यारी! तौ एतौ विचार विचारि लै री।
कवि ठाकुर चूकि गयो जो गोपाल तो तैं बिगरी को सँभारि लै री।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पायँ पखारि लै री॥

---

पावस तें परदेश तें आय मिले प्रिय औ मनभाई भई है।
ठाकुर मोर पपीहरा बोलत, तापर आनि घटा उनई है॥
ठाकुर वा सुखकारी सुहावनी दामिनि कौंधि कितैं को गई है।
री अब तौ घनघोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हैं धूर दई है॥

---

पिय प्यार करैं जेहि पर सजनी तेहि की सब भाँतिन सैयत है।
मन मार करौं तौ परौं भ्रम में, फिर पाछे परे पछितैयत है॥
कवि ठाकुर कौन की कासौं कहौं? दिन देखि दसा बिसरैयत है।
अपने अटके सुन ए री भटू? निज सौत के मायके जैयत है॥

(३८) ललकदास—बेनी कवि के भँडौवा से ये लखनऊ के कोई कंठी-धारी महंत जान पड़ते हैं जो अपनी शिष्य मंडली के साथ इधर उधर फिरा करते। अतः संवत् १८६० और १८८० के बीच इनका वर्तमान रहना अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने "सत्योपाख्यान" नामक एक बड़ा वर्णनात्मक ग्रंथ लिखा है जिसमें रामचंद्र के जन्म से लेकर विवाह तक की कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इस ग्रंथ का उद्देश्य कौशल के साथ कथा चलाने का नहीं, बल्कि जन्म की बधाई, बाललीला, होली, जलक्रीड़ा, झूला, विवाहोत्सव आदि का बड़े ब्योरे और विस्तार के साथ वर्णन करने का है। जो उद्देश्य

महाराज रघुराजसिंह के रामस्वयंवर का है वही इसका भी समझिए। पर इसमें सादगी है और यह केवल दोहे चौपाइयों में लिखा गया। वर्णन करने में ललकदासजी ने भाषा के कवियों के भाव तो इकट्ठे ही किए हैं; संस्कृत कवियों के भाव भी कही कहीं रखे है। रचना अच्छी जान पड़ती है। कुछ चौपाइयाँ देखिए—

धरि इक अंक राम को माता। लह्यो मोद लखि मुख मृदु गाता॥
दत कुंद मुकुता सम सोहै। बंधु जीव सम जीभ विमोहै॥
किसलय सधर अधर छवि छाजै। इंद्रनील सम गंड बिराजै॥
सुंदर चिवुक नासिका सोहै। कुंकुम तिलक चिलक मन मोहै॥
काम चाप सम भ्रकुटि बिराजै। अलक-कलित मुख अति छवि छाजै॥
यहि विधि सकल राम के अंगा। लखि चूमति जननी सुख संगा॥

(३९) खुमान—ये बंदीजन थे और चरखारी (बुंदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इनके बनाए इन ग्रंथों का पता है—

अमरप्रकाश (सं १८३६), अष्टजाम (सं० १८५२), लक्ष्मणशतक (स० १८५५) हनुमान नखशिख, हनुमान पंचक, हनुमान पचीसी, नीति-विधान, समरसार (युद्ध-यात्रा के मुहूर्त आदि का विचार), नृसिंह-चरित्र (सं १८७९), नृसिंह-पचीसी।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल स० १८३० से १८८० तक माना जा सकता है "लक्ष्मणशतक" मे लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध बडे फडकते हुए शब्दो मे कहा गया। खुमान कविता मे अपना उपनाम 'मान' रखते थे। नीचे एक कवित्त दिया जाता है—

आयो इंद्रजीत दसकंध को निबंध बंध,
बोल्यो रामबंधु सों प्रबंध किरवान को।
को है अंसुमाल, को है काल बिकराल,
मेरे सामुहें भए न रहै मान महेसान को॥
तू तौ सुकुमार यार लखन कुमार! मेरी
मार बेसुमार को सहैया घमासान को?

और ना चितैया, रनमंडल रितैया, काल
कहर बितैया हौं जितैया मघवान को ॥

(४०) नवलसिंह कायस्थ—ये झाँसी के रहनेवाले थे और समथर-नरेश राजा हिंदूपति की सेवा मे रहते थे। इन्होने बहुत से ग्रंथों की रचना की है जो भिन्न भिन्न विषयों पर और भिन्न भिन्न शैली के है। ये अच्छे चित्रकार भी थे। इनका झुकाव भक्ति और ज्ञान की ओर विशेष था। इनके लिखे ग्रथो के नाम ये हैं—

रासपंचाध्यायी, रामचंद्रविलास, शकमोचन (सं० १८७३), जौहरिन-तरंग (१८७५), रसिकरंजनी (१८७७), विज्ञान भास्कर (१८७८), ब्रजदीपिका (१८८३), शुकरंभासंवाद (१८८८), नाम-चिंतामणि (१९०३), मूलभारत (१९१२), भारत-सावित्री (१९१२), भारत कवितावली (१९१३), भाषा सप्तशती (१९१७), कविजीवन (१९१८), आल्हा रामायण (१९२२), रुक्मिणीमंगल (१९२५), मूलढोला (१९२५), रहस लावनी (१९२६), अध्यात्म रामायण, रूपक रामायण, नारीप्रकरण, सीतास्वयंवर, रामविवाहखंड, भारत वार्तिक, रामायण सुमिरनी, पूर्वशृंगारखंड, मिथिलाखंड, दानलोभ संवाद, जन्म खंड।

उक्त पुस्तको में यद्यपि अधिकांश बहुत छोटी छोटी हैं फिर भी इनकी रचना की बहुरूपता का आभास देती हैं। इनकी पुस्तकें प्रकाशित नहीं हुई है। अतः इनकी रचना के संबध में विस्तृत और निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। खोज की रिपोर्टो में उद्धृत उदाहरणों के देखने से रचना इनकी पुष्ट और अभ्यस्त प्रतीत होती है। ब्रजभाषा में कुछ वार्तिक या गद्य भी इन्होंने लिखा है। इनके कुछ पद्य नीचे देखिए—

अभव अनादि अनंत अपारा। अमन, अप्रान, अमर, अविकारा ॥
अग अनीह आतम अविनासी। अगम अगोचर अविरल बासी ॥
अकथनीय अद्वैत अरामा। अमल असेष अकर्म अकामा ॥
रहत अलिप्त ताहि बर ध्याऊँ। अनुपम अमल सुजस मैं गाऊँ ॥

---

सगुन सरूप सदा सुषमा-निधान मंजु,
बुद्धि गुन गुनन अगाध वनपति से ॥
भनै नवलेस फैल्यो विशद मही में यश,
वरनि न पावै पार झार फनपति से ॥
जक्त निज भक्तन के कलुष प्रभजै रंजै,
सुमति बढ़ावे धन धान धनपति से।
अवर न दूजो देव सहज प्रसिद्ध यह,
सिद्धि-बरदैन सिद्ध ईस गनपति से ॥

(४१) रामसहायदास—ये चौबेपुर (जिला बनारस) के रहनेवाले लाला भवानीदास कायस्थ के पुत्र थे और काशी-नरेश महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रय में रहते थे। "बिहारी सतसई" के अनुकरण पर इन्होंने "रामसतसई" बनाई। बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं, रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकलना नहीं, बिहारी को भी नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जायगा। बिहारी में क्या क्या मुख्य विशेषताएँ है, यह उनके प्रसग मे दिखाया जा चुका है। जहाँ तक शब्दो की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से संबंध है वहीं तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावो का वह सुदर विधान, चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण, भाषा का वह सौष्ठव, सचारियों की वह सुंदर व्यंजना इस सतसई में कहाँ? नकल ऊपरी बातों की हो सकती है, हृदय की नहीं। पर हृदय पहचानने के लिये हृदय चाहिए, चेहरे पर की दो आँखों से नहीं काम चल सकता। इस बड़े भारी भेद के होते हुए भी "रामसतसई" शृंगार-रस का एक उत्तम ग्रंथ है। इस सतसई के अतिरिक्त इन्होंने तीन पुस्तकें और लिखी हैं—

वाणीभूषण, वृत्ततरंगिणी (सं० १८७३) और ककहरा।

वाणीभूषण अलंकार का ग्रंथ है और वृत्त-तरंगिणी पिंगल का। ककहरा जायसी की 'अखरावट' के ढंग की छोटी सी पुस्तक है और शायद सबसे पिछली

रचना है, क्योंकि उसमें धर्म और नीति के उपदेश है। रामसहाय का कविता-काल संवत् १८६० से १८८० तक माना जा सकता है। नीचे सतसई के कुछ दोहे उद्धृत किए जाते है—

गटे नुकीले लाल के नैन रहैं दिन रैनि।
तव नाजुक ठोड़ी न क्यों गाड परै मृदुबैनि ?
भटक न, झटपट चटक कै अटक सुनट के संग।
लटक पीतपट की निपट हटकति कटक अनंग॥
लागै नैना नैन में कियो कहा धौं मैन।
नहिं लागै नैना, रहैं लागै नैना नै न॥
गुलुफनि लगि ज्यों त्यों गयो करि करि साहस जोर।
फिर न फिरथो मुरवान चपि, चित अति खात मरोर॥
यौं विभाति दसनावली ललना वदन मँझार।
पेति को नातो मानि कै मनु आई उडुमार॥

(४२) चंद्रशेखर—ये वाजपेयी थे। इनका जन्म संवत् १८५५ मे मुअज्जमाबाद (जिला फतहपुर) मे हुआ था। इनके पिता मनीरामजी भी अच्छे कवि थे। ते कुछ दिनो तक दरभंगे की ओर, फिर ६ वर्ष तक जोधपुर-नरेश महाराजा मानसिंह के यहाँ रहे। अंत मे पटियाला-नरेश महाराज कर्मसिंह के यहाँ गए और जीवन भर पटियाले मे ही रहे। इनका देहांत संवत् १९३२ मे हुआ अतः ये महाराज नरेंद्रसिंह के समय तक वर्तमान थे और उन्हीं के आदेश से इन्होंने अपना प्रसिद्ध वीरकाव्य "हम्मीरहठ" बनाया। इसके अतिरिक्त इनके रचे ग्रंथों के नाम ये है—

विवेक-विलास, रसिकविनोद हरिभक्ति-विलास, नखसिख वृंदावन-शतक, गुह्पचाशिका, ताजक ज्योतिष, माधवी वसंत।

यद्यपि शृंगाररस की कविता करने मे भी ये बहुत ही प्रवीण थे पर इनकी कीर्ति को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिये "हम्मीरहठ" ही पर्याप्त है। उत्साह की, उमंग की व्यंजना जैसी चलती, स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होंने की है वैसे ढंग से करने मे बहुत ही कम कवि समर्थ हुए है। वीररस

वर्णन मे इस कवि ने बहुत ही सुंदर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है। सूदन आदि के समान शब्दों की तड़ातड़ और भड़ाभड़ के फेर में न पड़कर उग्रोत्साह-व्यंजक उक्तियों का ही अधिक सहारा इस कवि ने लिया है, जो वीररस की जान है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वर्णनों के अनावश्यक विस्तार को, जिसमें वस्तुओं की बड़ी लंबी-चौड़ी सूची भरी जाती है, स्थान नहीं दिया गया है। भाषा भी पूर्ण व्यवस्थित, च्युतसंस्कृति आदि दोषों से मुक्त और प्रवाहमयी है। सराश यह कि वीररस-वर्णन की अत्यंत श्रेष्ठ प्रणाली का अनुकरण चंद्रशेखरजी ने किया है।

रही प्रसंग विधान की बात। इस विषय मे कवि ने नई उद्भावनाएँ न करके पूर्ववर्ती कवियों का ही सर्वथा अनुसरण किया है। एक रूपवती और निपुण स्त्री के साथ महिमा मंगोल का अलाउद्दीन के दरबार से भागना, अलाउद्दीन का उसे हम्मीर से वापस माँगना, हम्मीर का उसे अपनी शरण मे लेने के कारण उपेक्षापूर्वक इनकार करना, ये सब बाते जोधराज क्या उसके पूर्ववर्ती अपभ्रश के कवियो की ही कल्पना है, जो वीरगाथा-काल की रूढ़ि के अनुसार की गई थी। गढ के घेरे के समय गढ़पति की निश्चितता और निर्भीकता व्यंजित करने के लिये पुराने कवि गढ़ के भीतर नाच रंग का होना दिखाया करते थे। जायसी ने अपनी पद्मावती में अलाउद्दीन के द्वारा चितौरगढ़ के घेरे जाने पर राजा रतनसेन का गढ के भीतर नाच कराना और शत्रु के फेंके हुए तीर से नर्त्तकी का घायल होकर मरना वर्णित किया है। ठीक उसी प्रकार का वर्णन "हम्मीरहठ" में रखा गया है। यह चंद्रशेखरजी की अपनी उद्भावना नहीं एक बँधी हुई परिपाटी का अनुसरण है। नर्तकी के मारे जाने पर हम्मीरदेव का यह कह उठना कि "हठ करि मंड्यो युद्ध वृथा ही" केवल उनके तात्कालिक शोक के आधिक्य की व्यंजना मात्र करता है। उसे करुण प्रलाप मात्र समझना चाहिए। इसी दृष्टि से इस प्रकार के करुण प्रलाप राम ऐसे सत्यसंध और वीरव्रती नायकों से भी कराए गए हैं। इनके द्वारा उनके चरित्र में कुछ भी लांछन लगता हुआ नहीं माना जाता।

एक त्रुटि हम्मीरहठ की अवश्य खटकती है। सब अच्छे कवियों ने प्रति-

नायक के प्रताप और पराक्रम की प्रशंसा द्वारा उससे भिड़नेवाले या उसे जीतनेवाले नायक के प्रताप और पराक्रम की व्यजना की है। राम का प्रति-नायक रावण कैसा था ? इंद्र, मरुत्, यम, सूर्य्य आदि सब देवताओं से सेवा लेनेवाला; पर हम्मीरहठ मे अलाउद्दीन एक चुहिया के कोने मे दौड़ने से डर के मारे उछल भागता है और पुकार मचाता है।

चंद्रशेखरजी का साहित्यिक भाषा पर बड़ा भारी अधिकार था। अनुप्रास की योजना प्रचुर होने पर भी भद्दी कही नही हुई, सर्वत्र रस मे सहायक ही है। युद्ध, मृगया आदि के वर्णन तथा संवाद आदि सब बड़ी मर्मज्ञता से रखे गए है। जिस रस का वर्णन है ठीक उसके अनुकूल पदविन्यास है। जहाँ शृंगार का प्रसंग है वहाँ यही प्रतीत है कि किसी सर्वश्रेष्ठ शृंगार कवि की रचना पढ़ रहे है। तात्पर्य यह है कि "हम्मीरहठ" हिंदी-साहित्य का एक रत्न है। "तिरिया तेल, हम्मीर हठ चढै न दूजी बार" वाक्य ऐसे ही ग्रंथ मे शोभा देता है। नीचे कविता के कुछ नमूने दिए जाते है—

उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ, दिन चद प्रकासै।
उलटि गग वरु बहै, काम रति प्रीति विनासै॥
तजै गौरि अरधंग, अचल ध्रुव आसन चल्लै।
अचल पवन बरु होय, मेरु मंदर गिरि हल्लै॥
सुरतरु सुखाय, लोमस मरै, मीर! संक सब परिहरौ।
मुख-बचन वीर हम्मीर को बोलि न यह कबहूँ टरौ॥

---

आलम-नेवाज सिरताज पातसाहन के,
गाज ते दराज कोप-नजर तिहारी है।
जाके डर डिगत अडोल गढधारो, डग-
मगत पहार औ डुलति महि सारी है॥
रक जैसो रहत ससकित सुरेस भयो,
देस देसपति में अतक अति भारी है।

भारी गढ़धारी, सदा जंग की तयारी,
धाक मानै ना तिहारी या हमीर हठवारी है ॥

---

भागे मीरजादे पीरजादे और अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै।
भागे गज बाजि रथ पथ न सँभारैं, परैं
गोलन पै गोल, सूर सहमि सकाय कै ॥
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि बेगि,
बलित बितुंड पै बिराजि बिलखाय कै।
जैसे लगे जगल में ग्रीषम की आगि
चलै भागि मृग महिष बराह बिललाय कै ॥

---

थोरी थोरी बैसवारी नवल किसोरी सबै,
भोरी भोरी बातन बिहँसि मुख मोरतीं।
बसन बिभूषन बिराजत बिमल वर,
मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं ॥
प्यारे पातसाह के परम अनुराग-रँगीं,
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं।
काम-अबला सी, कलाधर की कला सी,
चारु चंपक-लता सी चपला सी चित चोरतीं ॥

( ४३ ) बाबा दीनदयालगिरि—ये गोसाईं थे। इनका जन्म शुक्रवार वसंत पंचमी संवत् १८५९ में काशी के गायघाट मुहल्ले में एक पाठक के कुल में हुआ था। जब ये ५ या ६ वर्ष के थे तभी इनके माता-पिता इन्हे महंत कुशागिरि को सौंप चल बसे। महंत कुशागिरि पंचक्रोशी के मार्ग मे पड़नेवाले देहली-विनायक नामक स्थान के अधिकारी थे। काशी मे महंतजी के और भी कई मठ थे। वे विशेषतः गायघाट वाले मठ मे रहा करते थे। बाबा दीनदयाल गिरि भी उनके चेले हो जाने पर प्रायः उसी मठ मे रहते थे। जब

महंत कुशागिरि के मरने पर बहुत सी जायदाद नीलाम हो गई तब ये देहली-विनायक के पास मठौली गाँववाले मठ मे रहने लगे। बाबाजी संस्कृत और हिंदी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। बाबू गोपालचंद्र (गिरधरदास) से इनका बड़ा स्नेह था। इनका परलोकवास संवत् १६१५ मे हुआ। ये एक अत्यंत सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्तियाँ हिंदी के और किसी कवि की नहीं हुई। यद्यपि इन अन्योक्तियों के भाव अधिकांश संस्कृत से लिए हुए है पर भाषा-शैली की सरसता और पदविन्यास की मनोहरता के विचार से वे स्वतंत्र काव्य के रूप मे हैं। बाबाजी का भाषा पर बहुत ही अच्छा अधिकार था। इनकी सी परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोड़े कवियों की है। कहीं कहीं कुछ पूरबीपन या अव्यवस्थित वाक्य मिलते हैं, पर बहुत कम। इसीसे इनकी अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शिनी हुई हैं। इनका अन्योक्तिकल्पद्रुम हिंदी-साहित्य में एक अनमोल वस्तु है। अन्योक्ति के क्षेत्र मे कवि की मार्मिकता और सौंदर्य्यभावना के स्फुरण का बहुत अच्छा अवकाश रहता है। पर इसमे अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते है। लौकिक विषयों पर तो इन्होंने सरस अन्योक्तियाँ कही ही है, अध्यात्मपक्ष मे भी दो एक रहस्यमयी उक्तियाँ इनकी हैं।

बाबाजी को जैसा कोमल-व्यंजक पदविन्यास पर अधिकार था वैसा ही शब्द-चमत्कार आदि के विधान पर भी। यमक और श्लेषमयी रचना भी इन्होंने बहुत सी की है। जिस प्रकार ये अपनी भावुकता हमारे सामने रखते है उसी प्रकार चमत्कार-कौशल दिखाने मे भी नहीं चूकते है। इससे जल्दी नहीं कहते बनता है कि इनमे कला-पक्ष प्रधान है या हृदय-पक्ष। बड़ी अच्छी बात इनमे यह है कि इन्होंने दोनों को प्रायः अलग अलग रखा है। अपनी मार्मिक रचनाओं के भीतर इन्होंने चमत्कार-प्रवृत्ति का प्रवेश प्रायः नही होने दिया है। अन्योक्तिकल्पद्रुम के आदि में कई श्लिष्ट पद्य आए है पर बीच में बहुत कम। इसी प्रकार अनुरागबाग मे भी अधिकाश रचना शब्द-वैचित्र्य आदि से मुक्त है। यद्यपि अनुप्रासयुक्त सरस कोमल पदावली का बराबर व्यवहार हुआ है, पर जहाँ चमत्कार को प्रधान उद्देश्य रखकर ये बैठे है वहाँ श्लेष, यमक, अतर्लापिका, बहिर्लापिका सब कुछ मौजूद है। साराश यह

कि ये एक बहुरंगी कवि थे। रचना की विविध प्रणालियों पर इनका पूर्ण अधिकार था।

इनकी लिखी इतनी पुस्तकों का पता है—

अन्योक्ति-कल्पद्रुम ( सं० १६१२ ), अनुराग-बाग ( सं० १८८८ ), वैराग्यदिनेश ( स० १६०६ ), विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टांत-तरंगिणी ( सं० १८७६ )।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८७६ से १६१२ तक माना जा सकता है। 'अनुराग-बाग' मे श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का बड़े ही ललित कवित्तो मे वर्णन हुआ है। मालिनी छंद का भी बड़ा मधुर प्रयोग हुआ है। 'दृष्टांत-तरंगिणी' में नीतिसंबंधी दोहे हैं। 'विश्वनाथ नवरत्न' शिव की स्तुति है। 'वैराग्यदिनेश' मे एक ओर तो ऋतुओं आदि की शोभा का वर्णन है और दूसरी ओर ज्ञान-वैराग्य आदि का। इनकी कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

केतो सोम कला करौ, करौ सुधा को दान। नहीं चद्रमणि जो द्रवै, यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान, बडी कठिनाई जाकी। टूटी याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल, चंद ! तुमही चित चेतौ। क्रूर न कोमल होहिं कला जौ कीजै केतौ॥

---

बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं। यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं॥
अंकुर जमिहै नाहिं बरष सत जौ जल दैहै। गरजै तरजै कहा ? वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहि परखै। नाहक गाहक बिना बलाहक ! ह्याँ तू बरखै॥

---

चल चकई तेहि सर विषै जहँ नहि रैन-बिछोह। रहत एकरस दिवस ही, सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाको। भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई। पिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई॥

---

कोमल मनोहर मधुर मुरताल सने,
नूपुर-निनादनि सों कौन दिन बोलिहै।
नीके मम ही के बुंद-बृंदन सुमोतिन को,
गहि कै कृपा की अब चोंचन सों तोलिहै॥
नेम धरि छेम सों प्रमुद होय दीनद्याल,
प्रेम-कोकनद बीच कब धौं कलोलिहै।
चरन तिहारे जदुवंस-राजहंस! कब,
मेरे मन-मानस मे मंद मंद डोलिहै?

---

चरन-कमल राजै, मंजु मंजीर बाजैं। गमन लखि लजावै हंसऊ नाहि पावैं॥
सुखद कदम-छाहीं क्रीडते कुंज माहीं। लखि लखि हरि सोभा चित्त काको न लोभा?

---

बहु छुद्रन के मिलन तें हानि बली की नाहिं। जूथ जंबुकन तें नहीं केहरि कहुँ नसि जाहिं।
पराधीनता दुख महा, सुखी जगत स्वाधीन। सुखी रमत सुक बन-विषै, कनक पींजरे दीन।

(४४) **पजनेस**—ये पन्ना के रहनेवाले थे। इनका कुछ विशेष वृत्तात प्राप्त नहीं। कविता-काल इनका संवत् १६०० के आसपास माना जा सकता है। कोई पुस्तक तो इनकी नहीं मिलती पर इनकी बहुत सी फुटकल कविता संग्रह-ग्रंथो में मिलती और लोगों के मुँह से सुनी जाती है। इनका स्थान ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों मे है। ठाकुर शिवसिंहजी ने 'मधुरप्रिया' और 'नखशिख' नाम की इनकी दो पुस्तकों का उल्लेख किया है, पर वे मिलती नहीं। भारतजीवन प्रेस ने इनकी फुटकल कविताओं का एक संग्रह "पजनेस प्रकाश" के नाम से प्रकाशित किया है जिसमे १२७ कवित्त-सवैएँ हैं। इनकी कविताओ को देखने से पता चलता है कि ये फारसी भी जानते थे। एक सवैया मे इन्होंने फारसी के शब्द और वाक्य भरे है। इनकी रचना शृंगाररस की ही है पर उसमें कठोर वर्णों (जैसे ट, ठ, ड) का व्यवहार यत्र-तत्र बराबर मिलता है। ये 'प्रतिकूल-वर्णत्व' की परवा कम करते थे। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोमल अनुप्रासयुक्त ललित भाषा का व्यवहार इनमे नहीं है। पद-विन्यास इनका अच्छा है। इनके फुटकल कवित्त अधिक-

त्तर अंग-वर्णन के मिलते हैं जिनसे अनुमान होता है कि इन्होंने कोई नखशिख लिखा होगा। शब्द-चमत्कार पर इनका ध्यान विशेष रहता था। जिससे कहीं कहीं कुछ भद्दापन आ जाता था। कुछ नमूने लीजिए—

छहरै छबीली छटा छूटि छितिमंडल पै,
उमग उजेरो महाओज उजबक सी।
कवि पजनेस कंज-मंजुल-मुखी के गात,
उपमाधिकाति कल कुंदन तबक सी॥
फैली दीप दीप दीप-दीपति दिपति जाकी,
दीपमालिका की रही दीपति दबक सी।
परत न ताब लखि मुख महताब जब,
निकसी सिताब आफताब की भभक सी॥

---

पजनेस तसद्दुक ता बिसमिल जुल्फे फुरकत न कबूल कसे।
महबूब चुनाँ बदमस्त सनम अजदस्त अलावल जुल्फ बसे॥
मजमूए न काफ गिगाफ रुए सम क्यामत चश्म से खूँ बरसे।
मिजगाँ सुरमा तहरीर दुताँ नुकते, बिन बे, किन ते, किन से।

(४५) गिरिधरदास—ये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे और ब्रजभाषा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे। इनका नाम तो बाबू गोपालचंद्र था पर कविता मे अपना उपनाम ये 'गिरिधरदास', 'गिरिधर,' 'गिरिधारन' रखते थे। भारतेंदु ने इनके संबध मे लिखा है कि "जिन श्री गिरिधरदास कवि रचे ग्रथ चालीस"। इनका जन्म पौष कृष्ण १५ संवत् १८९० को हुआ। इनके पिता काले हर्षचंद, जो काशी के एक बडे प्रतिष्ठित रईस थे, इन्हें ग्यारह वर्ष के छोड कर ही परलोक सिधारे। इन्होंने अपने निज के परिश्रम से संस्कृत और हिंदी मे बडी स्थिर योग्यता प्राप्त की और पुस्तकों का एक बहुत बडा अनमोल सग्रह किया। पुस्तकालय का नाम उन्होंने "सरस्वती भवन" रखा जिसका मूल्य स्वर्गीय डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र एक लाख रुपया तक दिलवाते थे। इनके यहाँ उस समय के विद्वानों और कवियो की मडली बराबर जमी रहती थी और

इनका समय अधिकतर काव्य-चर्चा में ही जाता था। इनका परलोकवास संवत् १६१७ मे हुआ।

भारतेंदुजी ने इनके लिखे ४० ग्रंथों का उल्लेख किया है जिनमें से बहुतों का पता नहीं है भारतेंदुजी के दौहित्र, हिंदी के उत्कृष्ट लेखक श्रीयुत बाबू ब्रजरत्नदासजी ने अपनी देखी हुई इन अठारह पुस्तकों के नाम इस प्रकार दिए हैं—

जरासंधवध महाकाव्य, भारतीभूषण ( अलंकार ), भाषा-व्याकरण ( पिंगल-संबंधी ), रसरत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन, मत्स्यकथामृत, वाराहकथामृत, नृसिंहकथामृत, वामनकथामृत, परशुरामकथामृत, रामकथामृत, बलरामकथामृत, ( कृष्णचरित ४७०१ पदों मे ), बुद्धकथामृत, कल्कि-कथामृत, नहुष नाटक, गर्गसंहिता ( कृष्णचरित का दोहे चौपाई मे बड़ा ग्रंथ ), एकादशी माहात्म्य।

इनके अतिरिक्त भारतेंदुजी के एक नोट के आधार पर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने इन २१ और पुस्तकों का उल्लेख किया है—

वाल्मीकि रामायण ( सातों कांड पद्यानुवाद ), छंदोर्णव, नीति, अद्भुत-रामायण, लक्ष्मीनखशिख, वार्तासंस्कृत, ककारादि सहस्रनाम, गयायात्रा, गयाष्टक, द्वादशदलकमल, कीर्तन, संकर्षणाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, गोपालस्तोत्र, भगवत्स्तोत्र, श्रीरामस्तोत्र, श्रीराधास्तोत्र, रामाष्टक, कालियकालाष्टक।

इन्होंने दो ढंग की रचनाएँ की हैं। गर्गसंहिता आदि भक्तिमार्ग की कथाएँ तो सरल और साधारण पद्यों मे कही हैं, पर काव्यकौशल की दृष्टि से जो रचनाएँ की हैं—जैसे जरासंधवध, भारती-भूषण, रस-रत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन—वे यमक और अनुप्रास आदि से इतनी लदी हुई हैं कि बहुत स्थलों पर दुरूह हो गई हैं। सबसे अधिक इन्होंने यमक और अनुप्रास का चमत्कार दिखाया है। अनुप्रास और यमक का ऐसा विधान जैसा जरासंधवध मे है और कहीं नहीं मिलेगा। जरासंधवध अपूर्ण है, केवल ११ सर्गों तक लिखा गया है, पर अपने ढंग का अनूठा है। जो कविताएँ देखी गई हैं उनसे यही धारणा होती है कि इनका झुकाव चमत्कार की ओर अधिक था। रसात्मकता इनकी रचनाओं में वैसी नहीं पाई जाती। २७ वर्ष की ही आयु पाकर इतनी अधिक पुस्तकें लिख

डालना पद्यरचना का अद्भुत अभ्यास सूचित करता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं।

( जरासंधवध से )

चल्यो दरद जेहि फरद रच्यो विधि मित्र-दरद-हर।
सरद सरोरुह बदन जाचकन-बरद मरद बर॥
लसत सिंह सम दुरद नरद दिसि-दुरद-अरद-कर।
निरखि होत अरि सरद, हरद सम जरद-कांति-धर॥
कर करद करत बेपरद जब गरद मिलत बपु गाज को।
रन-जुआ-नरद वित नृप लख्यो करद मगध-महराज को॥

---

सब के सब केसव के सबके हित के गज सोहते सोभा अपार हैं।
जब सैलन सैलन सैलन ही फिरैं सैलन सैलहि सीस प्रहार हैं॥
'गिरिधारन' धारन सों पदकंज लै धारन लै बसु धारन फार हैं।
अरि बारन बारन बारन पै सुर-बारन बारन बारन बार हैं॥

---

( भारती-भूषण से )

असगति—सिंधु-जनि गर हर पियो, मरे असुर समुदाय।
नैन-बान नैनन लग्यो, भयो करेजे घाय।

---

( रसरत्नाकर से )

जाहि बिवाहि दियो पितु मातु नै पावक साखि सबै जग जानी।
साहब से 'गिरिधारन जू' भगवान् समान कहैं मुनि ज्ञानी।
तू जो कहै वह दच्छिन हैं, तो हमैं कहा बाम हैं, बाम अजानी।
भागन सों पति ऐसो मिलै सबहीन को दच्छिन जो सुखदानी॥

---

( ग्रीष्म वर्णन से )

जगह जड़ाऊ जामे जड़े हैं जवाहिरात,
जगमग जोति जाकी जग में जमति है ।
जामे जदुजानि जान प्यारी जातरूप ऐसी,
जगमुख ज्वाल ऐसी जोन्ह सी जगति है ॥
'गिरिधरदास' जोर जबर जवानी को है,
जोहि जोहि जलजा हू जीव में जकति है ।
जगत के जीवन के जिय को चुराए जोय,
जोए जोपिता को जेठ-जरनि जरति है ॥

( ४६ ) **द्विजदेव ( महाराज मानसिंह )**—ये अयोध्या के महाराज थे और बड़ी ही सरस कविता करते थे । ऋतुओं के वर्णन इनके बहुत ही मनोहर हैं । इनके भतीजे भुवनेशजी ( श्री त्रिलोकीनाथजी, जिनसे अयोध्यानरेश ददुआ साहब से राज्य के लिये अदालत हुई थी ) ने द्विजदेवजी की दो पुस्तकें बताई हैं, शृंगारबत्तीसी और शृंगारलतिका । 'शृंगारलतिका' का एक बहुत ही विशाल और सटीक संस्करण महारानी अयोध्या की ओर से हाल मे प्रकाशित हुआ है । इसके टीकाकार है भूतपूर्व अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह । शृंगारबत्तीसी' भी एक बार छपी थी । द्विजदेव के कवित्त काव्य-प्रेमियों मे वैसे ही प्रसिद्ध है जैसे पद्माकर के । ब्रजभाषा के शृंगारी कवियो की परंपरा मे इन्हे अंतिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए । जिस प्रकार लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले कवियों में पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध कवि है उसी प्रकार समूची शृंगार-परंपरा मे ये । इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई ।

इनमे बड़ा भारी गुण है भाषा की स्वच्छता । अनुप्रास आदि शब्द-चमत्कारों के लिये इन्होंने भाषा भद्दी कहीं नहीं होने दी है । ऋतुवर्णनो मे इनके हृदय का उल्लास उमड़ा पड़ता है । बहुत से कवियो के ऋतुवर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते है । पर इनके चकोरो की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती

है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिये मानों आपसे आप आगे बढ़ता था। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तानि बितान सबै बिधि चित्त चुरायो करैं॥
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि-चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, बसंत! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

---

सुरभी के भार सुधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सों
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा?
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥

---

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकीगन,
सिखै हारी सखी सब जुगुति नई नई।
द्विजदेव की सौं लाज-वैरिन कुसंग इन
अंगन हू आपने अनीति इतनी ठई॥
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समै में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समै में चल पलन दगा दई॥

---

आजु सुभायन ही गई बाग, बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताहि समै तहँ आए गोपाल, तिन्हैं लखि औरौ गयो हियरो ठगि॥
पै द्विजदेव न जानि परयो धौं कहा तेहि काल परे अँसुवा जगि।
तू जो कही, सखि! लोनो सरूप सो मो अँखियान को लोनी गई लगि॥

---

बाँके कहाँने राते कंज-छवि छीने माते,
झुकि झुकि झूमि झूमि काहू को कछु गनैं न।
द्विजदेव की सौं ऐसी कनक बनाय बहु
भाँतिन बगारे चित चाहन चहूँघा चैन॥
पेखि परे प्रात जौ पै गातन उछाह भरे,
बार बार तातें तुम्हें बूझती कछूक बैन।
एहो ब्रजराज! मेरो प्रेमधन लूटिबे को
बीरा खाय आए कितै आपके अनोखे नैन॥

---

भूले भूले भौंर बन भाँवरें भरैंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जायहैं।
द्विजदेव की सौं वह कूजन बिसारि कूर
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछितायहैं॥
आवत बसंत के न ऐहैं जौ पै स्याम तौ पै
बावरी! बलाय सों, हमारेऊ उपाय है।
पीहैं पहिलेई तें हलाहल मँगाय या
कलानिधि की एकौ कला चलन न पायहै॥

---

घहरि घहरि घन सघन चहूँघा घेरि,
छहरि छहरि विष-बूँद बरसावै ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत दावँ,
एरे पातकी पपीहा! तू पिया की धुनि गावै ना॥

फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ, एरे,
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तौ बिन प्रान, प्रान चहत तजोई अब,
कत नभ चंद तू अकास चढ़ि धावै ना॥

---

# आधुनिक काल

## ( संवत् १९००—१९८० )

### गद्य-खंड

### गद्य का विकास

### आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

#### ( ब्रजभाषा गद्य )

आधुनिक काल के पूर्व हिंदी गद्य का अस्तित्व किस परिमाण और किस रूप मे था, संक्षेप मे इसका विचार कर लेना चाहिए। अब तक साहित्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही है, इसे सूचित करने की आवश्यकता नहीं। अतः गद्य की पुरानी रचना जो थोड़ी सी मिलती है वह ब्रजभाषा ही में। हिंदी पुस्तकों की खोज मे हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से सबध रखनेवाले कई गोरखपथी ग्रथ मिले है जिनका निर्माण-काल सवत् १४०७ के आसपास है। किसी किसी पुस्तक मे निर्माण काल दिया हुआ है। एक पुस्तक गद्य मे भी है जिसका लिखनेवाला 'पूछिबा', 'कहिबा' आदि प्रयोगों के कारण राजपूताने का निवासी जान पडता है। इसके गद्य को हम सवत् १४०० के आसपास के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना मान सकते है। थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है—

"श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। है कैसे परमानंद, आनदस्वरूप है सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए ते सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ? आत्मज्योति निश्चल है अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तै छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै।"

इसे हम निश्चयपूर्वक व्रजभाषा गद्य का पुराना रूप मान सकते हैं। साथ ही यह भी ध्यान होता है कि यह किसी संस्कृत लेख का "कथंभूती" अनुवाद न हो। चाहे जो हो, है यह संवत् १४०० के व्रजभाषा-गद्य का नमूना।

इसके उपरांत फिर हमें भक्तिकाल में कृष्णभक्ति-शाखा के भीतर गद्य-ग्रंथ मिलते है। श्रीवल्लभाचार्य्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी ने 'शृंगाररस मंडन' नामक एक ग्रथ व्रजभाषा मे लिखा। उनकी भाषा का स्वरूप देखिए—

"प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते है। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई ॥"

यह गद्य अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। पर इसके पीछे दो और सांप्रदायिक ग्रंथ लिखे गए जो बडे भी है और जिनकी भाषा भी व्यवस्थित और चलती है। वल्लभ संप्रदाय मे इनका अच्छा प्रचार है। इनके नाम है—"चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता" तथा "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता"। इनमे से प्रथम, आचार्य श्री वल्लभाचार्यजी के पौत्र और गोसाईं विट्ठलनाथजी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर गोकुलनाथजी के किसी शिष्य की लिखी जान पडती हैं, क्योंकि इसमें गोकुलनाथजी का कई जगह बडे भक्तिभाव से उल्लेख है। इसमे वैष्णव भक्तों और आचार्यजी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गई हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता' तो और भी पीछे औरंगजेब के समय के लगभग की लिखी प्रतीत होती है। इन वार्ताओं की कथाएँ बोलचाल की व्रजभाषा मे लिखी गई है जिसमे कही कहीं बहुत प्रचलित अरबी फारसी शब्द भी निस्संकोच रखे गए है। साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नहीं लिखी गई है। उदाहरण के लिये यह उद्धृत अंश पर्य्याप्त होगा—

"सो श्री नंदगाम मे रहतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें लोगन ने वाको नाम खडन पारयो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक

वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खंडन करन लागो। वैष्णवन ने कही 'जो तेरो शास्त्रार्थ करानो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्त्ता को काम है भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो'।"

नाभादासजी ने भी संवत् १६६० के आसपास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक व्रजभाषा-गद्य मे लिखी जिसमे भगवान् राम की दिनचर्य्या का वर्णन है। भाषा इस ढग की है—

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेद्रनाथ दसरथ जू निकट बैठते भए।"

सवत् १६८० के लगभग वैकुंठमणि शुक्ल ने, जो ओरछा के महाराज जसवतसिंह के यहाँ थे, व्रजभाषा गद्य मे 'अगहन-माहात्म्य' और 'वैशाख-माहात्म्य' नाम की दो छोटी छोटी पुस्तके लिखीं। द्वितीय के सबंध मे वे लिखते हैं—

"सब देवतन की कृपा तें बैकुठमनि सुकुल श्री रानी चंद्रावती के धरम पढिवे के अरथ यह जसरूप ग्रंथ बैसाख-महातम भाषा करत भए।—एक समय नारद जू ब्रह्मा की मभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गए।"

व्रजभाषा गद्य मे लिखा एक 'नासिकेतोपाख्यान' मिला है जिसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं। समय १७६० के उपरात है। भाषा व्यवस्थित है—

"हे ऋषिश्वरो! और सुनो, मै देख्यो है सो कहूँ। काले वर्ण महादुख के रूप जम, किंकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े बड़े ग्रध्र देखे। पंथ मे पापकर्मी को जमदूत चलाइ कै मुदगर अरु लोह के दंड कर मार देत हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम रोम खरो होत है।"

सूरति मिश्रने (सवत् १७६७) सस्कृत से कथा लेकर बैतालपचीसी लिखी, जिसको आगे चलकर लल्लूलाल ने खडी बोली हिंदुस्तानी मे किया। जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने सवत् १८५२ में 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका" नाम की एक बडी पुस्तक लिखी।

भाषा इसकी बोलचाल की है जिसमें अरबी-फारसी के कुछ बहुत चलते शब्द भी हैं। नमूना यह है—

"अब शेख-अबलफजल ग्रंथ को करता प्रभु को निमस्कार करि कै अकबर बादस्याह की तारीफ लिखने को कसत करै है अरु कहै है—याकी बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातें याके पराक्रम अरु भाँति भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया मे प्रगट भए, ता को संछेप लिखत हौं।"

इसी प्रकार की ब्रजभाषा-गद्य की कुछ पुस्तकें इधर-उधर पाई जाती हैं जिनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता। साहित्य की रचना पद्य में ही होती रही। गद्य का भी विकास यदि होता आता तो विक्रम की इस शताब्दी के आरंभ में भाषा-संबंधिनी बड़ी विषम समस्या उपस्थित होती। जिस धड़ाके के साथ गद्य के लिये खड़ी बोली ले ली गई उस धड़ाके के साथ न ली जा सकती। कुछ समय सोच-विचार और वाद-विवाद मे जाता और कुछ समय तक दो प्रकार के गद्य की धाराएँ साथ साथ दौड़ लगातीं। अतः भगवान् का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिए कि यह भाषा-विप्लव नहीं संघटित हुआ और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान मे दौड़ पड़ी।

गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण ब्रजभाषा-गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। उपर्युक्त "वैष्णव वार्ताओं" मे उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा फिर आगे चलकर नहीं। काव्यो की टीकाओं आदि मे जो थोड़ा बहुत गद्य देखने मे आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमें अर्थों और भावो को संबद्ध रूप मे प्रकाशित करने तक की शक्ति न थो। ये टीकाएँ संस्कृत की "इत्यमरः" और "कथं भूतम्" वाली टीकाओ की पद्धति पर लिखी जाती थीं। इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना न थी। भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल चाहे समझ में आ जाय पर टीका की उलझन से निकलना

कठिन समझिए। विक्रम की अठारहवी शताब्दी को लिखी "शृंगारशतक" की एक टीका की कुछ पंक्तियॉ देखिए—

"उन्मत्तप्रेमसरभादालभते — यदगना: ।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातर: ॥"

"अंगना जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश कर। जु कार्य करना चाहति है ता कार्य विषै। ब्रह्माऊ। प्रत्यूहं आधातु। अंतराउ कीवे कहॅ। कातर। काइरु है। काइरु कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री कर्‌यो चाहै सु अवश्य करहिं। ताको अतराउ ब्रह्मा पहॅ न कर्‌यो जाइ और की कितीक बात"।

आगे बढ़कर संवत् १८७२ की लिखी जानकीप्रसाद वाली रामचंद्रिका की प्रसिद्ध टीका लीजिए तो उसकी भाषा की भी यही दशा है—

"राघव-शर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उडि कै गयो ॥"

"सबल कहे अनेक अनेक रंग मिश्रित है, अंसु कहे किरण जाके ऐसे जे सूर्य्य है तिन सहित मानो कलिंदगिरि शृंग ते हस कहे हस समूह उडि गयो है। यहॉ जाति विषै एक वचन है। हसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्य्यन के सदृश अनेक रंग नगजटित मुकुट हैं"।

इसी ढंग की सारी टीकाओं को भाषा समझिए। सरदार कवि अभी हाल मे हुए हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सतसई आदि की उनकी टीकाओ की भाषा और भी अनगढ और असबद्ध है। साराश यह है कि जिस समय गद्य के लिये खड़ी बोली उठ खड़ी हुई उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था, उसका कोई साहित्य खड़ा नहीं हुआ था। इसी से खड़ी बोली के ग्रहण में कोई संकोच नही हुआ।

## खड़ी बोली का गद्य

देश के भिन्न भिन्न भागों मे मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट-समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी मे ही

ब्रजभाषा के साथ साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थी। औरंगजेब के समय से फारसी-मिश्रित खड़ी बोली या रेखता में शायरी भी शुरू हो गई और उसका प्रचार फारसी पढ़े लिखे लोगों में बराबर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली को लेकर उर्दू-साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।

मोगल-साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुँची। दिल्ली, आगरे आदि पछाहीं शहरों की समृद्धि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियाँ चमक उठी थीं। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर, इंशा आदि अनेक उर्दू-शायर पूरब की ओर आने लगे, उसी प्रकार दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिंदू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिये लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगी। उनके साथ साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी। यह सिद्ध बात है कि उपजाऊ और सुखी प्रदेशों के लोग व्यापार में उद्योगशील नहीं होते। अतः धीरे धीरे पूरब के शहरों में भी इन पश्चिमी व्यापारियों की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी, मौलवियों और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं। यह अपने ठेठ रूप में बराबर पछाँह से आई हुई जातियों के घरों में बोली जाती है। अतः कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिंदी गद्य की भाषा अरबी-फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। इस भ्रम का कारण यही है कि देश के परंपरागत साहित्य की—जो संवत् १९०० के पूर्व तक पद्यमय ही रहा—भाषा ब्रजभाषा ही रही और खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रांतों की बोलियाँ। साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार नहीं हुआ।

पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं

है कि उस भाषा अस्तित्व नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खडी बोली अपने देशी रूप मे वर्त्तमान थी और अब भी बनी हुई है। साहित्य में भी कभी कभी कोई इसका व्यवहार कर देता था, यह दिखाया जा चुका है।

भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश काव्यो की जो परपरा चलती रही उसके भीतर खडी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यो में मिलती है। जैसे—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि ! महारा कतु।

---

अड़विहि पत्ती, नइहिं जलु, तो बिन वूहा हत्थ।

---

सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ। देवक लेखिअ कोण मिटाआ ?

उसके उपरात भक्तिकाल के आरंभ मे निर्गुणधारा के संत कवि किस प्रकार खड़ी बोली का व्यवहार अपनी 'सधुक्कड़ी' भाषा मे किया करते थे, इसका उल्लेख भक्तिकाल के भीतर हो चुका है[1]। कबीरदास के ये वचन लीजिए—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गगा नीर।

---

कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोइ।<br>
राम कहे भला होयगा, नहि तर भला न होइ॥

---

आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।<br>
गुरु के सबद रम रम रहूँगा।

अकबर के समय मे गंग कवि ने "चंद-छद बरनन की महिमा" नामक एक गद्य-पुस्तक खड़ी बोली मे लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

१ देखो पृष्ठ ८०।

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबरसाहजी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमे तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नही सो रेसम के रस्से मे रेसम की लूमें पकड़ के खडे ताजीम में रहे।

× × × ×

इतना सुनके पातसाहिजी श्री अकबरसाहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

इस अवतरण से स्पष्ट पता लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय मे ही खडी बोली भिन्न भिन्न प्रदेशों मे शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती; यह हिंदी खडी बोली है। यद्यपि पहले से साहित्य-भाषा के रूप मे स्वीकृत न होने के कारण इसमे अधिक रचना नहीं पाई जाती, पर यह बात नहीं है कि इसमे ग्रंथ लिखे ही नहीं जाते थे। दिल्ली राजधानी होने के कारण जब से शिष्ट-समाज के बीच इसका व्यवहार बढ़ा तभी से इधर-उधर कुछ पुस्तके इस भाषा के गद्य मे लिखी जाने लगीं।

विक्रम संवत् १७९८ में रामप्रसाद 'निरंजनी' ने 'भाषा योगवासिष्ठ' नाम का गद्य ग्रंथ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली मे लिखा। ये पटियाला दरबार मे थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इनके ग्रंथ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से ६२ वर्ष पहले खडी बोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप मे पुस्तके आदि लिखने मे व्यवहृत होता था। अब तक पाई गई पुस्तको मे यह 'योगवासिष्ठ' ही सबसे पुराना है जिसमे गद्य अपने परिष्कृत रूप मे दिखाई पड़ता है। अतः जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक मान सकते हैं। 'योगवासिष्ठ' से दो उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) "प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार हैं जिससे सब भासते है और जिसमे सब लीन और स्थित होते हैं, × × × जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनंदमय है, जिस आनद से सब जीव जीते है। अगस्तजी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन मे एक सदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्त्वो और सब शास्त्रो के जाननहारे हो, मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनो हैं, समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनो से प्राप्त होता है। कर्म से अतःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अतःकरण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।"

(ख) "हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष नही करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। × × × मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष शोक आदि विकारो से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय क्रोध से रहित, रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगत ज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बधन मे न आवोगे।"

कैसी शृखलाबद्ध साधु और व्यवस्थित भाषा है!

इसके पीछे संवत् १८२३ मे बसवा (मध्यप्रदेश) निवासी पं० दौलतराम ने रविषेणाचार्य्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया जो ७०० पृष्ठों से ऊपर का एक बडा ग्रथ है। भाषा इसकी उपर्युक्त 'योग-वासिष्ठ' के समान परिमार्जित नहीं है, पर इस बात का पूरा पता देती है कि फारसी-उर्दू से कोई संपर्क न रखनेवाली अधिकाश शिष्ट जनता के बीच खड़ी बोली किस स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी। मध्यप्रदेश पर फारसी या उर्दू की तालीम कभी नहीं लादी गई थी और जैन-समाज, जिसके लिये यह ग्रंथ लिखा गया,

अँगरेजों की ओर से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके दो एक वर्ष पहले ही मुशी सदासुख की ज्ञानोपदेशवाली पुस्तक और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थी। अतः यह कहना कि अँगरेजों की प्रेरणा से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है। जिस समय दिल्ली के उजड़ने के कारण उधर के हिंदू व्यापारी तथा अन्य वर्ग के लोग जीविका के लिये देश के भिन्न भिन्न भागों मे फैल गए और खड़ी बोली अपने स्वाभाविक देशी रूप मे शिष्टो की बोलचाल की भाषा हो गई उसी समय से लोगो का ध्यान उसमे गद्य लिखने की ओर गया। तब तक हिंदी और उर्दू दोनो का साहित्य पद्यमय ही था। हिंदी-कविता मे परंपरागत काव्यभाषा ब्रजभाषा का व्यवहार चला आता था और उर्दू-कविता मे खड़ी बोली के अरबी-फारसी-मिश्रित रूप का। जब खड़ी बोली अपने असली रूप मे भी चारों ओर फैल गई तब उसकी व्यापकता और भी बढ़ गई और हिंदी-गद्य के लिये उसके ग्रहण मे सफलता की संभावना दिखाई पड़ी।

इसी लिये जब संवत् १८६० मे फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) के हिंदी-उर्दू अध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की तब उन्होंने उर्दू और हिंदी दोनो के लिये अलग अलग प्रबंध किया। इसका मतलब यही है कि उन्होंने उर्दू से स्वतंत्र हिंदी बोली का अस्तित्व सामान्य शिष्ट भाषा के रूप मे पाया। फोर्ट विलियम कालेज के आश्रय मे लल्लूलालजी गुजराती ने खड़ी बोली के गद्य में 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। अतः खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ानेवाले चार महानुभाव हुए है—मुशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारों लेखक संवत् १८६० के आसपास हुए।

(१) मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' दिल्ली के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १८०३ और मृत्यु १८८१ मे हुई। संवत् १८५० के लगभग ये कंपनी की अधीनता मे चुनार (जिला मिर्जापुर) मे एक अच्छे पद पर थे। इन्होंने उर्दू और फारसी में बहुत सी किताबे लिखी हैं और काफी शायरी की है।

अपनी "मुंतखबुत्तवारीख" मे अपने संबंध मे इन्होने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि ६५ वर्ष की अवस्था में ये नौकरी छोड़कर प्रयाग चले गए और अपनी शेष आयु वहीं हरिभजन मे बिताई। उक्त पुस्तक संवत् १८७५ मे समाप्त हुई जिसके ६ वर्ष उपरात इनका परलोकवास हुआ। मुशीजी ने विष्णुपुराण से कई उपदेशात्मक प्रसग लेकर एक पुस्तक लिखी थी, जो पूरी नहीं मिली है। कुछ दूर तक सफाई के साथ चलनेवाला गद्य जैसा 'योगवासिष्ठ' का था वैसा ही मुंशीजी की इस पुस्तक मे दिखाई पड़ा। उसका थोड़ा सा अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; अरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष मे चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरत ही ब्राह्मण से चाडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमे लोग नास्तिक कहेगें, हमें इस बात का डर नही। जो बात सत्य हो उसे कहना चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते है कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते है कि चतुराई की बाते कह के लोगो को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

मुशीजी ने यह गद्य न तो किसी अँगरेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा। वे एक भगवद्भक्त आदमी थे। अपने समय मे उन्होंने हिंदुओ की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूरबी प्रांतो मे भी—प्रचलित पाई उसी मे रचना की। स्थान स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होने उसके भावी साहित्यक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अह्ले जबान थे पर उन्होने अपने हिंदी-गद्य मे कथवाचको, पंडितो और साधु-सतों के बीच दूर दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा जिसमें सस्कृत शब्दो का पुट भी बराबर रहता था।

बराबर व्यापार से संबंध रखनेवाला समाज रहा है। खड़ी बोली को मुसलमानों द्वारा जो रूप दिया गया उससे सर्वथा स्वतन्त्र वह अपने प्रकृत रूप में भी दो ढाई सौ वर्ष से लिखने पढ़ने के काम में आ रही है, यह बात 'योगवासिष्ठ' और 'पद्मपुराण' अच्छी तरह प्रमाणित कर रहे हैं। अतः यह कहने की गुंजाइश अब जरा भी नहीं रही कि खड़ी बोली गद्य की परंपरा अँगरेजों की प्रेरणा से चली। 'पद्मपुराण' की भाषा का स्वरूप यह है—

"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुंदर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमि विषै साँटेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत सामान ढेर हो रहे हैं।"

आगे चलकर संवत् १८३० और १८४० के बीच राजस्थान के किसी लेखक ने "मंडोवर का वर्णन" लिखा था जिसकी भाषा साहित्य की नहीं, साधारण बोलचाल की है, जैसे—

"अवल मे यहाँ माडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम माडव्याश्रम हुआ। इस लफ्ज का बिगड़ कर मंडोवर हुवा है।"

ऊपर जो कहा गया कि खड़ी बोली का ग्रहण देश के परंपरागत साहित्य में नहीं हुआ था, उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। उक्त कथन मे साहित्य से अभिप्राय लिखित साहित्य का है, कथित या मौखिक का नहीं। कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है—चाहे वह लिखित न हो, श्रुति-परंपरा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियाँ खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी। खुसरो की सी पहेलियाँ दिल्ली के आसपास प्रचलित थीं जिनके नमूने पर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ कहीं। हाँ, फारसी पद्य में खड़ी बोली को ढालने का खुसरो का प्रयत्न प्रथम कहा जा सकता है।

खड़ी बोली का रूप-रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमे विदेशी भावों का भंडार भरने लगे तब हिंदी के कवियों की दृष्टि मे वह मुसलमानों की खास भाषा सी जँचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि

कवियों ने मुसलमानी दरबारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है। पर जैसा कि अभी दिखाया जा चुका है, मुसलमानों के दिए कृत्रिम रूप से स्वतंत्र खड़ी बोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न-भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू साहित्य के प्रचार से कोई संबंध नहीं। धीरे धीरे यही खड़ी बोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अँगरेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलानेवाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुंशी आदि फारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिंदू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े लिखे या विद्वान् होते थे उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।

रीतिकाल के समाप्त होते होते अँगरेजी राज्य देश में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। अतः अँगरेजों के लिये यहाँ की भाषा सीखने का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर शिष्ट समाज के बीच उन्हें दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था।

अँगरेज यद्यपि विदेशी थे पर उन्हें यह स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं वह न तो देश की स्वाभाविक भाषा है न उसका साहित्य देश का साहित्य है, जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों। इसी लिये जब उन्हें देश की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और वे गद्य की खोज में पड़े तब दोनों प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता हुई—उर्दू की भी और हिंदी (शुद्ध खड़ी बोली) की भी। पर उस समय गद्य की पुस्तकें वास्तव में न उर्दू में थीं और न हिंदी में। जिस समय फोर्ट विलियम कालेज की ओर से उर्दू और हिंदी गद्य की पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके पहले हिंदी खड़ी बोली में गद्य की कई पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं।

'योगवासिष्ठ' और 'पद्मपुराण' का उल्लेख हो चुका है। उसके उपरांत जब

इसी संस्कृतमिश्रित हिंदी को उर्दूवाले 'भाखा' कहते थे, जिसका चलन उर्दू के कारण कम होते देख मुंशी सदासुख ने इस प्रकार खेद प्रकट किया था—

"रस्मो रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।"

सारांश यह है कि मुंशीजी ने हिंदुओं की शिष्ट बोल-चाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नहीं ली। इन प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"स्वभाव करके वे दैत्य कहलाए"। "बहुत जाघा चूक हुई"। "उन्हीं लोगों से बन आवै है"। "जो बात सत्य होय"॥

काशी पूरब मे है पर यहाँ के पंडित सैकड़ों वर्ष से 'होयगा', 'आवता है' 'इस करके', आदि बोलते चले आते है। ये सब बातें उर्दू से स्वतंत्र खड़ी बोली के प्रचार की सूचना देती है।

( २ ) इंशाअल्लाखाँ उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे जो दिल्ली के उजड़ने पर लखनऊ चले आए थे। इनके पिता मीर माशाअल्लाखाँ काश्मीर से दिल्ली आए थे जहाँ वे शाही हकीम हो गए थे। मोगल-सम्राट् की अवस्था बहुत गिर जाने पर हकीम साहब मुर्शिदाबाद के नबाब के यहाँ चले गए थे। मुर्शिदाबाद ही मे इंशा का जन्म हुआ। जब बंगाल के नबाब सिराजुद्दौला मारे गए और बंगाल मे अंधेर मचा तब इंशा, जो पढ़-लिखकर अच्छे विद्वान् और प्रभावशाली कवि हो चुके थे, दिल्ली चले आए और शाहआलम दूसरे के दरबार में रहने लगे। वहाँ जब तक रहे अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल से अपने विरोधी बड़े बड़े नामी शायरो को ये बराबर नीचा दिखाते रहे। जब गुलाम-कादिर बादशाह को अंधा करके शाही खजाना लूटकर चल दिया तब इंशा का निर्वाह दिल्ली मे कठिन हो गया और वे लखनऊ चले आए। जब संवत् १८५५ मे नवाब सआदत अलीखाँ गद्दी पर बैठे तब ये उनके दरबार में आने जाने लगे। बहुत दिनों तक इनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही पर अंत मे एक दिल्लगी की बात पर इनका वेतन आदि सब बंद हो गया और इनके जीवन का अंतिम भाग बड़े कष्ट में बीता। संवत् १८७५ मे इनकी मृत्यु हुई।

इंशा ने "उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी" संवत् १८५५ और

१८६० के बीच लिखी होगी। कहानी लिखने का कारण इंशा साहब यों लिखते है—

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान मे चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमे हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप मे खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच मे न हो। × × × अपने मिलनेवालों मे से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने, डॉग, बूढे घाग यह खटराग लाए……और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन न भी निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिंदी लिखने का था जिसमे हिंदी को छोड़ और किसी बोली का पुट न रहे। उद्धृत अंश में 'भाखापन' शब्द ध्यान देने योग्य है। मुसलमान लोग 'भाखा' शब्द का व्यवहार साहित्यिक हिंदी भाषा के लिये करते थे जिसमे आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे—चाहे वह ब्रजभाषा हो, चाहे खड़ी बोली। तात्पर्य यह कि संस्कृत मिश्रित हिंदी को ही उर्दू फारसीवाले 'भाखा' कहा करते थे। 'भाखा' से खास ब्रजभाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसा कुछ लोग भ्रमवश समझते है। जिस प्रकार वे अपनी अरबी-फारसी मिली हिंदी को 'उर्दू' कहते थे, उसी प्रकार संस्कृत मिली हिंदी को 'भाखा'। भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से विचार न करनेवाले या उर्दू की ही तालीम खास तौर पर पानेवाले कई नए पुराने हिंदी लेखक इस 'भाखा' शब्द के चक्कर मे पड़कर ब्रजभाषा को हिंदी कहने मे संकोच करते है। "खड़ीबोली पद्य" का झंडा लेकर स्वर्गीय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री चारों ओर घूम घूमकर कहा करते थे कि अभी हिंदी में कविता हुई कहाँ, "सूर, तुलसी, बिहारी आदी ने जिसमे कविता की है वह तो 'भाखा' है, 'हिंदी' नहीं। संभव है इस सड़े-गले खयाल को लिए अब भी कुछ लोग पड़े हो।

इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है—

बाहर की बोली=अरबी, फारसी, तुरकी। गँवारी=ब्रजभाषा, अवधी आदि। भाखा=संस्कृत के शब्दों का मेल।

इस बिलगाव से, आशा है, ऊपर लिखी बात स्पष्ट हो गई होगी। इंशा ने "भाखापन" और "मुअल्लापन" दोनो को दूर रखने का प्रयत्न किया, पर दूसरी बला किसी न किसी सूरत में कुछ लगी रह गई। फारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास कहीं कहीं, विशेषतः बड़े वाक्यों में, आ ही गया है; पर बहुत कम। जैसे—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया"।

"इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को"।

"यह चिट्ठी जो पीकभरी कुँवर तक जा पहुँची"।

आरंभ काल के चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मुहावरेदार और चलती है। पहली बात यह है कि खड़ी बोली उर्दू-कविता में पहले से बहुत कुछ मँज चुकी थी जिससे उर्दूवालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे। दूसरी बात यह है कि इंशा रंगीन और चुलबुली भाषा द्वारा अपना लेखन-कौशल दिखाया चाहते थे[१]। मुंशी सदासुखलाल भी खास दिल्ली के थे और उर्दू-साहित्य का अभ्यास भी पूरा रखते थे, पर वे धर्मभाव से जान बूझकर अपनी भाषा गंभीर और संयत रखना चाहते थे। सानुप्रास विराम भी इंशा के गद्य में बहुत स्थलों पर मिलते हैं—जैसे,

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी, और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

इंशा के समय तक वर्त्तमान कृदंत या विशेषण और विशेष्य के बीच का

---

१—अपनी कहानी का आरंभ ही उन्होंने इस ढंग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।

समानाधिकरण कुछ बना हुआ था, जो उनके गद्य में जगह जगह पाया जाता है; जैसे—

आतियाँ जातियाँ जो साँसें है। उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं॥

× × × ×

घरवालियाँ जो किसी डौल से बहलातियाँ हैं।

इन विचित्रताओं के होते हुए भी इंशा ने जगह जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है और वर्णन भी सर्वथा भारतीय रखे हैं। इनकी चलती चटपटी भाषा का नमूना देखिए—

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी"।

( ३ ) लल्लूलालजी आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १८२० में और मृत्यु संवत् १८८२ में हुई। संस्कृत के विशेष जानकार तो ये नहीं जान पड़ते पर भाषा-कविता का अभ्यास इन्हें था। उर्दू भी कुछ जानते थे। संवत् १८६० में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट के आदेश से इन्होंने खड़ी बोली गद्य में "प्रेमसागर" लिखा जिसमें भगवत दशम स्कंध की कथा वर्णन की गई है। इंशा के समान इन्होंने केवल ठेठ हिंदी लिखने का संकल्प तो नहीं किया था पर विदेशी शब्दों के न आने देने की प्रतिज्ञा अवश्य लक्षित होती है। यदि ये उर्दू न जानते होते तो अरबी-फारसी के शब्द बचाने में उतने कृतकार्य कभी न होते जितने हुए। बहुतेरे अरबी-फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इतने मिल गए थे कि उन्हें केवल संस्कृत जाननेवाले के लिये पहचानना भी कठिन था। मुझे एक पंडितजी का स्मरण है जो 'लाल' शब्द तो बराबर बोलते थे पर 'कलेजा' और 'बैंगन' शब्दों को म्लेच्छ भाषा के समझ बचाते थे। लल्लूलालजी अनजान

में कहीं कहीं ऐसे शब्द लिख गए हैं जो फारसी या तुरकी के हैं। जैसे 'बैरख' शब्द तुरकी का 'बैरक' है, जिसका अर्थ झंडा है। प्रेमसागर में यह शब्द आया है। देखिए—

"शिवजी ने एक ध्वजा बाणासुर को देके कहा इस बैरख को ले जाय।" पर ऐसे शब्द दो ही चार जगह आए हैं।

यद्यपि मुंशी सदासुखलाल ने भी अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग न कर संस्कृत-मिश्रित साधु भाषा लिखने का प्रयत्न किया है पर लल्लूलाल की भाषा से उसमें बहुत कुछ भेद दिखाई पड़ता है। मुंशीजी की भाषा साफ-सुथरी खड़ी बोली है पर लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की-सी ब्रज-रंजित खड़ी बोली है। 'संमुख जाय', सिर नाय', 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'निरख', 'लीजौ', ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए है। अकबर के समय में गंग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी वैसी ही खड़ी बोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओं मे अंतर इतना ही है कि गंग ने इधर उधर फारसी अरबी के प्रचलित शब्द भी रखे है पर लल्लूलालजी ने ऐसे शब्द बचाए है। भाषा की सजावट भी प्रेमसागर में पूरी है। विरामों पर तुकबंदी के अतिरिक्त वर्णनों मे वाक्य भी बड़े बड़े आए हैं और अनुप्रास भी यत्र-तत्र हैं। मुहावरों का प्रयोग कम है। सारांश यह कि लल्लूलालजी का काव्याभास गद्य भक्तों की कथा-वार्त्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचार-धारा के योग्य। प्रेमसागर से दो नमूने नीचे दिए जाते है—

"श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु-पक्षी, जीव जंतुओं की दशा विचार, चारों ओर से दल-बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर-मोर, कड़खैतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी थी।

"इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में

न्हाय न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र अभूषण पहिराने। निदान अति आनंद में मग्न हो डमरू बजाय बजाय, तांडव नाच नाच, संगीत शास्त्र की रीति गाय गाय लगे रिझाने।"

× × × ×

"जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छवि-छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आँखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

लल्लूलाल ने उर्दू, खड़ी बोली हिंदी और ब्रजभाषा तीनों मे गद्य की पुस्तकें लिखीं। ये संस्कृत नहीं जानते थे। ब्रजभाषा में लिखी हुई कथाओं और कहानिओं को उर्दू और हिंदी गद्य में लिखने के लिये इनसे कहा गया था जिसके अनुसार इन्होंने सिंहासनबत्तीसी, बैताल-पचीसी, शकुंतलानाटक, माधो-नल और प्रेमसागर लिखे। प्रेमसागर के पहल की चारों पुस्तकें बिल्कुल उर्दू में हैं। इनके अतिरिक्त स० १८६६ में इन्होंने "राजनीति" के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ (जो पद्य मे लिखी जा चुकी थीं) ब्रजभाषा-गद्य मे लिखीं। माधवविलास और सभाविलास नामक ब्रजभाषा पद्य के संग्रह ग्रंथ भी इन्होंने प्रकाशित किए थे। इनकी 'लालचंद्रिका' नाम की बिहारी सतसई की टीका भी प्रसिद्ध है। इन्होने अपना एक निज का प्रेस कलकत्ते में (पटल-डाँगे में) खोला था जिसे ये सं० १८८१ में फोर्ट विलियम कालेज की नौकरी से पेंशन लेने पर, आगरे लेते गए। आगरे में प्रेस जमाकर ये एक बार फिर कलकत्ते गए जहाँ इनकी मृत्यु हुई। अपने प्रेस का नाम इन्होंने "संस्कृत प्रेस" रखा था, जिसमें अपनी पुस्तकों के अतिरिक्त ये रामायण आदि पुरानी पोथियाँ भी छापा करते थे। इनके प्रेस की छपी पुस्तकों की लोग बहुत कदर करते थे।

(४) सदल मिश्र—ये बिहार के रहनेवाले थे। फोर्ट विलयम कालेज मे ये भी काम करते थे। जिस प्रकार उक्त कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूलाल ने खड़ी बोली गद्य की पुस्तक तैयार की उसी प्रकार इन्होंने भी।

इनका "नासिकेतोपाख्यान" भी उसी समय लिखा गया जिस समय 'प्रेमसागर'। पर दोनों की भाषा में बहुत अंतर है। लल्लूलाल के समान इनकी भाषा में न तो ब्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और न परंपरागत काव्यभाषा की पदावली का स्थान स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सका है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है। पर इनकी भाषा भी साफ सुथरी नहीं है। ब्रजभाषा के भी कुछ रूप हैं और पूरबी बोली के शब्द तो स्थान स्थान पर मिलते हैं। "फूलन्ह के बिछौने", "चहुँदिस", "सुनि", "सोनन्ह के थंभ" आदि प्रयोग ब्रजभाषा के हैं। "इहाँ", "मतारी", बरते थे", "ढुड़ाई", "बाजने लगा", "जौन" आदि पूरबी शब्द हैं। भाषा के नमूने के लिये "नासिकेतोपाख्यान" से थोड़ा सा अवतरण नीचे दिया जाता है—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, मातापिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्य्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही मे गड़े रहते हैं वो मातापिता की हित बात को नहीं सुनते, सब से वैर करते है, ऐसे जो पापी जन है सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों मे पड़ते हैं।"

गद्य की एक साथ परंपरा चलानेवाले उपर्युक्त चार लेखकों मे से आधुनिक हिंदी का पूरा पूरा आभास मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा मे ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो से भी मुंशी सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्त्व की है। मुंशी सदासुख ने लेखनी भी चारों में पहले उठाई अतः गद्य का प्रवर्त्तन करनेवालों मे उनका विशेष स्थान समझना चाहिए।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी गद्य का प्रवर्त्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली। इधर उधर दो चार पुस्तके अनगढ

भाषा मे लिखी गई हों तो लिखी गई हों पर साहित्य के योग्य स्वच्छ सुव्यवस्ति भाषा मे लिखी कोई पुस्तक संवत् १९१५ के पूर्व की नही मिलती । संवत् १८८१ मे किसी ने ''गोरा बादल री बात' का, जिसे राजस्थानी पद्यो मे जटमल ने सवत् १६८० मे लिखा था, खडी बोली के गद्य मे अनुवाद किया। अनुवाद का थोडा सा अंश देखिए:—

"गोरा बादल की कथा गुरु के बस, सरस्वती के मेहरबानगी से, पूरन भई। तिस वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोल: से असी के साल मे फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस है—वीररस व सिंगाररस है, सो कथा मोरछड़ो नॉव गाँव का रहनेवाला कवेसर। उस गाँव के लोग भोहोत सुखी है। घर घर मे आनंद होता है, कोई घर मे फकीर दीखता नहीं।"

सवत् १८६० और १९१५ के बीच का काल गद्य-रचना की दृष्टि से प्राय: शून्य ही मिलता है। संवत् १९१४ के बलवे के पीछे ही हिंदी-गद्य साहित्य की परंपरा अच्छी तरह चली।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी-गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्म-प्रचारको ने, जिन्हे अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था। सिरामपुर उस समय पादरियों का प्रधान अड्डा था। विलियम केरे ( William Carey ) तथा और कई अँगरेज पादरियों के उद्योग से इजील का अनुवाद उत्तर भारत की कई भाषाओं में हुआ। कहा जाता है कि बाइबिल का हिंदी अनुवाद स्वयं केरे साहब ने किया। सवत् १८६६ मे उन्होने "नए धर्म नियम" का हिदी अनुवाद प्रकाशित किया और संवत् १८७५ मे समग्र ईसाई-धर्म पुस्तक का अनुवाद पूरा हुआ। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि इन ईसाई अनुवादकों ने सदासुख और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना, उर्दूपन को बिलकुल दूर रखा। इससे यही सूचित होता है कि फारसी अरबी मिली भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था जिसके बीच मत का प्रचार करना था। जिस भाषा में साधारण हिंदू जनता अपने कथा-पुराण कहती सुनती आती थी उसी भाषा

का अवलंबन ईसाई उपदेशकों को आवश्यक दिखाई पड़ा। जिस संस्कृत-मिश्रित भाषा का विरोध करना कुछ लोग एक फैशन समझते हैं उससे साधारण जन-समुदाय उर्दू की अपेक्षा कहीं अधिक परिचित रहा है और है। जिन अँगरेजों को उत्तर भारत में रहकर केवल मुंशियो और खानसामों की ही बोली सुनने का अवसर मिलता है वे अब भी उर्दू या हिंदुस्तानी को यदि जनसाधारण की भाषा समझा करें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर उन पुराने पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जनसाधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते-सुनाते पाया उसी को ग्रहण किया।

ईसाइयो ने अपनी धर्मपुस्तक के अनुवाद की भाषा मे फारसी और अरबी के शब्द जहाँ तक हो सका है नहीं लिए है और ठेठ ग्रामीण शब्द तक बेधड़क रखे गए हैं। उनकी भाषा सदासुख और लल्लूलाल के ही नमूने पर चली है। उसमें जो कुछ विलक्षणता सी दिखाई पड़ती है वह मूल विदेशी भाषा की वाक्यरचना और शैली के कारण। प्रेमसागर के समान ईसाई धर्मपुस्तक मे भी 'करनेवाले' के स्थान पर 'करनहारे', 'तक' के स्थान पर 'लौं', 'कमरबंद' के स्थान पर 'पटुका' प्रयुक्त हुए हैं। पर लल्लूलाल के इतना ब्रजभाषापन नहीं आने पाया है। 'आय' 'जाय' का व्यवहार न होकर 'आके' 'जाके' व्यवहृत हुए हैं। सारांश यह कि ईसाई मत-प्रचारकों ने विशुद्ध हिंदी का व्यवहार किया है। एक नमूना नीचे दिया जाता है—

"तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर पर आया। परंतु योहन यह कह के उसे वर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं! यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा लेके तुरंत जल के ऊपर आया और देखो उसके लिये स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा, और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ।"

इसके आगे ईसाइयों की पुस्तकें और पैंफलेट बराबर निकलते रहे। उक्त

"सिरामपुर प्रेस" से संवत् १८१३ मे "दाऊद के गीतें" नाम की पुस्तक छपी जिसकी भाषा में कुछ फारसी अरबी के बहुत चलते शब्द भी रखे मिलते हैं। पर इसके पीछे अनेक नगरों मे बालकों की शिक्षा के लिये ईसाइयों के छोटे-मोटे स्कूल खुलने लगे और शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें भी निकलने लगीं। इन पुस्तकों की हिंदी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध होती थी जैसी 'बाइबिल' के अनुवाद की थी। आगरा, मिर्जापुर, मुंगेर आदि उस समय ईसाइयों के प्रचार के मुख्य केंद्र थे।

अँगरेजी की शिक्षा के लिये कई स्थानों पर स्कूल और कालेज खुल चुके थे जिनमें अँगरेजी के साथ हिंदी, उर्दू की पढ़ाई भी कुछ चलती थी। अतः शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकों की माँग सं० १९०० के पहले ही पैदा हो गई थी। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकों के प्रकाशन के लिये सवत् १८९० के लगभग आगरे में पादरियों की एक "स्कूल-बुक-सोसाइटी" स्थापित हुई थी जिसने १८९४ में इँगलैंड के इतिहास का और सवत् १८९६ मे मार्शमैन साहब के "प्राचीन इतिहास" का अनुवाद "कथासार" के नाम से प्रकाशित किया। "कथासार" के लेखक या अनुवादक पं० रतनलाल थे। इसके संपादक पादरी मूर साहब (J. J. Moore.) ने अपने छोटे से अँगरेजी वक्तव्य में लिखा था कि यदि सर्वसाधारण से इस पुस्तक को प्रोत्साहन मिला तो इसका दूसरा भाग "वर्तमान इतिहास" भी प्रकाशित किया जायगा। भाषा इस पुस्तक की विशुद्ध और पंडिताऊ है। 'की' के स्थान पर 'करी' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' आदि प्रयोग बराबर मिलते हैं। भाषा का नमूना यह है—

"परंतु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध भंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों मे उपद्रव मचा और इसलिये प्रजा की सहायता से पिसिसट्रेटस नामक पुरुष सबो पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल मे दूरदर्शी और बुद्धिमानों मे अग्रगण्य था।"

आगरे की उक्त सोसइटी के लिये संवत् १८९७ से पंडित ओंकार भट्ट ने

'भूगोलसार' और संवत् १६०४ में पंडित वद्रीलाल शर्मा ने "रसायनप्रकाश" लिखा। कलकत्ते मे भी ऐसी ही एक स्कूल-बुक-सोसाइटी थी जिसने "पदार्थविद्यासार" ( सं० १६०३ ) आदि कई वैज्ञानिक पुस्तकें निकाली थीं। इसी प्रकार कुछ रीडरें भी मिशनरियों के छापेखानों से निकली थीं—जैसे "आजमगढ़ रीडर" जो इलाहाबाद मिशन प्रेस से संवत् १८६७ में प्रकाशित हुई थी।

बलवे के कुछ पहले ही मिर्जापुर में ईसाइयों का एक "आरफेन प्रेस" खुला था जिससे शिक्षा संबंधिनी कई पुस्तकें शेरिंग साहब के संपादन में निकली थीं, जैसे—भूचरित्रदर्पण, भूगोल विद्या, मनोरंजक वृत्तांत, जंतुप्रबंध, विद्यासागर, विद्वान् संग्रह। ये पुस्तकें संवत् १६१२ और १६१६ के बीच की हैं। तब से मिशन सोसाइटियों के द्वारा बराबर विशुद्ध हिंदी मे पुस्तकें और पैंफलेट आदि छपते आ रहे हैं जिनमें कुछ खंडन मंडन, उपदेश और भजन आदि रहा करते है। भजन रचनेवाले कई अच्छे ईसाई कवि हो गए हैं जिनमे दो एक अँगरेज भी थे। "आर्सी" और "जान" के भजन देशी ईसाइयों में बहुत प्रचलित हुए और अब तक गाए जाते है। साराश यह कि हिंदी-गद्य के प्रसार मे ईसाइयो का बहुत कुछ योग रहा। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें तो पहले पहल उन्हीं ने तैयार कीं। इन बातों के लिये हिंदी-प्रेमी उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसाइयों के प्रचार-कार्य्य का प्रभाव हिंदुओ की जन-संख्या पर ही पड़ रहा था। अतः हिंदुओ के शिक्षित वर्ग के बीच स्वधर्म-रक्षा की आकुलता दिखाई पड़ने लगी। ईसाई उपदेशक हिंदू-धर्म की स्थूल और बाहरी बातों को लेकर ही अपना खंडन-मंडन चलाते आ रहे थे। यह देखकर बंगाल मे राजा राममोहन राय उपनिषद् और वेदात का ब्रह्मज्ञान लेकर उसका प्रचार करने खडे हुए। नूतन शिक्षा के प्रभाव से पढ़े-लिखे लोगों में मे बहुतों के मन में मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जाति-पाँति, छूआ-छूत आदि के प्रति अश्रद्धा हो रही थी। अतः राममोहन राय ने इन बातो को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रवर्त्तन करने के लिये 'ब्रह्म-समाज' की नींव डाली। संवत् १८७२ मे उन्होने वेदांत-सूत्रों के भाष्य का हिंदी-अनुवाद

करके प्रकाशित कराया था। संवत् १८८६ मे उन्होंने "बंगदूत" नाम का एक संवादपत्र भी हिंदी में निकाला। राजा साहब की भाषा में एक-आध जगह कुछ बँगलापन जरूर मिलता है, पर उसका रूप अधिकाश मे वही है जो शास्त्रज्ञ विद्वानो के व्यवहार मे आता था। नमूना देखिए—

"जो सब ब्राह्मण साग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य है, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मणधर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्रीजी ने जो पत्र साग- वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणो के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन-हीन मनुष्यो को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं"।

कई नगरो मे, जिनमे कलकत्ता मुख्य था, अब छापेखाने हो गए थे। बंगाल से कुछ अँगरेजी और कुछ बँगला के पत्र भी निकलने लगे थे जिनके पढ़नेवाले भी हो गए थे। इस परिस्थिति मे प० जुगुलकिशोर ने, जो कानपुर के रहनेवाले थे, संवत् १८८३ मे "उदंतमार्त्तंड" नाम का एक संवादपत्र निकाला जिसे हिंदी का पहला समाचारपत्र समझना चाहिए जैसा कि उसके इस लेख से प्रकट होता है—

"यह उदंत-मार्त्तंड अब पहिले पहल हिंदुस्तानियो के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया, पर अँगरेज़ी ओ पारसी ओ बँगले मे जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियो के जान्ने ओ पढ़नेवालो को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेयँ ओ पराई अपेक्षा न करे ओ अपने भाषे की उपज न छोडे इसलिए......श्रीमान् गवरनर- जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस मे चित्त मे लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा। जो कोई प्रशस्त लोग इस खबर के कागज के लेने की इच्छा करें तो अमड़ा तला की गली ३७ अंक मार्त्तंड-छापाघर मे अपना नाम ओ ठिकाना भेजने ही से सतवारे के सतवारे यहाँ के रहनेवाले घर बैठे ओ बाहिर के रहनेवाले डाक पर कागज पाया करेंगे।"

यह पत्र एक ही वर्ष चलकर सहायता के अभाव से बंद हो गया। इसमें

'खड़ी बोली' का 'मध्यदेशीय भाषा' के नाम से उल्लेख किया गया है। भाषा का स्वरूप दिखाने के लिये कुछ और उद्धरण दिए जाते हैं—

( १ ) एक यशी वकील वकालत का काम करते करते बुट्ढा होकर अपने दामाद को वह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम करके एक दिन आया ओ प्रसन्न होकर बोला—हे महाराज! आपने जो फलाने का पुराना ओ संगीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ। यह सुनकर वकील पछता करके बोला तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे से हमारे बाप बढ़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठा के दे गए ओ हमने भी उसको बना रखा ओ अब तक भली भाँति अपना दिन काटा ओ वही मोकद्दमा तुमको सौंपकर समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलोगे पर तुम थोड़े से दिनों में उसे खो बैठे।

( २ ) १९ नवंबर को अवधविहारी बादशाह के आवने की तोपें छूटीं। उस दिन तीसरे पहर को र्टलिंग साहिब ओ हेल साहिब ओ मेजर फिंडल लार्ड साहिब की ओर से अवधविहारी की छावनी में जा करके बड़े साहिब का सलाम कहा और भोर होके लार्ड साहिब के साथ हाजिरी करने का नेवता किया। फिर अवधबिहारी बादशाह के जाने के लिये कानपुर के तले गंगा में नावों की पुलबदी हुई और बादशाह बढ़े ठाट से गंगा पार हो गवरनर जेनरेल बहादुर के सन्निध गए।

रीति काल के समाप्त होते होते अँगरेजी राज्य देश मे पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। इस राजनीतिक घटना के साथ देशवासियों की शिक्षाविधि मे भी परिवर्तन हो चला। अँगरेज सरकार ने अँगरेजी की शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था की। संवत् १८५४ में ही ईस्ट इंडिया कपनी के डाइरेक्टरो के पास अँगरेजी की शिक्षा द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाने का परामर्श भेजा गया था। पर उस समय उस पर कुछ न हुआ। पीछे राजा राममोहन राय प्रभृति कुछ शिक्षित और प्रभावशाली सज्जनो के उद्योग से अँगरेजी की पढ़ाई के लिये कलकत्ते में हिंदू कालेज की स्थापना हुई जिसमे से लोग अँगरेजी पढ़ पढ़ कर निकलने और सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। देशी भाषा पढ़कर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लगों को न था। अँगरेजी के सिवाय यदि किसी भाषा पर ध्यान जाता था तो संस्कृत या अरबी

पर। संस्कृत की पठशालाओं और अरबी के मदरसों को कंपनी की सरकार से थोड़ी बहुत सहायता मिलती आ रही थी। पर अँगरेजी के शौक के सामने इन पुरानी संस्थाओं की ओर से लोग उदासीन होने लगे। इनको जो सहायता मिलती थी धीरे धीरे वह भी बंद हो गई। कुछ लोगों ने इन प्राचीन भाषाओं की शिक्षा का पक्ष ग्रहण किया था पर मेकाले ने अँगरेजी भाषा की शिक्षा का इतने जोरों के साथ समर्थन किया और पूरबी साहित्य के प्रति ऐसी उपेक्षा प्रकट की कि अंत में संवत् १८९२ (मार्च ७, सन् १८३५) में कपनी की सरकार ने अँगरेजी शिक्षा के प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया और धीरे धीरे अँगरेजी के स्कूल खुलने लगे।

अँगरेजी शिक्षा की व्यवस्था हो जाने पर अँगरेज सरकार का ध्यान अदालती भाषा की ओर गया। मोगलों के समय में अदालती कार्रवाइयाँ और दफ्तर के सारे काम फारसी भाषा में होते थे। जब अँगरेजो का आधिपत्य हुआ तब उन्होंने भी दफ्तरों में वही परपरा जारी रखी।

दफ्तरों की भाषा फारसी रहने तो दी गई, पर उस भाषा और लिपि से जनता के अपरिचित रहने के कारण लोगों को जो कठिनता होती थी उसे कुछ दूर करने के लिये सवत् १८६० में, एक नया कानून जारी होने पर, कंपनी सरकार की ओर से यह आज्ञा निकाली गई—

"किसी को इस बात का उजुर नहीं होए कि ऊपर के दफे का लीखा हुकुम सभसे वाकीफ नहीं है, हरी एक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है कि इस आईन के पावने पर एक एक केता इसतहारनामा नीचे के सरह से फारसी व नागरी भाखा वो अच्छर मे लीखाय कै...कचहरी मे लटकावही।.... अदालत के जज साहेब लोग के कचहरी मे भी तमामी आदमी के बुझने के वास्ते लटकावही (अँगरेजी सन् १८०३ साल, ३१ आईन २० दफा)'।

फारसी के अदालती भाषा होने के कारण जनता को जो कठिनाइयाँ होती थीं उनका अनुभव अधिकाधिक होने लगा। अतः सरकार ने संवत् १८९३ (सन् १८३६ ई०) मे 'इश्तहारनामे' निकाले कि अदालती सब काम देश की प्रचलित भाषाओं मे हुआ करे। हमारे संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड की

तरफ से जो 'इश्तहार-नामः' हिंदी मे निकला था उसकी नकल नीचे दी जाती है—

इश्तहारनामः बोर्ड सदर

पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फ़ारसी जबान मे लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पडता है और बहुत कलप होता है और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिये हुक्म दिया गया है कि सम् १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिंदी की बोली में और पारसी कै नागरी अच्छरन में लिख के दाहिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन मे लिखा हो तौने अच्छरन में और हिंदी बोली मे उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिती २९ जुलाई सन् १८३६ ई०।

इस इश्तहारनामे से स्पष्ट कहा गया है कि बोली 'हिंदी' ही हो, अक्षर नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते है। खेद की बात है कि यह उचित व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों मे हिंदी रहने न पाए, उर्दू चलाई जाय। उनका चक्र बराबर चलता रहा, यहाँ तक कि एक वर्ष बाद ही अर्थात् संवत् १८९४ (सन् १८३७ ई०) मे उर्दू हमारे प्रांत के सब दफ्तरों की भाषा कर दी गई।

सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फारसीमय रूप लिखने-पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आ गया। जीविका और मान-मर्य्यादा की दृष्टि से उर्दू ही सीखना आवश्यक हो गया। देश-भाषा के नाम पर लड़को को उर्दू ही सिखाई जाने लगी। उर्दू पढ़े लिखे लोग ही शिक्षित कहलाने लगे। हिंदी की काव्य-परंपरा यद्यपि राजदरबारो के आश्रय मे चली चलती थी पर उसके पढ़नेवालों की संख्या भी घटती जा रही थी। नवशिक्षित लोगों का लगाव उसके साथ कम होता जा रहा था। ऐसे प्रतिकूल समय मे साधारण जनता के साथ साथ उर्दू पढ़े-लिखे लोगों की भी जो थोडी बहुत दृष्टि अपने पुराने साहित्य की ओर बनी हुई थी वह धर्मभाव से। तुलसीकृत रामायण की चौपाइयों और सूरदासजी के भजन आदि ही उर्दूग्रस्त लोगों का कुछ लगाव

"भाखा" से भी बनाए हुए थे। अन्यथा अपने परंपरागत साहित्य से नव-शिक्षित लोगों का अधिकांश कालचक्र के प्रभाव से विमुख हो रहा था। शृंगाररस की भाषा-कविता का अनुशीलन भी गाने बजाने आदि के शौक की तरह इधर उधर बना हुआ था। इस स्थिति का वर्णन करते हुए स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई। ... हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों मे लिखी जाती थी।"

संवत् १६०२ मे यद्यपि राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में नहीं आए थे पर विद्याव्यसनी होने के कारण अपनी भाषा हिंदी की ओर उनका ध्यान था। अतः इधर उधर दूसरी भाषाओं में समाचार पत्र निकलते देख उन्होंने उक्त संवत् मे उद्योग करके काशी से "बनारस अखबार" निकलवाया। पर अखबार पढ़नेवाले पहले-पहल नवशिक्षितों में ही मिल सकते थे जिनकी लिखने-पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही था। अतः इस पत्र की भाषा भी उर्दू ही रखी गई, यद्यपि अक्षर देवनागरी के थे। यह पत्र बहुत ही घटिया कागज पर लीथो में छपता था। भाषा इसकी यद्यपि गहरी उर्दू होती थी पर हिंदी की कुछ सूरत पैदा करने के लिये बीच बीच में 'धर्मात्मा', परमेश्वर', 'दया' ऐसे कुछ शब्द भी रख दिए जाते थे। इसमें राजा साहब भी कभी कभी कुछ लिख दिया करते थे। इस पत्र की भाषा का अंदाजा नीचे उद्धृत अंश से लग सकता है—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा जाहिर हो चुका है। ... देखकर लोग उस पाठशाले के किते के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजबीज करते है कि जमा से ज़ियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ़ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

इस भाषा को लोग हिंदी कैसे समझ सकते थे? अतः काशी से ही एक दूसरा पत्र "सुधाकर" बाबू तारामोहन मित्र आदि कई सज्जनों के उद्योग से

संवत् १६०७ में निकला। कहते हैं कि काशी के प्रसिद्ध ज्योतिषी सुधाकर जी का नामकरण इसी पत्र के नाम पर हुआ था। जिस समय उनके चाचा के हाथ में डाकिए ने यह पत्र दिया था ठीक उसी समय भीतर से उनके पास सुधाकरजी के उत्पन्न होने की खबर पहुँची थी। इस पत्र की भाषा बहुत कुछ सुधरी हुई तथा ठीक हिंदी थी, पर यह पत्र कुछ दिन चला नहीं। इसी समय के लगभग अर्थात् संवत् १६०६ में आगरे से किसी मुंशी सदासुखलाल के प्रबंध और संपादन में "बुद्धिप्रकाश" निकला जो कई वर्ष तक चलता रहा। "बुद्धिप्रकाश" की भाषा उस समय को देखते हुए बहुत अच्छी होती थी। नमूना देखिए--

"कलकत्ते के समाचार

इस पश्चिमीय देश मे बहुतों को प्रगट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गंगा-तट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिये उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा मे रक्खें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और 'हरी बोल, हरी बोल' कहकर उसका जीव लेते हैं।

स्त्रियों की शिक्षा के विषय

स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना-पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूलचूक से बचावें और सरल-सरल विद्या उन्हे सिखावें।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि अदालती भाषा उर्दू बनाई जाने पर भी विक्रम की २० वीं शताब्दी के आरंभ क पहले से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य की परंपरा हिंदी साहित्य में अच्छी तरह चल पड़ी, उसमें पुस्तकें छपने लगीं, अखबार निकलने लगे। पद्य की भाषा व्रजभाषा ही बनी रही। अब अँगरेज सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की शिक्षा की ओर गया और उसकी व्यवस्था की बात सोची जाने लगी। हिंदी को अदालतों से निकलने मे मुसलमानों को सफलता

हो चुकी थी। अब वे इस प्रयत्न मे लगे कि हिंदी को शिक्षा-क्रम मे भी स्थान न मिले, उसकी पढ़ाई का भी प्रबंध न होने पाए। अतः सर्वसाधारण की शिक्षा के लिये सरकार की ओर से जब जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी कि हिंदी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक रखा जाय तब प्रभावशाली मुसलमानो की ओर से गहरा विरोध खड़ा किया गया। यहाँ तक कि तंग आकर सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और उसने संवत् १९०५ ( सन् १८४८ ) मे यह सूचना निकाली—

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय मे ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालेज मे बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"

हिंदी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। संवत् १९११ के पीछे जब शिक्षा का पक्का प्रबंध होने लगा तब यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाक्युलर स्कूलों में हिंदी की शिक्षा जारी ही न होने पाए। विरोध के नेता थे सर सैयद अहमद साहब जिनका अँगरेजों के बीच बड़ा मान था। वे हिंदी को एक "गँवारी बोली" बताकर अँगरेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते आ रहे थे। इस प्रात के हिंदुओं में राजा शिवप्रसाद अँरेगजों के उसी ढंग के कृपापात्र थे जिस ढंग के सर सैयद अहमद। अतः हिंदी की रक्षा के लिये उन्हें खड़ा होना पडा और वे बराबर इस संबंध मे यत्नशील रहे। इससे हिंदी-उर्दू का झगड़ा बीसो वर्ष तक—भारतेंदु के समय तक—चलता रहा।

गार्सां द तासी एक फरासीसी विद्वान् थे जो पेरिस में हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उन्होने संवत् १८९६ में 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिखा था जिसमे उर्दू के कवियों के साथ हिंदी के भी कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों का उल्लेख था। सवत् १९०९ ( ५ दिसंबर सन् १८५२ ) के अपने व्याख्यान मे उन्होंने उर्दू और हिंदी दोनों भाषाओं की युगपद् सत्ता इन शब्दों में स्वीकार की थी—

"उत्तर के मुसलमानों की भाषा यानी हिंदुस्तानी उर्दू पश्चिमोत्तर प्रदेश

( अब संयुक्त प्रांत ) की सरकारी भाषा नियत की गई है। यद्यपि हिंदी भी उर्दू के साथ साथ उसी तरह बनी है जिस तरह वह फारसी के साथ थी। बात यह है कि मुसलमान बादशाह सदा से एक हिंदी सेक्रेटरी, जो हिंदी-नवीस कहलाता था और एक फारसी सेक्रेटरी जिसको फारसी-नवीस कहते थे, रखा करते थे, जिसमे उनकी आज्ञाएँ दोनों भाषाओं मे लिखी जायँ। इस प्रकार अँगरेज सरकार पश्चिमोत्तर-प्रदेश में हिंदी जनता के लाभ के लिये प्रायः सरकारी कानूनों का नागरी अक्षरों में हिंदी-अनुवाद भी उर्दू कानूनी पुस्तकों के साथ साथ देती है"।

तासी के व्याख्यानों से पता लगता है कि उर्दू के अदालती भाषा नियत हो जाने पर कुछ दिन सीधी भाषा और नागरी अक्षरों में कानूनों और सरकारी आज्ञाओं के हिंदी-अनुवाद छपते रहे। जान पड़ता है कि उर्दू के पक्षपातियों का जोर जब बढ़ा तब उनका छपना एकदम बंद हो गया। जैसा कि अभी कह आए हैं, राजा शिवप्रसाद और भारतेंदु के समय तक हिंदी उर्दू का झगड़ा चलता रहा। गार्साँ द तासी ने भी फ्रांस में बैठे बैठे इस झगडे में योग दिया। वे अरबी-फारसी के अभ्यासी और हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उस समय के अधिकाश और यूरोपियनों के समान उनका भी मजहबी संस्कार प्रबल था। यहाँ जब हिंदी-उर्दू का सवाल उठा तब सर सैयद अहमद, जो अँगरेजों से मेल जोल रखने की विद्या मे एक ही थे, हिंदी-विरोध में और बल लाने के लिये मजहबी नुसखा भी काम में लाए। अँगरेजों को सुझाया गया कि हिंदी हिंदुओं की जबान है जो 'बुतपरस्त' हैं और उर्दू मुसलमानों की जिनके साथ अँगरेजों का मजहबी रिश्ता है—दोनों 'सामी' या पैगंबरी मत को माननेवाले हैं।

जिस गार्साँ द तासी ने संवत् १६०६ के आसपास हिंदी और उर्दू दोनों का रहना आवश्यक समझा था और कभी कहा था कि—

"यद्यपि मैं खुद उर्दू का बड़ा भारी पक्षपाती हूँ, लेकिन मेरे विचार में हिंदी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं"।

वही गार्साँ द तासी आगे चलकर मजहबी कट्टरपन की प्रेरणा से, सर सैयद अहमद की भरपेट तारीफ करके हिंदी के संबंध में फरमाते हैं—

"इस वक्त हिंदी की हैसियत भी एक बोली ( dialect ) की सी रह गई है, जो हर गाँव में अलग अलग ढंग से बोली जाती है"।

हिंदी-उर्दू का झगड़ा उठने पर आपने मजहबी रिश्ते के खयाल से उर्दू का पक्ष ग्रहण किया और कहा—

"हिंदी मे हिंदू-धर्म का आभास है—वह हिंदू-धर्म जिसके मूल मे बुत-परस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू मे इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इसलाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है, इसलिये इसलामी तहजीब मे ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं"।

संवत् १९२७ के अपने व्याख्यान में गार्सां द तासी ने साफ खोलकर कहा—

"मैं सैयद अहमद खाँ जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान् की तारीफ में और ज्यादा नहीं कहना चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते, पर हिंदू लोग मूर्त्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।"

परंपरा से चली आती हुई देश की भाषा का विरोध और उर्दू का समर्थन कैसे कैसे भावो की प्रेरणा से किया जाता रहा है, यह दिखाने के लिये इतना बहुत है। विरोध प्रबल होते हुए भी जैसे देश भर में प्रचलित अक्षरो और वर्णमाला को छोड़ना असंभव था वैसे ही परंपरा से चले आते हुए हिंदी-साहित्य को भी। अतः अदालती भाषा उर्दू होते हुए भी शिक्षा-विधान मे देश की असली भाषा हिंदी को भी स्थान देना ही पड़ा। काव्य-साहित्य तो प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा था। अतः जिस रूप में वह था उसी रूप में उसे लेना ही पड़ा। गद्य की भाषा को लेकर खींच-तान आरंभ हुई। इसी खींच-तान के समय में राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान में आए।

## प्रकरण २

# गद्य-साहित्य का आविर्भाव

किस प्राकर हिंदी के नाम से नागरी अक्षरों मे उर्दू ही लिखी जाने लगी थी, इसकी चर्चा 'बनारस अखबार' के संबंध में कर आए हैं[1]। संवत् १९१२ में अर्थात् बलवे के एक वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग मे इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उस समय और दूसरे विभागों के समान शिक्षा-विभाग में भी मुसलमानों का जोर था जिनके मन में 'भाखापन' का डर बराबर समाया रहता था। वे इस बात से डरा करते थे कि कहीं नौकरी के लिये 'भाखा', संस्कृत से लगाव रखनेवाली हिंदी, न सीखनी पड़े। अतः उन्होंने पहले तो उर्दू के अतिरिक्त हिंदी की भी पढ़ाई की व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालती कामों मे उर्दू ही काम मे लाई जाती है तब एक और जबान का बोझ डालने से क्या लाभ? 'भाखा' मे हिंदुओं की कथा-वार्त्ता आदि कहते सुन वे हिंदी को हिंदुओं की मजहबी जबान कहने लगे थे। उनमे से कुछ लोग हिंदी को "गँवारी बोली" भी कहा करते थे। इस परिस्थिति में राजा शिवप्रसाद को हिंदी की रक्षा के लिये बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। हिंदी का सवाल जब आता तब मुसलमान उसे 'मुश्किल जबान' कहकर विरोध करते। अतः राजा साहब के लिये यही संभव दिखाई पड़ा कि जहाँ तक हो सके ठेठ हिंदी का आश्रय लिया जाय जिसमे कुछ फारसी-अरबी के चलते शब्द भी आएँ। उस समय साहित्य के कोर्स के लिये पुस्तके नहीं थीं। राजा साहब स्वयं तो पुस्तके तैयार करने मे लग ही गए, पंडित श्रीलाल और पंडित वंशीधर आदि अपने कई मित्रों को भी उन्होने पुस्तके लिखने मे लगाया। राजा साहब ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कई कहानियाँ आदि लिखीं—जैसे, राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियों को कोड़ा, इत्यादि। संवत् १९०९ और १९१९

---

१—देखो पृ० ४३१।

के बीच शिक्षा-संबंधी अनेक पुस्तकें हिंदी में निकलीं जिनमें से कुछ का उल्लेख किया जाता है—

पं० वंशीधर ने, जो आगरा नार्मल स्कूल के मुदर्रिस थे, हिंदी-उर्दू का एक पत्र निकाला था जिसके हिंदी कालम का नाम "भारत-खंडामृत" और उर्दू कालम का नाम "आबेहयात" था। उनकी लिखी पुस्तकों के नाम ये हैं—

(१) पुष्पवाटिका (गुलिस्ताँ के एक अंश का अनुवाद, स० १६०६)
(२) भारतवर्षीय इतिहास (सं० १६१३)
(३) जीविका-परिपाटी (अर्थशास्त्र की पुस्तक, सं० १६१३)
(४) जगत् वृत्तात (सं० १६१५)

पं० श्रीलाल ने संवत् १६०६ में 'पत्रमालिका' बनाई। गार्सां द तासी ने इन्हे कई एक पुस्तकों का लेखक कहा है।

बिहारीलाल ने गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय का हिंदी-अनुवाद सं० १६१६ में किया।

पं० बद्रीलाल ने डाक्टर बैलंटाइन के परामर्श के अनुसार सं० १६१६ में 'हितोपदेश' का अनुवाद किया जिसमे बहुत सी कथाएँ छाँट दी गई थीं। उसी वर्ष 'सिद्धात-संग्रह' (न्याय शास्त्र) और 'उपदेश पुष्पवती' नाम की दो और पुस्तकें निकली थीं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रारंभ मे राजा साहब ने जो पुस्तके लिखीं वे बहुत ही चलती सरल हिंदी में थीं; उनमे वह उर्दूपन नहीं भरा था जो उनकी पिछली किताबों (इतिहास-तिमिरनाशक आदि) में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिये "राजा भोज का सपना" से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

"वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र के तरगों का नमूना और खजाना उसका

सोने-चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।"

अपने "मानवधर्मसार" की भाषा उन्होंने अधिक संस्कृत-गर्भित रखी है। इसका पता इस उद्धृत अंश से लगेगा—

"मनुस्मृति हिंदुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिंदू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिये औषधि समझना; और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्मशास्त्राचार्यों में मनुजी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में संपूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है। ... ... खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिंदू कहला के अपने मानव-धर्मशास्त्र को न जानें और सारे कार्य उसके विरुद्ध करें।"

मानवधर्मसार की भाषा राजा शिवप्रसाद की स्वीकृत भाषा नहीं। प्रारंभ-काल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिंदी के पक्षपाती थे जिसमें सर्वसाधारण के बीच प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का भी स्वच्छंद प्रयोग हो। यद्यपि अपने 'गुटका' में, जो साहित्य की पाठ्य-पुस्तक थी, उन्होंने थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल भाषा का ही आदर्श बनाए रखा, पर संवत् १९१७ के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया। इसका कारण चाहे जो समझिए। या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति देखकर उन्होंने ऐसा किया अथवा अँगरेज अधिकारियों का रुख देखकर। अधिकतर लोग शायद पिछले कारण को ही ठीक समझेंगे। जो हो, संवत् १९१७ के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकें राजा साहब ने लिखीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दूपन लिए है। "इतिहास-तिमिर-नाशक" भाग २ की अँगरेजी भूमिका में, जो सन् १८६४ की लिखी है, राजा साहब ने साफ लिखा है कि "मैंने 'बैताल-पचीसी' की भाषा का अनुकरण किया है"—

'I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words, even those

which have become our household words, from our Hindi books and use in their stead Sanskrit words quite out of place and fashion or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population × × × I have adopted, to a certain extent, the language of the Baital Pachisi"

लल्लूलाल जी के प्रसंग में यह कहा जा चुका है "बैताल-पचीसी" की भाषा बिल्कुल उर्दू है। राजा साहब ने अपने इस उर्दूवाले पिछले सिद्धांत का "भाषा का इतिहास" नामक जिस लेख में निरूपण किया है, वही उनकी उस समय की भाषा का एक खास उदाहरण है, अतः उसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम-फ़हम और खास-पसंद हों अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढे लिखे आलिम फ़ाज़िल, पंडित, विद्वान् की बोल-चाल में छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिएँ और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ; जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाय अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी जबान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की जरूरत या इल्मी जरूरत या कोई और ख़ास ज़रूरत साबित हो जाय।"

भाषा-संबंधी जिस सिद्धांत का प्रतिपादन राजा साहब ने किया है उसके अनुकूल उनकी यह भाषा कहाँ तक है, पाठक आप समझ सकते हैं। 'आम-फ़हम' 'खास-पसंद' 'इल्मी ज़रूरत' जनता के बीच प्रचलित शब्द कदापि नहीं हैं। फारसी के 'आलिम-फाजिल' चाहे ऐसे शब्द बोलते हों पर संस्कृत-हिंदी के 'पंडित-विद्वान्' तो ऐसे शब्दों से कोसों दूर हैं। किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति-परंपरा से होता है। अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रकृति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप-रंग, आचार-व्यवहार

आदि का योग रहता है उसी प्रकार परपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। सस्कृत शब्दो के थोड़े बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर साहित्यिक रूप हजारों वर्ष से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रूप-रंग की भाषा गले मे उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था। यह प्रकृति-विरुद्ध भाषा खटकी तो बहुत लोगों को होगी, पर असली हिंदी का नमूना लेकर उस समय राजा लक्ष्मणसिंह ही आगे बढ़े। उन्होने सवत् १९१८ मे "प्रजाहितैषी" नाम का एक पत्र आगरे से निकाला और १९१९ मे "अभिज्ञान-शाकुतल" का अनुवाद बहुत ही सरस और विशुद्ध हिंदी मे प्रकाशित किया। इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबध में मानों फिर से आँख खुली। राजा साहब ने उस समय इस प्रकार की भाषा जनता के सामने रखी—

"अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड यहाँ पधारे हो? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीडित किया है?"

यह भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी साहित्य मे चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के कुछ रससिद्ध शब्द लिए हुए है। रघुवंश के गद्यानुवाद के प्राक्कथन मे राजा लक्ष्मणसिंहजी ने भाषा के सबंध मे अपना मत स्पष्ट शब्दों मे प्रकट किया है—

"हमारे मत मे हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी है। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते है और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी मे सस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू मे अरबी पारसी के। परंतु कुछ अवश्य नही है कि अरबी पारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी, पारसी के शब्द भरे हों।"

अब भारत की देश-भाषाओं के अध्ययन की ओर इंगलैंड के लोगो का भी ध्यान अच्छी तरह जा चुका था। उनमे जो अध्ययनशील और विवेकी थे, जो अखड भारतीय साहित्य-परंपरा और भाषा-परपरा से अभिज्ञ हो गए थे,

उनपर अच्छी तरह प्रकट हो गया था कि उत्तरीय भारत की असली स्वाभाविक भाषा का स्वरूप क्या है। ऐसे अँगरेज विद्वानों में फ्रेडरिक पिन्काट का स्मरण हिंदी-प्रेमियों को सदा बनाए रखना चाहिए। इनका जन्म संवत् १८९३ में इँगलैंड में हुआ। उन्होंने प्रेस के कामो का बहुत अच्छा अनुभव प्राप्त किया और अंत में लंडन की प्रसिद्ध ऐलन ऐंड कंपनी (W. H Allen & Co, 13 Waterloo Place, Pall Mall, S. W.) के विशाल छापेखाने के मैनेजर हुए। वहाँ वे अपने जीवन के अतिम दिनो के कुछ पहले तक शाति-पूर्वक रहकर भारतीय साहित्य और भारतीय जनहित के लिये सदा उद्योग करते रहे।

संस्कृत की चर्चा पिन्काट साहब लड़कपन से ही सुनते आते थे, इससे उन्होंने बहुत परिश्रम के साथ उसका अध्ययन किया। इसके उपरात उन्होंने हिंदी और उर्दू का अभ्यास किया। इँगलैंड में बैठे ही बैठे उन्होने इन दोनों भाषाओं पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया कि इनमे लेख और पुस्तकें लिखने और अपने प्रेस में छपाने लगे। यद्यपि उन्होंने उर्दू का भी अच्छा अभ्यास किया था, पर उन्हे इस बात का अच्छी तरह निश्चय हो गया था कि यहाँ की परपरागत प्रकृत भाषा हिंदी है, अतः जीवन भर ये उसी की सेवा और हित-साधना में तत्पर रहे। उनके हिंदी लेखों, कविताओ और पुस्तकों की चर्चा आगे चलकर भारतेंदु-काल के भीतर की जायगी।

संवत् १९४७ में इन्होंने उपर्युक्त ऐलन कंपनी से सबध तोड़ा और गिलबर्ट ऐंड रिविंगटन ( Gilbert and Rivington, Clerkenwell, London ) नामक विख्यात व्यवसाय-कार्यालय में पूर्वीय मंत्री ( Oriental Adviser and Expert ) नियुक्त हुए। उक्त कंपनी की ओर से एक व्यापारी पत्र "आईनः सौदागरी" उर्दू मे निकलता था जिसका सपादन पिन्काट साहब करते थे। उन्होंने उसमें कुछ पृष्ठ हिंदी के लिये भी रखे। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी के लेख वे ही लिखते थे। लेखों के अतिरिक्त हिंदुस्तान मे प्रकाशित होनेवाले हिंदी-समाचारपत्रों ( जैसे, हिंदोस्तान, आर्य्यदर्पण, भारतमित्र ) से उद्धरण भी उस पत्र के हिंदी विभाग में रहते थे।

भारत का हित वे सच्चे हृदय से चाहते थे। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, कार्त्तिकप्रसाद खत्री, इत्यादि हिंद-लेखकों से उनका बराबर हिंदी में पत्र-व्यवहार रहता। उस समय के प्रत्येक हिंदी-लेखक के घर में पिन्काट साहब के दो-चार पत्र मिलेंगे। हिंदी के लेखकों और ग्रंथकारों का परिचय इँगलैंडवालों को वहाँ के पत्रों में लेख लिखकर वे बराबर दिया करते थे। संवत् १९५७ ( नवंबर सन् १८९५ ) में वे रीआ घास ( जिसके रेशों से अच्छे कपडे बनते थे ) की खेती का प्रचार करने हिंदुस्तान में आए, पर साल भरसे कुछ उपर ही यहाँ रह पाए थे कि लखनऊ में उनका देहात ( ७ फरवरी १८९६ ) हो गया। उनका शरीर भारत की मिट्टी में ही मिला।

संवत् १९१९ में जब राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुंतला-नाटक' लिखा तब उसकी भाषा देख वे बहुत ही प्रसन्न हुए और उसका एक बहुत सुंदर परिचय उन्होंने लिखा। बात यह थी कि यहाँ के निवासियों पर विदेशी प्रकृति और रूप-रग की भाषा का लादा जाना वे बहुत अनुचित समझते थे। अपना यह विचार उन्होंने अपने उस अँगरेजी लेख मे स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है जो उन्होंने बा० अयोध्याप्रसाद खत्री के "खड़ी बोली का पद्य" की भूमिका के रूप मे लिखा था। देखिए, उसमे वे क्या कहते हैं—

"फारसी-मिश्रित हिंदी ( अर्थात् उर्दू या हिंदुस्तानी ) के अदालती भाषा बनाए जाने के कारण उसकी बड़ी उन्नति हुई। इससे साहित्य की एक नई भाषा ही खडी हो गई। पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासी, जिनकी यह भाषा कही जाती है, इसे एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिए विवश किए जाते हैं।"

पहले कहा जा चुका है कि राजा शिवप्रसाद ने उर्दू की ओर झुकाव हो जाने पर भी साहित्य की पाठ्यपुस्तक "गुटका" मे भाषा का आदर्श हिंदी ही रखा। उक्त गुटका मे उन्होंने "राजा भोज का सपना", "रानी केतकी की कहानी" के साथ ही साथ राजा लक्ष्मणसिंह के "शकुंतला नाटक" का भी बहुत सा अंश रखा। पहला गुटका शायद संवत् १९२४ मे प्रकाशित हुआ था।

सवत् १९१९ और १९४२ के बीच कई संवादपत्र हिंदी में निकले "प्रजा हितैषी" का उल्लेख हो चुका है। संवत् १९२० में 'लोकमित्र' नाम का एक

पत्र ईसाई धर्म प्रचार के लिये आगरे (सिकंदरे) से निकलता था जिसकी भाषा शुद्ध हिंदी होती थी। लखनऊ से जो "अवध अखबार" (उर्दू) निकलने लगा था उसके कुछ भाग में हिंदी के लेख भी रहते थे।

जिस प्रकार इधर संयुक्त प्रांत मे राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में रहकर हिंदी की किसी न किसी रूप मे रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पंजाब में बाबू नवीनचंद्र राय महाशय कर रहे थे। सवत् १९२० और १९३७ के बीच नवीन बाबू ने भिन्न भिन्न विषयों की बहुत सी हिंदी पुस्तके तैयार कीं और दूसरों से तैयार कराईं। ये पुस्तकें बहुत दिनों तक वहाँ कोर्स मे रही। पंजाब में स्त्री-शिक्षा का प्रचार करनेवालों मे ये मुख्य थे। शिक्षा-प्रचार के साथ साथ समाज-सुधार आदि के उद्योग में भी ये बराबर रहा करते थे। ईसाइयो के प्रभाव को रोकने के लिये किस प्रकार बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई थी और राजा राममोहन राय ने हिंदी के द्वारा भी उसके प्रचार की व्यवस्था की थी, इसका उल्लेख पहले हो चुका है[1]। नवीनचंद्र ने ब्रह्म-समाज के सिद्धांतों के प्रचार के उद्देश्य से समय समय पर कई पत्रिकाएँ भी निकालीं। सवत् १९२४ (मार्च सन् १८६७) मे उनकी 'ज्ञानप्रदायनी पत्रिका' निकली जिसमे शिक्षा-सबधी तथा साधारण ज्ञान-विज्ञानपूर्ण लेख भी रहा करते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि शिक्षा-विभाग द्वारा जिस हिंदी गद्य के प्रचार में ये सहायक हुए वह शुद्ध हिंदी-गद्य था। हिंदी को उर्दू के झमेले मे पड़ने से ये सदा बचाते रहे।

हिंदी की रक्षा के लिये उर्दू के पक्षपातियों से इन्हे उसी प्रकार लड़ना पड़ता था जिस प्रकार यहाँ राजा शिवप्रसाद को। विद्या की उन्नति के लिये लाहौर में 'अंजुमन लाहौर' नाम की एक सभा स्थापित थी। संवत् १९२३ के उसके एक अधिवेशन मे किसी सैयद हादी हुसैन खाँ ने एक व्याख्यान देकर उर्दू को ही देश मे प्रचलित होने के योग्य कहा। उस सभा की दूसरी बैठक में नवीन बाबू ने खाँ साहब के व्याख्यान का पूरा खंडन करते हुए कहा—

"उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है। उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी-फारसी के शब्द भर दिए

१—देखो पृ० ४२६—२७।

हैं। पद्य या छंदोबद्ध रचना के भी उर्दू उपयुक्त नहीं। हिंदुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी परंपरागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गंभीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति ही नहीं है।"

नवीन बाबू के इस व्याख्यान की खबर पाकर इसलामी तहजीब के पुराने हामी, हिंदी के पक्के दुश्मन गार्सा द तासी फ्रांस में बैठे बैठे बहुत झल्लाए और अपने एक प्रवचन में उन्होंने बड़े जोश के साथ हिंदी का विरोध और उर्दू का पक्ष-मंडन किया तथा नवीन बाबू को कट्टर हिंदू कहा। अब यह फरासीसी हिंदी से इतना चिढ़ने लगा था कि उसके मूल पर ही उसने कुठार चलाना चाहा और बीम्स साहब ( M. Beames ) का हवाला देते हुए कहा कि हिंदी तो एक़ तूरानी भाषा थी जो संस्कृत से बहुत पहले प्रचलित थी; आर्यों ने आकर उसका नाश किया, और जो बचे-खुचे शब्द रह गए उनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत से सिद्ध करने का रास्ता निकाला। इसी प्रकार जब जहाँ कहीं हिंदी का नाम लिया जाता तब तासी बड़े बुरे ढंग से विरोध में कुछ न कुछ इसी तरह की बातें कहता।

सर सैयद अहमद का अँगरेज अधिकारियों पर कितना प्रभाव था, यह पहले कहा जा चुका है। संवत् १९२५ में इस प्रांत के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष हैवेल ( M. S Havell ) साहब ने अपनी यह राय जाहिर की—

"यह अधिक अच्छा होता यदि हिंदू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी 'बोली' में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"

इस राय को गार्सा द तासी ने बड़ी खुशी के साथ अपने प्रवचन में शामिल किया। इसी प्रकार इलाहाबाद इंस्टिट्यूट ( Allahabad Institute ) के एक अधिवेशन में ( संवत् १९२५ ) जब यह विवाद हुआ था कि 'देसी जबान' हिंदी को मानें या उर्दू को, तब हिंदी के पक्ष में कई वक्ता उठकर बोले थे। उन्होंने कहा था कि अदालतों में उर्दू जारी होने का यह फल हुआ है कि अधिकांश जनता—विशेषतः गाँवों की—जो उर्दू से सर्वथा अपरिचित है, बहुत कष्ट उठाती है, इससे हिंदी का जारी होना बहुत आवश्यक है। बोलनेवालों में

से किसी किसी ने कहा कि केवल अक्षर नागरी के रहें और कुछ लोगों ने कहा कि भाषा भी बदलकर सीधी सादी की जाय। इस पर भी गार्सां द तासी ने हिंदी के पक्ष मे बोलनेवालों का उपहास किया था।

उसी काल में इंडियन डेली न्यूज ( Indian Daily News ) के एक लेख में हिंदी प्रचलित किए जाने की आवश्यकता दिखाई गई थी। उसका भी जवाब देने तासी साहब खड़े हुए थे। 'अवध अखबार' में जब एक वार हिंदी के पक्ष मे लेख छपा था तब भी उन्होंने उसके संपादक की राय का जिक्र करते हुए हिंदी को एक 'भद्दी बोली' कहा था जिसके अक्षर भी देखने मे सुडौल नहीं लगते।

शिक्षा के आंदोलन के साथ ही साथ ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिये मत-मतांतर संबंधी आंदोलन देश के पच्छिमी भागों मे भी चल पड़े। पैगंबरी एकेश्वरवाद की ओर नवशिक्षित लोगो को खिचते देख स्वामी दयानंद सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर खड़े हुए और संवत् १९२० से उन्होंने अनेक नगरों मे घूम घूमकर व्याख्यान देना आरंभ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्याख्यान देश में बहुत दूर तक प्रचलित साधु हिंदी भाषा में ही होते थे। स्वामी जी ने अपना 'सत्यार्थ प्रकाश" तो हिंदी या आर्य्य-भाषा मे प्रकाशित ही किया, वेदों के भाष्य भी संस्कृत और हिंदी दोनों में किए। स्वामी जी के आनुयायी हिंदी को "आर्य्यभाषा" कहते थे। स्वामी जी ने संवत् १९३२ मे आर्य्यसमाज की स्थापना की और सब आर्य्यसमाजियों के लिये हिंदी या आर्य्यभाषा का पढना आवश्यक ठहराया। युक्त प्रांत के पश्चिमी जिलों और पंजाब में आर्य्य-समाज के प्रभाव से हिंदी-गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। पंजाबी बोली में लिखित साहित्य न होने से और मुसलमानों के बहुत अधिक संपर्क से पंजाबवालों की लिखने-पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। आज जो पंजाब में हिंदी की पूरी चर्चा सुनाई देती है, इन्हीं की बदौलत है।

संवत् १९१० के लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान् पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब मे आरंभ हुई।

जलंधर के पादरी गोकुलनाथ के व्याख्यानों के प्रभाव से कपूरथला-नरेश महाराज रणधीरसिंह ईसाई मत की ओर झुक रहे थे। पंडित श्रद्धाराम जी तुरंत संवत् १६२० में कपूरथले पहुँचे और उन्होंने महाराज के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रमधर्म का ऐसा सुंदर निरूपण किया कि सब लोग मुग्ध हो गए। पंजाब के सब छोटे-बड़े स्थानों में घूमकर पंडित श्रद्धाराम जी उपदेश और वक्तृताएँ देते तथा रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ सुनाते। उनकी कथाएँ सुनने के लिये बहुत दूर दूर से लोग आते और सहस्रों आदमियों की भीड़ लगती थी। उनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था और उनकी भाषा बहुत जोरदार होती थी। स्थान स्थान पर उन्होंने धर्मसभाएँ स्थापित कीं और उपदेशक तैयार किए। उन्होंने पंजाबी और उर्दू में भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं, पर अपनी मुख्य पुस्तकें हिंदी में ही लिखी हैं। अपना सिद्धांत-ग्रंथ "सत्यामृत-प्रवाह" उन्होंने बड़ी प्रौढ़-भाषा में लिखा है। वे बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और वेद-शास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को किसी उद्देश्य से छिपाना अनुचित समझते थे। इसी से स्वामी दयानंद की बहुत सी बातों का विरोध वे बराबर करते रहे। यद्यपि वे बहुत सी ऐसी बातें कह और लिख जाते थे जो कट्टर अंधविश्वासियों को खटक जाती थीं और कुछ लोग उन्हें नास्तिक तक कह देते थे पर जब तक वे जीवित रहे, सारे पंजाब के हिंदू उन्हें धर्म का स्तंभ समझते रहे।

पंडित श्रद्धारामजी कुछ पद्यरचना भी करते थे। हिंदी गद्य में तो उन्होंने बहुत कुछ लिखा और वे हिंदी भाषा के प्रचार मे बराबर लगे रहे। संवत् १६२४ में उन्होने "आत्म-चिकित्सा" नाम की एक अध्यात्म संबंधी पुस्तक लिखी जिसे संवत् १६२८ मे हिंदी मे अनुवाद करके छपाया। इसके पीछे 'तत्त्वदीपक', 'धर्मरक्षा', 'उपदेश-संग्रह ( व्याख्यानों का संग्रह ), 'शतोपदेश' ( दोहे ) इत्यादि धर्म संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने अपना एक बड़ा जीवनचरित ( १४०० पृष्ठ के लगभग ) लिखा था जो कहीं खो गया। "भाग्यवती" नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् १६३४ में उन्होने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।

अपने समय के वे एक सच्चे हिंदी-हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे। संवत्

१६३८ में उनकी मृत्यु हुई। जिस दिन उनका देहांत हुआ उस दिन उनके मुँह से सहसा निकला कि "भारत मे भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी मे, दूसरा पंजाब में। परंतु आज एक ही रह जायगा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चंद्र से था।

राजा शिवप्रसाद "आम फहम" और "खास पसंद" भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिंदी अपना रूप आप स्थिर कर चली। इस बात मे धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। हिंदी गद्य की भाषा किस दिशा की ओर स्वभावतः जाना चाहती है, इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था। सारी भारतीय भाषाओ का चरित्र चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता चला आ रहा था। अतः गद्य के नवीन विकास मे उस पदावली का त्याग और किसी विदेशी पदावली का सहसा ग्रहण कैसे हो सकता था ? जब कि बँगला, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं का गद्य परंपरागत संस्कृत पदावली का आश्रय लेता हुआ चल पड़ा था तब हिंदी-गद्य उर्दू के झमेले में पड़कर कब तक रुका रहता ? सामान्य संबंध-सूत्र को त्यागकर दूसरी देश-भाषाओ से अपना नाता हिंदी कैसे तोड़ सकती थी ? उनकी सगी बहन होकर एक अजनबी के रूप मे उनके साथ वह कैसे चल सकती थी ? जब कि यूनानी और लैटिन के शब्द योरप की भिन्न भिन्न मूलों से निकली हुई देश-भाषाओ के बीच एक प्रकार का साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं तब एक ही मूल से निकली हुई आर्य-भाषाओं के बीच उस मूल-भाषा के साहित्यिक शब्दों की परंपरा यदि संबंध-सूत्र के रूप मे चली आ रही है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

कुछ अँगरेज विद्वान् संस्कृतगर्भित हिंदी की हँसी उड़ाने के लिये किसी अँगरेजी वाक्य मे उसी मात्रा मे लैटिन के शब्द भरकर पेश करते हैं। उन्हे समझना चाहिए कि अँगरेजी का लैटिन के साथ मूल संबंध नहीं है; पर हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुंब की हैं—उसी के प्राकृतिक रूपो से निकली है। इन आर्यभाषाओं का संस्कृत के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। इन भाषाओं के साहित्य की परंपरा को भी संस्कृत-साहित्य की परंपरा

का विस्तार कह सकते हैं। देशभाषा के साहित्य को उत्तराधिकार में जिस प्रकार संस्कृत साहित्य के कुछ संचित शब्द मिले हैं उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली हैं। विचार और वाणी की धारा से हिंदी अपने को विच्छिन्न कैसे कर सकती थी?

राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिंदी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसपन्न लेखको की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ।

---

# आधुनिक गद्य-साहित्य-परंपरा का प्रवर्त्तन

## प्रथम उत्थान

### ( संवत् १९२५-१९५० )

### सामान्य परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिंदी गद्य के प्रवर्त्तक माने गए। मुंशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिए थी, लल्लूलाल मे ब्रजभाषापन और सदल मिश्र मे पूरबीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था, वाक्यविन्यास तक मे घुसा था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोल-चाल का पुट उसमे कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट-सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पद्य की ब्रज-भाषा का भी बहुत कुछ संस्कार किया। पुराने पड़े हुए शब्दों को हटाकर काव्य-भाषा मे भी वे बहुत कुछ चलतापन और सफाई लाए।

इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य्य मे लाए। नई शिक्षा के प्रभाव से

लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देश-हित, समाज-हित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति, शृंगार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। बीच-बीच में कुछ शिक्षासंबंधी पुस्तकें अवश्य निकल जाती थीं पर देशकाल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंग देश में नए ढग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिंदी-साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाले हरिश्चंद्र ही हुए।

उर्दू के कारण अब तक हिंदी-गद्य की भाषा का स्वरूप ही झंझट में पड़ा था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप में था। जब भारतेंदु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलनेवाली जनता को गद्य के लिये खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्ताव-काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर साहित्य की रचना कुछ परिमाण में हो लेती है तभी शैलियों का भेद, लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि लक्षित होती हैं। भारतेंदु के प्रभाव से उनके अल्प जीवन-काल के बीच ही लेखकों का एक खासा मंडल तैयार हो गया जिसके भीतर पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं। इन लेखकों की शैलियों में व्यक्तिगत विभिन्नता स्पष्ट लक्षित हुई। भारतेंदु में ही हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की

दूसरी। भावावेश के कथनो मे वाक्य प्रायः बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमे बहुत प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। जहाँ किसी ऐसे प्रकृतिस्थ भाव की व्यंजना होती है जो चिंतन का अवकाश भी बीच बीच में छोड़ता है, वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गभीर होती है; वाक्य भी कुछ लंबे होते है, पर उनका अन्वय जटिल नहीं होता। तथ्य-निरूपण या सिद्धात कथन के भीतर संस्कृत शब्दो का कुछ अधिक मेल दिखाई पड़ता है। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। वस्तु-वर्णन मे विषयानुकूल मधुर या कठोर वर्णवाले संस्कृत शब्दो की योजना की, जो प्रायः समस्त और सानुप्रास होती है, चाल सी चली आई है। भारतेंदु मे यह प्रवृत्ति हम सामान्यतः नहीं पाते।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की प्रकृति विनोदशील थी अतः उनकी भाषा बहुत ही स्वच्छद गति से बोलचाल की चपलता और भावभगी लिए चलती है। हास्य-विनोद की उमग मे वह कभी कभी मर्यादा का अतिक्रमण करती, पूरबी कहावतों और मुहावरों की बौछार भी छोड़ती चलती है। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के लेखो से गद्य-काव्य के पुराने ढग की झलक, रंगीन इबारत की चमक-दमक बहुत कुछ मिलती है। बहुत से वाक्य-खंडो की लड़ियो से गुथे हुए उनके वाक्य अत्यंत लंबे होते थे—इतने लवे कि उनका अन्वय कठिन होता था। पद-विन्यास में, तथा कहीं कहीं वाक्यो के बीच विराम-स्थलो पर भी, अनुप्रास देख इशा और लल्लूलाल का स्मरण होता है। इस दृष्टि से देखें तो 'प्रेमघन' मे पुरानी परंपरा का निर्वाह अधिक दिखाई पड़ता है।

प० बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी होती थी जैसी खरी खरी सुनाने मे काम में लाई जाती है। जिन लेखो मे उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक है। नूतन और पुरातन का वह सघर्ष-काल था इससे भट्ट जी को चिढ़ने की पर्याप्त सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल बद्धमूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नए विचारो को जमने

में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी। भाषा उनकी चरपरी, तीखी और चमत्कारपूर्ण होती थी।

ठाकुर जगमोहनसिंह की शैली शब्द-शोधन और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण चौधरी बदरीनारायण की शैली से मिलती जुलती है पर उसमें लंबे लंबे वाक्यों की जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर भारतीय रंग-स्थलियो को मार्मिक ढंग से हृदय मे जमानेवाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलग विशेषता रखता है।

हरिश्चंद्र-काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते है। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचट मे पड़कर ही करते थे। उनकी लिखावट मे न 'उड्डीयमान' और 'अवसाद' ऐसे शब्द मिलते है, न 'औदार्य्य', 'सौकर्य्य' और 'मौर्ल्य' ऐसे रूप।

भारतेंदु के समय में ही देश के कोने कोने में हिंदी-लेखक तैयार हुए जो उनके निधन के उपरात भी बराबरा साहित्य-सेवा मे लगे रहे। अपने अपने विषय-क्षेत्र के अनुकूल रूप हिंदी को देने में सबका हाथ रहा। धर्म-संबंधी विषयों पर लिखनेवालों ( जैसे, पं० अंबिकादत्त व्यास ) ने शास्त्रीय विषयों को व्यक्त करने मे, सवादपत्रों ने राजनीतिक बातों को सफाई के साथ सामने रखने मे हिंदी को लगाया। सारांश यह कि उस काल मे हिंदी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नही, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा।

यहाँ तक तो भाषा और शैली की बात हुई। अब लेखकों का दृष्टि-क्षेत्र और उनका मानसिक अवस्थान ली लिजिए। हरिश्चंद्र तथा उनके सम-सामयिक लेखको मे जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या जिंदः-दिली। सब मे हास्य या विनोद की मात्रा थोडी या बहुत पाई जाती है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह भाषा पर अधिकार रखनेवाले पर झंझटो से दबे हुए स्थिर प्रकृति के लेखक थे। उनमे वह चपलता, स्वच्छंदता और उमंग

नहीं पाई जाती जो हरिश्चंद्रमंडल के लेखकों में दिखाई पड़ती है। शिक्षित, समाज मे संचरित भावो को भारतेंदु के सहयोगियों ने बड़े अनुरंजनकारी रूप मे ग्रहण किया।

सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक संबंध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा पूरा बना था। भिन्न भिन्न ऋतुओं मे पड़नेवाले त्योहार उनके मन में उमग उठाते थे, परंपरा से चले आते हुए आमोद प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों मे इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप रंग उन्हे सुझाई ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हे सूझते थे, पर पश्चिम की एक एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्य्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन के सधि-स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु।

विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-परंपरा का प्रवर्त्तन नाटकों से हुआ। भारतेंदु के पहले 'नाटक' के नाम से जो दो चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनंदरघुनंदन नाटक' को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चद्र ने सबसे पहले 'विद्यासुंदर नाटक' का बँगला से सुंदर हिंदी में अनुवाद करके संवत् १९२५ मे प्रकाशित किया। उसके पहले वे 'प्रवास नाटक' लिख रहे थे; पर वह पूरा न हुआ। उन्होंने आगे चल कर भी अधिकतर नाटक ही लिखे। पं० प्रतापनारायण और बदरी-नारायण चौधरी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेंदु के समय में धूम से चली हुई नाटकों की यह परंपरा आगे चलकर बहुत शिथिल पड़ गई। बा० रामकृष्ण वर्मा बंगभाषा के नाटकों का—जैसे वीर नारी, पद्मावती, कृष्णकुमारी—अनु-वाद करके नाटकों का सिलसिला कुछ चलाते रहे। इस उदासीनता का कारण उपन्यासों की ओर दिन दिन बढ़ती हुई रुचि के अतिरिक्त अभिनयशालाओं

का अभाव भी कहा जा सकता है। अभिनय द्वारा नाटकों की ओर रुचि बढ़ती है और उनका अच्छा प्रचार होता है। नाटक दृश्य काव्य है। उनका बहुत कुछ आकर्षण अभिनय पर अवलंबित रहता है। उस समय नाटक खेलनेवाली व्यवसायी पारसी कंपनियाँ थीं। वे उर्दू छोड़ हिंदी नाटक खेलने को तैयार न थीं। ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिंदी-प्रेमियों का उत्साह कैसे रह सकता था?

भारतेंदुजी, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी उद्योग करके अभिनय का प्रबंध किया करते थे और कभी कभी स्वयं भी पार्ट लेते थे। पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल नाटक' का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेंदुजी ने पार्ट लिया था। यह अभिनय देखने काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह भी पधारे थे और इसका विवरण ८ मई १८६८ के इंडियन मेल ( Indian Mail ) में प्रकाशित हुआ था। प्रतापनारायण मिश्र का अपने पिता से अभिनय के लिये मूँछ मुँड़ाने की आज्ञा माँगना प्रसिद्ध ही है।

'काश्मीरकुसुम' ( राजतरंगिणी का कुछ अंश ) और 'बादशाहदर्पण' लिखकर इतिहास की पुस्तकों की ओर और जयदेव का जीवनवृत्त लिखकर जीवनचरित की पुस्तकों की ओर भी हरिश्चंद्र ध्यान ले गए पर उस समय इन विषयों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति न दिखाई पड़ी।

पुस्तक-रचना के अतिरिक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक प्रकार के फुटकल लेख और निबंध अनेक विषयों पर मिलते हैं, जैसे, राजनीति, समाजदशा, देश-दशा, ऋतुछटा, पर्व-त्योहार, जीवनचरित, ऐतिहासिक प्रसंग, जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य विषय (जैसे, आत्म-निर्भरता, मनोयोग, कल्पना)। लेखों और निबंधों की अनेकरूपता को देखते उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। समाजदशा और देशदशा-संबंधी लेख कुछ विचारात्मक पर अधिकांश में भावात्मक मिलेंगे। जीवनचरितों और ऐतिहासिक प्रसंगों में इतिवृत्त के साथ भाव-व्यंजना भी गुंफित पाई जायगी। ऋतु-छटा और पर्व-त्योहारों पर अलंकृत भाषा में वर्णनात्मक प्रबंध सामने आते हैं। जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य विषयों के निरूपण में विरल विचार-खंड कुछ उक्ति-वैचित्र्य के साथ

बिखरे मिलेंगे। पर शैली की व्यक्तिगत विशेषताएँ थोड़ी बहुत सब लेखकों मे पाई जायँगी।

जैसा कि कहा जा चुका है हास्य-विनोद की प्रवृत्ति इस काल के प्रायः सब लेखकों में थी। प्राचीन और नवीन के संघर्ष के कारण उन्हे हास्य के आलंबन दोनो पक्षों मे मिलते थे। जिस प्रकार बात बात मे बाप-दादों की दुहाई देनेवाले, धर्म आडंबर की आड मे दुराचार छिपानेवाले पुराने खूसट उनके विनोद के लक्ष्य थे, उसी प्रकार पच्छिमी चाल-ढाल की ओर मुँह के बल गिरनेवाले फैशन के गुलाम भी।

नाटकों और निबंधो की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखा-देखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर भी ध्यान जा चुका था। अँगरेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' ही निकला था। उसके पीछे बा० राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिंदू' और पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक छोटे छोटे उपन्यास लिखे। उस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिये उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए। हरिश्चंद्र ने ही अपने पिछले जीवन में बंगभाषा के उपन्यास के अनुवाद मे हाथ लगाया था, पर पूरा न कर सके थे। पर उनके समय मे ही प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासो के अनुवाद किए। तदनंतर बा० गदाधरसिंह ने बंग-विजेता और दुर्गेशनंदिनी का अनुवाद किया। संस्कृत की कादंबरी की कथा भी उन्होंने बँगला के आधार पर लिखी। पीछे तो बा० राधाकृष्णदास, बा० कार्तिकप्रसाद खत्री, बा० रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँगला के उपन्यासों के अनुवाद की जो परंपरा चलाई वह बहुत दिनों तक चलती रही। इन उपन्यासों में देश के सर्व-सामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।

प्रथम उत्थान के अंत होते होते तो अनूदित उपन्यासो का तौंता बँध गया। पर पिछले अनुवादको का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था। अधिकांश अनुवादक प्रायः भाषा को ठीक हिंदी रूप देने में असमर्थ रहे। कहीं कहीं तो

बँगला के शब्द और मुहावरे तक ज्यों के त्यों रख दिए जाते थे—जैसे, "कोंदना" "सिहरना", "धू धू करके आग जलना", "छल छल आँसू गिरना" इत्यादि । इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग का अच्छा परिचय हो गया और उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई ।

हिंदी-गद्य की सर्वतोमुखी गति का अनुमान इसी से हो सकता है कि पच्चीस पत्र-पत्रिकाएँ हरिश्चंद्र के ही जीवन-काल में निकलीं जिनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

१ अलमोड़ा अखबार ( संवत् १६२८; संपादक पं० सदानंद सनवाल )
२ हिंदी-दीप्ति-प्रकाश ( कलकत्ता १६२६; पं० कार्तिकप्रसाद खत्री )
३ बिहार-बंधु ( १६२६; केशवराम भट्ट )
४ सदादर्श ( दिल्ली १६३१; ला० श्रीनिवास दास )
५ काशी पत्रिका ( १६३२; बा० बालेश्वरप्रसाद बी० ए०, शिक्षा-संबंधी मासिक )
६ भारत-बंधु ( १६३३; तोताराम; अलीगढ़ )
७ भारत-मित्र ( कलकत्ता स० १६३४; रुद्रदत्त )
८ मित्र-विलास ( लाहौर १६३४, कन्हैयालाल )
६ हिंदी प्रदीप ( प्रयाग १६३४; प० बालकृष्ण भट्ट, मासिक )
१० आर्य-दर्पण ( शाहजहाँपुर १६३४: बख्तावर सिंह )
११ सार-सुधानिधि ( कलकत्ता १६३५; सदानंद मिश्र )
१२ उचितवक्ता ( कलकत्ता १६३५; दुर्गाप्रसाद मिश्र )
१३ सज्जन-कीर्ति-सुधाकर ( उदयपुर १६३६; वंशीधर )
१४ भारत सुदशाप्रवर्त्तक ( फर्रुखाबाद १६३६; गणेशप्रसाद )
१५ आनंद-कादंबिनी (मिरजापुर १६३८; उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी; मासिक )
१६ देश-हितैषी ( अजमेर १६३६ )
१७ दिनकर-प्रकाश ( लखनऊ १६४०; रामदास वर्मा )
१८ धर्म-दिवाकर ( कलकत्ता १६४०; देवीसहाय )

१९ प्रयाग-समाचार ( १९४० ; देवकीनंदन त्रिपाठी )
२० ब्राह्मण ( कानपुर १९४० ; प्रतापनारायण मिश्र )
२१ शुभचिंतक ( जबलपुर १९४० ; सीताराम )
२२ सदाचार-मार्त्तंड ( जयपुर १९४० ; लालचंद शास्त्री )
२३ हिंदोस्थान ( इँगलैंड १९४६ ; राजा रामपालसिंह, दैनिक )
२४ पीयूष-प्रवाह ( काशी १९४१ ; अंबिकादत्त व्यास )
२५ भारत-जीवन ( काशी १९४१ ; रामकृष्ण वर्मा )
२६ भारतेंदु ( वृंदावन १९४१ ; राधाचरण गोस्वामी )
२७ कविकुलकंज-दिवाकर ( बस्ती १९४१ ; रामनाथ शुक्ल )

इनमे से अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ तो थोड़े ही दिन चलकर बंद हो गईं, पर कुछ ने लगातार बहुत दिनों तक लोकहित-साधन और हिंदी की सेवा की है, जैसे—विहारबंधु, भारत-मित्र, भारत-जीवन, उचितवक्ता, दैनिक हिंदोस्थान, आर्यदर्पण, ब्राह्मण, हिंदी-प्रदीप। 'मित्र-विलास' सनातनधर्म का समर्थक पत्र था जिसने पंजाब मे हिंदी-प्रचार का बहुत कुछ कार्य किया था। 'ब्राह्मण', 'हिंदी-प्रदीप' और 'आनंद-कादंबिनी' साहित्यिक पत्र थे जिनमें बहुत सुदर मौलिक गद्य-प्रबंध और कविताएँ निकला करती थीं। इन पत्र-पत्रिकाओं को बराबर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। 'हिंदी-प्रदीप' को कई बार बंद होना पड़ा था। 'ब्राह्मण' संपादक पं० प्रतापनारायण मिश्र को ग्राहकों से चदा माँगते माँगते थककर कभी कभी पत्र में इस प्रकार याचना करनी पड़ती थी—

आठ मास बीते, जजमान। अब तौ करौ दच्छिना दान॥

बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने हिंदी संवादपत्रों के प्रचार के लिये बहुत उद्योग किया था। उन्होंने सवत् १९३८ मे "हिंदी-दीप्ति-प्रकाश" नाम का एक संवाद-पत्र और "प्रेम-विलासिनी" नाम की एक पत्रिका निकाली थी। उस समय हिंदी संवाद-पत्र पढ़नेवाले थे ही नहीं। पाठक उत्पन्न करने के लिये बाबू कार्तिक-प्रसाद ने बहुत दौड़धूप की थी। लोगो के घर जा जाकर वे पत्र सुना तक आते थे। इतना सब करने पर भी उनका पत्र थोडे दिन चलकर बद हो गया।

संवत् १९३४ तक कोई अच्छा और स्थायी साप्ताहिक पत्र नहीं निकला था। अतः संवत् १९३४ से पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पंडित छोटूलाल मिश्र, पंडित सदानंद मिश्र, बाबू जगन्नाथप्रसाद खन्ना के उद्योग से कलकत्ते में "भारतमित्र कमेटी" बनी और "भारतमित्र" पत्र बड़ी धूमधाम से निकला और बहुत दिनों तक हिंदी-सवादपत्रों में एक ऊँचा स्थान ग्रहण किए रहा। प्रारंभ काल में जब पंडित छोटूलाल मिश्र इसके संपादक थे तब भारतेंदुजी भी कभी कभी इसमे लेख दिया करते थे।

उसी संवत् में लाहौर से "मित्र-विलास" नामक पत्र पंडित गोपीनाथ के उत्साह से निकला। इसके पहले पंजाब मे कोई हिंदी का पत्र न था। केवल "ज्ञानप्रदायिनी" नाम की एक पत्रिका उर्दू-हिंदी में बाबू नवीनचंद्र द्वारा निकलती थी जिसमें शिक्षा और सुधार संबंधी लेखों के अतिरिक्त ब्राह्मोमत की बातें रहा करती थीं। उसके पीछे जो "हिंदू-बांधव" निकला उसमें भी उर्दू और हिंदी दोनों रहती थीं। केवल हिंदी का एक भी पत्र न था। 'कवि-वचन-सुधा' की मनोहर लेखशैली और भाषा पर मुग्ध होकर ही पंडित गोपीनाथ ने 'मित्र-विलास' निकाला था, जिसकी भाषा बहुत सुष्ठु और ओजस्विनी होती थी। भारतेंदु के गोलोकवास पर बड़ी ही मार्मिक भाषा मे इस पत्र ने शोक-प्रकाश किया था और उनके नाम का संवत् चलाने का आंदोलन उठाया था।

इसके उपरांत संवत् १९३५ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र के संपादन में "उचितवक्ता" और पंडित सदानंद मिश्र के संपादन में "सारसुधानिधि" ये दो पत्र कलकत्ते से निकले। इन दोनों महाशयों ने बड़े समय पर हिंदी के एक बड़े अभाव की पूर्ति में योग दिया था। पीछे कालाकाँकर के मनस्वी और देश-भक्त राजा रामपालसिंहजी अपनी मातृभाषा की सेवा के लिये खड़े हुए और संवत् १९४० में उन्होंने 'हिंदोस्थान' नामक पत्र इँगलैंड से निकाला जिसमें हिंदी और अँगरेजी दोनों रहती थीं। भारतेंदु के गोलोकवास के पीछे संवत् १९४२ मे यह हिंदी-दैनिक के रूप में निकला और बहुत दिनों तक चलता रहा। इसके संपादकों में देशपूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त ऐसे लोग रह चुके हैं। बाबू हरिश्चंद्र के जीवनकाल

में ही अर्थात् मार्च सन् १८८४ ई० मे बाबू रामकृष्ण वर्म्मा ने काशी से "भारत-जीवन" पत्र निकाला। इस पत्र का नामकरण भारतेंदुजी ने ही किया था।

---

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म काशी के एक संपन्न वैश्य-कुल में भाद्र शुक्ल ५ सवत् १६०७ को और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था मे माघ कृष्ण ६ सं० १६४१ को हुई।

संवत् १६२० मे वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथजी गए। उसी यात्रा मे उनका परिचय बंग देश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बँगला में नए ढग के समाजिक, देश-देशांतर-संबंधी, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिंदी मे ऐसी पुस्तको के अभाव का अनुभव किया। सवत् १६२५ मे उन्होंने 'विद्यासुंदर नाटक' बँगला से अनुवाद करके प्रकाशित किया। इस अनुवाद मे ही उन्होंने हिंदी-गद्य के बहुत ही सुडौल रूप का आभास दिया। इसी वर्ष उन्होंने 'कविवचनसुधा' नाम की एक पत्रिका निकाली जिसमें पहले पुराने कवियों की कविताएँ छपा करती थीं पर पीछे गद्य-लेख भी रहने लगे। सवत् १६३० में उन्होंने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम ८ संख्याओं के उपरात 'हरिश्चद्र-चद्रिका हो गया। हिंदीगद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी 'चंदिका' में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नई सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी समय से माना है। उन्होने 'कालचक्र' नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि "हिंदी नई चाल मे ढली, सन् १८७३ ई०"।

इस "हरिश्चंद्री हिंदी" के आविर्भाव के साथ ही नए नए लेखक भी तैयार होने लगे। 'चंद्रिका' मे भारतेंदुजी आप तो लिखते ही थे, बहुत से और लेखक भी उन्होंने उत्साह दे-देकर तैयार कर लिए थे। स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी बाबू हरिश्चंद्र के संपादन-कौशल की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। बड़ी तेजी के साथ वे चंद्रिका के लिये लेख और नोट लिखते

और सैटर को बड़े ढंग से सजाते थे। हिंदी गद्य-साहित्य के इस आरंभ काल में ध्यान देने की बात यह है कि इस समय जो थोड़े से गिनती के लेखक थे उनमें विदग्धता और मौलिकता थी और उनकी हिंदी हिंदी होती थी। वे अपनी भाषा की प्रकृति को पहचाननेवाले थे। बँगला, मराठी, उर्दू, अँगरेजी के अनुवाद का वह तूफ़ान जो पचीस तीस वर्ष पीछे चला और जिसके कारण हिंदी का स्वरूप ही संकट में पड़ गया था, उस समय नहीं था। उस समय ऐसे लेखक न थे जो बँगला की पदावली और वाक्य ज्यों के त्यों रखते हों या अँगरेजी वाक्यों और मुहावरों का शब्द प्रतिशब्द अनुवाद करके हिंदी लिखने का दावा करते हों। उस समय की हिंदी मे न 'दिक् दिक् अशांति' थी, न 'काँदना, सिहरना और छल छल अश्रुपात'; न 'जीवन होड़' और 'कवि का संदेश' था न "भाग लेना" और "स्वार्थ लेना"।

मैगजीन मे प्रकाशित हरिश्चंद्र का "पाँचवें पैगंबर", मुंशी ज्वालाप्रसाद का "कलिराज की सभा" बाबू तोताराम का "अद्भुत अपूर्व स्वप्न", बाबू कार्त्तिकप्रसाद का 'रेल का विकट खेल" आदि लेख बहुत दिनो तक लोग बड़े चाव से पढ़ते थे। संवत् १९३१ मे भारतेंदुजी ने स्त्रीशिक्षा के लिये "बाला-बोधिनी" निकाली थी। इस प्रकार उन्होंने तीन पत्रिकाएँ निकाली। इसके पहले ही संवत् १९३० मे उन्होंने अपना पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का प्रहसन लिखा, जिसमे धर्म और उपासना के नाम से समाज में प्रचलित अनेक अनाचारो का जघन्य रूप दिखाते हुए उन्होंने राजा शिवप्रसाद को लक्ष्य करके खुशामदियों और केवल अपनी मानवृद्धि की फिक्र मे रहनेवालों पर भी छींटे छोड़े। भारत के प्रेम मे मतवाले देशहित की चिंता में व्यग्र, हरिश्चंद्र जी पर सरकार की जो कुदृष्टि हो गई थी उसके कारण बहुत कुछ राजा साहब ही समझे जाते थे।

गद्य-रचना के अंतर्गत भारतेंदु का ध्यान पहले नाटकों की ओर ही गया। अपनी 'नाटक' नाम की पुस्तक मे उन्होंने लिखा है कि हिंदी मे नाटक उनके पहले दो ही लिखे गए थे—महाराज विश्वनाथसिंह का "आनंद रघुनंदन-नाटक" और बाबू गोपालचंद का "नहुष नाटक"। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों ब्रजभाषा में थे। भारतेंदु-प्रणीत नाटक ये हैं—

( मौलिक )

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, प्रेम-जोगिनी, सती-प्रताप ( अधूरा )।

( अनुवाद )

विद्यासुंदर, पाखंड विडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चंद्र, भारतजननी।

'सत्यहरिश्चंद्र' मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला-नाटक देखा है जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है। कहते हैं कि 'भारत-जननी' उनके एक मित्र का किया हुआ बंगभाषा मे लिखित 'भारतमाता' का अनुवाद था जिसे उन्होंने सुधारते सुधारते सारा फिर से लिख डाला।

भारतेंदु के नाटकों मे सब से पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि उन्होंने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली है। 'चंद्रावली' में प्रेम का आदर्श है। 'नीलदेवी' पंजाब के एक हिंदू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है। 'भारतदुर्दशा' मे देश-दशा बहुत ही मनोरंजक ढंग से सामने लाई गई है। 'विषस्य विषमौषधम्' देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखाने के लिये रचा गया है। 'प्रेमजोगिनी' मे भारतेंदु ने वर्त्तमान पाखंडमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है, यही उसकी विशेषता है।

नाटकों की रचना-शैली मे उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। न तो बँगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ वे अँगरेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती थी। पताका-स्थानक आदि का प्रयोग भी वे कहीं कहीं कर देते थे।

यद्यपि सब से अधिक रचना उन्होंने नाटकों ही की की, पर हिंदी-साहित्य के सर्वतोमुख विकास की ओर भी वे बराबर दत्तचित्त रहे। 'काश्मीरकुसुम', 'बादशाहदर्पण' आदि लिखकर उन्होने इतिहास रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों मे वे उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे, पर चल से।

शैली दूसरी। भावावेश की भाषा मे प्रायः वाक्य बहुत छोटे छोटे होते है और पदावली सरल बोल-चाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित साधारण फारसी-अरबी के शब्द भी कभी कभी, पर बहुत कम, आ जाते है। 'चद्रावली नाटिका' से उद्धृत यह अंश देखिए—

"झूठे झूठे झूठे! झूठे ही नहीं विश्वासघातक। क्यों इतना छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम मे पडते।...... भला क्या काम था कि इतना पचडा किया? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनंद था। फिर क्यों यह विषमय संसार किया? बखेडिए! और इतने बडे कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाक बिके, लोग झूठा कहैं, अपने मारे फिरैं पर वाह रे शुद्ध बेहयाई—पूरी निर्लज्जता! लाज को जूतों मार के, पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं लाज की हवा भी नहीं जाती हाय एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्यों लड लडकर सिर फोडते? काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे? हुकमी बेहया हो।"

जहाँ चित्त के किसी स्थायी क्षोभ की व्यंजना है और चिंतन के लिये कुछ अवकाश है वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर तथा वाक्य कुछ बडे हैं, पर अन्वय जलिट नहीं है, जैसे 'प्रेमयोगिनी' में सूत्रधार के इस भाषण मे—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहैं और हम लोगों का परम बंधु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चंद्र ही दुखी हो? (नेत्र में जल भरकर) हा सज्जनशिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना। × × × मित्र! तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनो भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रखो, ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे।"

तथ्य-निरूपण या वस्तु-वर्णन के समय कभी कभी उनकी भाषा मे संस्कृत

पदावली का कुछ अधिक समावेश होता है। इसका सब से बढ़ा चढ़ा उदाहरण 'नीलदेवी' के वक्तव्य में मिलता है। देखिए—

"आज बड़ा दिन है, क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि राग-द्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध-वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल को पुतली की भाँति फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है"।

पर यह भारतेंदु की असली भाषा नहीं। उनकी असली भाषा का रूप पहले दो अवतरणों में ही समझना चाहिए। भाषा चाहे जिस ढंग की हो उनके वाक्यों का अन्वय सरल होता है, उसमे जटिलता नहीं होती। उनके लेखों में भावों की मार्मिकता पाई जाती है, वाग्वैचित्र्य या चमत्कार की प्रवृत्ति नहीं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने समय के सब लेखकों में भारतेंदु की भाषा साफ सुथरी और व्यवस्थित होती थी। उसमे शब्दों के रूप भी एक प्रणाली पर मिलते है और वाक्य भी सुसबद्ध पाए जाते है। 'प्रेमघन' आदि और लेखकों की भाषा मे हम क्रमशः उन्नति और सुधार पाते हैं। सं० १९३८ की 'आनदकादंबिनी' का कोई लेख लेकर १० वर्ष पश्चात् के किसी लेख से मिलान किया जाय तो बहुत अतर दिखाई पडेगा। भारतेंदु के लेखो में इतना अतर नहीं पाया जाता। 'इच्छा किया', 'आज्ञा किया' ऐसे व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग अवश्य कहीं कहीं मिलते है।

प्रतापनारायण मिश्र के पिता उन्नाव से आकर कानपुर मे बस गए थे जहाँ प्रतापनारायणजी का जन्म सं० १९१३ मे और मृत्यु सं० १९५१ मे हुई है। ये इतने मनमौजी थे कि आधुनिक सभ्यता और शिष्टता की कम परवा करते थे। कभी लावनीबाजों में जाकर शामिल हो जाते थे, कभी मेलो और तमाशो मे बंद इक्के पर बैठे जाते दिखाई देते थे।

प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि लेखन-कला मे भारतेंदु को ही आदर्श मानते

थे पर उनकी शैली में भारतेंदु की शैली से बहुत कुछ विभिन्नता भी लक्षित होती है। प्रतापनारायणजी में विनोद-प्रियता विशेष थी इससे उनकी वाणी मे व्यग्य-पूर्ण वक्रता की मात्रा प्रायः रहती है। इसके लिये वे पूरबीपन की परवा न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी कभी कभी बेधड़क रख दिया करते थे। कैसा ही विषय हो, वे उसमें विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ़ लेते थे। अपना 'ब्राह्मण' पत्र उन्होंने विविध विषयों पर गद्यप्रबंध लिखने के लिये ही निकाला था। लेख हर तरह के निकलते थे। देशदशा, समाज-सुधार, नागरी-हिंदी-प्रचार, साधारण मनोरंजन आदि सब विषयों पर मिश्रजी की लेखनी चलती थी। शीर्षकों के नामों से ही विषयों की अनेकरूपता का पता चलेगा जैसे, 'घूरे क लत्ता बिनै, कनातन क डौल बाँधै", "समझदार की मौत है", "बात", "मनोयोग", "बृद्ध", "भौं"। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर ही अधिक रहती थी, पर जब कभी कुछ गंभीर विषयों पर वे लिखते थे तब संयत और साधु भाषा का व्यवहार करते थे। दोनों प्रकार की लिखावटों के नमूने नीचे दिए जाते हैं—

### समझदार की मौत है

सच है "सब ते भले हैं मूढ़ जिन्हे न व्यापै जगतगति"। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथ-त्योहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना, गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेंत-मेत में धरम-मूरत, धरमऔतार का खिताब पाना; संसार परमार्थ दोनों तो बन गए, अब काहे की है है और काहे की खै खै? आफत तो बिचारे जिंदादिलों की है जिन्हें न यों कल न वो कल; जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था तब के विद्वान् कहते थे "गीर्वाणवाणीषु विशालबुद्धिस्तथान्यभाषा-रसलोलुपोहम्"। अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रही है; अब यह चिंता खाए लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे।

### मनोयोग

शरीर के द्वारा जितने काम किए जाते हैं, उन सब मे मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता के साथ होते हैं और जो

उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य्य भी हो किंतु भले प्रकार पूर्ण रीति से संपादित नहीं होते, न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनंद लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर-रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छंद रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग मे धावमान रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल मे आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ एवं अनर्थपूर्ण कर देता है।"

प्रतापनारायणजी ने फुटकल गद्यप्रबंधों के अतिरिक्त कई नाटक भी लिखे। 'कलिकौतुक रूपक' मे पाखंडियों और दुराचारियों का चित्र खींचकर उनसे सावधान रहने का संकेत किया गया है। 'संगीत शाकुंतल' लावनी के ढंग पर गाने योग्य खड़ी बोली मे पद्यबद्ध शकुंतला नाटक है। भारतेंदु के अनुकरण पर मिश्रजी ने 'भारतदुर्दशा' नाम का नाटक भी लिखा था। 'हठी हम्मीर' रणथंभौर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वृत्त लेकर लिखा गया है। 'गोसकट नाटक' और 'कलि-प्रभाव नाटक' के अतिरिक्त 'जुआरी खुआरी' नामक उनका एक प्रहसन भी है।

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में सं० १९०१ में और परलोकवास सं० १९७१ में हुआ। वे प्रयाग के 'कायस्थ-पाठशाला कालेज' मे संस्कृत के अध्यापक थे।

उन्होंने संवत् १९३३ मे अपना "हिंदी-प्रदीप" गद्य-साहित्य का ढर्रा निकालने के लिये ही निकाला था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकार के छोटे छोटे गद्य प्रबंध वे अपने पत्र मे तीस-बत्तीस वर्ष तक निकालते रहे। उनके लिखने का ढंग पंडित प्रतापनारायण के ढंग से मिलता जुलता है। मिश्रजी के समान भट्टजी भी स्थान स्थान पर कहावतों का प्रयोग करते थे, पर उनका झुकाव मुहावरों की ओर कुछ अधिक रहा है। व्यंग और वक्रता उनके लेखों मे भी भरी रहती है और वाक्य भी कुछ बड़े बड़े होते हैं। ठीक खड़ी बोली के आदर्श का निर्वाह भट्टजी ने भी नहीं किया है। पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं। "समझा बुझाकर" के स्थान पर "समझाय बुझाय" वे प्रायः लिख जाते थे। उनके लिखने के ढंग से यह जान पड़ता है कि वे

अँगरेजी पढे-लिखे नवशिक्षित लोगो को हिंदी की ओर आकर्षित करने के लिये लिख रहे हैं। स्थान स्थान ब्रैकेट मे घिरे "Education," "Society," "National vigour and strength," "Standard," "Character" इत्यादि अँगरेजी शब्द पाए जाते है। इसी प्रकार फारसी-अरबी के लफ्ज ही नहीं बड़े बड़े फिकरे तक भट्टजी अपनी मौज मे आकर रखा करते थे। इस प्रकार उनकी शैली में एक निरालापन झलकता है। प्रतापनारायण के हास्यविनोद से भट्टजी के हास्यविनोद में यह विशेषता है कि वह कुछ चिड़चिडाहट लिए रहता था। पदविन्यास भी कभी कभी उनका बहुत ही चोखा और अनूठा होता था।

अनेक प्रकार के गद्य-प्रबंध भट्टजी ने लिखे हैं, पर सब छोटे छोटे। वे बराबर कहा करते थे कि न जाने, कैसे लोग बडे बडे लेख लिख डालते है। मुहावरों की सूझ उनकी बहुत अच्छी थी। "आँख", "कान", "नाक" आदि शीर्षक देकर उन्होंने कई लेखों में बडे ढग के साथ मुहावरो की झड़ी बाँध दी है। एक बार वे मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हे दिखाई पडा। उन्होंने पूछा " भैया! आँख मे क्या हुआ है?" उत्तर मिला "आँख आई है।" वे चट बोल उठे "भैया! यह आँख बड़ी बला है, इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है" अनेक विषयों पर गद्य-प्रबध लिखने के अतिरिक्त "हिंदी-प्रदीप" द्वारा भट्टजी संस्कृत-साहित्य और सस्कृत के कवियो का परिचय भी अपने पाठकों को समय समय पर कराते रहे। पंडित प्रताप-नारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्यसाहित्य में वही काम किया है जो अँगरेजी गद्य-साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था। भट्टजी की लिखावट के दो नमूने देखिए—

### कल्पना

× × × यावत् मिथ्या और दरोग की किबलेगाह इस कल्पना पिशा-चिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है? अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि 'गोतम' हो गए। कणाद तिनका खा खाकर किनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्वों

की कल्पना करते करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गये। व्यास ने इन तीनों दार्शनिकों की दुर्गति देख मन मे सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे, यह संपूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है।

आत्म-निर्भरता

इधर पचास-साठ वर्षों से अँगरेजी राज्य के अमनचैन का फ़ायदा पाय हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़ियो का व्याह कर पहिले से ड्योढ़ी दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जन संख्या अवश्य घटनी चाहिए। × × × आत्म निर्भरता मे दृढ़, अपने कूवते-वाज़ू पर भरोसा रखनेवाला पुष्टवीर्य्य, पुष्ट-बल, भाग्यवान् एक संतान अच्छा। 'कूकर सूकर से' निकम्मे, रग रग मे दास-भाव से पूर्ण परभाग्योपजीवी दस किस काम के ?"

निबंधो के अतिरिक्त भट्टजी ने कई छोटे-मोटे नाटक भी लिखे है जो क्रमशः उनके 'हिंदी-प्रदीप' मे छपे हैं, जैसे—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बालविवाह नाटक, चंद्रसेन नाटक। उन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' नामक बंगभाषा के दो नाटकों के अनुवाद भी निकाले थे।

सं० १६४३ मे भट्टजी ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगता-स्वयंवर' नाटक की 'सच्ची समालोचना' भी, और पत्रों मे उसकी प्रशंसा ही प्रशंसा देखकर, की थी। उसी वर्ष उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी ने बहुत ही विस्तृत समालोचना अपनी पत्रिका मे निकाली थी। इस दृष्टि से सम्यक् आलोचना का हिंदी मे सूत्रपात करनेवाले इन्हीं दो लेखकों को समझना चाहिए।

उपाध्याय **पं० बदरीनारायण चौधरी** का जन्म मिरजापुर के एक अभिजात ब्राह्मण-वंश में भाद्र कृष्ण ६ सं० १६१२ को और मृत्यु फाल्गुन शुक्ल १४ सं० १६७६ को हुई। उनकी हर एक बात से रईसी टपकती थी। बातचीत का ढंग उनका बहुत ही निराला और अनूठा था। कभी कभी बहुत ही सुंदर वक्रता-पूर्ण वाक्य उनके मुँह से निकलते थे। लेखन-कला के उनके

सिद्धांत के कारण उनके लेखों मे यह विशेषता नहीं पाई जाती। वे भारतेंदु के घनिष्ट मित्रों में थे और वेश भी उन्हीं का-सा रखते थे।

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) की शैली सबसे विलक्षण थी। वे गद्य-रचना को एक कला के रूप मे ग्रहण करनेवाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले—लेखक थे और कभी कभी ऐसे पेचीले मजमून बाँधते थे कि पाठक एक एक डेढ़ डेढ़ कालम के लंबे वाक्य मे उलझा रह जाता था। अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे। वे कोई लेख लिखकर जब तक कई बार उसका परिष्कार और मार्जन नहीं कर लेते थे तब तक छपने नहीं देते थे। भारतेंदु के वे घनिष्ट मित्र थे पर लिखने मे उनके "उतावलेपन" की शिकायत अकसर किया करते थे। वे कहते थे कि बाबू हरिश्चंद्र अपनी उमंग में जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल और सुदर हो जाता। एक बार उन्होंने मुझसे कांग्रेस के दो दल हो जाने पर एक नोट लिखने को कहा। मैंने जब लिखकर दिया तब उसके किसी वाक्य को पढ़कर वे कहने लगे कि इसे यों कर दीजिए—"दोनो दलों की दलादली मे दलपति का विचार भी दलदल मे फँसा रहा।" भाषा अनुप्रासमयी और चुहचुहाती हुई होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ आडंबर के रूप में नहीं होता था उनके लेख अर्थ-गर्भित और सूक्ष्म-विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिंदी का था।

चौधरी साहब ने कई नाटक लिखे हैं। 'भारत-सौभाग्य' कांग्रेस के अवसर पर खेले जाने के लिये सन् १८८८ मे लिखा गया था। यह नाटक विलक्षण है। पात्र इतने अधिक और इतने प्रकार के है कि अभिनय दुस्साध्य ही समझिए। भाषा भी रंग-बिरंगी है—पात्रों के अनूरूप उर्दू, मारवाड़ी, बैसवाड़ी भोजपुरी, पजाबी, मराठी, बंगाली सब कुल मिलेगी। नाटक की कथावस्तु है बद-एकबाल-हिंद की प्रेरणा से सन् १८५७ का गदर, अँगरेजों के अधिकार की पुनः प्रतिष्ठा और नेशनल कांग्रस की स्थापना। नाटक के आरंभ के दृश्यों में लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा का भारत से प्रस्थान भारतेंदु के "पै धन बिदेस

चलि जात यहै अति ख्वारी" से अधिक काव्योचित और मार्मिक है।

'प्रयाग-रामागमन' नाटक में राम का भरद्वाज आश्रम में पहुँचकर आतिथ्य ग्रहण है। इसमें सीता की भाषा ब्रज रखी गई है 'वारागना रहस्य महानाटक ( अथवा वेश्याविनोद महाफाटक )' दुर्व्यसन-ग्रस्त समाज का चित्र खींचने के लिये उन्होंने सं० १६४३ से ही उठाया और थोड़ा थोड़ा करके समय समय पर अपनी 'आनंद-कादंविनी' में निकालते रहे, पर पूरा न कर सके। इसमें जगह जगह शृंगाररस के श्लोक, कवित्त-सवैये, गजल, शेर इत्यादि रखे गए हैं।

विनोदपूर्ण प्रहसन तो अनेक प्रकार के ये अपनी पत्रिका में बराबर निकालते रहे।

सच पूछिए तो "आनंद-कादंविनी" प्रेमघनजीने अपने ही उमड़ते हुए विचारों और भावों को अंकित करने के लिये निकाली थी। और लोगों के लेख इसमें नहीं के बराबर रहा करते थे। इस पर भारतेंदुजी ने उनसे एक बार कहा था कि "जनाब! यह किताब नहीं कि जो आप अकेले ही इरकाम फरमाया करते हैं, बल्कि अखबार है कि जिसमें अनेक जन लिखित लेख होना आवश्यक है; और यह भी जरूरत नहीं कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हों।" अपनी पत्रिका में किस शैली की भाषा लेकर चौधरी साहब मैदान में आए इसे दिखाने के लिये हम उसके प्रारंभ काल ( संवत् १६३८ ) की एक संख्या से कुछ अंश नीचे देते हैं—

"परिपूर्ण पावस-

जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग ढंग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा, भूमि हरी-भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई, मानों मारे मोद के रोमांच की अवस्था को प्राप्त भई। सुंदर हरित पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लताएँ लिपट लिपट मानो मुग्ध मयंकमुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलातीं। इनसे युक्त पर्वतों के शृंगों के नीचे सुंदरी-दरी-समूह से स्वच्छ श्वेत जल-प्रवाह ने मानो पारा की धारा और बिल्लौर की ढार को तुच्छ कर युगल पार्श्व की हरी-भरी भूमि के, कि जो

मारे हरेपन के श्यामता की झलक दे अलक की शोभा लाई है, बीचोबीच माँग सी काढ मन माँग लिया और पत्थर की चट्टानों पर सुंबुल अर्थात् हंसराज की जटाओं का फैलना बिथरी हुई लटों के लावण्य का लाना है।"

कादंबिनी में समाचार तक कभी कभी बड़ी रंगीन भाषा में लिखे जाते थे। संवत् १९४२ की संख्या का "स्थानिक सवाद' देखिए—

"दिव्यदेवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्य्यंत बडे बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' पहाड ढकेल, फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेलपेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है"।

पीछे जो उनका साप्ताहिक पत्र "नागरी नीरद" निकला उसके शीर्षक भी वर्षा के खासे रूपक हुए; जैसे, "सपादकीय-संमति-समीर", "प्रेरित-कलापि-कलरव", "हास्य-हरितांकुर", "वृत्तात बलाकावलि" "काव्यामृत वर्षा", "विज्ञापन-बीर-बहूटियाँ", "नियम-निर्घोष"।

समालोचना का सूत्रपात हिंदी मे एक प्रकार से भट्टजी और चौधरी साहब ने ही किया। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्हीं ने चलाई। बाबू गदाधर-सिंह ने "बंगविजेता" का जो अनुवाद किया था उसकी आलोचना कादंबिनी मे पाँच पृष्ठों मे हुई थी। लाला श्रीनिवासदास के "संयोगता स्वयवर" की बड़ी विस्तृत और कठोर समालोचना चौधरीजी ने कादंबिनी के २१ पृष्ठों में निकाली थी। उसका कुछ अश नमूने के लिये नीचे दिया जाता है।

"यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पडती है, क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोडते नहीं दिखाते।

× × × ×

नाट्य-रचना के बहुतेरे दोष 'हिंदी-प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समालोचना' में दिखलाए हैं। अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते, हम केवल यहाँ अलग अलग उन दोषों को दिखलाना चाहते है जो प्रधान और विशेष हैं। तो जानना चाहिए कि यदि यह

संयोगता स्वयंवर पर नाटक लिखा गया तो इसमें कोई दृश्य स्वयंवर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है, क्योंकि यही इसमें वर्णनीय विषय है।

× × × ×

नाटक के प्रबंध का कुछ कहना ही नहीं, एक गँवार भी जानता होगा कि स्थान परिवर्त्तन के कारण गर्भांक की आवश्यकता होती है, अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी पर्दे के बदलने को दूसरा गर्भांक मानते हैं, सो आपने एक ही गर्भांक में तीन स्थान बदल डाले।

× × × ×

गर्ज कि इस सफहे की कुल स्पीचें 'मरचेंट आफ वेनिस' से ली गई। पहिले तो मैं यह पूछता हूँ कि विवाह में मुद्रिका परिवर्त्तन की रीति इस देश की नहीं, बल्कि यूरोप की (है)। मैंने माना कि आप शकुंतला को दुष्यंत के मुद्रिका देने का प्रमाण देंगे, पर वो तो परिवर्त्तन न था किंतु महाराज ने अपना स्मारक-चिह्न दिया था।

लाला श्रीनिवासदास के पिता लाला मंगलीलाल मथुरा के प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचंद के मुनीम क्या मैनेजर थे जो दिल्ली मे रहा करते थे। वहीं श्रीनिवासदास का जन्म संवत् १९०८ मे और मृत्यु सं० १९४४ मे हुई।

भारतेंदु के सम-सामयिक लेखकों में उनका भी एक विशेष स्थान था। उन्होंने कई नाटक लिखे हैं। "प्रह्लाद-चरित्र" ११ दृश्यो का एक बड़ा नाटक है, पर उसके संवाद आदि रोचक नहीं हैं। भाषा भी अच्छी नहीं है। "तप्ता-संवरण नाटक" सन् १८७४ के 'हरिश्चंद्र मैगजीन' मे छपा था, पीछे सन् १८८३ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसमे तप्ता और संवरण की पौराणिक प्रेम कथा है। संवरण ने तप्ता के ध्यान में लीन रहने के कारण गौतम मुनि को प्रणाम नहीं किया। इसपर उन्होंने शाप दिया कि जिसके ध्यान में तुम मग्न हो वह तुम्हें भूल जाय। फिर सदय होकर शाप का यह परिहार उन्होंने बताया कि अंग-स्पर्श होते ही उसे तुम्हारा स्मरण हो जायगा।

लालाजी के "रणधीर और प्रेममोहनी" नाटक की उस समय अधिक चर्चा हुई थी। पहले पहल यह नाटक सं० १९३४ में प्रकाशित हुआ था और इसके साथ एक भूमिका थी जिसमें नाटकों के संबंध में कई बातें अँगरेजी

नाटकों पर दृष्टि रखकर लिखी गई थीं। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यह नाटक उन्होंने अँगरेजी नाटकों के ढंग पर लिखा था। 'रणधीर और प्रेममोहनी' नाम ही "रोमियो ऐंड जुलियट" की ओर ध्यान ले जाता है। कथा-वस्तु भी इसकी सामान्य प्रथानुसार पौराणिक या ऐतिहासिक न होकर कल्पित है। पर यह वस्तु-कल्पना मध्ययुग के राजकुमार-राजकुमारियों के क्षेत्र के भीतर ही हुई है—पाटन का राजकुमार है और सूरत की राजकुमारी। पर दृश्यों में देश-कालानुसार सामाजिक परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया है। कुछ दृश्य तो आजकल का समाज सामने लाते हैं, कुछ मध्ययुग का और कुछ उस प्राचीन काल का जब स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। पात्रों के अनुरूप भाषा रखने के प्रयत्न में मुंशी जी की भाषा इतनी घोर उर्दू कर दी गई है कि केवल हिंदी-पढ़ा व्यक्ति एक पंक्ति भी नहीं समझ सकता। कहाँ स्वयंवर, कहाँ ये मुंशी जी!

जैसा ऊपर कहा गया है, यह नाटक अँगरेजी नाटकों के ढग पर लिखा गया है। इसमें प्रस्तावना नहीं रखी गई है। दूसरी बात यह कि यह दुःखांत है। भारतीय रूपक-क्षेत्र में दुःखात नाटकों का चलन न था। इसकी अधिक चर्चा का एक कारण यह भी था।

लालाजी का "सयोगता-स्वयंवर" नाटक सबसे पीछे का है। यह पृथ्वीराज द्वारा संयोगता-हरण का प्रचलित प्रवाद लेकर लिखा गया है।

श्रीनिवासदास ने "परीक्षागुरु" नाम का एक शिक्षाप्रद उपन्यास भी लिखा। वे खड़ी बोली की बोलचाल के शब्द और मुहावरे अच्छे लाते थे। उपर्युक्त चारों लेखकों में प्रतिभाशालियों का मनमौजीपन था, पर लाला श्रीनिवासदास व्यवहार में दक्ष और संसार का ऊँचा-नीचा समझनेवाले पुरुष थे। अतः उनकी भाषा संयत और साफ-सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी। 'परीक्षा-गुरु' से कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"मुझे आपकी यह बात बिलकुल अनोखी मालूम होती है। भला, परोपकारादि शुभ कामों का परिमाण कैसे बुरा हो सकता है?" पंडित पुरुषोत्तमदास ने कहा।

"जैसे अन्न प्राणाधार है परंतु अति भोजन से रोग उत्पन्न होता है" लाला ब्रजकिशोर

कहने लगे "देखिए परोपकार की इच्छा अत्यंत उपकारी है परंतु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फिजूलखर्ची समझी जायगी और अपने कुटुंब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों की सहायता की, तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी। इसी तरह कुपात्र में भक्ति होने से लोक परलोक दोनों नष्ट हो जायँगे। न्यायपरता यद्यपि सब वृत्तियों को समान रखनेवाली है, परंतु इसकी अधिकता मे भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती, क्षमा नहीं रहती। जब बुद्धिवृत्ति के कारण किसी वस्तु के विचार मे मन अत्यंत लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थों की अज्ञानता बनी रहेगी। आनुषंगिक प्रवृत्ति के प्रबल होने से जैसा संग होगा वैसा रग तुरंत लग जाया करेगा।"

ऊपर उद्धरण में अँगरेजी उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच में या अत मे "अमुक ने कहा", "अमुक कहने लगे" ध्यान देने योग्य है। खैरियत हुई कि इस प्रथा का अनुसरण हिंदी के उपन्यासों मे नही हुआ।

भारतेंदुजी के मित्रों मे कई बातों मे उन्हीं की-सी तबीयत रखनेवाले विजय-राघवगढ़ (मध्य प्रदेश) के राजकुमार ठाकुर जगमोहनसिंहजी थे। उनका जन्म श्रावण शुक्ल १४ सं० १९१४ को और मृत्यु सं० १९५६ (मार्च सन् १८९९) मे हुई। वे शिक्षा के लिये कुछ दिन काशी मे रखे गए थे जहाँ उनका भारतेंदु के साथ मेल-जोल हुआ। वे संस्कृत साहित्य और अँगरेजी के अच्छे जानकार तथा हिंदी के एक प्रेम-पथिक कवि और माधुर्य्यपूर्ण गद्य-लेखक थे। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश मे निवास के कारण विविध-भावमयी प्रकृति के रूप-माधुर्य्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति, उनमे थी वैसी उस काल के किसी हिंदी-कवि या लेखक मे नहीं पाई जाती। अब तक जिन लेखकों की चर्चा हुई उनके हृदय मे इस भूखंड की रूपमाधुरी के प्रति कोई सच्चा प्रेम-संस्कार न था। परंपरा पालन के लिये चाहे प्रकृति का वर्णन उन्होंने किया हो पर वहाँ उनका हृदय नहीं मिलता। अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने "श्यामा-स्वप्न" मे व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। बाबू हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण आदि कवियों

और लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव-क्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहनसिंहजी ने नरक्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि-संस्कार के साथ भारतभूमि की प्यारी रूप रेखा को मन में बसानेवाले वे पहले हिंदी लेखक थे, यहाँ पर बस इतना ही कहकर हम उनके "श्यामा-स्वप्न" का एक दृश्य-खंड नीचे देते हैं—

"नर्मदा के दक्षिण दंडकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल नाम से प्रसिद्ध है—

याही मग ह्वै कै गए दंडकवन श्री राम।
तासों पावन देस वह विंध्याटवी ललाम॥

मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ? ... ... जहाँ की निर्झरिणी—जिनके तीर वानीर से भिरे, मदकल-कूजित विहंगमों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती हैं। × × × जहाँ के शल्लकी-वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मंजु वंजुलकी लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं।

ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य-जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।

इस नदी के तीर अनेक जंगली गाँव बसे हैं। मेरा ग्राम इन सभों से उत्कृष्ट और शिष्ट जनों से पूरित है। इसके नाम ही को सुनकर तुम जानोगे कि यह कैसा सुंदर ग्राम है। × × × × इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ आम के आराम पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × × × पुराने टूटे-फूटे देवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़, जहाँ झुंड के झुंड कौवे और बगुले बसेरा लेते हैं, गवँई की शोभा बताते हैं। पौ फटते

और गोधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानों कुहिरा गिरता हो। × × × × ऐसा सुंदर ग्राम, जिसमें श्यामसुंदर स्वयं विराजमान हैं, मेरा जन्म-स्थान था।"

कवियों के पुराने प्यार की बोली मे देश की दृश्यावली को सामने रखने का मूक समर्थन तो इन्होने किया ही है, साथ ही भाव-प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप अंकित करनेवाली एक प्रकार की प्रलापशैली भी इन्होंने निकाली जिसमे रूपविधान का वैलक्षण्य प्रधान था, न कि शब्द-विधान का। क्या अच्छा होता यदि इस शैली का हिंदी में स्वतंत्र रूप से विकास होता। तब तो वंग-साहित्य में प्रचलित इस शैली का शब्दप्रधान रूप, जो हिंदी पर कुछ काल से चढ़ाई कर रहा है और अब काव्यक्षेत्र का अतिक्रमण कर कभी कभी विषय-निरूपक निबंधों तक का अर्थग्रास करने दौड़ता है, शायद जगह न पाता।

बाबू तोताराम—ये जाति के कायस्थ थे। इनका जन्म सं० १९०४ में और मृत्यु दिसंबर १९०२ में हुई। बी० ए० पास करके ये हेडमास्टर हुए पर अंत मे नौकरी छोड़कर अलीगढ़ मे प्रेस खोलकर 'भारतबंधु' पत्र निकालने लगे। हिंदी का हर एक प्रकार से हितसाधन करने के लिये जब भारतेंदुजी खड़े हुए थे उस समय उनका साथ देनेवालों में ये भी थे। इन्होंने "भाषासंवर्द्धिनी" नाम की एक सभा स्थापित की थी। ये हरिश्चंद्र-चंद्रिका के लेखको मे से थे। उसमें 'कीर्त्तिकेतु' नाम का इनका एक नाटक भी निकला था। ये जब तक रहे, हिंदी के प्रचार और उन्नति मे लगे रहे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखकर अपनी सभा के सहायतार्थ अर्पित की थीं—जैसे 'केटोकृतांत नाटक' (अँगरेजी का अनुवाद), स्त्रीसुबोधिनी। भाषा इनकी साधारण अर्थात् विशेषतारहित है। इनके 'कीर्तिकेतु' नाटक का एक भाषण देखिए—

"यह कौन नहीं जानता? परंतु इस नीच संसार के आगे कीर्तिकेतु बिचारे की क्या चलती है? जो पराधीन होने ही से प्रसन्न रहता है और सिसुमार की सरन जा गिरने का जिसे चाव है, हमारा पिता अत्रिपुर में बैठा हुआ वृथा रमावती नगरी की नाम मात्र प्रतिष्ठा बनाए है। नवपुर की निर्बल सेना और एक रीती थोथी, सभा जो निष्फल युद्धों से शेष रह गई है, वह उसके संग है। हे ईश्वर!"

भारतेंदु के साथ हिंदी की उन्नति मे योग देनेवालों में नीचे लिखे महानुभाव भी विशेष उल्लेख योग्य हैं—

**पं० केशवराम भट्ट** महाराष्ट्र ब्राह्मण थे जिनके पूर्वज विहार मे बस गए थे। उनका जन्म सं० १९११ और मृत्यु स० १९६१ मे हुई। उनका संबंध शिक्षा-विभाग से था। कुछ स्कूली पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने 'सज्जाद-संबुल' और 'शमशाद-सौसन' नामक दो नाटक भी लिखे जिनकी भाषा उर्दू ही समझिए। इन दोनों नाटकों की विशेषता यह है कि ये वर्त्तमान जीवन को लेकर लिखे गए है। इनमे हिंदू, मुसलमान, अँगरेज, लुटेरे, लफंगे मुकदमेबाज, मारपीट करनेवाले, रुपया हजम करनेवाले इत्यादि अनेक ढग के पात्र आए हैं। स० १९२६ में उन्होंने 'विहारबंधु' निकाला था और १९३१ मे 'विहार-बंधु प्रेस' खोला था।

**पं० राधाचरण गोस्वामी** का जन्म वृंदावन मे सं० १९१५ मे हुआ और मृत्यु सं० १९८२ ( दिसंबर सन् १९२५ ) में हुई। ये संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् थे। 'हरिश्चंद्र मैगजीन' को देखते देखते इनमे देशभक्ति और समाज सुधार के भाव जगे थे। साहित्य-सेवा के विचार से इन्होंने 'भारतेंदु' नाम का एक पत्र कुछ दिनों तक वृंदावन से निकाला था। अनेक सभा-समाजों मे संमिलित होने और समाज-सुधार का उत्साह रखने के कारण ये कुछ ब्रह्म-समाज की ओर आकर्षित हुए थे और उसके पक्ष में 'हिंदू बाधव' में कई लेख भी लिखे थे। भाषा इनकी गठी हुई होती थी।

इन्होंने कई बहुत ही अच्छे मौलिक नाटक लिखे हैं जैसे, सुदामा नाटक, सती चंद्रावली, अमरसिंह राठौर, तन-मन-धन श्री गोसाईंजी के अर्पण। इनमें से 'सती चंद्रावली' और 'अमरसिंह राठौर' बड़े नाटक हैं। 'सती-चंद्रावली की कथावस्तु औरंगजेब के समय हिंदुओं पर होनेवाले अत्याचारों का चित्र खींचने के लिये बड़ी निपुणता के साथ कल्पित की गई है। अमरसिंह राठौर ऐतिहासिक है। नाटकों के अतिरिक्त इन्होंने 'विरजा' 'जावित्री' और 'मृण्मयी' नामक उपान्यासो के अनुवाद भी बंगभाषा से किए हैं।

**पंडित अंबिकादत्त व्यास** का जन्म सं० १९१५ और मृत्यु सं० १९५७

मे हुई। ये संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान्, हिंदी के अच्छे कवि और सनातन धर्म के बड़े उत्साही उपदेशक थे। इनके धर्म-संबंधी व्याख्यानों की धूम रहा करती थी। "अवतार-मीमांसा" आदि धर्म-संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने बिहारी के दोहों के भाव को विस्तृत करने के लिये "बिहारी-बिहार" नाम का एक बडा काव्य-ग्रंथ लिखा। पद्य-रचना का भी विवेचन इन्होंने अच्छा किया है। पुरानी चाल की कविता (जैसे, पावस-पचासा) के अतिरिक्त इन्होंने 'गद्य-काव्य मीमांसा' आदि अनेक गद्य की पुस्तकें भी लिखीं। 'इन्होने', 'उन्होंने' के स्थान पर ये 'इनने', 'उनने' लिखते थे।

ब्रजभाषा की अच्छी कविता ये बाल्यावस्था से ही करते थे जिससे बहुत शीघ्र रचना करने का इन्हे अभ्यास हुआ। कृष्णलीला को लेकर इन्होंने ब्रज-भाषा में 'ललिता नाटिका' लिखी थी। भारतेंदु के कहने से इन्होंने 'गो-संकट नाटक' लिखा जिसमे हिंदुओं के बीच असंतोष फैलने पर अकबर द्वारा गोवध बंद किए जाने की कथावस्तु रखी गई है।

**पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या**—इन्होंने गिरती दशा मे "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" को सँभाला था और उसमे अपना नाम भी जोड़ा था। इनके रंग ढंग से लोग इन्हे इतिहास का अच्छा जानकार और विद्वान् समझते थे। कविराजा श्यामलदानजी ने जब अपने "पृथ्वीराज-चरित्र" ग्रंथ मे "पृथ्वीराजरासो" को जाली ठहराया था तब इन्होंने "रासो-संरक्षा" लिखकर उसको असल सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।

**पंडित भीमसेन शर्मा**—ये पहले स्वामी दयानंदजी के दहने हाथ थे। संवत् १९४० और १९४२ के बीच इन्होंने धर्म-संबंधी कई पुस्तके हिंदी में लिखीं और कई संस्कृत ग्रंथों के हिंदी भाष्य भी निकाले। इन्होंने "आर्य-सिद्धांत" नामक एक मासिक पत्र भी निकाला था। भाषा के संबंध मे इनका विलक्षण मत था। "संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति" नाम का एक लेख लिखकर इन्होंने अरबी फारसी शब्दों को भी संस्कृत बना डालने की राय बडे जोर शोर से दी थी—जैसे दुश्मन को "दुःशमन" सिफारिश को "क्षिप्राशिष", चश्मा को "चक्ष्मा", शिकायत को "शिक्षायत्न" इत्यादि।

**काशीनाथ खत्री**—इनका जन्म संवत् १९०६ में आगरे के माईथान मुहल्ले में और परलोकवास सिरसा ( जिला इलाहाबाद ) मे जहाँ ये पहले अध्यापक रह चुके थे और अंतिम दिनों में आकर बस गए थे, सं० १९४८ ( ९ जनवरी १८९१ ) में हुआ। कुछ दिन गवर्नमेंट वर्नाक्यूलर रिपोर्टर का काम करके पीछे ये लाट साहब के दफ्तर के पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हो गए थे। ये मातृभाषा के सच्चे सेवक थे। नीति, कर्तव्यपालन, स्वदेशहित ऐसे विषयो पर ही लेख और पुस्तकें लिखने की ओर इनकी रुचि थी। शुद्ध-साहित्य कोटि में आनेवाली रचनाएँ इनकी बहुत कम हैं। ये तीन पुस्तकें उल्लेख-योग्य हैं—( १ ) ग्राम-पाठशाला और निकृष्ट नौकरी नाटक, ( २ ) तीन इतिहासिक (?) रूपक और ( ३ ) बाल-विधवा संताप नाटक।

तीन ऐतिहासिक रूपकों मे पहला तो है "सिंधुदेश की राजकुमारियाँ" जो सिंध में अरबों की चढ़ाई वाली घटना लेकर लिखा गया; दूसरा है 'गुन्नौर की रानी' जिसमे भूपाल के मुसलमानी राज्य के संस्थापक द्वारा पराजित गुन्नौर के हिंदू राजा की विधवा रानी का वृत्त है; तीसरा है 'लव जी का स्वप्न' जो रघुवंश की एक कथा के आधार पर है।

काशीनाथ खत्री वास्तव में एक अत्यंत अभ्यस्त अनुवादक थे। इन्होने कई अँगरेजी पुस्तकों, लेखों और व्याख्यानों के अनुवाद प्रस्तुत किए, जैसे—शेक्सपियर के मनोहर नाटकों के आख्यानों ( लैंब कृत ) का अनुवाद; नीत्युपदेश ( ब्लैकी के Self Culture का अनुवाद ); इंडियन नेशनल कांग्रेस ( ह्यूम के व्याख्यान का अनुवाद ); देश की दरिद्रता और अँगरेजी राजनीति ( दादाभाई नौराजी के व्याख्यान का अनुवाद ); भारत त्रिकालिक दशा ( कर्नल अलकाट के व्याख्यान का अनुवाद ) इत्यादि। अनुवादों के अतिरिक्त इन्होंने 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियो के चरित्र', यूरोपियन धर्मशीला स्त्रियों के चरित्र', 'मातृभाषा की उन्नति किस विधि करना योग्य है' इत्यादि अनेक छोटी छोटी पुस्तकें और लेख लिखे।

**राधाकृष्णदास** भारतेंदु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। इनका जन्म सं० १९२२ और मृत्यु सं० १९६४ में हुई। इन्होने भारतेंदु का अधूरा छोड़ा हुआ नाटक 'सती प्रताप' पूरा किया था। इन्होंने पहले पहल 'दुःखिनी बाला'

नामक एक छोटा सा रूपक लिखा था जो 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका और मोहन चंद्रिका' में प्रकाशित हुआ था। इसमें जन्मपत्री-मिलान, बालविवाह, अपव्यय आदि कुरीतियों का दुष्परिणाम दिखाया गया है। इनका दूसरा नाटक है 'महारानी पद्मावती अथवा मेवाड़-कमलिनी' जिसकी रचना चित्तौड़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई के समय की पद्मिनी-वाली घटना को लेकर हुई है। इनका सबसे उत्कृष्ट और बड़ा नाटक 'महाराणा प्रताप' (या राजस्थान केसरी) है जो सं० १६५४ मे समाप्त हुआ था। यह नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुआ और इसका अभिनय कई बार कई जगह हुआ।

भारतीय प्रथा के अनुसार इसके सब पात्र भी आदर्श के साँचो में ढले हुए हैं। कथोपकथन यद्यपि चमत्कारपूर्ण नहीं, पर पात्र और अवसर के सर्वथा उपयुक्त है; उनमें कहीं कहीं ओज भी पूरा है। वस्तु योजना बहुत ही व्यवस्थित है। इस नाटक मे अकबर का हिंदुओं के प्रति सद्भाव उसकी कूटनीति के रूप मे प्रदर्शित है। यह बात चाहे कुछ लोगो को पसंद न हो।

नाटकों के अतिरिक्त इन्होने "निस्सहाय हिंदू' नामक एक छोटा सा उपन्यास भी लिखा था। बँगला के कई उपन्यासों के अनुवाद इन्होंने किए हैं—जैसे स्वर्णलता, मरता क्या न मरता।

**कार्त्तिकप्रसाद खत्री**—(जन्म सं० १६०८, मृत्यु १६६१) ये आसाम, बंगाल आदि कई स्थानों में रहे। हिंदी का प्रेम इनमे इतना अधिक था कि २० वर्ष की अवस्था मे ही इन्होंने कलकत्ते से हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ निकालने का उद्योग किया था। इनका "रेल का विकट खेल" नाम का एक नाटक १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या से 'हरिश्चंद्र मैगजीन' मे छपने लगा था, पर पूरा न हुआ। 'इला', 'प्रमीला', 'जया', 'मधुमालती' इत्यादि अनेक बँगला उपन्यासों के इनके किए हुए अनुवाद काशी के 'भारत जीवन' प्रेस से निकले।

फ्रेडरिक पिन्काट का उल्लेख पहले हो चुका है और यह कहा जा चुका है कि वे इँगलैंड मे बैठे बैठे हिंदी में लेख और पुस्तकें लिखते और हिंदी लेखकों के साथ पत्रव्यवहार भी हिंदी में ही करते थे। उन्होंने दो पुस्तकें हिंदी में लिखी हैं—

१ बालदीपक ४ भाग (नागरी और कैथी अक्षरों में), २ विक्टोरिया-चरित्र।

ये दोनों पुस्तकें खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर मे छपी थीं। 'बालदीपक' बिहार के स्कूलों मे पढाई जाती थी। उसके एक पाठ का कुछ अंश भाषा के नमूने के लिये दिया जाता है—

"हे लडको! तुमको चाहिए कि अपनी पोथी को बहुत सँभाल कर रक्खो। मैली न होने पावे, बिगडे नहीं और जब उसे खोलो चौकसाई से खोलो कि उसका पन्ना अँगुली के तले दबकर फट न जावे।"

'विक्टोरिया-चरित्र' १३६ पृष्ठों की पुस्तक है। इसकी भाषा उनके पत्रों की भाषा की अपेक्षा अधिक मुहावरेदार है।

उनके विचार उनके लंबे लंबे पत्रो मे मिलते है। बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री को सं० १९४३ के लगभग अपने एक पत्र मे वे लिखते हैं—

"आपका सुखद पत्र मुझको मिला और उससे मुझको परम आनंद हुआ।

आपकी समझ में हिंदी भाषा का प्रचलित होना उत्तर-पश्चिम-वासियों के लिये सबसे भारी बात है। मैं भी संपूर्ण रूप से जानता हूँ कि जब तक किसी देश में निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार संबधी कामों में नहीं प्रवृत्त होते हैं तब तक उस देश का परम सौभाग्य हो नहीं सकता। इसलिये मैंने बार बार हिंदी भाषा के प्रचलित करने का उद्योग किया है।

देखो, अस्सी बरस हुए बंगाली भाषा निरी अपभ्रंश भाषा थी। पहले पहल थोडी थोडी संस्कृत बातें उसमें मिली थीं। परंतु अब क्रम करके सँवारने से निपट अच्छी भाषा हो गई। इसी तरह चाहिए कि इन दिनों में पंडित लोग हिंदी भाषा में थोडी थोडी संस्कृत बातें मिलावें। इस पर भी स्मरण कीजिए कि उत्तर-पश्चिम में हजार बरस तक फारसी बोलनेवाले लोग राज करते थे। इसी कारण उस देश के लोग बहुत फारसी बातों को जानते हैं। उन फारसी बातों को भाषा से निकाल देना असंभव है। इसलिये उनको निकाल देने का उद्योग मूर्खता का काम है।"

हिंदुस्तानी पुलिस की करतूतों को सुनकर आपने बा० कार्त्तिकप्रसाद को लिखा था—

"कुछ दिन हुए कि मेरे एक हिंदुस्तानी दोस्त ने हिंदुस्तान के पुलिस के जुलम की

ऐसी तस्वीर खैंची कि मैं हैरान हो गया। मैंने एक चिट्ठी लाहौर नगर के 'ट्रीब्यून' नामी समाचार पत्र को लिखी। उस चिट्ठी के छपते ही मेरे पास बहुत से लोगों ने चिट्ठियाँ भेजीं जिनसे प्रकाशित हुआ कि पुलिस का जुल्म उससे भी ज्यादा है जितना मैंने सुना था। अब मैंने पक्का इरादा कर लिया है कि जब तक हिंदुस्तान की पुलिस वैसी ही न हो जावे जैसे कि हमारे इँगलिस्तान मे है, मैं इस बात का पीछा न छोड़ूँगा।"

भारतेंदु हरिश्चंद्र को एक चिट्ठी पिन्काट साहब ने ब्रजभाषा पद्य मे लिखी थी जो नीचे दी जाती है—

"बैस-बस-अवतंस, श्रीबाबू हरिचंद जू।
छीर नीर कलहंस, टुक उतर लिखि देव मोहिं॥

पर उपकार में उदार अवनी मे एक, भाषत अनेक यह राजा हरिचंद है। विभव बडाई वपु बसन विलास लखि कहत यहाँ के लोग बाबू हरिचंद है। चंद वैसो अमिय अनंदकर भारत को कहत कविंद यह भारत को चंद है। कैसें अब देखैं, को बतावै, कहाँ पावैं? हाय, कैसे वहाँ आवैं हम कोई मतिमंद हैं।

श्रीयुत सकल-कविंद-कुल-नुत बाबू हरिचंद।
भारत-हृदय-सतार-नभ उदय रहो जनु चंद॥"

## प्रचार-कार्य

भारतेंदु के समय से साहित्य-निर्माण का कार्य तो धूम-धाम से चल पडा पर उस साहित्य के सम्यक् प्रचार मे कई प्रकार की बाधाएँ थीं। अदालतों की भाषा बहुत पहले से उर्दू चली आ रही थी इससे अधिकतर बालकों को अँगरेजी के साथ या अकेले उर्दू की ही शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य अधिकतर सरकारी नौकरियों के योग्य बनाना ही समझा जाता रहा है। इससे चारों ओर उर्दू पढ़े-लिखे लोग ही दिखाई पड़ते थे। ऐसी अवस्था मे साहित्य-निर्माण के साथ हिंदी के प्रचार का उद्योग भी बराबर चलता रहा। स्वयं बाबू हरिश्चंद्र को हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता समझाने के लिये बहुत से नगरों में व्याख्यान देने के लिये जाना पड़ता था। उन्होंने इस संबंध मे कई पैंफलेट भी लिखे। हिंदी-प्रचार के लिये बलिया मे बड़ी भारी सभा हुई थी जिसमे भारतेंदु का बड़ा मार्मिक व्याख्यान हुआ था। वे जहाँ जाते अपना यह मूल मंत्र अवश्य सुनाते थे—

निज भाषा-उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल ।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय कौ सूल ॥

इसी प्रकार पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी "हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान" का राग अलापते फिरते थे। कई स्थानों पर हिंदी-प्रचार के लिये सभाएँ स्थापित हुईं। बाबू तोताराम द्वारा स्थापित अलीगढ़ की "भाषासंवर्द्धिनी" सभा का उल्लेख हो चुका है। ऐसी ही एक सभा सन् १८८४ में 'हिंदी-उद्धारिणि प्रतिनिधि मध्य-सभा" के नाम से प्रयाग में प्रतिष्ठित हुई थी। सरकारी दफ्तरों मे नागरी के प्रवेश के लिये बाबू हरिश्चंद्र ने कई बार उद्योग किया था। सफलता न प्राप्त होने पर भी इस प्रकार का उद्योग बराबर चलता रहा। जब लेखकों की दूसरी पीढ़ी तैयार हुई तब उसे अपनी बहुत कुछ शक्ति प्रचार के काम में भी लगानी पड़ी।

भारतेंदु के अस्त होने के उपरांत ज्यों ज्यों हिंदी-गद्य-साहित्य की वृद्धि होती गई त्यों त्यों प्रचार की आवश्यकता भी अधिक दिखाई पड़ती गई। अदालती भाषा उर्दू होने से नवशिक्षितों की अधिक संख्या उर्दू पढ़नेवालों की थी जिससे हिंदी-पुस्तकों के प्रकाशन का उत्साह बढ़ने नहीं पाता था। इस साहित्य-संकट के अतिरिक्त नागरी का प्रवेश सरकारी दफ्तरों मे न होने से जनता का घोर संकट भी सामने था। अतः संवत् १९५० में कई उत्साही छात्रों के उद्योग से, जिनमे बाबू श्यामसुंददास, पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमारसिंह मुख्य थे, काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। सच पूछिए तो इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्त्ति बाबू श्यामसुंदरदासजी के त्याग और सतत परिश्रम का फल है। वे ही आदि से अंत तक इसके प्राण-स्वरूप स्थित होकर बराबर इसे अनेक बड़े उद्योगों में तत्पर करते रहे। इसके प्रथम सभापति भारतेंदुजी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास हुए। इसके सहायकों मे भारतेंदु के सहयोगियों मे से कई सज्जन थे, जैसे—रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए०, खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन-सिंह, 'भारत-जीवन' के अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू गदाधरसिंह, बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि। इस सभा के उद्देश्य दो हुए—नागरी अक्षरों का प्रचार और हिंदी-साहित्य की समृद्धि।

उक्त दो उद्देश्यों में से यद्यपि प्रथम का प्रत्यक्ष संबंध हिंदी-साहित्य के इतिहास से नहीं जान पड़ता, पर परोक्ष संबंध अवश्य है। पहले कह आए हैं कि सरकारी दफ्तरों आदि में नागरी का प्रवेश न होने से नवशिक्षितों में हिंदी पढ़नेवालों की पर्य्याप्त संख्या नहीं थी। इससे नूतन साहित्य के निर्माण और प्रकाशन में पूरा उत्साह नहीं बना रहने पाता था। पुस्तकों का प्रचार होते न देख प्रकाशक भी हतोत्साह हो जाते थे और लेखक भी। ऐसी परिस्थिति में नागरीप्रचार के आंदोलन का साहित्य की वृद्धि के साथ भी संबंध मान हम संक्षेप में उसका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

बाबू हरिश्चंद्र किस प्रकार नागरी और हिंदी के संबंध में अपनी चंद्रिका में लेख छापा करते और जगह जगह घूमकर वक्तृता दिया करते थे, यह हम पहले कह आए हैं। वे जब बलिया के हिंदी-प्रेमी कलक्टर के निमंत्रण पर वहाँ गए थे तब कई दिनों तक बड़ी धूम रही। हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता पर उनका बहु अच्छा व्याख्यान तो हुआ ही था, साथ ही 'सत्यहरिश्चंद्र', 'अंधेरनगरी' और 'देवाक्षरचरित्र' के अभिनय भी हुए थे। "देवाक्षरचरित्र" पंडित रविदत्त शुक्ल का लिखा हुआ एक प्रहसन था जिसमें उर्दू लिपि की गड़बड़ी के बडे ही विनोदपूर्ण दृश्य दिखाए गए थे।

भारतेंदु के अस्त होने के कुछ पहले ही नागरी-प्रचार का झंडा पंडित् गौरीदत्तजी ने उठाया। ये मेरठ के रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे और मुदर्रिसी करते थे। अपनी धुन के ऐसे पक्के थे कि चालीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर इन्होंने अपनी सारी जायदाद नागरी-प्रचार के लिये लिखकर रजिस्टरी करा दी और आप सन्यासी होकर 'नागरी-प्रचार' का झंडा हाथ में लिए चारो ओर घूमने लगे। इनके व्याख्यानों के प्रभाव से न जाने कितने देवनागरी-स्कूल मेरठ के आस पास खुले। शिक्षा-संबधिनी कई पुस्तकें भी इन्होंने लिखीं। प्रसिद्ध "गौरी-नागरी-कोश" इन्हीं का है। जहाँ कहीं कोई मेला-तमाशा होता वहाँ पंडित् गौरीदत्तजी लड़कों की खासी भीड़ पीछे लगाए नागरी का झंडा हाथ में लिए दिखाई देते थे। मिलने पर 'प्रणाम', 'जयराम' आदि के स्थान पर लोग इनसे "जय नागरी की" कहा करते थे। इन्होंने संवत् १९५१ में दफ्तरों में नागरी जारी करने के लिये एक मेमोरियल भी भेजा था।

नागरीप्रचारिणी सभा अपनी स्थापना के कुछ ही दिनों पीछे दबाई नागरी के उद्धार के उद्योग में लग गई। संवत् १९५२ में जब इस प्रदेश के छोटे लाट सर ऐंटनी (पीछे लार्ड) मैकडानल काशी में आए तब सभा ने एक आवेदन-पत्र उनको दिया और सरकारी दफ्तरों से नागरी को दूर रखने से जनता को जो कठिनाइयाँ हो रही थीं और शिक्षा के सम्यक् प्रचार मे जो बाधाएँ पड़ रही थीं, उन्हें सामने रखा। जब उन्होंने इस विषय पर पूरा विचार करने का वचन दिया तब से बराबर सभा व्याख्यानों और परचों द्वारा जनता के उत्साह को जाग्रत करती रही। न जाने कितने स्थानों पर डेपुटेशन भेजे गए और हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। भिन्न भिन्न नगरों में सभा की शाखाएँ स्थापित हुईं। संवत् १९५५ मे एक बड़ा प्रभावशाली डेपुटेशन—जिसमे अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायण-सिंह, माँडा के राजा रामप्रसादसिंह, आवागढ के राजा बलवंतसिंह, डाक्टर सुदरलाल और पडित् मदनमोहन मालवीय ऐसे मान्य और प्रतिष्ठित लोग थे—लाट साहब से मिला और नागरी का मेमोरियल अर्पित किया।

उक्त मेमोरियल की सफलता के लिये कितना भीषण उद्योग प्रात भर मे किया गया था, यह बहुत लोगों को स्मरण होगा। सभा की ओर से न जाने कितने सज्जन सब नगरों में जनता के हस्ताक्षर लेने के लिये भेजे गए जिन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। इस आदोलन के प्रधान नायक देशपूज्य श्रीमान् पडित् मदनमोहन मालवीयजी थे। उन्होंने "अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" नाम की एक बड़ी अँगरेजी पुस्तक, जिसमे नागरी को दूर रखने के दुष्परिणामो की बड़ी ही विस्तृत और अनुसंधान-पूर्ण मीमासा थी, लिखकर प्रकाशित की। अत में सवत् १९५७ मे भारतेंदु के समय से ही चले आते हुए उस उद्योग का फल प्रकट हुआ और कचहरियों में नागरी के प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हुई।

सभा के साहित्यिक आयोजनो के भीतर हम बराबर हिंदी-प्रेमियों की सामान्य आकाक्षाओ और प्रवृत्तियो का परिचय पाते चले-आ रहे है। पहले ही वर्ष "नागरीदास का जीवनचरित्र" नामक जो लेख पढा गया वह कवियों के विषय में बढती हुई लोकजिज्ञासा का पता देता है। हिंदी के पुराने

कवियो का कुछ इतिवृत्त-संग्रह पहले पहल संवत् १८६६ में गार्सां द तासी ने अपने "हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास" में किया, फिर सं० १६४० में ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने अपने "शिवसिंह सरोज" में किया। उसके पीछे प्रसिद्ध भाषावेत्ता डाक्टर ( पीछे सर ) ग्रियर्सन ने संवत् १६४६ में Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan प्रकाशित किया। कवियो का वृत्त भी साहित्य का एक अंग है। अतः सभा ने आगे चलकर हिंदी पुस्तकों की खोज का काम भी अपने हाथ में लिया जिससे बहुत से गुप्त और अप्रकाशित रत्नो के मिलने की पूरी आशा के साथ साथ कवियों का बहुत कुछ वृत्तांत प्रकट होने की भी पूरी संभावना थी। संवत् १६५६ में सभा को गवर्मेंट से ४००) वार्षिक सहायता इस काम के लिये प्राप्त हुई और खोज धूमधाम से आरंभ हुई। यह वार्षिक सहायता ज्यों ज्यों बढ़ती गई त्यो त्यों काम भी अधिक विस्तृत रूप में होता गया। इसी खोज का फल है कि आज कई सौ ऐसे कवियों की कृतियों का परिचय हमें प्राप्त है जिनका पहले पता न था। कुछ कवियो के संबंध मे बहुत सी बातों की नई जानकारी भी हुई। सभा की "ग्रंथमाला" में कई पुराने कवियों के अच्छे अच्छे अप्रकाशित ग्रंथ छपे। साराश यह कि इस खोज के द्वारा हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने की खासी सामग्री उपस्थित हुई जिसकी सहायता से दो एक अच्छे कविवृत्त-संग्रह भी हिंदी मे निकले।

हिंदी भाषा के द्वारा ही सब प्रकार के वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा की व्यवस्था का विचार भी लोगो के चित्त मे अब उठ रहा था। पर बड़ी भारी कठिनता पारिभाषिक शब्दों के संबंध मे थी। इससे अनेक विद्वानो के सहयोग और परामर्श से संवत् १६६३ मे सभा ने "वैज्ञानिक कोश" प्रकाशित किया। भिन्न भिन्न विषयो पर पुस्तकें लिखाकर प्रकाशित करने का काम तो तब से अब तक बराबर चल ही रहा है। स्थापना के तीन वर्ष पीछे सभा ने अपनी पत्रिका ( ना० प्र० पत्रिका ) निकाली जिसमे साहित्यिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक सब प्रकार के लेख आरंभ ही से निकलने लगे थे और जो आज भी साहित्य से संबंध रखनेवाले अनुसंधान और पर्यालोचन का उद्देश्य रखकर चल रही है। 'छत्रप्रकाश', 'सुजानचरित्र', 'जंगनामा', 'पृथ्वीराज रासो',

'परमाल रासो' आदि पुराने ऐतिहासिक काव्यों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त तुलसी, जायसी, भूषण, देव ऐसे प्रसिद्ध कवियों की ग्रंथावलियों के भी बहुत सुंदर संस्करण सभा ने निकाले है। "मनोरंजन पुस्तक-माला" में ५० से ऊपर भिन्न भिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकें निकल चुकी है। हिंदी का सब से बड़ा और प्रामाणिक व्याकरण तथा कोश (हिंदी शब्दसागर) इस सभा के चिरस्थायी कार्यों में गिने जायँगे।

इस सभा ने अपने ३५ वर्ष के जीवन में हिंदी-साहित्य के "वर्तमान काल" की तीनों अवस्थाएँ देखी है[1]। जिस समय वह स्थापित हुई थी उस समय भारतेंदु द्वारा प्रवर्त्तित प्रथम उत्थान की ही परंपरा चली आ रही थी। वह प्रचार काल था। नागरी अक्षरों और हिंदी-साहित्य के प्रचार के मार्ग मे बड़ी बाधाएँ थी। 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' की प्रारंभिक संख्याओं को यदि हम निकाल कर देखे तो उनमें अनेक विषयों के लेखों के अतिरिक्त कहीं कहीं ऐसी कविताएँ भी मिल जायँगी जैसी श्रीयुत महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'नागरी तेरी यह दशा !"

नूतन हिंदी-साहित्य का वह प्रथम उत्थान कैसा हँसता-खेलता सामने आया था, भारतेंदु के सहयोगी लेखकों का वह मंडल किस जोश और जिंदःदिली के साथ और कैसी चहल पहल के बीच अपना काम कर गया, इसका उल्लेख हो चुका है। सभा की स्थापना के पीछे घर सँभालने की चिंता और व्यग्रता के से कुछ चिह्न हिंदी-सेवक-मंडल के बीच दिखाई पड़ने लगे थे। भारतेंदुजी के सहयोगी अपने ढर्रे पर कुछ न कुछ लिखते तो जा रहे थे, पर उनमें वह तत्परता और वह उत्साह नहीं रह गया था। बाबू हरिश्चंद्र के गोलोकवास के कुछ आगे-पीछे जिन लोगों ने साहित्य-सेवा ग्रहण की थी वे ही अब प्रौढ़ता प्राप्त करके काल की गति परखते हुए अपने कार्य मे तत्पर दिखाई देते थे। उनके अतिरिक्त कुछ नए लोग भी मैदान में धीरे धीरे उतर रहे थे। यह नवीन हिंदी साहित्य का द्वितीय उत्थान था जिसके आरंभ मे 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए।

---

१—संवत् १९८५ तक।

## प्रकरण ३

### गद्य-साहित्य का प्रसार

### द्वितीय उत्थान

### १९५०—१९७५

## सामान्य परिचय

इस उत्थान का आरंभ हम संवत् १९५० से मान सकते हैं। इसमें हम कुछ ऐसी चिंताओं और आकांक्षाओं का आभास पाते हैं जिनका समय भारतेंदु के सामने नहीं आया था। भारतेंदु-मंडल मनोरंजक साहित्य-निर्माण द्वारा हिंदी-गद्य-साहित्य की स्वतंत्र सत्ता का भाव ही प्रतिष्ठित करने में अधिकतर लगा रहा। अब यह भाव पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। और शिक्षित समाज को अपने इस नए गद्य-साहित्य का बहुत कुछ परिचय भी हो गया था। प्रथम उत्थान के भीतर बहुत बड़ी शिकायत यह रहा करती थी कि अँगरेजी की ऊँची शिक्षा पाए हुए बड़े बड़े डिग्रीधारी लोग हिंदी-साहित्य के नूतन निर्माण में योग नहीं देते और अपनी मातृभाषा से उदासीन रहते हैं। द्वितीय उत्थान में यह शिकायत बहुत कुछ कम हुई। उच्च शिक्षा प्राप्त लोग धीरे धीरे आने लगे—पर अधिकतर यह कहते हुए कि "मुझे तो हिंदी आती नहीं"। इधर से जवाब मिलता था "तो क्या हुआ? आ न जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिए।" अतः बहुत से लोगों ने हिंदी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया। उनकी भाषा में जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दर गुजर कर दिए जाते थे। जब वे कुछ काम कर चुकते थे—दो चार चीजें लिख चुकते थे—तब तो पूरे लेखक हो जाते थे। फिर उन्हें हिंदी आने न आने की परवा क्यों होने लगी?

इस काल-खंड के बीच हिंदी लेखकों की तारीफ में प्रायः यही कहा-सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते हैं, वे अरबी-फारसी के पूरे विद्वान् हैं, ये अँगरेजी के अच्छे पंडित् हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि ये हिंदी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नहीं होता था कि

हिंदी भी कोई जानने की चीज है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिंदी के प्रौढ़ और अच्छे लेखक भी अपने लेखों में फारसीदानी, अँगरेजीदानी, संस्कृत-दानी, आदि का कुछ प्रमाण देना जरूरी समझने लगे थे।

भाषा बिगड़ने का एक और सामान दूसरी ओर खड़ा हो गया था। हिंदी के पाठको का अब वैसा अकाल नहीं था—विशेषतः उपन्यास पढ़नेवालों का। बँगला उपन्यासो के अनुवाद धड़ाधड़ निकलने लगे थे। बहुत से लोग हिंदी लिखना सीखने के लिये केवल संस्कृत शब्दों की जानकारी ही आवश्यक समझते थे जो बँगला की पुस्तकों से प्राप्त हो जाती थी। यह जानकारी थोड़ी बहुत होते ही वे बँगला से अनुवाद भी कर लेते थे और हिंदी के लेख भी लिखने लगते थे। अतः एक ओर तो अँगरेजीदानों की ओर से "स्वार्थ लेना", "जीवन होड", "कवि का सदेश", "दृष्टिकोण" आदि आने लगे; दूसरी ओर बंगभाषाश्रित लोगो की ओर से 'सिहरना', 'कॉदना', 'बसंत रोग' आदि। इतना अवश्य था कि पिछले कैंड़े के लोगो की लिखावट उतनी अजनबी नहीं लगती थी जितनी पहले कैंडेवालो की। बगभाषा फिर भी अपने देश की और हिंदी से मिलती जुलती भाषा थी। उसके अभ्यास से प्रसग या स्थल के अनुरूप बहुत ही सुंदर और उपयुक्त सस्कृत शब्द मिलते थे। अतः बंगभाषा की ओर जो झुकाव रहा उसके प्रभाव से बहुत ही परिमार्जित और सुंदर संस्कृत पदविन्यास की परपरा हिंदी मे आई, यह स्वीकार करना पड़ता है।

पर "अँगरेजी मे विचार करनेवाले" जब आपटे का अँगरेजी-सस्कृत कोश लेकर अपने विचारो का शाब्दिक अनुवाद करने बैठते थे तब तो हिंदी बेचारी कोसों दूर जा खड़ी होती थी। वे हिंदी और सस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिंदी भाषा नहीं लिखते थे। उनके बहुत से वाक्यों का तात्पर्य अँगरेजी भाषा की भावभंगी से परिचित लोग ही समझ सकते थे, केवल हिंदी या सस्कृत जाननेवाले नहीं।

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतेंदुजी और उनके सहयोगी लेखको की दृष्टि व्याकरण के नियमों पर अच्छी तरह जमी नहीं थी। वे "इच्छा किया", "आशा किया" ऐसे प्रयोग भी कर जाते थे और वाक्यविन्यास की सफाई पर भी उतना ध्यान नहीं रखते थे। पर उनकी भाषा हिंदी ही होती थी,

मुहावरे के खिलाफ प्राय: नहीं जाती थी। पर द्वितीय उत्थान के भीतर बहुत दिनों तक व्याकरण की शिथिलता और भाषा की रूपहानि दोनों साथ साथ दिखाई पडती रही। व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता पर तो थोडे ही दिनो मे कोपदृष्टि पडी, पर भाषा की रूपहानि की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिये हमारा हिंदी-साहित्य पंडित् महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदीजी ही थे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप मे उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया। यद्यपि कुछ हठी और अनाडी लेखक अपनी भूलो और गलतियो का समर्थन तरह तरह की बाते बनाकर करते रहे, पर अधिकतर लेखकों ने लाभ उठाया और लिखते समय व्याकरण आदि का पूरा ध्यान रखने लगे। गद्य की भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिये शुद्धता आवश्यक समझी जायगी तब तक बना रहेगा।

व्याकरण की ओर इस प्रकार ध्यान जाने पर कुछ दिनो व्याकरण-संबधिनी बातों की चर्चा भी पत्रों मे अच्छी चली। विभक्तियाँ शब्दो से मिलाकर लिखी जानी चाहिएँ या अलग, इसी प्रश्न को लेकर कुछ काल तक खंडन-मंडन के लेख जोर-शोर से निकले। इस आंदोलन के नायक हुए थे—पंडित गोविंद-नारायणजी मिश्र, जिन्होने "विभक्ति-विचार" नाम की एक छोटी सी पुस्तक द्वारा हिंदी की विभक्तियो को शुद्ध विभक्तियाँ बताकर लोगों को उन्हे मिलाकर लिखने की सलाह दी थी।

इस द्वितीय उत्थान मे जैसे अधिक प्रकार के विषय लेखको की विस्तृत दृष्टि के भीतर आए वैसे ही शैली की अनेकरूपता का अधिक विकास भी हुआ। ऐसे लेखको की संख्या कुछ बढ़ी जिनकी शैली मे कुछ उनकी निज की विशिष्टता रहती थी, जिनकी लिखावट को परखकर लोग कह सकते थे कि यह उन्हीं की है। साथ ही वाक्य-विन्यास में अधिक सफाई और व्यवस्था आई। विराम-चिह्नो का आवश्यक प्रयोग होने लगा। अँगरेजी आदि अन्य समुन्नत भाषाओं की उच्च विचारधारा से परिचय और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट

अधिकार रखनेवाले कुछ लेखकों की कृपा से हिंदी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि और अभिव्यंजन-प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ। सघन और गुफित विचारसूत्रो को व्यक्त करनेवाली तथा सूक्ष्म और गूढ़ भावों को झलकानेवाली भाषा हिंदी-साहित्य को कुछ कुछ प्राप्त होने लगी। उसी के अनुरूप हमारे साहित्य का डौल भी बहुत कुछ ऊँचा हुआ। बँगला के उत्कृष्ट सामाजिक, पारिवारिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के लगातार आते रहने से रुचि परिष्कृत होती रही, जिससे कुछ दिनों की तिलस्म, ऐयारी और जासूसी के उपरात उच्च कोटि के सच्चे साहित्यिक उपन्यासो की मौलिक रचना का दिन भी ईश्वर ने दिखाया।

नाटक के क्षेत्र में वैसी उन्नति नहीं दिखाई पड़ी। बाबू राधाकृष्णदास के "महाराणा प्रताप" (या राजस्थान केसरी) की कुछ दिन धूम रही और उसका अभिनय भी बहुत बार हुआ। राय देवीप्रसादजी पूर्ण ने "चद्रकला-भानुकुमार" नामक एक बहुत बडे डीलडौल का नाटक लिखा पर वह साहित्य के विविध अगो मे पूर्ण होने पर भी वस्तु-वैचित्र्य के अभाव तथा भाषण की कृत्रिमता आदि के कारण उतना प्रसिद्ध न हो सका। बँगला के नाटको के कुछ अनुवाद बाबू रामकृष्ण वर्मा के बाद भी होते रहे पर उतनी अधिकता मे नही जितनी अधिकता से उपन्यासों के। इससे नाटक की गति बहुत मद रही। हिंदी-प्रेमियो के उत्साह से स्थापित प्रयाग और काशी की नाटक-मडलियो (जैसे, भारतेंदु नाटक-मंडली) के लिये रगशाला के अनुकूल दो एक छोटे मोटे नाटक अवश्य लिखे गए पर वे साहित्यिक प्रसिद्धि न पा सके। प्रयाग मे पडित माधव शुक्लजी और काशी में पडित दुर्गावेकरजी अपनी रचनाओ और अनूठे अभिनयों द्वारा बहुत दिनों तक दृश्य काव्य की रुचि जगाए रहे। इसके उपरात बँगला मे श्री द्विजेंद्रलाल राय के नाटको की धूम हुई और उनके अनुवाद हिंदी मे धडाधड़ हुए। इसी प्रकार रवींद्र बाबू के कुछ नाटक भी हिंदी रूप में लाए गए। द्वितीय उत्थान के अत मे दृश्य-काव्य की अवस्था यही रही।

निबधों की ओर यद्यपि बहुत कम ध्यान दिया गया और उसकी परपरा ऐसी न चली कि हम ५-७ उच्च कोटि के निबध-लेखकों को उसी प्रकार झट

से छाँटकर बता सकें जिस प्रकार अँगरेजी साहित्य में बता दिए जाते हैं, फिर भी बीच बीच में अच्छे और उच्च कोटि के निबंध मासिक-पत्रिकाओं में दिखाई पड़ते रहे। इस द्वितीय उत्थान में साहित्य के एक एक अंग को लेकर जैसी विशिष्टता लेखकों में आ जानी चाहिए थी वैसी विशिष्टता न आ पाई। किसी विषय में अपनी सबसे अधिक शक्ति देख उसे अपनाकर बैठने की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई दी। बहुत से लेखकों का यह हाल रहा कि कभी अखबार-नवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, कभी कविता की आलोचना करने लगते और कभी इतिहास और पुरातत्त्व की बातें लेकर सामने आते। ऐसी अवस्था में भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करनेवाले गूढ़, गंभीर निबंध-लेखक कहाँ से तैयार होते? फिर भी भिन्न भिन्न शैलियाँ प्रदर्शित करनेवाले कई अच्छे लेखक इस बीच में बताए जा सकते हैं जिन्होंने लिखा तो कम है पर जो कुछ लिखा है वह महत्त्व का है।

समालोचना का प्रारंभ यद्यपि भारतेंदु के जीवनकाल में ही कुछ न कुछ हो गया था पर उसका कुछ अधिक वैभव इस द्वितीय उत्थान में ही दिखाई पड़ा। श्रीयुत पंडित् महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने पहले पहल विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला। फिर मिश्रबंधुओं और पंडित् पद्मसिंह शर्मा ने अपने ढंग पर कुछ पुराने कवियों के संबंध में विचार प्रकट किए। पर यह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण, दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता, इन्हीं सब परंपरागत विषयों तक पहुँची। स्थायी साहित्य में परिगणित होनेवाली समालोचना जिसमें किसी कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती है, बहुत ही कम दिखाई पड़ी।

साहित्यिक मूल्य रखनेवाले चार जीवनचरित महत्त्व के निकले—पंडित माधवप्रसाद मिश्र की "विशुद्ध चरितावली" (स्वामी विशुद्धानंद का जीवनचरित) तथा बाबू शिवनंदन सहाय लिखित "बाबू हरिश्चंद्र का जीवनचरित", "गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवनचरित" और चैतन्य महाप्रभु का जीवनचरित।

---

द्वितीय उत्थान के भीतर गद्य-साहित्य का निर्माण इतने परिमाण मे और इतने रूपों में हो गया कि हम उसका निरूपण कुछ विभाग करके कर सकते हैं। सुभीते के लिये हम चार विभाग करते हैं—नाटक, उपन्यास-कहानियाँ, निबंध और समालोचना।

## नाटक

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतेंदु के पीछे नाटकों की ओर प्रवृत्ति बहुत कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक दिखाई न पडे। अनुवादो की परंपरा अलबत्त चलती रही।

बंगभाषा के अनुवाद—बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा वीरनारी, कृष्णकुमारी और पद्मावती नाटकों के अनुवाद का उल्लेख पहले हो चुका है। स० १९५० के पीछे गहमर ( जि० गाजीपुर ) के बाबू गोपालराम ने 'वनवीर', 'बभ्रुवाहन', 'देशदशा', 'विद्याविनोद' और रवींद्र बाबू के 'चित्रागदा' का अनुवाद किया।

द्वितीय उत्थान के अंतिम भाग मे पं० रूपनारायण पाडे ने गिरीश बाबू के 'पतिव्रता', क्षीरोदप्रसाद विद्या-विनोद के 'खानजहाँ', रवींद्र बाबू के 'अचलायतन' तथा द्विजेंद्रलाल राय के 'उस पार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई' आदि कई नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। अनुवादों की भाषा अच्छी खासी हिंदी है और मूल के भावों को ठीक ठीक व्यक्त करती है। इन नाटकों के सबंध मे यह समझ रखना चाहिए कि इनमे बंगवासियों की आवेशशील प्रकृति का आरोप अनेक पात्रों में पाया जाता है जिससे बहुत से इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों के क्षोभपूर्ण लंबे भाषण उनके अनुरूप नहीं जान पड़ते। प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखे हुए नाटको मे उस काल की संस्कृति और परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन नहीं प्रकट होता।

अँगरेजी के अनुवाद—जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ एम० ए० ने ० १९५० के कुछ आगे पीछे शेक्सपियर के इन तीन नाटकों के अनुवाद किए—

रोमियो जूलियट ( 'प्रेमलीला' के नाम से ), ऐज यू लाइक इट और वेनिस का बैपारी। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी के छोटे भाई पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने सं० १९५० में 'मैकबेथ' का बहुत अच्छा अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' के नाम से प्रकाशित किया। इसके उपरांत सं० १९५७ के लगभग 'हैमलेट' का एक अनुवाद 'जयंत' के नाम से निकला जो वास्तव में मराठी अनुवाद का हिंदी अनुवाद था।

संस्कृत के अनुवाद—संस्कृत के नाटकों के अनुवाद के लिये राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० सदा आदर के साथ स्मरण किए जाएँगे। भारतेंदु की मृत्यु के दो वर्ष पहले ही उन्होंने संस्कृत काव्यों के अनुवाद में हाथ लगाया और सं० १९४० में मेघदूत का अनुवाद घनाक्षरी छंदों में प्रकाशित किया। इसके उपरांत वे बराबर किसी न किसी काव्य, नाटक का अनुवाद करते रहे। सं० १९४४ में उनका 'नागानंद' का अनुवाद निकला। फिर तो धीरे धीरे उन्होंने मृच्छकटिक, महावीर-चरित, उत्तर-रामचरित, मालती-माधव, मालविकाग्निमित्र का भी अनुवाद कर डाला। यद्यपि पद्यभाग के अनुवाद में लाला साहब को वैसी सफलता नहीं हुई पर उनकी हिंदी बहुत ही सीधी-सादी, सरल और आडंबर-शून्य है। संस्कृत का भाव उसमें इस ढंग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नहीं आने पाई है।

भारतेंदु के समय में वे काशी के क्वींस-कालेज-स्कूल के सेकेंड मास्टर थे। पीछे डिप्टी कलक्टर हुए और अंत में शांतिपूर्वक प्रयाग में आ रहे जहाँ २ जनवरी १९३७ को उनका साकेतवास हुआ।

संस्कृत के अनेक पुराण ग्रंथों के अनुवादक, रामचरित-मानस, बिहारी सतसई के टीकाकार, सनातन धर्म के प्रसिद्ध व्याख्याता मुरादाबाद के पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणी-संहार' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' के हिंदी अनुवाद भी प्रस्तुत किए। संस्कृत की 'रत्नावली नाटिका' हरिश्चंद्र को बहुत पसंद थी और उसके कुछ अंश का अनुवाद भी उन्होंने किया था, पर पूरा न कर सके थे। भारत-मित्र के प्रसिद्ध संपादक, हिंदी के बहुत ही सिद्ध-हस्त लेखक बा० बालमुकुंद गुप्त ने उक्त नाटिका का पूरा अनुवाद अत्यंत सफलतापूर्वक किया।

संवत् १९७० मे पडित सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के 'उत्तर-राम-चरित' का और पीछे 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कविरत्नजी के ये दोनों अनुवाद बहुत ही सरस हुए जिनमे मूल भावों की रक्षा का भी पूरा ध्यान रखा गया है। पद्य अधिकतर व्रजभाषा के सवैयो मे है जो पढ़ने मे बहुत मधुर हैं। इन पद्यो मे खटकनेवाली केवल दो बाते कही कहीं मिलती है। पहली बात तो यह है कि व्रजभाषा-साहित्य मे स्वीकृत शब्दों के अतिरिक्त वे कुछ स्थलों पर ऐसे शब्द लाए है जो एक भूभाग तक ही (चाहे वह व्रजमडल के अतर्गत ही क्यों न हो ) परिमित हैं। शिष्ट साहित्य मे व्रजमडल के भीतर बोले जानेवाले सब शब्द नहीं ग्रहण किए गए हें। व्रजभाषा देश की सामान्य काव्यभाषा रही है। अतः काव्यो मे उसके वे ही शब्द लिए गए हैं जो बहुत दूर तक बोले जाते हैं और थोडे बहुत सब स्थानों मे समझ लिए जाते हैं। उदाहरण के लिये 'सिदौसी' शब्द लीजिए जो खास मथुरा-वृंदावन मे बोला जाता है, पर साहित्य मे नहीं मिलता। दूसरी बात यह कि, कहीं कही श्लोको का पूरा भाव लाने के प्रयत्न में भाषा दुरूह और अव्यवस्थित हो गई है।

**मौलिक नाटक**—काशी-निवासी पंडित् किशोरीलाल गोस्वामी ने प्रथम उत्थान के अंत मे दो नाटक लिखे थे—'चौपट-चपेट' और 'मयक मंजरी'। इनमे से प्रथम तो एक प्रहसन था जिसमे चरित्रहीन और छलकपट से भरी स्त्रियों तथा लुच्चो-लफगों आदि के बीभत्स और अश्लील चित्र अकित किए गए थे। दूसरा पॉच अको का नाटक था जो शृगार रस की दृष्टि से स० १९४८ मे लिखा गया था। यह भी साहित्य मे कोई विशेष स्थान न प्राप्त कर सका और लोक-विस्मृत हो गया। हिंदी के विख्यात कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की प्रवृत्ति इस द्वितीय उत्थान के आरंभ मे नाटक लिखने की ओर भी हुई थी और उन्होंने 'रुक्मिणी-परिणाय' और 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' नाम के दो नाटक लिखे थे। ये दोनो नाटक उपाध्याय जी ने हाथ आजमाने के लिये लिखे थे। आगे उन्होंने इस ओर कोई प्रयत्न नहीं किया।

पडित् ज्वालाप्रसाद मिश्र ने संस्कृत नाटको के अनुवाद के अतिरिक्त 'सीता-वनवास' नाम का एक नाटक भी लिखा था जिसमे भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' की कुछ झलक थी। उनके भाई पंडित् बलदेवप्रसाद मिश्र ने

यह आगे प्रकट किया जायगा। पहले अनुवादों की बात खतम कर देनी चाहिए।

अनुवाद—सं० १९५१ तक बा० रामकृष्ण वर्मा उर्दू और ॲगरेजी से भी कुछ अनुवाद कर चुके थे—'ठगवृत्तातमाला' ( सं० १९४६ ), 'पुलिस वृत्तातमाला' ( १९४७ ), 'अकबर' ( १९४८ ), 'अमला वृत्तातमाला' ( १९५१ )। 'चित्तौर चातकी' का वंगभाषा से अनुवाद उन्होने सं० १९५२ मे किया। यह पुस्तक चित्तौर के राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध समझी गई और इसके विरोध मे यहाँ तक आंदोलन हुआ कि सब कापियाँ गगा मे फेक दी गई। फिर बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' ( १९५२ ) और 'प्रमीला' ( १९५३ ) का अनुवाद किया। 'जया' और 'मधुमालती' के अनुवाद दो एक बरस पीछे निकले।

भारतेंदु-प्रवर्त्तित प्रथम उत्थान के अनुवादको मे भारतेंदुकाल की हिंदी की विशेषता बनी रही। उपर्युक्त तीनो लेखको की भाषा बहुत ही साधु और संयत रही। यद्यपि उसमें चटपटापन न था पर हिंदीपन पूरा पूरा था। फारसी-अरबी के शब्द बहुत ही कम दिखाई देते हैं, साथ ही संस्कृत के शब्द भी ऐसे ही आए है जो हिंदी के परंपरागत रूप में किसी प्रकार का असामजस्य नहीं उत्पन्न करते। साराश यह कि उन्होने 'शूरता', 'चपलता', लघुता', 'मूर्खता', 'सहायता', 'दीर्घता', 'मृदुता' ऐसी संस्कृत का सहारा लिया है; 'शौर्य्य', 'चापल्य', 'लाघव', 'मौर्ख्य', 'साहाय्य', 'दैर्घ्य' और 'मार्दव' ऐसी संस्कृत का नहीं।

द्वितीय उत्थान के आरंभ मे हमें बाबू गोपालराम ( गहमर ) वंगभाषा के गार्हस्थ्य उपन्यासों के अनुवाद में तत्पर मिलते हैं। उनके कुछ उपन्यास तो इस उत्थान ( सं० १९५७ ) के पूर्व लिखे गए—जैसे 'चतुर चंचला' (१९५० ), 'भानमती' ( १९५१ ), 'नये बाबू' ( १९५१ )—और बहुत से इसके आरंभ में, जैसे 'बड़ा भाई' ( १९५७ ), 'देवरानी जेठानी' (१९५८) 'दो बहिन' ( १९५९ ), तीन पतोहू' ( १९६१ ) और 'सास पतोहू'। भाषा उनकी चटपटी और वक्रतापूर्ण है। ये गुण लाने के लिये कहीं कहीं उन्होंने

पूरबी शब्दो और मुहावरो का भी बेधड़क प्रयोग किया है। उनके लिखने का ढग बहुत ही मनोरंजक है। इसी काल के आरंभ मे गाजीपुर के मुंशी उदितनारायण लाल के भी कुछ अनुवाद निकले जिनमे मुख्य 'दीपनिर्वाण' नामक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमे पृथ्वीराज के समय का चित्र है।

इस उत्थान के भीतर बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, चडीचरण सेन, शरत् बाबू, चारुचंद्र इत्यादि बंगभाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपन्यासकारों की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद तो हो ही गए, रवींद्र बाबू के भी 'आँख की किरकिरि' आदि कई उपन्यास हिंदी रूप मे दिखाई पड़े जिनके प्रभाव से इस उत्थान के अंत मे आविर्भूत होनेवाले हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श बहुत कुछ ऊँचा हुआ। इस अनुवाद-विधान मे योग देनेवालों मे पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पंडित रूपनारायण पाडेय विशेष उल्लेख योग है। बगभाषा के अतिरिक्त उर्दू, मराठी और गुजराती के भी कुछ उपन्यासो के अनुवाद हिंदी मे हुए पर बँगला की अपेक्षा बहुत कम। काशी के बा० गंगाप्रसाद गुप्त ने 'पूना मे हलचल' आदि कई उपन्यास उर्दू से अनुवाद करके निकाले। मराठी से अनूदित उपन्यासों मे बा० रामचंद्र वर्मा का 'छत्रसाल' बहुत ही उत्कृष्ट है।

अँगरेजी के दो ही चार उपन्यासों के अनुवाद देखने मे आए—जैसे, रेनल्ड्स कृत 'लैला' और 'लंडन-रहस्य'। अँगरेजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'टाम काका की कुटिया' का भी अनुवाद हुआ।

अनुवादों की चर्चा समाप्त कर अब हम मौलिक उपन्यासों को लेते है।

पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों को सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे। द्वितीय उत्थान-काल के पहले ही ये नरेंद्रमोहिनी, कुसुमकुमारी, वीरेंद्रवीर आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। उक्त काल के आरभ मे तो 'चद्रकाता सतति' नामक इनके ऐयारी के उपन्यासों की चर्चा चारों ओर इतनी फैली कि जो लोग हिंदी की किताबे नहीं पढ़ते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गए। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा, रससचार,

भावविभूति या चरित्रचित्रण नहीं। ये वास्तव मे घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमे जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य-कोटि मे नहीं आते। पर हिंदी-साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन का स्मरण इस बात के लिये सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने किसी और ग्रंथकार ने नहीं। चंद्रकांता पढ़ने के लिये ही न जाने कितने उर्दू-जीवी लोगों ने हिंदी सीखी। चद्रकाता पढ़ चुकने पर वे "चंद्रकांता की किस्म की कोई किताब" ढूँढने मे परेशान रहते थे। शुरू शुरू मे 'चद्रकांता' और 'चंद्रकाता संतति' पढकर न जाने कितने नवयुवक हिंदी के लेखक हो गए। 'चद्रकाता' पढ़कर वे हिंदी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।

बाबू देवकीनदन के प्रभाव से "तिलस्म" और "ऐयारी" के उपन्यासो की हिंदी मे बहुत दिनो तक भरमार रही और शायद अभी तक यह शौक बिल्कुल ठंढा नहीं हुआ है। बाबू देवकीनंदन के तिलस्मी रास्ते पर चलने वालों मे बाबू हरिकृष्ण जौहर विशेष उल्लेख योग्य हैं।

बाबू देवकीनंदन के संबंध में इतना और कह देना जरूरी है कि उन्होंने ऐसी भाषा का व्यवहार किया है जिसे थोडी हिदी और थोड़ी उर्दू पढ़े लोग भी समझ लें। कुछ लोगों का यह समझना कि उन्होंने राजा शिवप्रसाद वाली उस पिछली 'आम-फहम' भाषा का बिलकुल अनुसरण किया जो एकदम उर्दू की ओर झुक गई थी, ठीक नहीं। कहना चाहे तो यों कह सकते हैं कि उन्होने साहित्यिक हिंदी न लिखकर "हिंदुस्तानी" लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हलकी रचनाओं मे काम दे सकती है।

उपन्यासो का ढेर लगा देनेवाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार **पंडित किशोरीलाल गोस्वामी** ( जन्म सं० १९२२—मृत्यु १९८९ ) हैं, जिनकी रचनाएँ साहित्य-कोटि मे आती है। इनके उपन्यासो मे समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूप-रग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है। गोस्वामीजी संस्कृत के अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ तथा हिंदी

के पुराने कवि और लेखक थे। संवत् १९५५ में उन्होंने "उपन्यास" मासिक पत्र निकाला और इस द्वितीय उत्थान-काल के भीतर ६५ छोटे बड़े उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए। अतः साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए। इस द्वितीय उत्थान-काल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं। और लोगो ने भी मौलिक उपन्यास लिखे पर वे वास्तव मे उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामीजी वहीं घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिये चुन लिया और उसी में रम गए। यह दूसरी बात है कि उनके बहुत से उपन्यासो का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड़ सकता है, उनमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करनेवाले दृश्यो की अपेक्षा निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करनेवाले दृश्य अधिक भी है और चटकीले भी। इस बात की शिकायत 'चपला' के संबंध में अधिक हुई थी।

एक और बात जरा खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मजाक। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला। इस शौक के कुछ आगे पीछे उन्होंने 'राजा शिवप्रसाद का जीवनचरित' लिखा जो 'सरस्वती' के आरंभ के ३ अंकों मे (भाग १ संख्या २, ३, ४) निकला। उर्दू जबान और शेर-सखुन की बेढगी नकल से, जो असल से कभी कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। गलत या गलत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दरजे से गिरा देते है। खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मॅगनी का लिबास नहीं पहनाया। 'मल्लिका देवी या बंग-सरोजिनी' में संस्कृत प्राय समास-बहुला भाषा काम मे लाई गई है इन दोनो प्रकार की लिखावटो को देखकर कोई विदेशी चकपकाकर पूछ सकता है कि "क्या दोनो हिंदी है ?" "हम यह भी कर सकते हैं, वह भी कर सकते हैं" इस हौसले ने जैसे बहुत से लेखकों को किसी एक विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ जमने न दिया, वैसे ही कुछ लोगो की भाषा को बहुत कुछ डॉवाडोल रखा, कोई एक टेढ़ा-सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।

गोस्वामीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसंधान नहीं सूचित होता। कहीं कहीं तो कालदोष तुरंत ध्यान में आ जाते हैं—जैसे वहाँ जहाँ अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के कुछ उपन्यासों के नाम ये हैं—तारा, चपला, तरुण-तपस्विनी, रजिया बेगम, लीलावती, राजकुमारी, लवंगलता, हृदयहारिणी, हीराबाई, लखनऊ की कब्र, इत्यादि इत्यादि।

प्रसिद्ध कवि और गद्य लेखक पंडित् अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने भी दो उपन्यास ठेठ हिंदी में लिखे—'ठेठ हिंदी का ठाट' ( सं० १९५६ ) और 'अधखिला फूल' ( १९६४ )। पर ये दोनों पुस्तकें भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गईं, औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं। उनकी सबसे पहले लिखी पुस्तक "वेनिस का बाँका" में जैसे भाषा संस्कृतपन की सीमा पर पहुँची हुई थी वैसी ही इन दोनों पुस्तकों में ठेठपन की हद दिखाई देती है। इन तीनों पुस्तकों को सामने रखने पर पहला ख्याल यही पैदा होता है कि उपाध्यायजी क्लिष्ट, संस्कृतप्राय भाषा भी लिख सकते हैं और सरल से सरल ठेठ हिंदी भी। अधिकतर इसी भाषा-वैचित्र्य पर ख्याल जमकर रह जाता है। उपाध्यायजी के साथ पंडित् लज्जाराम मेहता का भी स्मरण आता है जो अखबार-नवीसी के बीच बीच में पुरानी हिंदू-मर्यादा, हिंदूधर्म और हिंदू पारिवारिक व्यवस्था की सुंदरता और समीचीनता दिखाने के लिये छोटे बड़े उपन्यास भी लिखा करते थे। उनके उपन्यासों में मुख्य ये हैं—'धूर्त रसिकलाल' (सं० १९५६), हिंदू गृहस्थ, आदर्श दंपति ( १९६१ ), बिगड़े का सुधार ( १९६४ ) और आदर्श हिंदू ( १९७२ )। ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं। उपाध्यायजी कवि हैं और मेहताजी पुराने अखबार-नवीस।

काव्य-कोटि में आनेवाले भावप्रधान उपन्यास, जिनमें भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो—चरित्र-चित्रण या घटना वैचित्र्य का लक्ष्य नहीं—हिंदी में न देख, और बंगभाषा में काफी देख, बाबू ब्रजनंदनसहाय बी० ए० ने दो उपन्यास इस ढंग के प्रस्तुत किए—'सौंदर्योपासक" और "राधाकांत" ( सं० १९६९ )।

## छोटी कहानियाँ

जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है उसी प्रकार कथा-कहानी कहना और सुनना भी। कहानियों का चलन सभ्य-असभ्य सब जातियों में चला आ रहा है। सब जगह उनका समावेश शिष्ट साहित्य के भीतर भी हुआ है। घटना-प्रधान और मार्मिक, उनके ये दो स्थूल भेद भी बहुत पुराने हैं और इनका मिश्रण भी। बृहत्कथा, बैतालपचीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि घटनाचक्र मे रमानेवाली कथाओं की पुरानी पोथियाँ हैं। कादंबरी, माधवानल कामकंदला, सीत-बसंत इत्यादि वृत्त-वैचित्र्य-पूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलों मे रमानेवाले भाव-प्रधान आख्यान हैं। इन दोनों कोटि की कहानियो मे एक बड़ा भारी भेद तो यह दिखाई देगा कि प्रथम मे इतिवृत्त का प्रवाह मात्र अपेक्षित होता है; पर दूसरी कोटि की कहानियों मे भिन्न-भिन्न स्थितियो का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है।

आधुनिक ढंग के उपन्यासों और कहानियो के स्वरूप का विकास इस भेद के आधार पर क्रमशः हुआ है। इस स्वरूप के विकास के लिये कुछ बातें नाटकों की ली गईं, जैसे—कथोपकथन, घटनाओ का विन्यास-वैचित्र्य, बाह्य और अभ्यंतर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भाव-व्यंजना। इतिवृत्त का प्रवाह तो उसका मूल रूप था ही; वह तो बना ही रहेगा। उसमे अंतर इतना ही पड़ा कि पुराने ढग की कथा-कहानियो मे कथा-प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था जिसमे घटनाएँ पूर्वापर जुड़ती सीधी चली जाती थीं। पर योरप मे जो नए ढंग के कथानक नावेल के नाम से चले और बंगभाषा में आकर 'उपन्यास' कहलाए ( मराठी में वे 'कादंबरी' कहलाने लगे ) वे कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरंभ में रखकर चल सकते हैं और उनमें घटनाओ की शृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर उधर और शृंखलाओं से गुंफित होती चलती है और अंत मे जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हे पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।

उपर्युक्त दृष्टि से यदि हम देखे तो इंशा की रानी केतकी की बडी कहानी न आधुनिक उपन्यास के अंतर्गत आएगी न राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' या 'वीरसिंह का वृत्तांत' आधुनिक, छोटी कहानी के अतर्गत।

अँगरेजी की मासिक पत्रिकाओं मे जैसी छोटी छोटी आख्यायिकाएँ या कहानियाँ निकला करती है वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में चल पडी थी। ये कहानियाँ जीवन के बडे मार्मिक और भाव-व्यजक खंड-चित्रों के रूप में होती थीं। द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्तियो का आभास लेकर प्रकट होनेवाली 'सरस्वती' पत्रिका मे इस प्रकार की छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष (सं० १९५७) मे ही पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' नाम की कहानी छपी जो मौलिक जान पड़ती है। इसके उपरांत तो उसमें कहानियाँ बराबर निकलती रहीं पर वे अधिकतर बंगभाषा से अनूदित या छाया लेकर लिखी होती थीं। बंगभाषा से अनुवाद करनेवालो मे इंडियन प्रेस के मैनेजर बा० गिरिजाकुमार घोष, जो हिंदी कहानियो मे अपना नाम 'लाला पार्वतीनंदन' देते थे, विशेष उल्लेख योग्य है। उसके उपरांत 'बंगमहिला' का स्थान है जो मिर्जापुर-निवासी प्रतिष्ठित बगाली सज्जन बा० रामप्रसन्न घोष की पुत्री और बा० पूर्णचंद्र की धर्मपत्नी थीं। उन्होंने बहुत सी कहानियों का बँगला से अनुवाद तो किया ही, हिंदी में कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं जिनमें से एक थी "दुलाईवाली" जो सं० १९६४ की 'सरस्वती' (भाग ८, सख्या ५) मे प्रकाशित हुई।

कहानियों का आरभ कहाँ से मानना चाहिए, यह देखने के लिये 'सरस्वती' मे प्रकाशित कुछ मौलिक कहानियो के नाम वर्षक्रम से नीचे दिए जाते हैं—

| | |
|---|---|
| इंदुमती (किशोरीलाल गोस्वामी) | सं० १९५७ |
| गुलबहार ( " " ) | सं० १९५९ |
| प्लेग की चुडैल (मास्टर भगवानदास, मिरजापुर) | १९५९ |
| ग्यारह वर्ष का समय (रामचंद्र शुक्ल) | १९६० |
| पंडित और पंडितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी) | १९६० |
| दुलाईवाली (बंग-महिला) | १९६४ |

इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं—'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली'। यदि 'इंदुमती' किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरांत 'ग्यारह वर्ष का समय', फिर 'दुलाईवाली' का नम्बर आता है।

ऐसी कहानियों की ओर लोग बहुत आकर्षित हुए और वे इस काल के भीतर की प्रायः सब मासिक पत्रिकाओं में बीच बीच में निकलती रहीं। सं० १९६८ में कल्पना और भावुकता के कोश बा० जयशंकर 'प्रसाद' की 'ग्राम' नाम की कहानी उनके मासिक पत्र 'इंदु' में निकली। उसके उपरात तो उन्होंने 'आकाशदीप', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', स्वर्ग के खंडहर', 'चित्रमंदिर' इत्यादि अनेक कहानियाँ लिखीं जो तृतीय उत्थान के भीतर आती है। हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले जी० पी० श्रीवास्तव की पहली कहानी भी 'इंदु' मे सं० १९६८ मे ही निकली थी। इसी समय के आस-पास आज-कल के प्रसिद्ध कहानी-लेखक पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने भी कहानी लिखना आरंभ किया। उनकी पहली कहानी 'रक्षा-बधन' सन् १९१३ की 'सरस्वती' में छपी। सूर्यपुरा के राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह जी हिंदी के एक अत्यंत भावुक और भाषा की शक्तियों पर अद्भुत अधिकार रखनेवाले पुराने लेखक हैं। उनकी एक अत्यंत भावुकतापूर्ण कहानी "कानों मे कँगना" सं० १९७० में 'इंदु' में निकली थी। उसके पीछे आपने 'बिजली' आदि कुछ और सुंदर कहानियाँ भी लिखीं। पं० ज्वालादत्त शर्मा ने सं० १९७१ से कहानी लिखना आरभ किया और उनकी पहली कहानी सन् १९१४ की 'सरस्वती' में निकली। चतुरसेन शास्त्री भी उसी वर्ष कहानी लिखने की ओर झुके।

संस्कृत के प्रकांड प्रतिभाशाली विद्वान्, हिंदी के अनन्य आराधक श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी की अद्वितीय कहानी "उसने कहा था" सं० १९७२ अर्थात् सन् १९१५ की 'सरस्वती' में छपी थी। इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता

के साथ पुकार या कराह नहीं रहा। कहानी भर मे कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की बीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नही पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।

हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद जी की छोटी कहानियाँ भी सं० १९७३ से ही निकलने लगीं। इस प्रकार द्वितीय उत्थान-काल के अंतिम भाग मे ही आधुनिक कहानियों का आरंभ हम पाते हैं जिनका पूर्ण विकास तृतीय उत्थान में हुआ।

## निबंध

यदि गद्य कवियों या लेखको की कसौटी है तो निबध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों मे ही सबसे अधिक सभव होता है। इसीलिये गद्यशैली के विवेचक उदाहरणों के लिये अधिकतर निबध ही चुना करते हैं। निबंध या गद्यविधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुंदर मेल भी करते हैं। लक्ष्यभेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे, विचारात्मक निबंधों मे व्यास और समास की रीति, भावात्मक निबंधों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति। इसी विक्षेप के भीतर वह 'प्रलाप शैली' आएगी जिसका बँगला की देखा-देखी कुछ दिनों से हिंदी में भी चलन बढ़ रहा है। शैलियो के अनुसार गुण-दोष भी भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते है।

आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारो की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह जगह से तोड़ दी जाय, भावो की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई सबध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्व-चिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंध सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबंध-लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है उधर अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए। जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर, अर्थ-संबंध-सूत्र पकड़े हुए, करुण स्थलों की ओर झुकता और गंभीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार कुछ बातों के संबंध में लोगों की बँधी हुई धारणाओं के विपरीत चलने में जिस लेखक को आनंद मिलेगा वह उन बातों के ऐसे पक्षों पर वैचित्र्य के साथ विचरेगा जो उन धारणाओं को व्यर्थ या अपूर्ण सिद्ध करते दिखाई देंगे। उदाहरण के लिये आलसियों और लोभियों को लीजिए, जिन्हें दुनिया बुरा कहती चली आ रही है। कोई लेखक अपने निबंध में उनके अनेक गुणों को विनोदपूर्वक सामने रखता हुआ उनकी प्रशंसा का वैचित्र्यपूर्ण आनंद ले और दे सकता है। इसी प्रकार वस्तु के नाना सूक्ष्म ब्योरों पर दृष्टि गड़ानेवाला लेखक किसी छोटी से छोटी, तुच्छ से तुच्छ, बात को गंभीर विषय का सा रूप देकर, पांडित्यपूर्ण

भाषा की पूरी नकल करता हुआ सामने रख सकता है। पर सब अवस्थाओं मे कोई बात अवश्य चाहिए।

इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजन प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता—खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ संबंधो का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परपरा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी खडी तरह तरह की मुद्रा और उछल कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करता हुई जान पडेगी।

भारतेंदु के समय से ही निबधो की परपरा हमारी भाषा में चल पड़ी थी जो उनके सहयोगी लेखकों मे कुछ दिनो तक जारी रही। पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्थायी विषयों पर निबध लिखने की परंपरा बहुत जल्दी बंद हो गई। उसके साथ ही वर्णनात्मक निबंध-पद्धति पर सामयिक घटनाओं, देश और समाज जीवनचर्य्या, ऋतुचर्य्या आदि का चित्रण भी बहुत कम हो गया। इस द्वितीय उत्थान के भीतर उत्तरोत्तर उच्च कोटि के स्थायी गद्य-साहित्य का निर्माण जैसा होना चाहिए था, न हुआ। अधिकाश लेखक ऐसे ही कामों मे लगे जिनमे बुद्धि को श्रम कम पड़े। फल यह हुआ कि विश्वविद्यालयों में हिंदी की ऊँची शिक्षा का विधान हो जाने पर उच्च कोटि के गद्य की पुस्तको की कमी का अनुभव चारो ओर हुआ।

भारतेंदु के सहयोगी लेखक स्थायी विषयो के साथ साथ समाज की जीवन-चर्य्या, ऋतुचर्य्या, पर्व-त्योहार आदि पर भी साहित्यिक निबंध लिखते आ रहे थे। उनके लेखों मे देश की परंपरागत भावनाओं और उमगो का प्रतिबिंब रहा करता था। होली, विजयादशमी, दीपावली, रामलीला इत्यादि पर उनके लिखे प्रबधों में जनता के जीवन का रग पूरा पूरा रहता था। इसके लिये वे वर्णनात्मक और भावात्मक दोनों विधानो का बडा सुंदर मेल करते थे। यह सामाजिक सजीवता भी द्वितीय उत्थान के लेखकों मे वैसी न रही।

इस उत्थानकाल के आरभ मे ही निबध का रास्ता दिखानेवाले दो अनुवादग्रथ प्रकाशित हुए—"बेकन-विचार-रत्नावली" (अँगरेजी के बहुत पुराने क्या पहले निबध-लेखक लार्ड बेकन के कुछ निबधों का अनुवाद) और "निबंध मालादर्श" (चिपलूणकर के मराठी निबंध का अनुवाद)। पहली पुस्तक

पंडित् महावीरप्रसादजी द्विवेदी की थी और दूसरी पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की। उस समय यह आशा हुई थी कि इन अनुवादों के पीछे ये दोनों महाशय शायद उसी प्रकार के मौलिक निबंध लिखने में हाथ लगाएँ। पर ऐसा न हुआ। मासिक पत्रिकाएँ इस द्वितीय उत्थान-काल के भी बहुत सी निकलीं पर उनमें अधिकतर लेख "बातों के संग्रह" के रूप में ही रहते थे; लेखकों के अंतःप्रयास से निकली विचारधारा के रूप में नहीं। इस काल के भीतर जिनकी कुछ कृतियाँ निबंध-कोटि में आ सकती हैं उनका संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म दौलतपुर (जि० रायबरेली) में वैशाख शुक्ल ४ सं० १९२७ को और देहावसान पौष कृष्ण ३० सं० १९९५ को हुआ।

द्विवेदीजी ने सन् १९०३ में "सरस्वती" के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय उन्होंने लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाय कि साधारण समझनेवाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ जायँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नए नए विचारों की उद्भावनावाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबंधों की श्रेणी में दो ही चार लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकला या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इसमें इसी विषय की बहुत मोटी मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं, जैसे—

"इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

"कविता यदि यथार्थ मे कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बडे बड़े काम हुए हैं। × × कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगो को यह अश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगो को बहुत। × × × ससार में जो बात जैसी देख पडे कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी के लेख या निवध विचारात्मक श्रेणी मे आएँगे। पर विचारों की वह गूढ-गुफित परंपरा उनमे नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचारपद्धति पर दौड़ पडे। शुद्ध विचारात्मक निबंधो का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्राफ मे विचार दबा दबाकर कसे गए हो और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खड को लिए हो। द्विवेदीजी के लेखो को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिये लिख रहा है। एक एक सीधी बात कुछ हेर फेर—कहीं कहीं केवल शब्दो के ही—के साथ पाँच छः तरह से पाँच छः वाक्यों मे कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्य-शैली निर्धारित करती है। उनके लेखो में छोटे छोटे वाक्यो का प्रयोग अधिक मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दो के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढग वही है जो वाद या संवाद मे बहुत शात होकर समझाने बुझाने के काम में लाया जाता है। उनकी यह व्यास-शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न में बडे काम की है।

इस बात के उनके दो लेख "क्या हिंदी नाम की कोई भाषा ही नहीं" (सरस्वती सन् १६१३) और "आर्यसमाज का कोप" (सरस्वती १६१४) अच्छे उदाहरण है। उनके कुछ अश नीचे दिए जाते हैं—

(१) आप कहते हैं कि प्राचीन भाषा मर चुकी और उसे मरे तीन सौ वर्ष हुए। इस पर प्रार्थना है कि न वह कभी मरी और न उसके मरने के कोई लक्षण ही दिखाई देते हैं। यदि आप कभी आगरा, मथुरा, फरुखाबाद, मैनपुरी और इटावे तशरीफ ले जाँय तो कृपा करके वहाँ के एक आध अपर प्राइमरी या मिडिल स्कूल का मुआइना न

सही तो मुलाहजा अवश्य ही करें । ऐसा करने से आपको मालूम हो जाएगा कि जिसे आप मुर्दा समझ रहे हैं, वह अब तक इन जिलों में बोली जाती है । अगर आपको इस 'भाखा' नामक भाषा को मरे तीन सौ वर्ष हुए तो कृपा करके यह बताइए कि श्रीमान् ही के सधर्मी काजिम अली आदि कवियों ने किस भाषा में कविता की है । १७०० ईसवी से लेकर ऐसे अनेक मुसल्मान कवि हो चुके हैं जिन्होंने 'भाखा' में बड़े बड़े ग्रंथ बनाए हैं । हिंदू-कवियों की आप खबर न रक्खें तो कोई विशेष आश्चर्य की बात न थी ।

× × × ×

आनरेबल असगर अली खाँ की पाँचवीं उक्ति यह है कि उर्दू या हिंदुस्तानी ही यहाँ की सार्वदेशिक भाषा है । आपके इस कथन की सचाई की जाँच सहज ही में हो सकती है । ऊपर हाली साहब के दीवान और दूसरे साहित्य-सम्मेलन के सभापति के भाषण से जो अवतरण दिए गए हैं उन्हें खाँ साहब बारी बारी से एक बंगाली, एक मदरासी, एक गुजराती और एक महाराष्ट्र को, जो इस प्रांत के निवासी न हों, दिखावें और उनसे यह कहें कि इनका मतलब हमें समझा दीजिए । बस तत्काल ही आपको मालूम हो जाएगा कि दो में से कौन भाषा अन्य प्रांतवासी अधिक समझते हैं ।

श्रीयुत असगर अली खाँ के इस कथन से कि " Urdu or Hindustani is the lingua franca of the country" एक भेद की बात खुल गई । वह यह कि आप लोगों की राय में यह हिंदुस्तानी और कुछ नहीं, उर्दू ही का एक नाम है । अतएव समझना चाहिए कि जब हिंदुस्तानी भाषा के प्रयोग पर ज़ोर दिया जाता है तब "हिंदुस्तानी" नाम की आड में उर्दू ही का पक्ष लिया जाता है और बेचारी हिंदी के बहिष्कार की चेष्टा की जाती है ।

( २ ) जिस समाज के विद्यार्थी बच्चों तक को अपने दोषों पर धूल डालकर दूसरों को धमकाने और बिना पूछे ही उन्हें "नेक सलाह" देने का अधिकार है उसके बड़ों और विद्वानों के पराक्रम की सीमा कौन निर्दिष्ट कर सकेगा ?

× × × ×

हमारे पास इससे भी बढ़कर कुतूहलजनक पत्र आए हैं । बनावटी या सच्चा नाम देकर बी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड हमें उर्दू मे भेजा है । उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनंतर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है

कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा हमारा सिर धड से अलग कर दिया जाता। भाई सिंह ! दुःख मत करो। आर्य्यसमाज की धर्मोन्नति होती हो तो—

"कर कुठार, आगे यह सीसा"

**पं० माधवप्रसाद** मिश्र का जन्म पजाब के हिसार जिले मे भिवानी के पास कूँगड़ नामक ग्राम मे भाद्र शुक्ल १३ सवत् १९२८ को और परलोकवास उसी ग्राम में प्लेग से चैत्र कृष्ण ४ संवत् १९६४ को हुआ। ये बड़े तेजस्वी सनातनधर्म के कट्टर समर्थक, भारतीय संस्कृति की रक्षा के सतत अभिलाषी विद्वान् थे। इनकी लेखनी में वडी शक्ति थी। जो कुछ ये लिखते थे बडे जोश के साथ लिखते थे, इससे इनकी शैली बहुत प्रगल्भ हाती थी। गौड़ होने के कारण मारवाडियों से इनका विशेष लगाव था और उनके समाज का सुधार ये हृदय से चाहते थे, इसी से "वैश्योपकारक" पत्र का सपादन-भार कुछ दिन इन्होंने अपने ऊपर लिखा था। जिस वर्ष "सरस्वती" निकली ( स० १९५७ ) उसी वर्ष प्रसिद्ध उपन्यासकार बा० देवकीनदन खत्री की सहायता से काशी से इन्होंने "सुदर्शन" नामक पत्र निकलवाया जो सवा दो वर्ष चलकर बद हो गया। इसके सपादनकाल मे इन्होंने साहित्य-सबधी बहुत से लेख, समीक्षाएँ और निबंध लिखे। जोश में आने से ये बड़े शक्तिशाली लेख लिखते थे। 'समालोचक'-सपादक पं० चद्रधर शर्म्मा गुलेरीजी ने इसी से एक बार लिखा था कि—

"मिश्रजी बिना किसी अभिनिवेश के लिख नहीं सकते। यदि हमे उनसे लेख पाने है तो सदा एक न एक टटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें।"

इसमें सदेह नहीं कि जहाँ किसी ने कोई ऐसी बात लिखी जो इन्हे सनातन-धर्म के संस्कारो के विरुद्ध अथवा प्राचीन ग्रंथकारो और कवियो के गौरव को कम करनेवाली लगी कि इनकी लेखनी चल पड़ती थी। पाश्चात्य संस्कृताभ्यासी विद्वान् जो कुछ कच्चा पक्का मत यहाँ के वेद, पुराण, साहित्य आदि के संबध में प्रकट किया करते वे इन्हे खल जाते थे और उनका विरोध ये डटकर करते थे। उस विरोध मे तर्क, आवेश और भावुकता सब का एक अद्भुत मिश्रण रहता था। 'वेबर का भ्रम' इसी झोक मे लिखा गया था। प० महावीरप्रसाद द्विवेदी

ने अपनी 'नैषध-चरित-चर्चा' में नैषध के कई एक बड़ी दूर की सूझवाले अत्युक्तिपूर्ण पद्यो को अस्वाभाविक और सुरुचि-विरुद्ध कह दिया। फिर क्या था, ये एकबारगी फिर पडे और उनकी बातो का अपने ढंग पर उत्तर देते हुए लगे हाथों पं० श्रीधर पाठक के 'गुनवंत हेमंत' नाम की एक कविता की जिसकी द्विवेदी जी ने बडी प्रशंसा की थी, नीरसता और इतिवृत्तात्मकता भी दिखाई। यह विवाद कुछ दिन चला था।

मिश्रजी का स्वदेश-प्रेम भी बहुत गभीर था। ये संस्कृत के और पंडितो के समान देशदशा के अनुभव से दूर रहनेवाले व्यक्ति न थे। राजनीतिक आंदोलनों के साथ इनका हृदय बराबर रहता था। जब देशपूज्य मालवीयजी ने छात्रो को राजनीतिक आदोलनों से दूर रहने की सलाह दी थी तब इन्होंने एक अत्यंत क्षोभ पूर्ण "खुली चिट्ठी" उनके नाम छापी थी। देशदशा की इस तीव्र अनुभूति के कारण इन्हे श्रीधर पाठक की कविताओ मे एक बात बहुत खटकी। पाठकजी ने जहाँ ऋतुशोभा या देशछटा का वर्णन किया है वहाँ केवल सुख, आनद और प्रफुल्लता के पक्ष पर ही उनकी दृष्टि पड़ी है, देश के अनेक दीन-दुखियो के पेट की ज्वाला और कंकालवत् शरीर पर नहीं।

मिश्रजी ने स्वामी विशुद्धानदजी के बडे जीवन-चरित्र के अतिरिक्त और भी बीसों व्यक्तियो के छोटे छोटे जीवन-चरित्र लिखे जिनमे कुछ संस्कृत के पुराने ढाँचे के विद्वान् तथा सनातन धर्म के सहायक सेठ साहूकार आदि है। 'सुदर्शन' मे इनके लेख प्रायः सब विषयो पर निकलते थे, जैसे—पर्वत्योहार, उत्सव, तीर्थस्थान, यात्रा, राजनीति इत्यादि। पर्वत्योहारो तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओ में पड़नेवाले उत्सवों पर निबंध लिखने की जो परपरा भारतेंदु के सहयोगियो ने चलाई थी वह इस द्वितीय उत्थान में आकर इन्हीं पर समाप्त हो गई। हाँ, सवाद-पत्रो के होली, दीवाली के अंकों में उसका आभास बना रहा। लोक-सामान्य स्थायी विषयो पर मिश्रजी के केवल दो लेख मिलते है—'धृति' और 'क्षमा'।

द्वितीय उत्थानकाल मे इस प्रभावशाली लेखक के उदय की उज्ज्वल आभा हिंदी साहित्य-गगन मे कुछ समय के लिये दिखाई पडी, पर खेद है कि अकाल ही विलीन हो गई। पं० माधवप्रसाद मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी

लेखों को जिन्होंने पढ़ा होगा उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबंध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा-शैली पर चलते थे। उनमें बहुत सुंदर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चली चलती थी। इनके गद्य के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

(क) "आर्य्य-वंश के धर्म, कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था, अब कहाँ है? इस गूढ़ एवं मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि सब भगवान् महाकाल के पेट में समा गया। × × × जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतलस्पर्शी जल था वहाँ अब पत्थरों मे दबी हुई एक छोटी सी किंतु सुशीतल वारिधारा बह रही है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी यह भूभाग प्रकाशित हो जाता है। × × × भारतवर्ष की सुखशांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम, पर अटक रहा है। × × × पर जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है, वह कब तक सुरक्षित रहेगा?"

(ख) अब रही आपके जानने की बात; सो जहाँ तक आप जानते हैं वहाँ तक तो सब सफाई है! आप जहाँ तक जानते हैं, महाकवि श्रीहर्ष के काव्य में 'सर्वत्र गाँठे ही गाँठें' हैं और पं० श्रीधरजी की कविता 'सर्वतो भाव से प्रशंसित' है। आप जहाँतक जानते हैं, आप संस्कृत, हिंदी, बँगला आदि इस देश की सब भाषाएँ जानते हैं और हम वेबर साहब की करतूत से भी अनभिज्ञ हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, श्रीहर्ष 'लाल बुझक्कड़ को भी मात करता है' और वेबर साहब याज्ञवल्क्य के समान ठहरता है? आप जहाँ तक जानते हैं, हमारे तत्वदर्शी पंडितों ने कुछ न लिखा और अँगरेजों ने इतना लिखा कि भारत-वासी उनके ऋणी हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, नैषध की प्रशंसा तो सब पक्षपाती पंडितों ने की है और निंदा दुराग्रह-रहित पुरुषों ने की है। आप जहाँ तक जानते हैं डाक्टर बूलर, हाल आदि साहबों ने जो कुछ लिखा है युक्तिपूर्वक लिखा है और मिश्र राधाकृष्ण ने युक्तिशून्य। आप जहाँ तक जानते हैं, प्रोफेसर वेबर की पुस्तक का अभी तक अनुवाद नहीं हुआ और वेबर साहब का ज्ञान हमें 'नैषध-चरित-चर्चा' से हुआ है।

( ग ) लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी हो गया' नहीं कहते हैं और और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का जब बड़ा भारी-श्रम विफल हो जाय तब कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया'। किसी का धन खो जाय, मान-मर्य्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय तो कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया'। इससे जाना गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किंतु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है? अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है? क्या सचमुच मिट्टी इतनी निकृष्ट है! और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है, हम निकृष्ट नहीं हैं? भगवती वसुंधरे! तुम्हारा 'सर्वसहा' नाम यथार्थ है।

अच्छा, मा! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुंधरा' किसने रखा? यह नाम तो उस समय का है। यह नाम व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कात्यायन आदि सुसंतानों का दिया हुआ है। जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर से, कितनी श्लाघा से और श्रद्धा से तुम्हे पुकारते थे।

उपन्यासों से कुछ छुट्टी पाकर बाबू गोपालराम ( गहमर निवासी ) पत्र-पत्रिकाओं में कभी कभी लेख और निबंध भी दिया करते थे। उनके लेखों और निबंधों की भाषा बड़ी चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक होती थी। विलक्षण रूप खड़ा करना उनके निबंधों की विशेषता है। किसी अनुभूत बात का चरम दृश्य दिखानेवाले ऐसे विलक्षण और कुतूहलजनक चित्रों के बीच से वे पाठक को ले चलते हैं कि उसे एक तमाशा देखने का सा आनंद आता है। उनके "ऋद्धि और सिद्धि" नामक निबंध का थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है—

"अर्थ या धन अल्लाउद्दीन का चिराग है। यदि यह हाथ में है तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो। यदि अर्थ के अधिपति हो तो वज्र मूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हे डी० एल० की उपाधि देकर अपने तईं धन्य समझेगा। × × × बरहे पर चलनेवाला नट हाथ में बाँस लिए हुए बरहे पर दौड़ते समय, 'हाय पैसा, हाय पैसा' करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्य दृष्टि से देखता हूँ कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर 'हाय पैसा, हाय पैसा' करती हुई सूर्य्य की परिक्रमा कर रही है।

काल माहात्म्य और दिनों के फेर से ऐश्वर्य्यशाली भगवान् ने तो अब स्वर्ग से उतरकर

दरिद्र के घर शरण ली है और उनके सिंहासन पर अर्थ जा बैठा है। ××× अर्थ ही इस युग का परब्रह्म है। इस महावस्तु के बिना विश्व-संसार का अस्तित्व नहीं रह सकता। यही चक्राकार चैतन्यरूप कैशबाक्स में प्रवेश करके ससार को चलाया करते हैं। ××× साधकों के हित के लिये अर्थनीति-शास्त्र में इसकी उपासना की विधि लिखी है। ×××× बच्चों की पहली पोथी में लिखा है—"बिना पूछे दूसरे का माल लेना चोरी कहलाता है।" लेकिन कटकर जोर से दूसरे का धन हड़प कर लेने से क्या कहलाता है, यह उसमें नहीं लिखा है। मेरी राय में यही कर्मयोग का मार्ग है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि उद्धृत अंश में बंगभाषा के प्रसिद्ध ग्रंथकार बंकिमचंद्र की शैली का पूरा आभास है।

**बाबू बालमुकुंद गुप्त** का जन्म पंजाब के रोहतक जिले के गुरयानी गाँव में सं० १९२२ मे और मृत्यु सं० १९६४ में हुई। ये अपने समय के सबसे अनुभवी और कुशल संपादक थे। पहले इन्होंने दो उर्दू पत्रों का सपादन किया था, पर शीघ्र ही कलकत्ते के प्रसिद्ध संवादपत्र 'बंगवासी' के संपादक हो गए। बंगवासी को छोड़ते ही ये 'भारत मित्र' के प्रधान सपादक बनाए गए। ये बहुत ही चलते पुरजे और विनोदशील लेखक थे अतः कभी कभी छेड़छाड़ भी कर बैठते थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जब 'सरस्वती' (भाग ६ संख्या ११) के अपने प्रसिद्ध 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख मे 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग कर दिया तब इन्हें छेड़छाड़ का मौका मिल गया और इन्होंने 'आत्मा-राम' के नाम से द्विवेदीजी के कुछ प्रयोगों की आलोचना करते हुए एक लेखमाला निकाली जिसमें चुहलबाजी का पुट पूरा था। द्विवेदीजी ऐसे गंभीर प्रकृति के व्यक्ति को भी युक्तिपूर्ण उत्तर के अतिरिक्त इनकी विनोदपूर्ण विगर्हणा के लिये "सरगौ नरक ठेकाना नाहिं" शीर्षक देकर बहुत फबता हुआ आल्हा 'कल्लू अल्हइत' के नाम से लिखना पड़ा।

पत्र-संपादन काल मे इन्होंने कई विषयों पर अच्छे निबंध भी लिखे जिनका एक संग्रह गुप्त-निबंधावली के नाम से छप चुका है। इनके 'रत्नावली नाटिका' के सुंदर अनुवाद का उल्लेख हो चुका है।

गुप्तजी ने सामयिक और राजनीतिक परिस्थिति को लेकर कई मनोरंजक

प्रबंध लिखे हैं जिनमें "शिवशंभु का चिट्ठा" बहुत प्रसिद्ध है। गुप्तजी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। किसी प्रकार का विषय हो, गुप्तजी की लेखनी उसपर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिंदी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी। वे अपने विचारो को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेटकर रखते थे कि उनका आभास बीच बीच मे ही मिलता था। उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे से रहते थे। यह उनकी लिखावट की एक बडी विशेषता थी। "शिवशभु का चिट्ठा" से थोड़ा सा अंश नमूने के लिये दिया जाता है—

"इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे है। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भग, उधर घटा—बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढा, चीलें अदृश्य हुई। अँधेरा छाया, बूँदे गिरने लगीं; साथ ही तड-तड धड-धड होने लगी। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे; कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। 'बम भोला' कहकर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल-डिग्गी पर बडे लाट मिंटो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोलो। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशभु शर्मा के बरामदे की छत पर बूँदे गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लंबी तानी और कुछ काल सुषुप्ति के आनंद में निमग्न रहे। × × × × हाथ-पाँव सुख में; पर विचार के घोडों को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिंदों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुरती से अपनी कोठी में घुस गए होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में चले गए होंगे। पर वह चील कहाँ गई होगी? × × × × हा! शिवशभु को इन पक्षियों की चिंता है, पर वह यह नहीं जानता कि इन अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते।"

यद्यपि पं० गोविंदनारायण मिश्र हिंदी के बहुत पुराने लेखकों में थे पर उस पुराने समय में वे अपने फुफेरे भाई पं० सदानद मिश्र के 'सारसुधा-निधि'

पत्र में कुछ सामयिक और साहित्यिक लेख ही लिखा करते थे जो पुस्तकाकार छपकर स्थायी साहित्य मे परिगणित न हो सके। अपनी गद्य शैली का निर्दिष्ट रूप इस द्वितीय उत्थान के भीतर ही उन्होंने पूर्णतया प्रकाशित किया। इनकी लेखशैली का पता इनके संमेलन के भाषण और "कवि और चित्रकार" नामक लेख से लगता है। गद्य के संबंध मे इनकी धारणा प्राचीनों के "गद्य-काव्य" की सी थी। लिखते समय बाण और दंडी इनके ध्यान मे रहा करते थे। पर यह प्रसिद्ध बात है कि संस्कृत साहित्य में गद्य का वैसा विकास नहीं हुआ। बाण और दंडी का गद्य काव्य-अलंकार की छटा दिखानेवाला गद्य था; विचारों को उत्तेजना देनेवाला, भाषा की शक्ति का प्रसार करनेवाला गद्य नहीं। विचार-पद्धति को उन्नत करनेवाले गद्य का अच्छा और उपयोगी विकास योरपीय भाषाओं मे ही हुआ। गद्यकाव्य की पुरानी रूढ़ि के अनुसरण से शक्तिशाली गद्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

पंडित गोविंदनारायण मिश्र के गद्य को समास-अनुप्रास में गुँथे शब्दगुच्छों का एक अटाला समझिए। जहाँ वे कुछ विचार उपस्थित करते हैं वहाँ भी पदच्छटा ही ऊपर दिखाई पड़ती है। शब्दावलि दोनों प्रकार की रहती है—संस्कृत की भी और व्रजभाषा काव्य की भी। एक ओर 'प्रगल्भ प्रतिभा-स्रोत से समुत्पन्न शब्द-कल्पना-कलित अभिनव भावमाधुरी' है तो दूसरी ओर 'तम तोम सटकाती मुकाती पूरनचंद की सकल-मन-भाई छिटकी जुन्हाई' है। यद्यपि यह गद्य एक क्रीड़ा-कौतुक मात्र है, पर इसकी भी थोड़ी सी झलक देख लेनी चाहिए—

( साधारण गद्य का नमूना )

"परंतु मदमति अरसिकों के अयोग्य, मलिन अथवा कुशाग्रबुद्धि चतुरों के स्वच्छ मलहीन मन को भी यथोचित शिक्षा से उपयुक्त बना लिए बिना उनपर कवि की परम रसीली उक्ति छवि-छबीली का अलंकृत नखशिख लौं स्वच्छ सर्वांग-सुंदर अनुरूप यथार्थ प्रतिबिंब कभी न पड़ेगा। × × × स्वच्छ दर्पण पर ही अनुरूप, यथार्थ सुस्पष्ट प्रतिबिंब प्रतिफलित होता है। उससे साम्हना होते ही अपनी ही प्रतिबिंबित प्रतिकृति मानों समता की स्पर्द्धा में आ, उसी समय साम्हना करने आमने-सामने आ खड़ी होती है।"

( काव्यमय गद्य का नमूना )

"सरद पूनो के समुदित पूरनचंद की छिटकी जुन्हाई सकल-मन-भाई के भी मुँह मसि मल, पूजनीय अलौकिक पदनखचंद्रिका की चमक के आगे तेजहीन मलीन और कलंकित कर दरसाती, लजाती, सरस-सुधा-धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती, अशेष मोह-जड़ता-प्रगाढ़-तम-तोम सटकाती, मुकाता, निज भक्तजन-मनवांछित वराभय भुक्ति मुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथों से मुक्ति लुटाती × × × मुक्ताहारीनीर-क्षीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राज-राजहिय-सिंहासन निवासिनी मंदहासिनी, त्रिलोक-प्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलवाली परम प्रभावशाली सुजन-मन-मोहिनी नवरस-भरी सरससुखद विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।"

भारतेंदु के सहयोगी लेखक प्रायः 'उचित', 'उत्पन्न' उच्चरित' 'नव' आदि से ही संतोष करते थे पर मिश्रजी ऐसे लेखको ने बिना किसी जरूरत के उपसर्गो का पुछल्ला जोड़ जनता के इन जाने बूझे शब्दो को भी—'समुचित', 'समुत्पन्न', 'समुच्चरित', 'अभिनव' करके—अजनबी बना दिया। 'मृदुता', 'कुटिलता', 'सुकरता', 'समीपता', 'ऋजुता' आदि के स्थान पर 'मार्दव', 'कौटिल्य', 'सौकर्य्य', 'सामीप्य', 'आर्जव' आदि ऐसे ही लोगों की प्रवृत्ति से लाए जाने लगे।

बाबू श्यामसुंदर दास जी नागरी-प्रचारिणी सभा के स्थापनकाल से लेकर बराबर हिंदी भाषा, कवियों की खोज तथा इतिहास आदि के संबंध मे लेख लिखते आए हैं। आप जैसे हिंदी के अच्छे लेखक है वैसे ही बहुत अच्छे वक्ता भी। आपकी भाषा इस विशेषता के लिये बहु दिनों से प्रसिद्ध है कि उसमे अरबी-फारसी के विदेशी शब्द नहीं आते। आधुनिक सभ्यता के विधानों के बीच की लिखा पढ़ी के ढग पर हिंदी को ले चलने मे आपकी लेखनी ने बहुत कुछ योग दिया है ?

बाबू साहब ने बड़ा भारी काम लेखकों के लिये सामग्री प्रस्तुत करने का किया है। हिंदी पुस्तकों की खोज के विधान द्वारा आपने साहित्य का इतिहास, कवियो के चरित्र और उनपर प्रबंध आदि लिखने का बहुत सा मसाला इकट्ठा करके रख दिया। इसी प्रकार आधुनिक हिंदी के नए-पुराने लेखको के संक्षिप्त

जीवन-वृत्त 'हिंदी-कोविद रत्नमाला' के दो भागों में आपने संगृहीत किए हैं। शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें—भाषा-विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन—भी आपने लिखी या संकलित की है।

हास्य-विनोद पूर्ण लेख लिखनेवालों मे कलकत्ते के **पं जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी** का नाम भी बराबर लिया जाता है। पर उनके अधिकांश लेख भाषण मात्र हैं, स्थायी विषयों पर लिखे हुए निबंध नहीं।

**पं० चंद्रधर गुलेरी** का जन्म जयपुर मे एक विख्यात पडित् घराने मे २५ आषाढ़ संवत् १६४० मे हुआ था। इनके पूर्वज कॉगड़े के गुलेर नामक स्थान से जयपुर आए थे। प० चंद्रधरजी सस्कृत के प्रकाड विद्वान् और अँगरेजी की उच्च शिक्षा से संपन्न व्यक्ति थे। जीवन के अंतिम वर्षों के पहले ये बराबर अजमेर के मेयो कालेज में अध्यापक रहे। पीछे काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के ओरियंटल कालेज के प्रिंसिपल होकर आए। पर हिंदी के दुर्भाग्य से थोड़े ही दिनों में सं० १६७७ में इनका परलोकवास हो गया। ये जैसे धुरधर पडित् थे वैसे ही सरल और विनोदशील प्रकृति के थे।

गुलेरीजी ने 'सरस्वती' के कुछ ही महीने पीछे अपनी थोड़ी अवस्था मे ही जयपुर से 'समालोचक' नामक एक मासिक पत्र अपने सपादकत्व में निकलवाया था। उक्त पत्र द्वारा गुलेरीजी एक बहुत ही अनूठी लेख-शैली लेकर साहित्य-क्षेत्र मे उतरे थे। ऐसा गंभीर और पांडित्यपूर्ण हास, जैसा इनके लेखों में रहता था, और कही देखने में न आया। अनेक गूढ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण सकेत करती हुई इनकी वाणी चलती थी। इसी प्रसंग-गर्भत्व ( Allusiveness ) के कारण इनकी चुटकियों का आनद अनेक विषयों की जानकारी रखनेवाले पाठकों को ही विशेष मिलता था। इनके व्याकरण ऐसे रूखे विषय के लेख भी मजाक से खाली नहीं होते थे।

यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरीजी मे मिलती है, वह और किसी लेखकमे नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनद उन्हीं को मिल सकता है जो बहुज्ञ या कम से कम बहुश्रुत हैं। इनके

"कछुआ धरम" और "मारेसि मोहिं कुठाउँ" नामक लेखों से उद्धरण दिए जाते हैं।

( १ ) मनुस्मृति में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निंदा या असत् कथा हो रही हो वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या और कहीं उठकर चला जाय। मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरु की कलंक कथा सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताए हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय जो और देशों के सौ में नब्बे आदमियों को ऐसे अवसर पर सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर या मुक्का तान कर सामने खड़े हो जाओ और निंदा करनेवाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे।

पुराने से पुराने आर्य्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे; आर्य्य सप्त-सिंधुओं को आर्य्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि, यज्ञपात्र और अरणी रखने के लिये तीन गाड़ियाँ बनाईं। उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आँज दिया। ऊखल, मूसल और-सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवाँ' मूँजवत् हिंदूकुश के एक मित्र दर्रे खैबर में होकर सिंधु की एक घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अभारि, बभारि, हस्त, सुहस्त, कृशन, शंड, मर्क मारते चले आते थे। वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लंबे डग भरनेवाले विष्णु ने पीछे फिर कर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहाँ 'भ्रातृव्यस्य वधाय' ( सजातानां मध्यमेष्ठ्याय ) देवताओं को आहुति देने लगे। जहाँ जहाँ रास्ते में टिके थे वहँ वहाँ यूप खड़े हो गए। यहाँ की सुजला, सुफला, शस्य-श्यामला, भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं।

पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, मूँजवत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थी। जैसे आजकल लखपती, करोड़पती कहलाते हैं वैसे तब "शतगु", "सहस्रगु" कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने "नवग्वाः" "दशग्वाः" पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियों की तरह कोई कोई 'सरहदी' यहाँ पर भी सोम बेचने चले आते

थे। कोई आर्य्य सीमाप्रांत पर जाकर भी ले आया करते थे! मोल ठहराने में बडी हुज्जत होती थी, जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजडिनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वे कहता, वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिये कहा था कि 'याही मे बेटा और याही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता? उसके पास सोम की "मनोपली" थी और इनका बिना लिए सरता नहीं। अंत में गौ का एक पाद, अर्ध होते होते दाम ते हो जाते। भूरी आखों वाली एक बरस की बछिया में सोम राजा खरीद लिए जाते। गाडी में रखकर शान से लाए जाते।

अच्छा, अब उसी पचनद में 'वाहीक' आकर बसे। अश्वघोष की फडकती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश और आर्य्यावर्त्त की महिमा हो गई; और वह पुराना देश—न तत्र दिवस वसेत्। बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते मारते तो थे ही, वेधरम भी कर देते थे। बस, समुद्र-यात्रा बंद! कहाँ तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जानेवाले द्विज का प्रायश्चित्त करा कर भी संग्रह बंद! वही कछुआ धर्म! ढाल के अंदर बैठे रहो।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिये उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कडी गिन गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पड़कर उपाय खोजा। किसी न किसी तरह कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। लगीं प्रार्थनाएँ होने—

"मा देहि राम! जननी जठरे निवासम्"।

और यह उस देश में जहाँ सूर्य्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों

का यह कहते कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़ बढ़ कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें।

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। सुरपुर में अफवाह पहुँची। बस, इंद्र ने किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखें बंद कर लीं। यह कछुआ धरम का भाई शुतुरमुर्ग धरम है।

( २ ) हमारे यहाँ पूँजी शब्दों की है। जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गए, पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। × × × × यही नहीं जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असिरियावालों से। उनके यहाँ 'असुर' शब्द बड़ी शान का था। 'असुर' माने प्राणवाला, जबरदस्त। हमारे इंद्र को भी यह उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। × × × पारस के पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि 'क्षत्रप' 'क्षेत्रपावन' या 'महाक्षत्रप' हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्प, विस्तास्प के वजन के कृशाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गए। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे, यवन की स्त्री यवनी तो नहीं पर यवन की लिपि 'यवनानी शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गए। साथ ही मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँच गए। पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि ही काम में लाते थे। वराहमिहिर की स्त्री खना चाहे यवनी रही हो, या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिःशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे 'वैल्यूपेबल सिस्टम' भी वेद में निकाला जाय, पर पुराने हिंदू कृतघ्न और गुरुमार न थे। × × × यवन राजाओं की उपाधि 'सोटर' त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी। × × × शकों के हमले हुए तो 'शाकपार्थिव' वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वक्षु ( Oxus ) नदी के किनारे पर से यहाँ चढ आए तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजे मुड़े हुए हूण की ठुड्डी की सी नारंगी।

× × × ×

बकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्य्यसमाज ने मर्मस्थल पर वह मार की है कि

कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। गैरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, पर इन्होंने तो अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं कि "मारेसि मोहिं कुठाऊँ"। अच्छे अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया।

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, हिंदू कहते हैं। × × × और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिकरा हाथ से गया। चाहे 'जय रामजी' कह लो चाहे 'जय श्रीकृष्ण', नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है। कहते हैं कि पहले यह ब्रह्मा का कंठ फाड़कर निकला था।

इस द्वितीय उत्थान के भीतर हम दो एसे निबंध-लेखकों का नाम लेते हैं जिन्होंने लिखा तो कम है पर जिनके लेखों में भाषा की एक नई गति-विधि तथा आधुनिक जगत् की विचारधारा से उद्दीप्त नूतन भाव-भंगी के दर्शन होते हैं। 'सरस्वती' के पुराने पाठकों में से बहुतों को अध्यापक पूर्णसिंह के लेखों का स्मरण होगा। उनके तीन-चार निबंध ही उक्त पत्रिका मे निकले, उनमे विचारों और भावों को एक अनूठे ढंग से मिश्रित करनेवाली एक नई शैली मिलती है। उनकी लाक्षणिकता हिंदी गद्य साहित्य मे एक नई चीज थी। भाषा की बहुत कुछ उड़ान, उसकी बहुत कुछ शक्ति, 'लाक्षणिकता' मे देखी जाती है। भाषा और भाव की एक नई विभूति उन्होंने सामने रखी। योरप के जीवन-क्षेत्र की अशांति से उत्पन्न आध्यात्मिकता की, किसानों और मजदूरों की महत्त्व-भावना की जो लहरें उठीं उनमें वे बहुत दूर तक बहे। उनके निबंध भावात्मक कोटि मे ही आएँगे यद्यपि उनकी तह में क्षीण विचारधारा स्पष्ट लक्षित होती है। इस समय उनके तीन निबंध हमारे सामने हैं 'आचरण की सभ्यता'' 'मजदूरी और प्रेम'' और सच्ची वीरता''। यहाँ हम उनके निबंधों से कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

### 'आचरण की सभ्यता' से

"पश्चिमी ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य जाति ने पहन रखा है, युरोप को कदापि प्राप्त न होता, यदि धन और तेज को एकत्रित करने के

लिये युरोप-निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूरबी जगत् ने इस महत्ता के लिये अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ युरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा मालूम होता है—वहीं दूसरी ओर युरोप के जीवन का वह भाग जहाँ विद्या और ज्ञान का सूर्य्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य भूल जायँगे।

× × × आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। × × × जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफ़िर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंक कर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तो हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था।"

'मज़दूरी और प्रेम' से

"जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनंत काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।"

इस कोटि के दूसरे लेखक हैं बाबू गुलाबराय, एम० ए०, एल-एल० बी०। उन्होंने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबंध थोड़े-बहुत लिखे हैं—जैसे, 'कर्त्तव्य संबंधी रोग, निदान और चिकित्सा', 'समाज और कर्त्तव्य-पालन', 'फिर निराशा क्यों'। 'फिर निराशा क्यों' एक छोटी सी पुस्तक है जिसमें कई विषयों पर बहुत छोटे छोटे आभासपूर्ण निबंध हैं। इन्हीं में से एक 'कुरूपता' भी है जिसका थोड़ा सा अंश नीचे दिया जाता है—

"सौंदर्य्य की उपासना करना उचित है सही, पर क्या उसी के साथ साथ कुरूपता घृणास्पद वा निंद्य है? नहीं, सौंदर्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है। सुंदर

पदार्थ अपनी सुंदरता पर चाहे जितना मान करे, किंतु असुंदर पदार्थ की स्थिति मे ही वह सुंदर कहलाता है। अंधों में काना ही श्रेष्ठ समझा जाता है।

× × × ×

सत्ता-सागर मे दोनों की स्थिति है। दोनों ही एक तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनों ही एक दूसरे में परिणत होते रहते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों? रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा है जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए हुए बैठे हैं। सुंदर वस्तु को भी हम इसी कारण सुंदर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं। आत्मा के सुविस्तृत और औदार्य्यपूर्ण हो जाने पर सुंदर और असुंदर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूपवान् नहीं कहती। इसका यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है। जब हम सारे ससार में अपने आपको ही देखेंगे तब हमको कुरूपवान् भी रूपवान् दिखाई देगा।"

अब निबंध का प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है। खेद है कि समास-शैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखनेवाले, जिनमे बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परंपरा कसी हो, अधिक लेखक हमे न मिले।

## समालोचना

समालोचना का उद्देश्य हमारे यहाँ गुण-दोष विवेचन ही समझा जाता रहा है। सस्कृत-साहित्य में समालोचना का पुराना ढग यह था कि जब कोई आचार्य्य या साहित्य-मीमासक कोई नया लक्षण-ग्रंथ लिखता था तब जिन काव्य-रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था उन्हे रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप मे उद्धृत करता था और जिन्हे दुष्ट समझता था उन्हे दोषों के उदाहरण में देता था। फिर जिसे उसकी राय नापसंद होती थी वह उन्हीं उदाहरणो में से अच्छे ठहराए हुए पद्यों मे दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों के दोष का परिहार करता था[१]। इसके अतिरिक्त जो दूसरा उद्देश्य

१—साहित्य-दर्पणकार ने शृंगार रस के उदाहरण में "शून्य वासगृहं विलोक्य" यह श्लोक उद्धृत किया। रस-गगाधरकार ने इस श्लोक में अनेक दोष दिखलाए और उदाहरण में अपना बनाया श्लोक भिडाया। हिंदी-कवियों में श्रीपति ने दोषों के उदाहरण में केशवदास के पद्य रखे हैं।

समालोचना का होता है—अर्थात् कवियों की अलग अलग विशेषताओं का दिग्दर्शन—उसकी पूर्ति किसी कवि की स्तुति में दो-एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ कह-कर ही लोग मान लिया करते थे, जैसे—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिः मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥

---

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम् ।
नैषधे पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

किसी कवि या पुस्तक के गुणदोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिये एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी। योरप में इसकी चाल खूब चली। वहाँ समालोचना काव्य-सिद्धांत-निरूपण से स्वतंत्र एक विषय ही हो गया। केवल गुण-दोष दिखानेवाले लेखों या पुस्तकों की धूम तो थोड़े ही दिनों रहती थी, पर किसी कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन करानेवाली, उसकी विचारधारा में डूबकर उसकी अंतर्वृत्तियों की छानबीन करानेवाली पुस्तक, जिसमें गुणदोष-कथन भी आ जाता था, स्थायी साहित्य में स्थान पाती थी। समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते हैं—निर्णयात्मक ( Judicial Method ) और व्याख्यात्मक ( Inductive Criticism )[१]। निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमें लेखक या कवि की कहीं प्रशंसा होती है, कहीं निंदा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रंथ में आई हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। यह मूल्य निर्धारित करने नहीं जाती। ऐसी आलोचना अपने शुद्ध रूप में काव्य-वस्तु ही तक परिमित रहती है अर्थात् उसी के अंग-प्रत्यंग की विशेषताओं को ढूँढ़ निकालने और भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या करने में तत्पर रहती है। पर इस व्याख्यात्मक समालोचना के अंतर्गत बहुत सी बाहरी बातों का भी विचार होता

---

१—Methods and Materials of Literary Criticism.—Gayley & Scott.

है— जैसे, सामाजिक, राजनीतिक, साप्रदायिक परिस्थिति आदि का प्रभाव। ऐसी समीक्षा को 'ऐतिहासिक समीक्षा' (Historical Criticism) कहते हैं। इसका उद्देश्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या सबंध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परपरा में क्या स्थान है। बाह्य पद्धति के अतर्गत ही कवि के जीवनक्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अतर्वृत्तियो का सूक्ष्म अनुसधान भी है, जिसे "मनोवैज्ञानिक आलोचना" (Psychological Criticism) कहते है। इनके अतिरिक्त दर्शन, विज्ञान आदि की दृष्टि से समालोचना की और भी कई पद्धतियाँ हैं और हो सकती हैं। इस प्रकार समालोचना के स्वरूप का विकास योरप में हुआ।

केवल निर्णयात्मक समालोचना की चाल बहुत कुछ उठ गई है। अपनी भली बुरी रुचि के अनुसार कवियो की श्रेणी बाँधना, उन्हे नबर देना अब एक बेहूद: बात समझी जाती है[१]।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे हिंदी-साहित्य मे समालोचना पहले पहल केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में प्रकट हुई। लेखों के रूप मे इसका सूत्रपात बाबू हरिश्चद्र के समय में ही हुआ। लेखों के रूप मे पुस्तकों की विस्तृत समालोचना उपाध्याय पडित बदरीनायण चौधरी ने अपनी "आनदकादबिनी" में शुरू की। लाला श्रीनिवासदास के "संयोगिता स्वयंवर" नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना, जिसमें दोषों का उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था, उक्त पत्रिका में निकली थी। पर किसी ग्रथकार के गुण अथवा दोष ही दिखाने के लिये कोई पुस्तक भारतेंदु के समय में न निकली थी। इस प्रकार की पहली पुस्तक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की "हिंदी कालिदास की आलोचना" थी जो इस द्वितीय उत्थान के आरंभ में ही निकली। इसमे लाला सीताराम बी० ए० के अनुवाद किए हुए नाटकों के भाषा तथा भाव-संबंधी दोष बडे विस्तार से दिखाए गए हैं। यह अनुवादों की समालोचना थी,

---

१—The ranking of writers in order of merit has become obsolete.—The New Criticism by J. E Spingarn (1911)

अतः भाषा की त्रुटियो और मूल भाव के विपर्य्यय आदि के आगे जा ही नहीं सकती थी। दूसरी बात यह कि इसमे दोषों का ही उल्लेख हो सका, गुण नहीं ढूँढ़े गए।

इसके उपरात द्विवेदीजी ने कुछ संस्कृत कवियो को लेकर दूसरे ढंग की—अर्थात् विशेषता-परिचायक—समीक्षाएँ भी निकालीं। इस प्रकार की पुस्तकों मे "विक्रमाकदेव-चरितचर्चा" और "नैषधचरित-चर्चा" मुख्य है। इनमे कुछ तो पंडित-मंडली मे प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबियो पर साधुवाद है (जैसे, क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है!) और कुछ भिन्न भिन्न विद्वानों के मतो का सग्रह। इस प्रकार की पुस्तकों से संस्कृत न जाननेवाले हिंदी-पाठकों को दो तरह की जानकारी हासिल होती है—संस्कृत के किसी कवि की कविता किस ढंग की है, और वह पडितों और विद्वानो के बीच कैसी समझी जाती है। द्विवेदीजी की तीसरी पुस्तक "कालिदास की निरंकुशता" मे भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किए गए हैं जिन्हे संस्कृत के विद्वान् लोग कालिदास की कविता मे बताया करते हैं। यह पुस्तक हिंदी वालो के या सस्कृतवालो के फायदे के लिये लिखी गई, यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता। जो हो, इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातो से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप मे समझना चाहिए स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।

यद्यपि द्विवेदीजी ने हिंदी के बडे बडे कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिंदी-साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदीजी न उठ खडे होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटॉग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमे भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।

कवियों का बड़ा भारी इति-वृत्त-संग्रह (मिश्रबंधु-विनोद) तैयार करने के पहले मिश्रबंधुओं ने "हिंदी नवरत्न" नामक समालोचनात्मक ग्रंथ निकाला था

जिसमे सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि 'देव' हिंदी के सबसे बड़े कवि हैं। हिंदी के पुराने कवियों को समालोचना के लिये सामने लाकर मिश्रबंधुओं ने बेशक बड़ा जरूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है। रीतिकाल के भीतर यह सूचित किया जा चुका कि हिंदी में साहित्य-शास्त्र का वैसा निरूपण नही हुआ जैसा संस्कृत मे हुआ। हिंदी के रीति-ग्रंथों के अभ्यास से लक्षणा, व्यंजना, रस आदि के वास्तविक स्वरूप की सम्यक् धारणा नहीं हो सकती। कविता की समालोचना के लिये यह धारणा कितनी आवश्यक है, कहने की जरूरत नहीं। इसके अतिरिक्त उच्च कोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिये विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण-बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है। "कारो कृतहि न मानै" ऐसे ऐसे वाक्यों को लेकर यह राय जाहिर करना कि "तुलसी कभी राम की निंदा नहीं करते, पर सूर ने दो-चार स्थानो पर कृष्ण के कामों को निंदा भी की है," साहित्य-मर्मज्ञों के निकट क्या समझा जायगा ?

"सूरदास प्रभु वै अति खोटे", "कारो कृतहि न मानै" ऐसे ऐसे वाक्यों पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा, वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव मे खोटे कहे गए हैं, न काले कलूटे कृतघ्न। पहला वाक्य सखी की विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है। सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है जो उस सखी का राधाकृष्ण के प्रति रति-भाव व्यंजित करता है। इसी प्रकार दूसरा वाक्य विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोद-मिश्रित अमर्ष व्यजित होता है। यह अमर्ष यहाँ विप्रलंभ श्रृंगार में रतिभाव का ही व्यंजक है।[१] इसी प्रकार कुछ 'दैन्य' भाव की उक्तिओं को लेकर तुलसीदासजी खुशामदी कहे गए हैं। 'देव' को बिहारी से बड़ा सिद्ध करने के लिये बिहारी मे बिना दोष के दोष ढूँढ़े गए हैं। 'सक्रोन' को 'संक्रांति' का ( सक्रमण तक ध्यान कैसे जा सकता था ? ) अपभ्रंश समझ आप लोगो ने उसे बहुत बिगाड़ा हुआ शब्द माना है। 'रोज' शब्द 'रुलाई' के अर्थ में कबीर, जायसी आदि पुराने कवियो मे न जाने कितनी

---

१—देखिए "भ्रमरगीतसार" की भूमिका।

जगह आया है और आगरे आदि के आस-पास अब तक बोला जाता है; पर वह भी 'रोजा' समझा गया है। इसी प्रकार की बे-सिर-पैर की बातों से पुस्तक भरी है। कवियो की विशेषताओ के मार्मिक निरूपण की आशा से जो इसे खोलेगा, वह निराश ही होगा।

इसके उपरात पंडित् पद्मसिंह शर्म्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमे उस साहित्य-परंपरा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्य्यासप्तशती' और 'गाथासप्तशती' के बहुत से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा मेल दिखाकर शर्म्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परपरा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परपरा का उद्घाटन साहित्य-समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है। हिंदी के दूसरे कवियों के मिलते-जुलते पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्म्मा जी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा किया। इस पुस्तक में शर्म्माजी ने उन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहार किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिये बिहारी पर किए गए थे। हो सकता है कि शर्म्माजी ने भी बहुत से स्थलो पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होंने जो कुछ किया है वह अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।

यहाँ पर यह बात सूचित कर देना आवश्यक है कि शर्म्माजी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत (Conventional) है। दूसरे शृंगारी कवियों से अलग करनेवाली बिहारी की विशेषताओं के अन्वेषण और अंतःप्रवृत्तियों के उद्घाटन का—जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है—प्रयत्न इसमे नही हुआ है। एक खटकनेवाली बात है, बिना जरूरत के जगह जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफिली तर्ज।

शर्म्माजी की पुस्तक से दो बातें हुई। एक तो "देव बड़े कि बिहारी" यह भद्दा झगड़ा सामने आया, दूसरे "तुलानात्मक समालोचना" के पीछे लोग बेतरह पड़े।

"देव और बिहारी" के झगडे को लेकर पहली पुस्तक प० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए० एल-एल० बी० की मैदान में आई। इस पुस्तक मे बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनो बडे कवियों की भिन्न भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बातें कही गई है, वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचन के साथ कही गई है, 'नवरत्न' की तरह यों ही नहीं कही गई है। यह पुरानी परिपाटी की साहित्य-समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने के योग्य है। मिश्रबंधुओं की अपेक्षा प० कृष्णबिहारी जी साहित्यिक आलोचना के कहीं अधिक अधिकारी कहे जा सकते है। "देव और बिहारी" के उत्तर मे लाला भगवान-दीनजी ने "बिहारी और देव" नाम की पुस्तक निकाली जिसमे उन्होंने मिश्र-बंधुओं के भद्दे आक्षेपों का उचित शब्दों मे जवाब देकर पडित् कृष्णबिहारीजी की बातों पर भी पूरा विचार किया। अच्छा हुआ कि 'छोटे बडे' के इस भद्दे झगडे की ओर अधिक लोग आकर्षित नहीं हुए।

अब "तुलनात्मक समालोचना" की बात लीजिए। उसकी ओर लोगो का कुछ आकर्षण देखते ही बहुतों ने 'तुलना' को ही समालोचना का चरम लक्ष्य समझ लिया और पत्रिकाओं मे तथा इधर उधर भी लगे भिन्न भिन्न कवियो के पद्यो को लेकर मिलान करने। यहाँ तक कि जिन दो पद्यों मे वास्तव में कोई भाव-साम्य नहीं, उनमे भी बादरायण संबध स्थापित करके लोग इस "तुल-नात्मक समालोचना" के मैदान में उतरने का शौक जाहिर करने लगे। इसका असर कुछ समालोचकों पर भी पडा। पडित् कृष्णबिहारी मिश्रजी ने जो "मतिराम ग्रंथावली" निकाली, उसकी भूमिका का आवश्यकता से अधिक अंश उन्होने इस 'तुलानात्मक आलोचना' को ही अर्पित कर दिया; और बातो के लिये बहुत कम जगह रखी।

द्वितीय उत्थान के भीतर 'समालोचना' की यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई, पर उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत ( Conventional ) ही रहा कवियो की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अंतःप्रवृत्ति की छानबीन करनेवाली उच्च कोटि की समालोचना का प्रारंभ तृतीय उत्थान मे जाकर हुआ।

# गद्य-साहित्य की वर्त्तमान गति

## तृतीय उत्थान

### ( संवत् १९७५ से )

इस तृतीय उत्थान मे हम वर्त्तमान काल मे पहुँचते हैं जो अभी चल रहा है। इसमें आकर हिंदी गद्य-साहित्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के भीतर अनेक नए रास्ते खुले जिनमें से कई एक पर विलायती गलियों के नाम की तख्तियाँ भी लगीं। हमारे गद्य-साहित्य का यह काल अभी हमारे सामने है। इसके भीतर रहने के कारण इसके संबंध में हम या हमारे सहयोगी जो कुछ कहेंगे वह इस काल का अपने संबंध में अपना निर्णय होगा। सच पूछिए तो वर्त्तमान काल, जो अभी चल रहा है, हमसे इतना दूर पीछे नहीं छूटा है कि इतिहास के भीतर आ सके। इससे यहाँ आकर हम अपने गद्य-साहित्य से विविध अंगों का सक्षिप्त विवरण ही इस दृष्टि से दे सकते है कि उनके भीतर की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ लक्षित हो जायँ।

सब से पहले ध्यान लेखकों और ग्रंथकारों की दिन दिन बढ़ती सख्या पर जाता है। इन बीस इक्कीस वर्षों के बीच हिंदी-साहित्य का मैदान काम करने-वालो से पूरा पूरा भर गया, जिससे उसके कई अंगो की बहुत अच्छी पूर्त्ति हुई, पर साथ ही बहुत सी फालतू चीजें भी इधर उधर बिखरीं। जैसे भाषा का पूरा अभ्यास और उसपर अच्छा अधिकार रखनेवाले, प्राचीन और नवीन साहित्य के स्वरूप को ठीक ठीक परखनेवाले अनेक लेखकों द्वारा हमारा साहित्य पुष्ट और प्रौढ़ हो चला, वैसे ही केवल पाश्चात्य साहित्य के किसी कोने मे आँख खोलनेवाले और योरप की हर एक नई-पुरानी बात को 'आधुनिकता" कहकर चिल्लानेवाले लोगों के द्वारा बहुत कुछ अनधिकार चर्चा—बहुत-सी अनाड़ीपन

की बातें—भी फैल चलीं। इस दूसरे ढाँचे के लोग योरप की सामाजिक, राज-नीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों के अनुसार समय समय पर उठे हुए नाना वादों और प्रवादों को लेकर और उनकी उक्तियों के टेढ़े-सीधे अनुवाद की उद्धरणी करके ही अपने को हमारे वास्तविक साहित्य-निर्माताओं से दस हाथ आगे बता चले।

इनके कारण हमारा सच्चा साहित्य रुका तो नहीं, पर व्यर्थ की भीड़-भाड़ के बीच ओट में अवश्य पड़ता रहा। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या निबंध क्या समालोचना, क्या काव्य-स्वरूप-मीमांसा, सब क्षेत्रों के भीतर कुछ विलायती मंत्रों का उच्चारण सुनाई पड़ता आ रहा है। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अपने जन्म-स्थान में अब नहीं सुनाई पड़ते। हँसी तब आती है जब कुछ ऐसे व्यक्ति भी 'मध्ययुग की प्रवृत्ति', 'क्लासिकल,' 'रोमांटिक' इत्यादि शब्दों से विभूषित अपनी आलोचना द्वारा 'नए युग की वाणी' का संचार समझाने खड़े होते हैं, जो इन शब्दों का अर्थ जानना तो दूर रहा, अँगरेजी भी नहीं जानते। उपन्यास के क्षेत्र में देखिए तो एक ओर प्रेमचंद ऐसे प्रतिभाशाली उपन्यासकार हिंदी की कीर्ति का देश-भर में प्रसार कर रहे हैं; दूसरी ओर कोई उनकी भर-पेट निंदा करके टाल्सटॉय का 'पापी के प्रति घृणा नहीं दया' वाला सिद्धांत लेकर दौड़ता है। एक दूसरा आता है जो दयावाले सिद्धांत के विरुद्ध योरप का साम्यवादी सिद्धांत ला भिड़ाता है और कहता है कि गरीबों का रक्त चूसकर उन्हें अपराधी बनाना और फिर बड़ा बनकर दया दिखाना तो उच्च वर्ग के लोगों की मनोवृत्ति है। वह बड़े जोश के साथ सूचित करता है कि इस मनोवृत्ति का समर्थन करनेवाला साहित्य हमें नहीं चाहिए; हमें तो ऐसा साहित्य चाहिए जो पद-दलित अकिंचनों में ताप, विद्रोह और आत्म-गौरव का संचार करे और उच्च वर्ग के लोगों में नैराश्य, लज्जा और ग्लानि का।

एक ओर स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी अपने नाटकों द्वारा यह साफ झलका देते हैं कि प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त लेकर चलनेवाले नाटकों की रचना के लिये काल-विशेष के भीतर के तथ्य बटोरनेवाला कैसा विस्तृत अध्ययन और उन तथ्यों द्वारा अनुमित सामाजिक स्थिति के सजीव ब्योरे सामने खड़ा करनेवाली कैसी सूक्ष्म कल्पना चाहिए; दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे नाटकों के प्रति उपेक्षा

ना-सा भाव दिखाते हुए बर्नर्ड शा आदि का नाम लेते है और कहते हैं कि आधुनिक युग 'समस्या नाटकों' का हैं। यह ठीक है कि विज्ञान की साधना द्वारा ससार के वर्त्तमान युग का बहुत-सा रूप योरप का खड़ा किया हुआ है। पर इसका क्या यह मतलब है कि युग का सारा रूप-विधान योरप ही करे और हम आराम से जीवन के सब क्षेत्रों मे उसी के दिए हुए रूपो को ले लेकर रूपवान् बनते चलें? क्या अपने स्वतत्र स्वरूप-विकास की हमारी शक्ति सब दिन के लिये मारी गई?

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि योरप के साहित्य-क्षेत्र में उठी हुई बातों की चर्चा हमारे यहाँ न हो। यदि हमे वर्त्तमान जगत् के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहाँ के अनेक 'वादों' और प्रवृत्तियों तथा उन्हे उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियो का पूरा परिचय हमें होना चाहिए। उन वादो की चर्चा अच्छी तरह हो, उनपर पूरा विचार हो और उनके भीतर जो थोड़ा-बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास मे रखा जाय। पर उनमें से कभी इसको, कभी उसको, यह कहते हुए सामने रखना कि वर्त्तमान विश्व-साहित्य का स्वरूप यही है जिससे हिंदी-साहित्य अभी बहुत दूर है, अनाड़ीपन ही नहीं जंगलीपन भी है।

आज-कल भाषा की भी बुरी दशा है। बहुत-से लोग शुद्ध भाषा लिखने का अभ्यास होने के पहले ही बड़े बड़े पोथे लिखने लगते है जिनमें व्याकरण की भद्दी भूले तो रहती ही हैं, कहीं कहीं वाक्य-विन्यास तक ठीक नहीं रहता। यह बात और किसी भाषा के साहित्य में शायद ही देखने को मिले। व्याकरण की भूलों तक ही बात नहीं है। अपनी भाषा की प्रकृति की पहचान न रहने के कारण कुछ लोग उसका स्वरूप भी बिगाड़ चले हैं। वे अँगरेजी के शब्द, वाक्य और मुहावरे तक ज्यों-के-त्यों उठाकर रख देते है; यह नहीं देखने जाते कि भाषा हिंदी हुई या और कुछ। नीचे के अवतरणो से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(१) उनके हृदय में अवश्य ही एक ललित कोना होगा जहाँ रतन ने स्थान पा लिया होगा। (कुंडलीचक्र उपन्यास)

( २ ) वह उन लोगों में से न था जो घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों। ( वही )

( ३ ) क्या संभव नहीं है कि भारत के बड़े बड़े स्वार्थ कुछ लोगों की नामावली उपस्थित करें। ( आज, २८, अक्टूबर, १९३९ )

## उपन्यास-कहानी

इस तृतीय उत्थान में हमारा उपन्यास-कहानी साहित्य ही सबसे अधिक समृद्ध हुआ। नूतन विकास लेकर आनेवाले प्रेमचंद जो कर गए वह तो हमारे साहित्य की एक निधि ही है, उनके अतिरिक्त पं० विश्वंभरनाथ कौशिक, बाबू प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्रीजैनेंद्रकुमार ऐसे सामाजिक उपन्यासकार तथा बा० वृंदावनलाल वर्मा ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासकार उपन्यास-भंडार की बहुत सुंदर पूर्ति करते जा रहे हैं। सामाजिक उपन्यासों में देश में चलनेवाले राष्ट्रीय तथा आर्थिक आंदोलनों का भी आभास बहुत कुछ रहता है। तअल्लुकेदारों के अत्याचार, भूखे किसानों की दारुण दशा के बड़े चटकीले चित्र उनमें प्रायः पाए जाते हैं। इस संबंध में हमारा केवल यही कहना है कि हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि अँगरेजी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवन निर्वाह करनेवालों ( किसानों और जमींदारों दोनों ) की और नगर के रोजगारियों या महाजनों की परस्पर क्या स्थिति हुई। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि राजकर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियों का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गई है। व्यापार-श्रेणियों को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फूलता-फलता रखने के लिये दिया गया था, जिससे उनकी दशा उन्नत होती आई और भूमि से संबंध रखनेवाले सब वर्गों की—क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर—गिरती गई।

जमींदारों के अंतर्गत हमें ९८ प्रतिशत साधारण जमींदारों को लेना चाहिए; २ प्रतिशत बड़े बड़े तअल्लुकेदारों को नहीं। किसान और जमींदार एक ओर

तो सरकार की भूमि-कर-संबंधी नीति से पिसते आ रहे हैं, दूसरी ओर उन्हें भूखों मारनेवाले नगरों के व्यापारी हैं जो इतने घोर श्रम से पैदा की हुई भूमि की उपज का भाव अपने लाभ की दृष्टि से घटाते-बढ़ाते रहते हैं। भाव किसानों, जमींदारों के हाथ में नहीं। किसानों से बीस सेर के भाव से अन्न लेकर व्यापारी सात आठ सेर के भाव से बेचा करते है। नगरों के मजदूर तक पान-बीड़ी के साथ सिनेमा देखते हैं, गाँव के जमीदार और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे उपन्यासकारो को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर आप देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।

वर्तमान जगत् मे उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। समाज के बीच खान-पान के व्यवहार तक में जो भद्दी नकल होने लगी है—गर्मी के दिनों में भी सूट बूट कसकर टेबुलों पर जो प्रीति-भोज होने लगा है—उसको हँसकर उड़ाने की सामर्थ्य उपन्यासों में ही है। लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिंत्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।

लोक की सामयिक परिस्थितियों तक न रहकर जीवन के नित्य स्वरूप की विषमताएँ और उलझनें सामने रखनेवाले उपन्यास भी योरप में लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। जीवन मे कुछ बातों का जो मूल्य चिरकाल से निर्धारित चला आ रहा है—जैसे पाप और पुण्य का—उनकी मीमांसा में भी उपन्यास प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकार उपन्यासों का लक्ष्य वहाँ क्रमशः ऊँचा होता गया जिससे जीवन के नित्य स्वरूप का चिंतन और अनुभव करनेवाले बड़े बड़े कवि इधर उपन्यास के क्षेत्र में भी काम करते दिखाई देते हैं। बड़े

हर्ष की बात है कि हमारे हिंदी-साहित्य में भी बा० भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' नाम का इस ढग का एक सुंदर उपन्यास प्रस्तुत किया है।

द्वितीय उत्थान के भीतर बँगला से अनूदित अथवा उनके आदर्श पर लिखे गए उपन्यासों में देश की सामान्य जनता के गार्हस्थ्य और पारिवारिक जीवन के बड़े मार्मिक और सच्चे चित्र रहा करते थे। प्रेमचदजी के उपन्यासो मे भी निम्न और मध्य श्रेणी के गृहस्थों के जीवन का बहुत सच्चा स्वरूप मिलता रहा। पर इधर बहुत से ऐसे उपन्यास सामने आ रहे हैं जो देश के सामान्य भारतीय जीवन से हटकर बिल्कुल योरपीय रहन सहन के साँचे मे ढले हुए बहुत छोटे-से वर्ग का जीवन-चित्र ही यहाँ से वहाँ तक अकित करते हैं। उनमे मिस्टर, मिसेज, मिस, प्रोफेसर, होस्टल, क्लब, ड्राइंगरूम, टेनिस, मैच, सिनेमा, मोटर पर हवाखोरी, कॉलेज की छात्रावस्था के बीच के प्रणय-व्यवहार इत्यादि ही सामने आते हैं। यह ठीक है कि अँगरेजी शिक्षा के दिन दिन बढ़ते हुए प्रचार से देश के आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष हो गया है पर यह सामान्य पक्ष नहीं है। भारतीय रहन सहन, खान पान, रीति-व्यवहार प्रायः सारी जनता के बीच बने हुए है। देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते।

यहाँ तक तो सामाजिक उपन्यासों की बात हुई। ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम देखने मे आ रहे है। एक प्रकार से तो यह अच्छा है। जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग अलग विशेष रूप से अध्ययन करनेवाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्योरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करनेवाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं। द्वितीय उत्थान के भीतर जो कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए या वंग भाषा से अनुवाद करके लाए गए, उनमे देश-काल की परिस्थिति का अध्ययन नही पाया जाता। अब किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्त-काल में गुलाबी और फीरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़ फानूस लाए जाएँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिए जाएँगे, और उन पर करतल-ध्वनि होगी; बात बात मे 'धन्यवाद', 'सहानुभूति' ऐसे

शब्द तथा 'सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना' ऐसे फिकरे पाए जायँगे तो काफी हँसनेवाले और नाक-भौं सुकोड़नेवाले मिलेंगे। इससे इस जमीन पर बहुत समझ-बूझकर पैर रखना होगा।

ऐतिहासिक उपन्यास जिस ढग से लिखना चाहिए, यह प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्रीराखालदास वंद्योपाध्याय ने अपने 'करुणा', 'शशाक' और 'धर्मपाल' नामक उपन्यासों द्वारा अच्छी तरह दिखा दिया। प्रथम दो के अनुवाद हिंदी मे हो गए हैं। खेद है कि इस समीचीन पद्धति पर प्राचीन हिंदू साम्राज्य-काल के भीतर की कथा-वस्तु लेकर मौलिक उपन्यास न लिखे गए। नाटक के क्षेत्र में अलबत स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी ने इस पद्धति पर कई सुंदर ऐतिहासिक नाटक लिखे। इसी पद्धति पर उपन्यास लिखने का अनुरोध हमने उनसे कई बार किया था जिसके अनुसार शुंगकाल ( पुष्यमित्र, अग्निमित्र का समय ) का चित्र उपस्थित करनेवाला एक बड़ा मनोहर उपन्यास लिखने में उन्होंने हाथ भी लगाया था, पर साहित्य के दुर्भाग्य से उसे अधूरा छोड़कर ही वे चल बसे।

वर्तमानकाल मे ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में केवल बा० वृंदावनलाल वर्मा दिखाई दे रहे हैं। उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्ययुग के प्रारंभ मे बुंदेलखंड की स्थिति लेकर 'गढकुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' नामक दो बड़े सुदर उपन्यास लिखे हैं। विराटा की पद्मिनी की कल्पना तो अत्यंत रमणीय है।

उपन्यासों के भीतर लंबे-लंबे दृश्य-वर्णनो तथा धाराप्रवाह भाव-व्यंजना-पूर्ण भाषण की प्रथा जो पहले थी वह योरप में बहुत कुछ छाँट दी गई, अर्थात् वहाँ उपन्यासों से काव्य का रंग बहुत कुछ हटा दिया गया। यह बात वहाँ नाटक और उपन्यास के क्षेत्र मे 'यथातथ्यवाद' की प्रवृत्ति के साथ हुई। इससे उपन्यास की अपनी निज की विशिष्टता निखरकर झलकी, इसमें कोई संदेह नहीं। वह विशिष्टता यह है कि घटनाएँ और पात्रों के क्रियाकलाप ही भावो को बहुत-कुछ व्यक्त कर दे, पात्रो के प्रगल्भ भाषण की उतनी अपेक्षा न रहे। पात्रों के थोड़े से मार्मिक शब्द ही हृदय पर पड़नेवाले प्रभाव को पूर्ण कर दें। इस तृतीय उत्थान का आरभ होते होते हमारे हिंदी-साहित्य मे उपन्यास की

यह पूर्ण विकसित और परिष्कृत स्वरूप लेकर स्वर्गीय प्रेमचंदजी आए। द्वितीय उत्थान के मौलिक उपन्यासकारों में शील-वैचित्र्य की उद्भावना नहीं के बराबर थी। प्रेमचंदजी के ही कुछ पत्रकारों में ऐसे स्वाभाविक ढाँचे की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलने लगीं जिन्हें सामने पाकर अधिकाश लोगों को यह भासित हो कि कुछ इसी ढंग की विशेषतावाले व्यक्ति हमने कहीं न कहीं देखे हैं। ऐसी व्यक्तिगत विशेषता ही सच्ची विशेषता है, जिसे झूठी विशेषता और वर्गगत विशेषता दोनों से अलग समझना चाहिए। मनुष्य-प्रकृति की व्यक्तिगत विशेषताओं का संगठन भी प्रकृति के और विधानों के समान कुछ ढरों पर होता है, अतः ये विशेषताएँ बहुतों को लखाई पड़ती रहती है चाहे वे उन्हें शब्दों में व्यक्त न कर सकें। प्रेमचंद की सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलनेवाली भाषा भी पहले नहीं देखी गई थी।

अतःप्रकृति या शील के उत्तरोत्तर उद्घाटन का कौशल भी प्रेमचंदजी के दो एक उपन्यासों में, विशेषतः 'गबन' में देखने में आया। सत् और असत्, भला और बुरा, सर्वथा भिन्न वर्ग करके पात्र निर्माण करने की अस्वाभाविक प्रथा भी इस तृतीय उत्थान में बहुत कुछ कम हुई है, पर मनोवृत्ति की अस्थिरता का वह चित्रण अभी बहुत कम दिखाई पड़ा है जिसके अनुसार कुछ परिस्थितियों में मनुष्य अपने शील-स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध आचरण कर जाता है।

उपन्यासों से भी प्रचुर विकास हिंदी में छोटी कहानियों का हुआ है। कहानियाँ बहुत तरह की लिखी गईं; उनके अनेक प्रकार के रूप रंग प्रकट हुए। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि उपन्यास और छोटी कहानी दोनों के ढाँचे हम ने पश्चिम से लिए हैं। हैं भी ये ढाँचे बड़े सुंदर। हम समझते हैं कि हमें ढाँचों ही तक रहना चाहिए। पश्चिम में भिन्न भिन्न दृष्टियों से किए हुए उनके वर्गीकरण, उनके संबंध में निरूपित तरह तरह के सिद्धांत भी हम समेटते चलें, इसकी कोई आवश्यक नहीं दिखाई देती। उपन्यासों और छोटी कहानियों का हमारे वर्त्तमान हिंदी-साहित्य में इतनी अनेकरूपता के साथ विकास हुआ है कि उनके संबंध में हम अपने कुछ स्वतंत्र सिद्धांत स्थिर कर सकते हैं, अपने ढंग पर उनके भेद-उपभेद निरूपित कर सकते हैं। इसकी आवश्यकता समझने के

लिए एक उदाहरण लिजिए। छोटी कहानियों के जो आदर्श और सिद्धांत अँगरेजी की अधिकतर पुस्तकों में दिए गए हैं, उनके अनुसार छोटी कहानियों में शील या चरित्र-विकास का अवकाश नहीं रहता। पर प्रेमचंदजी की एक कहनी है 'बड़े भाई साहब' जिसमें चरित्र के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जिस संग्रह के भीतर यह कहानी है, उसकी भूमिका में प्रेमचंदजी ने कहानी मे चरित्र-विकास को बड़ा भारी कौशल कहा है। छोटी कहानियों के जो छोटे-मोटे सग्रह निकलते है उनमें भूमिका के रूप में अँगरेजी पुस्तकों से लेकर कुछ सिद्धात प्रायः रख दिए जाते हैं। यह देखकर दुःख होता है, विशेष करके तब, जब उन सिद्धांतों से सर्वथा स्वतंत्र कई सुंदर कहानियाँ उन संग्रहों के भीतर ही मिल जाती है।

उपन्यास और नाटक दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति किस प्रकार योरप मे हुई है और दृश्य-वर्णन, प्रगल्भ भाव-व्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि किस प्रकार हटाए जाने लगे हैं, इसका उल्लेख हम अभी कर आए हैं[१]। उनके अनुसार इस तृतीय उत्थान में हमारे उपन्यासों के ढाँचों में भी कुछ परिवर्तन हुआ। परिच्छेदो के आरंभ में लबे लंबे काव्यमय दृश्य-वर्णन, जो पहले रहा करते थे, बहुत कम हो गए, पात्रों के भाषण का ढग भी कुछ अधिक स्वाभाविक और व्यवहारिक हुआ। उपन्यास को काव्य के निकट रखनेवाले पुराना ढाँचा एकबारगी छोड़ नहीं दिया गया है। छोड़ा क्यों जाय? उसके भीतर हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबंधों (जैसे, कादबरी, हर्षचरित) के स्वरूप की परंपरा छिपी हुई है। योरप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे। यह कुछ आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे पीछे रखें। अब यह आदत छोड़नी चाहिए कि कही हार्डी का कोई ऊपन्यास पढ़ा और उसमे अवसाद या 'दुःखवाद' की गंभीर छाया देखी तो चट बोल उठे कि अभी हिंदी के उपन्यासो को यहाँ तक पहुँचने में बहुत देर है। बौद्धों के दुःखवाद का संस्कार किस प्रकार जर्मनी के शोपनहावर से होता हुआ हार्डी तक पहुँचा, यह भी जानना चाहिए।

---

१–देखा पृ० ५३८ का अंतिम पैरा।

योरप मे नाटक और उपन्यास से काव्यत्व निकाल बाहर करने का जो प्रयत्न हुआ है, उसका कुछ कारण है। वहाँ जब फ्रांस और इटली के कला, वादियों द्वारा काव्य भी बेल-बूटे की नक्काशी की तरह जीवन से सर्वथा पृथक् कहा जाने लगा, तब जीवन को ही लेकर चलनेवाले नाटक और उपन्यास का उससे सर्वथा पृथक् समझा जाना स्वाभाविक ही था। पर इस अत्यंत पार्थक्य का आधार प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जगत् और जीवन के नाना पक्षो को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्रण और भाव-व्यजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा विविध परिस्थितियों की उद्भावना को। उपन्यास न जाने कितनी ऐसी परिस्थितिया सामने लाते है जो काव्य-धारण के लिये प्रकृत मार्ग खोलती है।

उपन्यासो और कहानियो के समाजिक और ऐतिहासिक ये दो भेद तो बहुत प्रत्यक्ष है। ढाँचों के अनुसार जो तीन मुख्य भेद—कथा के रूप मे, आत्मकथा के रूप मे और चिट्ठी-पत्री के रूप में—किए गए है उनमे से अधिकतर उदाहरण तो प्रथम के ही सर्वत्र हुआ करते है। द्वितीय के उदाहरण भी अब हिंदी मे काफी है, जैसे, 'दिल की आग' ( जी० पी० श्रीवास्तव )। तृतीय के उदाहरण हिंदी में बहुत कम पाए जाते है, जैसे 'चद हसीनों के खतूत'। इस ढाँचे मे उतनी सजीवता भी नही।

कथा-वस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार हिंदी के अपने वर्तमान उपन्यासो मे हमे ये भेद दिखाई पड़ते है—

( १ ) घटना-वैचित्र्य-प्रधान अर्थात् केवल कुतूहलजनक, जैसे, जासूसी, और वैज्ञानिक अविष्कारो का चमत्कार दिखानेवाले। इनमे साहित्य का गुण अत्यत अल्प होता है—केवल इतना ही होता है कि ये आश्चर्य और कुतूहल जगाते है।

( २ ) मनुष्य के अनेक पारस्परिक संबधो की मार्मिकता पर प्रधान लक्ष्य रखनेवाले, जैसे, प्रेमचंदजी का 'सेवा-सदन,' निर्मला,' 'गोदान'; श्री विश्वंभर-

नाथ कौशिक का 'माँ', भिखारिणी'. श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा', 'विकास' 'विजय', चतुरसेन शास्त्री का 'हृदय की प्यास'।

( ३ ) समाज के भिन्न भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करनेवाले, जैसे, प्रेमचदजी का 'रगभूमि', कर्मभूमि': प्रसादजी का 'ककाल' 'तितली'।

( ४ ) अतर्वृत्ति अथवा शील-वैचित्र्य और उसका विकासक्रम अकित करनेवाले, जैसे, प्रेमचदजी का 'गबन': श्री जैनेंद्रकुमार का 'तपोभूमि', 'सुनीता'।

( ५ ) भिन्न भिन्न जातियो और मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक सबंध पर जोर देनेवाले। 'जैसे, राजा राधिकारमणप्रसादसिंहजी का 'राम रहीम'।

( ६ ) समाज के पाखड-पूर्ण कुत्सित पक्षों का उद्घाटन और चित्रण करनेवाले. जैसे, पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'बुधुवा की बेटी'

( ७ ) बाह्य और आभ्यतर प्रकृति की रमणीयता का समन्वित रूप में चित्रण करनेवाले, सुदर और अलकृत पद-विन्यास युक्त उपन्यास, जैसे स्वर्गीय श्री चडीप्रसाद 'हृदयेश' का 'मगल प्रभात'।

अनुसधान और विचार करने पर इसी प्रकार और दृष्टियों से भी कुछ भेद किए जा सकते है। सामाजिक और राजनीतिक सुधारो के जो आंदोलन देश मे चल रहे हैं उनका आभास भी बहुत से उपन्यासों में मिलता है। प्रवीण उपन्यासकार उनका समावेश और बहुत सी बातों की बीच कौशल के साथ करते हैं। प्रेमचदजी के उपन्यासो और कहानियों मे भी ऐसे आदोलनों के आभास प्राय: मिलते है। पर उनमे भी जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज-सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है वहाँ उपन्यासकार का रूप छिप गया है और प्रचारक ( Propagandist ) का रूप ऊपर आ गया।

## छोटी कहानियाँ

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ

और भी विशद और विस्तृत रूप में हुआ है और उसमें वर्त्तमान कवियों का भी पूरा योग रहा है। उनके इतने रूप-रंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब के सब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते। न तो सब में विस्तार के किसी नियम का पालन मिलेगा, न चरित्र-विकास का अवकाश। एक संवेदना या मनोभाव का सिद्धांत भी कहीं कहीं ठीक न घटेगा। उसके स्थान पर हमें मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी, जिसके भीतर कई ऐसी संवेदनाओं का योग रहेगा जो, सारी परिस्थिति को बहुत ही मार्मिक रूप देगा। श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'उन्मादिनी' का जिस परिस्थिति में पर्य्यवसान होता है उसमें पूरन का सत्त्वोद्रेक, सौदामिनी का अपत्यस्नेह और कालीशंकर की स्तब्धता तीनों का योग है। जो कहानियाँ कोई मार्मिक परिस्थिति लक्ष्य में रखकर चलेंगी उनमें बाह्य प्रकृति के भिन्न भिन्न रूप रंगों के सहित और परिस्थितियों का विशद चित्रण भी बराबर मिलेगा। घटनाएँ और कथोपकथन बहुत अल्प रहेंगे। 'हृदयेश' जी की कहानियाँ प्रायः इसी ढंग की हैं। 'उन्मादिनी' में घटना गतिशील नहीं। 'शांति-निकेतन' में घटना और कथोपकथन दोनों कुछ नहीं। यह भी कहानी का एक ढंग है, यह हमें मानना पड़ेगा। पाश्चात्य आदर्श का अनुसरण इसमें नहीं है; न सही।

वस्तु-विन्यास के ढंग में भी इधर अधिक वैचित्र्य आया है। घटनाओं में काल के पूर्वापर क्रम का विपर्य्यय कहीं कहीं इस तरह का मिलेगा कि समझने के लिये कुछ देर रुकना पड़ेगा। कहानियों में 'परिच्छेद' न लिखकर केवल १, २, ३, आदि संख्याएँ देकर विभाग करने की चाल है। अब कभी कभी एक ही नंबर के भीतर चलते हुए वृत्त के बीच थोड़ी सी जगह छोड़कर किसी पूर्वकाल की परिस्थिति पाठकों के सामने एकबारगी रख दी जाती है। कहीं कहीं चलते हुए वृत्त के बीच में परिस्थिति का नाटकीय ढंग का एक छोटा सा चित्र भी आ जाता है। इस प्रकार के चित्रों में चारों ओर सुनाई पड़ते हुए शब्दों का संघात भी सामने रखा जाता है, जैसे, बाजार की सड़क का यह कोलाहल—

"मोटरों, ताँगों और इक्कों के आने जाने का मिलित स्वर। चमचमाती हुई कार का म्युज़ीकल हार्न। ........बचना भैये। हटना, राजा बाबू......अक्खा! तिवारीजी

हैं, नमस्कार ! ...... हटना भा-आई।.......आदाब अर्ज़ दारोगा जी"।

( 'पुष्करिणी' में चोर, नाम की कहानी—भगवतीप्रसाद वाजपेयी )

हिंदी में जो कहानियाँ लिखी गई हैं, स्थूल दृष्टि से देखने पर, वे इन प्रणालियों पर चली दिखाई पड़ती हैं—

( १ ) सादे ढंग से केवल कुछ अत्यंत व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से किसी एक गंभीर संवेदना या मनोभाव में पर्य्यवसित होनेवाली, जिसका बहुत ही अच्छा नमूना है स्वर्गीय गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था'। पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया' और 'पेंसिल स्केच' नाम की कहानियाँ भी इसी ढंग की हैं। ऐसी कहानियों में परिस्थिति की मार्मिकता अपने वर्णन या व्याख्या द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयत्न लेखक नहीं करता, उसका अनुभव वह पाठक पर छोड़ देता है।

( २ ) परिस्थितियों के विशद और मार्मिक—कभी कभी रमणीय और अलंकृत—वर्णनों और व्याख्याओं के साथ मंद मधुर गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्य्यवसित होनेवाली। उदाहरण—स्व० चंडीप्रसाद हृदयेश की 'उन्मादिनी', 'शांतिनिकेतन'। ऐसी कहानियों में परिस्थिति के अंतर्गत प्रकृति का चित्रण भी प्रायः रहता है।

( ३ ) उक्त दोनों के बीच की पद्धति ग्रहण करके चलनेवाली, जिसमें घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति पर पूरा भरोसा न करके लेखक भी कुछ मार्मिक व्याख्या करता चलता है; उ०—प्रेमचंदजी की कहानियाँ। पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, पं० ज्वालादत्त शर्मा, श्री जैनेंद्रकुमार, पं० विनोदशंकर व्यास, श्री सुदर्शन, पं० जनार्दनप्रसाद झा द्विज, इत्यादि अधिकांश लेखकों की कहानियाँ अधिकतर इसी पद्धति पर चली हैं।

( ४ ) घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुंदर समन्वय के साथ चलनेवाली। उ०—प्रसादजी तथा राय कृष्णदासजी की कहानियाँ।

( ५ ) किसी तथ्य का प्रतीक खड़ा करनेवाली लाक्षणिक कहानी, जैसे पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'भुनगा'।

वस्तु-समष्टि के स्वरूप की दृष्टि से भी बहुत से वर्ग किए जा सकते है, जिनमें से मुख्य ये हैं—

( १ ) सामान्यतः जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता सामने लानेवाली। अधिकतर कहानियाँ इस वर्ग के अंतर्गत आएँगी।

( २ ) भिन्न भिन्न वर्गों के संस्कार का स्वरूप सामने रखनेवाली। उ०—प्रेमचन्द्जी की 'शतरंज के खिलाड़ी' और श्री ऋषभचरण जैन की 'दान' नाम की कहानी।

( ३ ) किसी मधुर या मार्मिक प्रसंग-कल्पना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल का खंड-चित्र दिखानेवाली। उ०—राय कृष्णदासजी की 'गहूला' और जयशंकर प्रसादजी की 'आकाशदीप'।

( ४ ) देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जनसमुदाय की दुर्दशा सामने लानेवाली, जैसे श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी', 'हृद्गति' तथा श्री जैनेंद्रकुमार की 'अपना अपना भाग्य' नाम की कहानी।

( ५ ) राजनीतिक आंदोलन में संमिलित नव-युवकों के स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र खड़ा करनेवाली, जैसे पांडेय वेचन शर्म्मा उग्र की 'उसकी माँ' नाम की कहानी।

( ६ ) समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के बीच धर्म, समाज-सुधार, व्यापार-व्यवसाय, सरकारी काम, नई सभ्यता आदि की ओट में होनेवाले पाखंडपूर्ण पापाचार के चटकीले चित्र सामने लानेवाली कहानियाँ जैसी 'उग्र' जी की है। 'उग्र' की भाषा बड़ी अनूठी चपलता और आकर्षक वैचित्र्य के साथ चलती है। इस ढंग की भाषा उन्हीं के उपन्यासों और 'चाँदनी' ऐसी कहानियों मे ही मिल सकती है।

( ७ ) सभ्यता और संस्कृति की किसी व्यवस्था के विकास का आदिम रूप झलकानेवाली, जैसे, राय कृष्णदासजी की 'अंतःपुर का आरंभ', श्रीमत की 'चॅवेली की कली', श्री जैनेंद्रकुमार की 'वाहुवली'।

( ८ ) अतीत के किसी पौराणिक या ऐतिहासिक काल-खंड के बीच अत्यंत मार्मिक और रमणीय प्रसंग का अवस्थान करनेवाली, जैसे, श्री विंदु ब्रह्मचारी और श्रीमंत समंत ( पं० बालकराम विनायक ) की कहानियाँ।

ये कहानियाँ 'कथासुखी' नाम की मासिक पत्रिका ( अयोध्या, संवत् १६७७-७८) में निकली थीं। इनमे से कुछ के नाम ये हैं—वनभागिनी, कृत्तिका, हेरम्या और वाहुमान, कनकप्रभा, श्वेतद्वीप का तोता क्या पढ़ता था, चँवेली की कली। इनमें से कुछ कहानियों में एशिया के भिन्न भिन्न भागों में ( ईरान, तुर्किस्तान, आर्मेनिया, चीन, सुमात्रा, इत्यादि में ) भारतीय संस्कृति और प्रभाव का प्रसार ( Greater India ) दिखानेवाले प्रसंगों की अनूठी उद्भावना पाई जाती है, जैसे 'हेरम्या और वाहुमान्' में। ऐसी कहानियों में भिन्न भिन्न देशों की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन की त्रुटि अवश्य कहीं कहीं खटकती है, जैसे, 'हेरम्या और वाहुमान्' में आर्य्य पारसीक और सामी अरब सभ्यता का घपला है।

एशिया के भिन्न भिन्न भागों में भारतीय सस्कृति और प्रभाव की झलक जयशंकर प्रसादजी के 'आकाशदीप' में भी है।

( ९ ) हास्य-विनोद द्वारा अनुरंजन करनेवाली। उ०—जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानंद और कातानाथ पाडेय 'चोंच' की कहानियाँ।

इस श्रेणी की कहानियों का अच्छा विकास हिंदी में नहीं हो रहा है। अन्नपूर्णानंदजी का हास सुरुचि-पूर्ण है। 'चोंच' जी की कहानियाँ अतिरजित होने पर भी व्यक्तियों के कुछ स्वाभाविक ढाँचे सामने लाती हैं। जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियो मे शिष्ट और परिष्कृत हास की मात्रा कम पाई जाती है। समाज के चलते जीवन के किसी विकृत पक्ष को, या किसी वर्ग के व्यक्तियों की वेढंगी विशेषताओं को हँसने-हँसाने-योग्य बनाकर सामने लाना अभी बहुत कम दिखाई पड़ रहा है।

यह बात कहनी पड़ती है कि शिष्ट और परिष्कृत हास का जैसा सुदर विकास पाश्चात्य साहित्य में हुआ है वैसा अपने यहाँ अभी नहीं देखने में आ रहा है। पर हास्य का जो स्वरूप हमे संस्कृत के नाटकों और फुटकल पद्यों में मिलता है, वह बहुत ही समीचीन, साहित्य-संमत और वैज्ञानिक है। संस्कृत के नाटकों में हास्य के आलंबन विदूषक के रूप में पेटू ब्राह्मण रहे हैं और फुटकल पद्यों में शिव ऐसे औढर देवता तथा उनका परिवार और समाज। कहीं कहीं खटमल ऐसे क्षुद्र जीव भी आ गए हैं। हिंदी में इनके अतिरिक्त

कंजूसों पर विशेष कृपा हुई है। पर ये सब आलंबन जिस ढंग से सामने लाए गए हैं उसे देखने से स्पष्ट हो जायगा कि रस-सिद्धांत का पालन बड़ी सावधानी से हुआ है। रसों मे हास्य रस का जो स्वरूप और जो स्थान है यदि वह बराबर दृष्टि में रहे तो अत्यंत उच्च और उत्कृष्ट श्रेणी के हास का प्रवर्त्तन हमारे साहित्य में हो सकता है।

हास्य के आलंबन से विनोद तो होता ही है, उसके प्रति कोई न कोई और भाव भी—जैसे, राग, द्वेष, घृणा, उपेक्षा, विरक्ति—साथ साथ लगा रहता है। हास्य रस के जो भारतीय आलंबन ऊपर बताए गए हैं वे सब इस ढंग से सामने लाए जाते हैं कि उनके प्रति द्वेष, घृणा इत्यादि न उत्पन्न होकर एक प्रकार का राग या प्रेम ही उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था हमारे रस-सिद्धात के अनुसार है। स्थायी भावों में आधे सुखात्मक हैं और आधे दुःखात्मक। हास्य आनदात्मक भाव है एक ही आश्रय में, एक ही आलंबन के प्रति, आनदात्मक और दुःखात्मक भावों की एक साथ स्थिति नहीं हो सकती। हास्य रस में आश्रय के रूप मे किसी पात्र की अपेक्षा नहा होती, श्रोता या पाठक ही आश्रय रहता है। अतः रस की दृष्टि से हास्य में द्वेष और घृणा नामक दुःखात्मक भावों की गुंजाइश नहीं। हास्य के साथ जो दूसरा भाव आ सकता है वह सचारी के रूप में ही। द्वेष या घृणा का भाव जहाँ रहेगा वहाँ हास की प्रधानता नहीं रहेगी, वह 'उपहास' हो जायगा। उसमें हास का सच्चा स्वरूप रहेगा ही नहीं। उसमें तो हास को द्वेष का व्यंजक या उसका आच्छादक मात्र समझना चाहिए।

जो बात हमारे यहाँ की रस-व्यवस्था के भीतर स्वतः सिद्ध है वही योरप में इधर आकर एक आधुनिक सिद्धांत के रूप मे यों कही गई है कि 'उत्कृष्ट हास वही है जिसमे आलम्बन के प्रति एक प्रकार का प्रेमभाव उत्पन्न हो अर्थात् वह प्रिय लगे'। यहाँ तक तो बात बहुत ठीक रही। पर योरप मे नूतन सिद्धांत-प्रवर्त्तक बनने के लिये उत्सुक रहनेवाले चुप कब रह सकते हैं। वे दो कदम आगे बढ़कर आधुनिक 'मनुष्यता-वाद' या भूतदया-वाद' का स्वर ऊँचा करते हुए बोले "उत्कृष्ट हास वह है जिसमे आलंबन के प्रति दया या करुणा उत्पन्न हो।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह होली-मुहर्रम सर्वथा अस्वाभाविक,

अवैज्ञानिक और रस-विरुद्ध है। दया या करुणा दुःखात्मक भाव है, हास आनंदात्मक। दोनों की एक साथ स्थिति गात ही बात है। यदि हास के साथ एक ही आश्रय में किसी और भाव का सामंजस्य हो सकता है तो प्रेम या भक्ति का ही। भगवान् शकर के बौड़मपन का किस भक्तिपूर्ण विनोद के साथ वर्णन किया जाता है, वे किस प्रकार बनाए जाते हैं, यह हमारे यहाँ "रारि री मची है त्रिपुरारि के तबेला मे" देखा जा सकता है।

हास्य का स्वरूप बहुत ठीक सिद्धांत पर प्रतिष्ठित होने पर भी अभी तक उसका ऐसा विस्तृत विकास हमारे साहित्य में नहीं हुआ है जो जीवन के अनेक क्षेत्रों से—जैसे, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक, व्यावसायिक—आलंबन ले लेकर खड़ा करे।

---

## नाटक

यद्यपि और देशों के समान यहाँ भी उपन्यासों और कहानियों के आगे नाटकों का प्रणयन बहुत कम हो गया है, फिर भी हमारा नाट्य-साहित्य बहुत कुछ आगे बढ़ा है। नाटको के बाहरी रूप-रंग भी कई प्रकार के हुए हैं और अवयवों के विन्यास और आकार-प्रकार मे भी वैचित्र्य आया है। ढाँचों में जो विशेषता योरप के वर्त्तमान नाटकों में प्रकट हुई है, वह हिंदी के भी कई नाटको मे इधर दिखाई पड़ने लगी है, जैसे अक के आरंभ और बीच में भी समय, स्थान तथा पात्रों के रूप-रंग और वेश-भूषा का बहुत सूक्ष्म ब्योरे के साथ लंबा वर्णन। स्वगत भाषण की चाल भी अब उठ रही है। पात्रो के भाषण भी न अब बहुत लंबे होते हैं न लंबे लबे वाक्यवाले। ये बातें सेठ गोविंददासजी तथा प० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों मे पाई जायँगी। थिएटरों के कार्य्य-क्रम मे दो अवकाशों के विचार से इधर तीन अंक रखने की प्रवृत्ति भी लक्षित हो रही है। दो एक व्यक्ति अँगरेजी में एक अंकवाले आधुनिक नाटक देख उन्हीं के ढंग के दो एक एकाकी नाटक लिखकर उन्हे बिल्कुल एक नई चीज कहते हुए सामने लाए। ऐसे लोगों को जान रखना चाहिए कि एक अंकवाले कई उप-रूपक हमारे यहाँ बहुत पहले से माने गए हैं।

यह तो स्पष्ट है कि आधुनिक काल के आरंभ से ही बँगला की देखा-देखी हमारे हिंदी नाटकों के ढाँचे पाश्चात्य होने लगे। नांदी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना हटाई जाने लगी। भारतेंदु ने ही 'नीलदेवी' और 'सती-प्रताप' मे प्रस्तावना नहीं रखी है; हाँ, आरंभ में यशोगान या मंगलगान रख दिया है। भारतेंदु के पीछे तो यह भी हटता गया। भारतेंदु-काल से ही अंकों का अवस्थान अँगरेजी ढंग पर होने लगा। अंको के बीच के स्थान-परिवर्त्तन या दृश्य-परिवर्त्तन को 'दृश्य' और कभी कभी 'गर्भांक' शब्द रखकर सूचित करने लगे, यद्यपि 'गर्भांक' शब्द का हमारे नाट्यशास्त्र में कुछ और ही अर्थ है। 'प्रसाद' जी ने अपने 'स्कंदगुप्त' आदि नाटकों मे यह 'दृश्य' शब्द (जो अँगरेजी Scene का अनुवाद है) छोड़ दिया है और स्थान-परिवर्त्तन या पट-परिवर्त्तन के स्थलों पर कोई नाम नहीं रखा है। इसी प्रकार आजकल 'विष्कंभक' और 'प्रवेशक' का काम देनेवाले दृश्य तो रखे जाते है, पर ये नाम हटा दिए गए हैं। 'प्रस्तावना' के साथ 'उद्घातक', 'कथोद्घात' आदि का विन्यास-चमत्कार भी गया। पर ये युक्तियाँ सर्वथा अस्वाभाविक न थीं। एक बात बहुत अच्छी यह हुई है कि पुराने नाटकों मे दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था उसके स्थान पर कथा की गति से सबद्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है। आधुनिक नाटको मे प्रसादजी के 'स्कंदगुप्त' नाटक का मुद्गल ही एक ऐसा पात्र है जो पुराने विदूषक का स्थानापन्न कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्य शास्त्र में नाटक भी काव्य के ही अंतर्गत माना गया है अतः उसका लक्ष्य भी निर्दिष्ट शील स्वभाव के पात्रों को भिन्न भिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों मे रस-संचार करना ही रहा है। पात्रों के धीरोदात्त आदि बँधे हुए ढाँचे थे जिनमें ढले हुए सब पात्र सामने आते थे। इन ढाँचों के बाहर शील-वैचित्र्य दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता था। योरप मे धीरे धीरे शील-वैचित्र्य-प्रदर्शन को प्रधानता प्राप्त होती गई; यहाँ तक कि किसी नाटक के संबंध में वस्तु-विधान और चरित्र-विधान की चर्चा का ही चलन हो गया। इधर, यथातथ्य-वाद के प्रचार से वहाँ रहा सहा काव्यत्व भी झूठी भावुकता कहकर हटाया

जाने लगा। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि हमारे 'प्रसाद' और 'प्रेमी' ऐसे प्रतिभाशाली नाटककारों ने उक्त प्रवृत्ति का अनुसरण न करके रस-विधान और शील-वैचित्र्य दोनों का सामंजस्य रखा है। 'स्कंदगुप्त' नाटक में जिस प्रकार देवसेना और शर्वनाग ऐसे गूढ़ चरित्र के पात्र हैं, उसी प्रकार शुद्ध प्रेम, युद्धोत्साह, स्वदेश-भक्ति आदि भावों की मार्मिक और उत्कृष्ट व्यंजना भी है। हमारे यहाँ के पुराने ढाँचों के भीतर शील-वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था, अतः उनका बंधन हटाकर वैचित्र्य के लिये मार्ग खोलना तो ठीक ही है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके साथ रसात्मकता भी हम निकाल दें।

हिंदी-नाटकों के स्वतंत्र विकास के लिये ठीक मार्ग तो यह दिखाई पड़ता है कि हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो बनाए रहें, पर उनके स्वरूप के प्रसार के लिये और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी कुछ बातों का मेल सफाई के साथ करते चलें। अपने नाट्य-शास्त्र के जटिल विधान को ज्यों का त्यों लेकर तो हम आजकाल चल नहीं सकते, पर उसका बहुत सा रूप-रंग अपने नाटकों मे ला सकते हैं जिससे भारतीय परंपरा के प्रतिनिधि वे बने रह सकते हैं। रूपक और उपरूपक के जो बहुत से भेद किए गए हैं उनमे से कुछ को हम आजकल भी चला सकते हैं। उनके दिए हुए लक्षणो में वर्त्तमान रुचि के अनुसार जो हेर-फेर चाहे कर लें। इसी प्रकार अभिनय की रोचकता बढ़ानेवाली जो युक्तियाँ हैं—जैसे, उद्घातक, कथोद्घात—उनमे से कई एक को, आवश्यक रूपांतर के साथ और स्थान का बंधन दूर करके हम बनाए रख सकते हैं। संतोष की बात है कि 'प्रसाद' और 'प्रेमी' जी के नाटकों मे इसके उदाहरण हमे मिलते हैं, जैसे, कथोद्घात के ढंग पर एक पात्र के मुँह से निकले हुए शब्द को लेकर दूसरे पात्र का यह प्रवेश—

शर्वनाग—देख, सामने सोने का संसार खड़ा है।

(रामा का प्रवेश)

रामा—पामर ! सोने की लंका राख हो गई। (स्कंदगुप्त)

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों में भी यह मिलता है। 'शिवा साधना' मे देखिए—

जीजा०—हाँ! यह एक बाधा है।

( सई बाई का बालक संभाजी को लिए हुए प्रवेश )

सई बाई—यह बाधा भी न रहेगी, माँजी!

प्राचीन नाट्यशास्त्र ( भारतीय और यवन दोनों ) में कुछ बातों का—जैसे, मृत्यु, वध, युद्ध—दिखाना वर्जित था। आजकल उस नियम के पालन की आवश्यकता नहीं मानी जाती। प्रसादजी ने अपने नाटकों में बराबर मृत्यु, वध और आत्महत्या दिखाई है। प्राचीन भारत और यवनान में ये निषेध भिन्न भिन्न कारणों से थे। यवनान में तो बड़ा भारी कारण रंगशाला का स्वरूप था। पर भारत में अत्यन्त क्षोभ तथा शिष्ट रुचि की विरक्ति बचाने के लिये कुछ दृश्य वर्जित थे। मृत्यु और वध अत्यत क्षोभकारक होने के कारण, भोजन परिष्कृत रुचि के विरुद्ध होने के कारण तथा रंगशाला की थोड़ी सी जगह के बीच दूर से पुकारना अस्वाभाविक और अशिष्ट लगने के कारण वर्जित थे। देश की परंपरागत सुरुचि की रक्षा के लिये कुछ व्यापार तो हमे आजकल भी वर्जित रखने चाहिए, जैसे, चुंबन-आलिंगन। स्टेशन के प्लैटफार्म पर चुंबन-आलिंगन चाहे योरप की सभ्यता के भीतर हो, पर हमारी दृष्टि में जगलीपन या पशुत्व है।

इस तृतीय उत्थान के बीच हमारे वर्त्तमान नाटक-क्षेत्र में दो नाटककार बहुत ऊँचे स्थान पर दिखाई पड़े—स्व० जयशंकर प्रसादजी और श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'। दोनों की दृष्टि ऐतिहासिक काल की ओर रही है। 'प्रसाद'जी ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिंदू-काल के भीतर चुना और 'प्रेमी'जी ने मुस्लिम-काल के भीतर। 'प्रसाद' के नाटकों में 'स्कंदगुप्त' श्रेष्ठ है और 'प्रेमी' के नाटकों में 'रक्षा बंधन'।

'प्रसाद' जी में प्राचीन काल की परिस्थितियों के स्वरूप की मधुर भावना के अतिरिक्त भाषा को रँगनेवाली चित्रमयी कल्पना और भावुकता की अधिकता भी विशेष परिमाण में पाई जाती है। इससे कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्त्तमान गद्य-काव्य के खंड हो गए हैं। बीच बीच में जो गान रखे गए हैं वे न तो प्रकरण के अनुकूल हैं, न प्राचीन काल की भाव-

पद्धति के। वे तो वर्त्तमान काव्य की एक शाखा के प्रगीत मुक्तक ( Lyrics ) मात्र हैं। अपनी सबसे पिछली रचनाओं में ये त्रुटियाँ उन्होंने निकाल दी हैं। 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुव स्वामिनी' इन दोषों से प्रायः मुक्त हैं। पर 'चंद्रगुप्त' में एक दूसरा बड़ा भारी दोष आ गया है। उसके भीतर सिकंदर के भारत पहुँचने के कुछ पहले से लेकर सिल्यूकस के पराजय तक के २५ वर्ष के दीर्घकाल की घटनाएँ लेकर कसी गई हैं जो एक नाटक के भीतर नहीं आनी चाहिए। जो पात्र युवक के रूप में नाटक के आरंभ में दिखाई पड़े, वे नाटक के अंत में भी उसी रूप में सामने आते हैं। यह दोष तो इतिहास की ओर दृष्टि ले जाने पर दिखाई पड़ता है अर्थात् बाहरी है। पर घटनाओं की अत्यंत सघनता का दोष रचना से संबंध रखता है। बहुत से भिन्न भिन्न पात्रों से सबद्ध घटनाओं के जुड़ते चलने के कारण बहुत कम चरित्रों के विकास का अवकाश रह गया है। पर इस नाटक में विन्यस्त वस्तु और पात्र इतिहास का ज्ञान रखनेवालों के लिये इतने आकर्षक हैं कि उक्त दोषों की ओर ध्यान कुछ देर में जाता है। 'मुद्रा-राक्षस' से इसमें कई बातों की विशेषता है। पहली बात तो यह है कि इसमें चंद्रगुप्त केवल प्रयत्न के फल का भोक्ता कठपुतला भर नहीं, प्रयत्न में अपना क्षत्रिय-भाग सुंदरता के साथ पूरा करनेवाला है। नीति-प्रवर्त्तन का भाग चाणक्य पूरा करता है। दूसरी बात यह है कि 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य का व्यक्तित्व—उसका हृदय—सामने नहीं आता। तेजस्विता, धीरता, प्रत्युत्पन्न बुद्धि और ब्राह्मणोचित त्याग आदि सामान्य गुणों के बीच केवल प्रतीकार की प्रबल वासना ही हृदय-पक्ष की ओर झलकती है। पर इस नाटक में चाणक्य के प्रयत्न का लक्ष्य भी ऊँचा किया गया है और उसका पूरा हृदय भी सामने रखा गया है।

नाटकों का प्रभाव पात्रों के कथोपकथन पर बहुत कुछ अवलंबित रहता है। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के कथोपकथन 'प्रसाद' जी के कथोपकथनों से अधिक नाटकोपयुक्त है। उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता हुआ स्वाभाविक ढंग भी है और सर्वहृदय-ग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्म-व्यंजक अनूठापन भी। 'प्रसाद'जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करनेवाले कई पात्र आ जाते हैं। 'प्रेमी' जी के नाटकों में यह खटकनेवाली बात नहीं मिलती

'प्रसाद' और 'प्रेमी' के नाटक यद्यपि ऐतिहासिक हैं, पर उनमे आधुनिक आदर्शों और भावनाओं का आभास इधर-उधर बिखरा मिलता है। 'स्कंदगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' दोनो में स्वदेश-प्रेम, विश्वप्रेम और आध्यात्मिकता का आधुनिक रूप-रंग बराबर झलकता है। आजकल के मजहबी दंगों का स्वरूप भी हम 'स्कंदगुप्त' मे देख सकते है। 'प्रेमी' के 'शिवासाधना' नाटक के शिवाजी भी कहते हैं—"मेरे शेष जीवन की एकमात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतंत्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता का अत करना, राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की क्रांति करना"। हम समझते हैं कि ऐतिहासिक नाटक मे किसी पात्र से आधुनिक भावनाओं की व्यंजना जिस काल का वह नाटक हो उस काल की भाषा-पद्धति और विचार-पद्धति के अनुसार करानी चाहिए; 'क्राति' ऐसे शब्दों द्वारा नहीं। 'प्रेमी' जी के 'रक्षा-बंधन' में मेवाड़ की महारानी कर्मवती का हुमायूँ को भाई कहकर राखी भेजना और हूमायूँ का गुजरात के मुसलमान बादशाह बहादुरशाह के विरुद्ध एक हिंदू राज्य की रक्षा के लिये पहुँचना, यह कथा-वस्तु ही हिंदू-मुसलिम भेद-भाव की शांति सूचित करती है। उसके ऊपर कट्टर सरदारो और मुल्लों की बात का विरोध करता हुआ हुमायूँ जिस उदार भाव की सुंदर व्यंजना करता है वह वर्त्तमान हिंदू-मुसलिम दुर्भाव की शाति का मार्ग दिखाता जान पड़ता है। इसी प्रकार 'प्रसाद'जी के 'ध्रुव-स्वामिनी' नामक बहुत छोटे से नाटक मे एक संभ्रात राजकुल की स्त्री का विवाह-संबंध-मोक्ष सामने लाया गया है, जो वर्त्तमान सामाजिक आदोलन का एक अग है।

वर्त्तमान राजनीति के अभिनयों का पूर्ण परिचय प्राप्त कर सेठ गोविंददास जी ने इधर साहित्य के अभिनय-क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। उन्होंने तीन अच्छे नाटक लिखे हैं। "कर्त्तव्य" में राम और कृष्ण दोनों के चरित्र नाटक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खंड करके रखे गए हैं जिनका उद्देश्य है कर्त्तव्य के विकास की दो भूमियाँ दिखा। नाटककार के विवेचनानुसार मर्य्यादा-पालन प्रथम भूमि है जो पूर्वार्ध में राम द्वारा पूर्णता को पहुँचती है। लोकहित की व्यापक दृष्टि से आवश्यकतानुसार नियम और मर्य्यादा का उल्लघन उसके आगे की भूमि है, जो नाटक के उत्तरार्ध मे श्रीकृष्ण ने अपने चरित्र द्वारा—जैसे,

जरासंध के सामने लड़ाई का मैदान छोड़कर भागना—प्रदर्शित की है। वास्तव में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो अलग अलग नाटक हैं, पर नाटककार ने अपने कौशल से कर्त्तव्य-विकास की सुंदर उद्भावना द्वारा दोनों के बीच पूर्वापर संबंध स्थापित कर दिया है। यह भी एक प्रकार का कौशल है। इसे 'ऊटक-नाटक' न समझना चाहिए। सेठजी का दूसरा नाटक 'हर्ष' ऐतिहासिक है जिसमे सम्राट् हर्षवर्द्धन, माधवगुप्त, शशांक आदि पात्र आए है। इन दोनों नाटकों मे प्राचीन वेशभूषा, वास्तुकला इत्यादि का ध्यान रखा गया है। 'प्रकाश' नाटक में वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण है। यद्यपि इन तीनों नाटकों के वस्तु-विन्यास और कथोपकथन में विशेष रूप से आकर्षित करनेवाला अनूठापन नहीं है, पर इनकी रचना बहुत ठिकाने की है।

पं० गोविंदवल्लभ पंत भी अच्छे नाटककार हैं। उनका 'वरमाला' नाटक, जो मार्कंडेय पुराण की एक कथा लेकर निर्मित है, बड़ी निपुणता से लिखा गया है। मेवाड़ की पन्ना नामक धाय के अलौकिक त्याग का ऐतिहासिक वृत्त लेकर 'राजमुकुट' की रचना हुई है। 'अंगूर की बेटी' ( जो फारसी शब्द का अनुवाद है ) मद्य के दुष्परिणाम दिखानेवाला सामाजिक नाटक है।

कुछ हलके ढंग के नाटकों में, जिनसे बहुत साधारण पढ़े-लिखे लोगों का भी कुछ मनोरंजन हो सकता है, स्वर्गीय पं० बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती', 'तुलसीदास' आदि उल्लेखयोग्य है। हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले जी० पी० श्रीवास्तव नें मोलियर के फरासीसी नाटकों के हिंदुस्तानी अनुवादों के अतिरिक्त 'मरदानी औरत', 'गड़बड़झाला', 'नोक-झोंक', 'दुमदार आदमी' इत्यादि बहुत से छोटे-मोटे प्रहसन भी लिखे हैं, पर वे परिष्कृत रुचि के लोगों को हँसाने में समर्थ नहीं। "उलट-फेर" नाटक औरों से अच्छे ढर्रे का कहा जाता है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटको के द्वारा स्त्रियों की स्थिति आदि कुछ सामाजिक प्रश्न या 'समस्याएँ' तो सामने रखी ही है, योरप में प्रवर्त्तित 'यथातथ्यवाद' का वह खरा रूप भी दिखाने का प्रयत्न किया है जिसमें झूठी भावुकता और मार्मिकता से पीछा छुड़ाकर नर-प्रकृति अपने वास्तविक रूप मे

सामने लाई जाती है। ऐसे नाटको का उद्देश्य होता है समाज अधिकतर जैसा है वैसा ही सामने रखना, उसके भीतर की नाना विषमताओ से उत्पन्न प्रश्नो का जीता-जागता रूप खड़ा करना तथा यदि सभव हो तो समाधान के स्वरूप का भी आभास देना। लोक के बीच कभी कभी जो उच्च भावों के कुछ दृष्टात दिखाई पड़ जाया करते हैं उनपर कल्पना का झूठा रंग चढ़ाकर धोखे की टट्टियाँ खड़ी करना और बहुत सी फालतू भावुकता जगाना अब बंद होना चाहिए, यही उपर्युक्त 'यथातथ्यवाद' के अनुयायियों का कहना है। योरप मे जब 'कला' और 'सौंदर्य' की बड़ी पुकार मची और कुछ कलाकार, कवि और लेखक अपना यही काम समझने लगे कि जगत् के सुदर पक्ष से सामग्री चुन-चुनकर एक काल्पनिक सौंदर्य-सृष्टि खड़ी करें और उसका मधुपान करके झूमा करे, तब इसकी घोर प्रतिक्रिया वहाँ आवश्यक थी और यहाँ भी 'सौंदर्य्यवाद' और 'कलावाद' का हिंदी मे खासा चलन होने के कारण अब आवश्यक हो गई है। जब कोई बात हद के बाहर जाकर जी उबाने और विरक्ति उत्पन्न करने लगती है तब साहित्य के क्षेत्र मे प्रतिक्रिया अपेक्षित होती है। योरप के साहित्य-क्षेत्र मे एकागदर्शिता इतनी बढ़ गई है कि किसी न किसी हद पर जाकर कोई न कोई वाद बराबर खडा होता रहता है और आगे बढ चलता है। उसके थोडे ही दिनों पीछे बड़े वेग से उसकी प्रतिक्रिया होती है जिसकी धारा दूसरी हद की ओर बढ़ती है। अतः योरप के किसी 'वाद' को लेकर चिल्लानेवालों को यह समझ रखना चाहिए कि उसका बिल्कुल उलटा वाद भी पीछे लगा आ रहा है।

प्रतिक्रिया के रूप मे निकली हुई साहित्य की शाखाएँ प्रतिक्रिया का रोष ठंडा होने पर धीरे धीरे पलटकर मध्यम पथ पर आ जाती हैं। कुछ दिनों तक तो वे केवल चिढ़ाती सी जान पड़ती हैं, पीछे शांत भाव से सामंजस्य के साथ चलने लगती हैं। 'भावुकता' भी जीवन का एक अंग है। अतः साहित्य की किसी शाखा से हम उसे बिल्कुल हटा तो सकते नहीं। हाँ यदि वह व्याधि के रूप मे—फीलपॉव की तरह—बढने लगे, तो उसकी रोक-थाम आवश्यक है।

नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायणजी योरप से लाए हैं उसमे काव्यत्व का अवयव भरसक नहीं आने पाया है। उनके नाटकों में न चित्रमय

और भावुकता से लदे भाषण हैं, न गीत या कविताएँ। खरी खरी बात कहने का जोश कहीं कहीं अवश्य है। इस प्रणाली पर उन्होंने कई नाटक लिखे हैं, जैसे, 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली', 'राक्षस का मंदिर', 'आधी रात'।

समाज के कुत्सित, वीभत्स और पाखंडपूर्ण अंशों के चटकीले दृश्य दिखाने के लिये पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने छोटे नाटकों या प्रहसनों से भी काम लिया है। 'चुंबन' और 'चार बेचारे' (संपादक, अध्यापक, सुधारक, प्रचारक) इसीलिये लिखे गए हैं। 'महात्मा ईसा' के फेर में तो वे नाहक पड़े।

पं० उदयशंकर भट्ट ने, जो पंजाब में बहुत अच्छी साहित्य-सेवा कर रहे हैं, 'तक्षशिला', 'राका', 'मानसी', आदि कई अच्छे काव्यों के अतिरिक्त, अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं। 'दाहर या सिंध-पतन' तथा 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक नाटक हैं। हाल में 'कमला' नामक एक सामाजिक नाटक भी आपने लिखा है जिसमें किसान-आंदोलन तथा सामाजिक असामंजस्य का मार्मिक चित्रण है। 'दस हजार' नाम का एक एकांकी नाटक भी आपने इधर लिखा है।

भट्टजी की कला का पूर्ण विकास पौराणिक नाटकों में दिखाई पड़ता है। पौराणिक क्षेत्र के भीतर से वे ऐसे पात्र ढूँढ़कर लाए हैं जिनके चारों ओर जीवन की रहस्यमयी विषमताएँ बड़ी गहरी छाया डालती हुई आती हैं—ऐसी विषमताएँ जो वर्तमान समाज को भी क्षुब्ध करती रहती हैं। 'अंबा' नाटक में भीष्म द्वारा हरी हुई अंबा की जन्मांतर-व्यापिनी प्रतीकार-वासना के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष संबंध की वह विषमता भी सामने आती है जो आजकल के महिला-आंदोलनों की तह में वर्त्तमान है। 'मत्स्यगंधा' एक भाव-नाट्य या पद्यबद्ध नाटक है। उसमें जीवन का वह रूप सामने आता है जो ऊपर से सुख-पूर्ण दिखाई पड़ता है, पर जिसके भीतर भीतर न जाने कितनी उमंगों और मधुर कामनाओं के ध्वंस की विषाद-धारा यहाँ से वहाँ तक छिपी मिलती है। 'विश्वामित्र' भी इसी ढंग का एक सुंदर नाटक है। चौथा नाटक 'सगरविजय' भी उत्तम है। पौराणिक सामग्री का जैसा सुंदर उपयोग भट्टजी ने किया है, वैसा कम देखने में आता है। ऐतिहासिक नाटक-रचना में जो स्थान 'प्रसाद' और 'प्रेमी' का है, पौराणिक नाटक-रचना में वही स्थान भट्टजी का है।

श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' ने महाराणा प्रताप का राज्याभिषेक से लेकर अंत तक का वृत्त लेकर 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक की रचना की है। स्व० राधाकृष्णदासजी के 'प्रताप-नाटक' का आरंभ मानसिंह के अपमान से होता है जो नाट्यकला की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त है। परिस्थितियों को प्रधानता देने मे भी 'मिलिंद' जी का चुनाव उतना अच्छा नहीं है। कुछ ऐतिहासिक त्रुटियाँ भी हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री ने उपन्यास और कहानियाँ तो लिखी ही हैं, नाटक की ओर भी हाथ बढ़ाया है। अपने 'अमर राठौर' और 'उत्सर्ग' नामक ऐतिहासिक नाटको में उन्होंने कथावस्तु को अपने अनुकूल गढ़ने में निपुणता अवश्य दिखाई है, पर अधिक ठोंक-पीट के कारण कहीं कही ऐतिहासिकता, और कहीं कहीं घटनाओं की महत्ता भी, झड़ गई है।

अँगरेज कवि शेली के ढंग पर श्री सुमित्रानंदन पंत ने कवि-कल्पना को दृश्य रूप देने के लिये 'ज्योत्स्ना' नाम से एक रूपक लिखा है। पर शेली का रूपक ( Prometheus Unbound ) तो आधिदैविक शासन से मुक्ति और जगत् के स्वातंत्र्य का एक समन्वित प्रसंग लेकर चला है, और उसमे पृथ्वी, वायु आदि आधिभौतिक देवता अपने निज के रूप मे आए हैं, किंतु 'ज्योत्स्ना' मे बहुत दूर तक केवल सौंदर्य-चयन करनेवाली कल्पना मनुष्य के सुख-विलास की भावना के अनुकूल चमकती उषा, सुरभित समीर, चटकती कलियाँ, कलरव करते विहंग आदि को अभिनय के लिये मनुष्य के रंगमंच पर जुटाने मे प्रवृत्त है। उसके उपरांत आजकल की हवा मे उड़ती हुई कुछ लोक-समस्याओं पर कथोपकथन है। सब मिला कर क्या है, यह नहीं कहा जा सकता।

श्री कैलाशनाथ भटनागर का 'भीम-प्रतिज्ञा' भी विद्यार्थियो के योग्य अच्छा नाटक है।

एकांकी नाटक का उल्लेख आरंभ मे हो चुका है और यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार पहले-पहल दो-एक व्यक्ति उसे भारतीय नाट्य साहित्य में एक अश्रुतपूर्व वस्तु समझते हुए लेकर आए। अब इधर हिंदी के कई अच्छे कवियों और नाटककारो ने भी कुछ एकांकी नाटक लिखे है जिनका एक अच्छा

संग्रह "आधुनिक एकांकी नाटक" के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रीसुदर्शन, रामकुमार वर्म्मा, भुवनेश्वर, उपेंद्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्म्मा, धर्मप्रकाश आनंद, उदयशंकर भट्ट के क्रमशः 'राजपूत की हार', 'दस मिनट', 'स्ट्राइक', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'सबसे बड़ा आदमी', 'दीन' तथा 'दस हजार' नाम के नाटक संगृहीत हैं।

हिंदी के कुछ प्रसिद्ध कवियों और उपन्यासकारों ने भी—जैसे, बा० मैथिलशरण गुप्त, श्री वियोग हरि, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रेमचंद, विश्वंभरनाथ शर्म्मा कौशिक, सुदर्शन—नाटक की ओर हाथ बढ़ाया, पर उनका मुख्य स्थान कवियों और उपन्यासकारों के बीच ही रहा।

मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत के पुराने नाटकों में से भास के 'स्वप्न-वासवदत्ता' ( अनुवादक—सत्यजीवन वर्म्मा ), 'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग,' 'प्रतिज्ञायौगधरायण' ( अनु०—व्रजजीवनदास ); 'प्रतिमा' ( अनु०—बलदेव शास्त्री ) तथा दिङ्नाग के 'कुंदमाला' नाटक ( अनु०—वागीश्वर विद्यालंकार ) के अनुवाद भी हिंदी में हुए।

जर्मन कवि गेटे के प्रसिद्ध नाटक 'फाउस्ट' का अच्छा अनुवाद श्री भोलानाथ शर्मा एम० ए० ने किया है।

---

## निबंध

विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षा-क्रम के भीतर हिंदी-साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबंध की—ऐसे निबंधो की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े—जितनी ही आवश्यकता है उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं। निबंध की जो स्थिति हमे द्वितीय उत्थान में दिखाई पड़ी प्रायः वही स्थिति इस वर्त्तमान काल मे भी बनी हुई है। अर्थ वैचित्र्य और भाषा शैली का नूतन विकास जैसा कहानियों के भीतर प्रकट हुआ है, वैसा निबंध के क्षेत्र मे नहीं देखने मे आ रहा है, जो उसका उपयुक्त स्थान है।

यदि किसी रूप मे गद्य की कोई नई गति-विधि दिखाई पड़ी तो काव्यात्मक गद्य-प्रबंधों के रूप मे। पहले तो बंगभाषा के 'उद्भ्रात प्रेम' ( चंद्रशेखर मुखोपाध्याय कृत ) को देख कुछ लोग उसी प्राकार की रचना की ओर झुके; पीछे भावात्मक गद्य की कई शैलियों की ओर। 'उद्भ्रांत प्रेम' उस विक्षेप शैली पर लिखा गया था जिसमें भावावेश द्योतित करने के लिये भाषा बीच बीच मे असंबद्ध अर्थात् उखड़ी हुई होती थी। कुछ दिनों तक तो उसी शैली पर प्रेमोद्गार के रूप में पत्रिकाओं में कुछ प्रबंध—यदि उन्हे प्रबध कह सकें—निकले जिनमें भावुकता की झलक यहाँ से वहाँ तक रहती थी। पीछे श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अंतस्तल' में प्रेम के अतिरिक्त और दूसरे भावों की भी प्रबल व्यजना अलग अलग प्रबधों मे की गई जिनमें कुछ दूर तक एक ढंग पर चलती धारा के बीच बीच मे भाव का प्रबल उत्थान दिखाई पड़ता था। इस प्रकार इन प्रबंधो की भाषा तरगवती धारा के रूप मे चली थी अर्थात् उसमें 'धारा' और 'तरंग' दोनों का योग था। ये दोनो प्रकार के गद्य बगाली थिएटरों की रंग-भूमि के भाषणों के से प्रतीत हुए।

पीछे रवींद्र बाबू के प्रभाव से कुछ रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रग लिए जिस भावात्मक गद्य का चलन हुआ वह विशेष अलकृत होकर अन्योक्ति-पद्धति पर चला। ब्रह्मसमाज ने जिस प्रकार ईसाइयो के अनुकरण पर अपनी प्रार्थना का विशेष दिन रविवार रखा था, उसी प्रकार अपने भक्ति-भाव की व्यंजना के लिये पुराने ईसाई-सतों की पद्धति भी ग्रहण की। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। ईसा की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण मे सत बरनार्ड ( St- Bernard ) नाम के प्रसिद्ध भक्त हो गए है, उन्होंने दूल्हे रूप ईश्वर के हृदय के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश का इस प्रकार उल्लेख किया है—

"यद्यपि वे कई बार मेरे भीतर आए, पर मैंने न जाना कि वे कब आए। आ जाने पर कभी-कभी मुझे उनकी आहट मिली है; उनके विद्यमान होने का स्मरण भी मुझे है; वे आनेवाले है, इसका आभास मुझे कभी कभी पहले से मिला है; पर वे कब भीतर आए और कब बाहर गए इसका पता मुझे कभी न चला।"

इसी प्रकार उस परोक्ष आलंबन को प्रियतम मानकर उसके साथ संयोग और वियोग की अनेक दशाओं की कल्पना इस पद्धति की विशेषता है। रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' की रचना इसी पद्धति पर हुई है। हिंदी में भी इस ढंग की रचनाएँ हुई जिनमे राय कृष्णदासजी की 'साधना', 'प्रवाल' और 'छाया-पथ', वियोगी हरि जी की 'भावना' और 'अंतर्नाद' विशेष उल्लेख योग्य हैं। हाल में श्री भँवरमल सिंघी ने 'वेदना' नाम की इसी ढंग की एक पुस्तक लिखी है जिसके भूमिका-लेखक हैं भाषातत्व के देश-प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या।

यह तो हुई आध्यात्मिक या सांप्रदायिक क्षेत्र से गृहीत लाक्षणिक भावुकता, जो बहुत कुछ अभिनीत या अनुकृत होती है अर्थात् बहुत कम दशाओं मे हृदय की स्वाभाविक पद्धति पर चलती है। कुछ भावात्मक प्रबंध लौकिक प्रेम को लेकर भी मासिक पत्रों में निकलते रहते हैं जिनमे चित्र-विधान कम और कसक, टीस, वेदना अधिक रहती है।

अतीत के नाना खंडों मे जाकर रमनेवाली भावुकता का मनुष्य की प्रकृति में एक विशेष स्थान है। मनुष्य की इस प्रकृतिस्थ भावुकता का अनुभव हम आप भी करते हैं और दूसरों को भी करते हुए पाते हैं। अतः यह मानव-हृदय की एक सामान्य वृत्ति है। बड़े हर्ष की बात है कि अतीत-क्षेत्र में रमानेवाली अत्यंत मार्मिक और चित्रमयी भावना लेकर महाराजकुमार डाक्टर श्री रघुवीर-सिंह जी (सीतामऊ, मालवा) हिंदी साहित्य-क्षेत्र मे आए। उनकी भावना मुगल-सम्राटों के कुछ अवशिष्ट चिह्न सामने पाकर प्रत्यभिज्ञा के रूप में मुगल-साम्राज्य-काल के कभी मधुर, भव्य और जगमगाते दृश्यों के बीच, कभी पतन-काल के विषाद, नैराश्य और बेबसी की परिस्थितियों के बीच बड़ी तन्मयता के साथ रमी है। ताजमहल, दिल्ली का लाल किला, जहाँगीर और नूरजहाँ की कब्र इत्यादि पर उनके भावात्मक प्रबंधों की शैली बहुत ही मार्मिक और अनूठी है।

गद्य-साहित्य मे भावात्मक और काव्यात्मक गद्य का भी एक विशेष स्थान है, यह तो मानना ही पड़ेगा। अतः उपयुक्त क्षेत्र मे उसका आविर्भाव और

प्रसार अवश्य प्रसन्नता की बात है। पर दूसरे क्षेत्रो मे भी, जहाँ गभीर विचार और व्यापक दृष्टि अपेक्षित है, उसे घसीटे जाते देख दुःख होता है। जो चिंतन के गूढ विषय हैं उनको भी लेकर कल्पना की क्रीड़ा दिखाना कभी उचित नही कहा जा सकता। विचार-क्षेत्रों के ऊपर इस भावात्मक और कल्पनात्मक प्रणाली का धावा पहले-पहल 'काव्य का स्वरूप' बतलानेवाले निबधो मे बग-साहित्य के भीतर हुआ, जहाँ शेक्सपियर की यह उक्ति गूँज रही थी—

'सौंदर्य्य मद मे झूमती हुई कवि की दृष्टि स्वर्ग से भूलोक और भूलोक से स्वर्ग तक विचारती रहती है"[1]।

काव्य पर जाने कितने ऐसे निबध लिखे गए जिनमे सिवा इसके कि "कविता अमरावती से गिरती हुई अमृत की धारा है।" "कविता हृदय-कानन में खिली हुई कुसुम-माला है," "कविता देवलोक के मधुर सगीत की गूँज है" और कुछ भी न मिलेगा। यह कविता का ठीक ठीक स्वरूप बतलाना है कि उसकी विरुदावली बखानना? हमारे यहाँ के पुराने लोगों में भी 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि' ऐसी ऐसी बहुत सी विरुदावलियाँ प्रचलित थीं, पर वे लक्षण या स्वरूप पूछने पर नहीं कही जाती थीं। कविता भावमयी, रसमयी और चित्रमयी होती है, इससे यह आवश्यक नहीं कि उसके स्वरूप का निरूपण भी भावमय, रसमय और चित्रमय हो। 'कविता' के ही निरूपण तक भावात्मक प्रणाली का यह धावा रहता तो भी एक बात थी। कवियो की आलोचना तथा और और विषयों मे भी इसका दखल हो रहा है, यह खटके की बात है। इससे हमारे साहित्य मे घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशका है। जिन विषयो के निरूपण मे सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार-परंपरा अपेक्षित है, उन्हे भी इस हवाई शैली पर हवा बताना कहाँ तक ठीक होगा?

---

१–The poet's eye in frenzy rolling
Doth glance from heaven to earth and earth to heaven

## समालोचना और काव्य-मीमांसा

इस तृतीय उत्थान मे समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढकर कवियों की विशेषताओं और उनकी अतःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी, दीन-दयाल गिरि और कबीरदास की विस्तृत आलोचनाएँ पुस्तकाकार और भूमिकाओं के रूप मे भी निकलीं। इस इतिहास के लेखकने तुलसी, सूर और जायसी पर विस्तृत समीक्षाएँ लिखीं जिनमें से प्रथम 'गोस्वामी तुलसी' के नाम से पुस्तकाकार छपी है, शेष दो क्रमशः 'भ्रमरगीत-सार' और 'जायसी-ग्रंथावली' मे सम्मिलित है। स्व० लाला भगवानदीन की सूर, तुलसी और दीनदयाल गिरि की समालोचनाएँ उनके सकलित और सपादित 'सूर-पंचरत्न,' 'दोहावली' और 'दीनदयाल गिरि ग्रंथावली' मे संमिलित है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की कबीर-समीक्षा उनके द्वारा संगृहीत 'कबीर-वचनावली' के साथ और डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की 'कबीर-ग्रंथावली' के साथ भूमिका-रूप मे सनिविष्ट है।

इसके उपरात 'कलाओं' और 'साधनाओं' का तॉता बॅधा और

(१) केशव की काव्य-कला (श्री कृष्णशंकर शुक्ल),
(२) गुप्तजी की कला (प्रो० सत्येंद्र),
(३) प्रेमचद की उपन्यास-कला (प० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'),
(४) प्रसाद की नाट्य कला,
(५) पद्माकर की काव्य-साधना (अखौरी गंगाप्रसादसिंह),
(६) 'प्रसाद' की काव्य-साधना (श्री रामनाथ लाल 'सुमन'),
(७) मीरा की प्रेम-साधना (पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'),

एक दूसरे के आगे पीछे निकलीं। इनमे से कुछ पुस्तकें तो समालोचना की असली पद्धति पर निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक दोनों ढंग लिए हुए चली हैं तथा कवि के बाह्य और आभ्यंतर दोनों का अच्छा परिचय कराती है, जैसे, 'केशव की काव्यकला,' 'गुप्तजी की कला'। 'केशव की काव्यकला' मे पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने अच्छा विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान भी किया है। उनका 'कविवर रत्नाकर' भी कवि की विशेषताओं को मार्मिक ढंग से सामने रखता है। पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

कृत 'गुप्तजी की काव्यधारा' में भी मैथिलीशरण गुप्तजी की रचना के विविध पक्षों का सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ उद्घाटन हुआ है। 'पद्माकर की काव्य-साधना' द्वारा भी पद्माकर के संबंध में बहुत सी बातों की जानकारी हो जाती है। इधर हाल मे पं० रामकृष्ण शुक्ल ने अपनी 'सुकविसमीक्षा' मे कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेंदु, मैथिली-शरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद पर अच्छे मीक्षात्मक निबंध लिखे है। 'मीरा की प्रेम-साधना' भावात्मक है जिसमे 'माधव' जी मीरा के भावों का स्वरूप पहचानकर उन भावों मे आप भी मग्न होते दिखाई पड़ते है। इन सब पुस्तकों से हमारा समीक्षा साहित्य बहुत कुछ समृद्ध हुआ है, इसमे संदेह नहीं। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य-निर्माता' नाम की एक पुस्तक लिखकर हिंदी के कई वर्त्तमान कवियों और लेखकों की प्रवृत्तियो और विशेषताओं का अपने ढंग पर अच्छा आभास दिया है।

ठीक ठिकाने से चलनेवाली समीक्षाओं को देख जितना संतोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। यह सजावट अँग्रेजी के अथवा बँगला के समीक्षा-क्षेत्र से कुछ विचित्र, कुछ विदग्ध, कुछ अतिरंजित चलते शब्द और वाक्य ला लाकर खड़ी की जाती है। कहीं कहीं तो किसी अँगरेजी कवि के संबंध मे की हुई समीक्षा का कोई खंड ज्यों का त्यों उठाकर किसी हिंदी-कवि पर भिड़ा दिया जाता है। ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे है और बड़े बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विवक्षित भावो से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय या भाव कुछ और है, आलोचकजी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे है। कवि के मानसिक विकास का एक आरोपित इतिहास तक—किसी विदेशी कवि के मानसिक विकास का इतिहास कहीं से लेकर—वे सामने रखेंगे, पर इस बात का कहीं कोई प्रमाण न मिलेगा कि आलोच्य कवि के पचीस-तीस पद्यों का भी ठीक तात्पर्य्य उन्होंने समझा है। ऐसे आलो-चकों के शिकार 'छायावादी' कहे जानेवाले कुछ कवि ही अभी हो रहे हैं। नूतन

शाखा के एक अच्छे कवि हाल ही मे मुझसे मिले जो ऐसे कदरदानों से पनाह माँगते थे। अब सुनने मे आ रहा है कि इस ढंग के ऊँचे हौसलेवाले दो एक आलोचक तुलसी और सूर के चारों ओर भी ऐसा ही चमचमाता वाग्जाल बिछानेवाले हैं।

काव्य की 'छायावाद' कही जानेवाली शाखा चले काफी दिन हुए। पर ऐसी कोई समीक्षा-पुस्तक देखने में न आई जिसमे उक्त शाखा की रचना प्रक्रिया ( Technique ), प्रसार की भिन्न-भिन्न भूमियाँ, सोच-समझकर निर्दिष्ट की गई हों। केवल प्रो० नगेंद्र की 'सुमित्रानंदन पंत' पुस्तक ही ठिकाने की मिली। बात यह है कि इधर अभिव्यजना का वैचित्र्य लेकर 'छायावाद' चला, उधर उसके साथ ही प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा ( Impressionist Criticism ) का फैशन बगाल होता हुआ आ धमका। इस प्रकार की समीक्षा मे कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं. आवश्यक इतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पडे उसका वह सुदरता और अनूठेपन के सथा वर्णन कर दे। कोई यह नहीं पूछ सकता कि कवि का भाव तो कुछ और है, उसका यह प्रभाव कैसे पड़ सकता है। इस प्रकार की समीक्षा के चलन ने अध्ययन, चिंतन और प्रकृत समीक्षा का रास्ता ही छेंक लिया।

प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र मे। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसी लिये पढने वैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को, ठीक-ठीक हृदयंगम करने मे सहारा मिले; इसलिये नहीं कि आलोचक की भाव-भगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। यदि किसी रमणीय अर्थ-गर्भित पद्य की आलोचना इसी रूप मे मिले कि "एक बार इसी कविता के प्रवाह में पडकर बहना ही पडता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पडा है, वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौंदर्य पर आप ही नाच उठा है", तो उसे लेकर कोई क्या करेगा?

सारे योरप की बात छोड़िए, अँगरेजी के वर्त्तमान समीक्षा-क्षेत्र मे ही प्रभा-

व्यभिव्यजक समीक्षा की निस्सारता प्रकट करनेवाली पुस्तकें बराबर निकल रही हैं[१]। इस ढंग की समीक्षाओं मे प्रायः भाषा विचार में बाधक बनकर आ खड़ी होती है। लेखक का ध्यान शब्दों की तड़क-भड़क, उनकी आकर्षक योजना, अपनी उक्ति के चमत्कार, आदि में उलझा रहता है जिनके बीच स्वच्छंद विचारधारा के लिये जगह ही नहीं मिलती। विशुद्ध आलोचना के क्षेत्र मे भाषा की क्रीड़ा किस प्रकार बाधक हुई है, कुछ बँधे हुए शब्द और वाक्य किस प्रकार विचारों को रोक रहे हैं, ऐसी बातें जिनकी कहीं सत्ता नहीं किस प्रकार घने वाग्जाल के भीतर से भूत बनकर झाँकती रही हैं, यह दिखाते हुए इस बीसवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध समालोचना-तत्त्वज्ञ ने बड़ी खिन्नता प्रकट की है[२]।

हमारे यहाँ के पुराने व्याख्याताओं और टीकाकारों की अर्थक्रीड़ा प्रसिद्ध है। किसी पद्य का और का और अर्थ करना तो उनके बाएँ हाथ का खेल है। तुलसीदासजी की चौपाइयों से बीस बीस अर्थ करनेवाले अभी मौजूद हैं। अभी थोड़े दिन हुए, हमारे एक मित्र ने सारी 'विहारी-सतसई' का शांतरस-परक अर्थ करने की धमकी दी थी। फारसी के हाफिज आदि शायरों की शृंगारी उक्तियों के आध्यात्मिक अर्थ प्रसिद्ध हैं, यद्यपि अरबी-फारसी के कई पहुँचे हुए विद्वान् यह आध्यात्मिकता नहीं स्वीकार करते। इस पुरानी प्रवृत्ति का नया संस्करण भी कहीं कहीं दिखाई पड़ने लगा है। रवींद्र बाबू ने अपनी प्रतिभा के बल से कुछ संस्कृत-काव्यों की समीक्षा करते हुए कहीं कहीं आध्यात्मिक अर्थों की योजना की

१—देखिए Psychological Approach to Literary Criticism जिसमें यह अच्छी तरह दिखा दिया गया है कि प्रभावाभिव्यजक समीक्षा कोई समीक्षा ही नहीं।

२—A diligent search will still find many Mystic Beings... ... ...sheltering in verbal thickets.

While current attitudes to language persist, this difficulty of the linguistic phantom must still continue.

—'Principles of Literary Criticism.'
By I. A. Richards

है। 'प्राचीन साहित्य' नाम की पुस्तक में मेघदूत आदि पर जो निबंध हैं उनमे ये बातें मिलेगी। काशी के एक व्याख्यान मे उन्होने 'अभिज्ञान-शाकुंतल' के सारे आख्यान का आध्यात्मिक पक्ष निरूपित किया था। इस संबंध मे हमारा यही कहना है कि इस प्रकार की प्रतिभापूर्ण कृतियों का भी अपना अलग मूल्य है। वे कल्पनात्मक साहित्य के अंतर्गत अवश्य हैं, पर विशुद्ध समालोचना की कोटि मे नहीं आ सकतीं।

योरपवालों को हमारी आध्यात्मिकता बहुत पसंद आती है। भारतीयो की आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता की चर्चा पच्छिम मे बहुत हुआ करती है। इस चर्चा के मूल मे कई बाते हैं। एक तो ये शब्द हमारी अकर्मण्यता और बुद्धि-शैथिल्य पर परदा डालते है। अतः चर्चा या तारीफ करनेवालों मे कुछ लोग त ऐसे होते हैं जो चाहते है कि यह परदा पड़ा रहे। दूसरी बात यह है कि ये शब्द पूरबी और पच्छिमी जातियों के बीच एक ऐसी सीमा बाँधते है जिससे पच्छिम मे हमारे संबध में एक प्रकार का कुतूहल-सा जाग्रत रहता है और हमारी बाते कुछ अनूठेपन के साथ कही जा सकती है। तीसरी बात यह है कि आधिभौतिक समृद्धि के हेतु जो भीषण संघर्ष सैकड़ो वर्ष तक योरप में रहा उससे क्लात और शिथिल होकर बहुत से लोग जीवन के लक्ष्य मे कुछ परिवर्तन चाहने लगे—शांति और विश्राम के अभिलाषी हुए। साथ ही साथ धर्म और विज्ञान का झगड़ा भी बंद हुआ। अतः योरप मे जो इधर आध्यात्मिकता की चर्चा बढ़ी वह विशेषतः प्रतिवर्त्तन ( Reaction ) के रूप में। स्वर्गीय साहित्याचार्य्य प० रामवतारजी पाडेय और चद्रधरजी गुलेरी इस आध्यात्मिकता की चर्चा से बहुत घबराया करते थे।

पुस्तकों और कवियों की आलोचना के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य-मीमांसा को लेकर भी बहुत से लेख और कुछ पुस्तकें इस काल में लिखी गईं—जैसे, बा० श्यामसुंदरदास कृत साहित्यालोचन, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत विश्व-साहित्य। इनमें से पहिली पुस्तक तो शिक्षोपयोगी है। दूसरी पुस्तक मे योरोपीय साहित्य के विकास तथा पाश्चात्य काव्य-समीक्षकों के कुछ प्रचलित मतों का दिग्दर्शन है।

इधर दो एक लेखकों की एक और प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। वे योरप के

कुछ कला संबंधी एकदेशीय और अत्युक्त मतों को सामने लाकर हिंदीवालों की आँखों में उसी प्रकार चकाचौंध उत्पन्न करना चाहते हैं जिस प्रकार कुछ लोग वहाँ के फैशन की तड़क-भड़क दिखाकर। जर्मनी, फ्रांस, इटली, रूस और स्वेडन इत्यादि अनेक देशों के नए-पुराने कवियों, लेखकों और समीक्षकों के नाम गिनाकर वे एक प्रकार का आतंक उत्पन्न करना चाहते हैं। वे कला-संबंधी विलायती पुस्तकों की बातें लेकर और कहीं मैटरलिंक ( Materlinck ), कहीं गेटे ( Goethe ), कहीं टाल्सटाय ( Tolstoy ) के उद्धरण देकर अपने लेखों की तड़क-भड़क भर बढ़ाते है। लेखो को यहाँ से वहाँ तक पढ जाइए, लेखकों के अपने किसी विचार का कहीं पता न लगेगा। उद्धृत मतों की व्याप्ति कहाँ तक है, भारतीय सिद्धांतों के साथ उनका कहाँ सामंजस्य है और कहाँ विरोध, इन सब बातों के विवेचन का सर्वथा अभाव पाया जायगा। साहित्यिक विवेचन से संबंध रखनेवाले जिन भावों और विचारो के द्योतन के लिये हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रंथों में बराबर से शब्द-प्रचलित चले आते हैं उनके स्थान पर भद्दे गढे हुए शब्द देखकर लेखकों की अनभिज्ञता की ओर बिना ध्यान गए नहीं रहता। समालोचना के क्षेत्र मे ऐसे विचारशून्य लेखों से कोई विशेष लाभ नहीं।

पश्चिम के काव्य-कला संबंधी प्रचलित वादों में अकसर एकाग्र दृष्टि की दौड़ ही विलक्षण दिखाई पडा करती है। वहाँ के कुछ लेखक काव्य के किसी एक पक्ष को उसका पूर्ण स्वरूप मान, इतनी दूर तक ले जाते हैं कि उनके कथन में अनूठी सूक्ति का-सा चमत्कार आ जाता है और बहुत से लोग उसे सिद्धांत या विचार के रूप में ग्रहण कर चलते हैं। यहाँ हमारा काम काव्य के स्वरूप पर विचार करना या प्रबंध लिखना नही बल्कि प्रचलित प्रवृत्तियो और उनके उद्गमों तथा कारणों का दिग्दर्शन कराना मात्र है। अतः यहाँ काव्य या कला के संबंध में उन प्रवादों का, जिनका योरप मे सबसे अधिक फैशन रहा है, संक्षेप में उल्लेख करके तब मैं इस प्रसंग को समाप्त करूँगा। इसकी आवश्यकता यहाँ मैं केवल इसलिये समझता हूँ कि एक ओर योरप मे तो व्यापक और सूक्ष्म दृष्टि सपन्न समीक्षकों द्वारा इन प्रवादों का निराकरण हो रहा है, दूसरी ओर हमारे हिंदी साहित्य में इनकी भद्दी नकल शुरू हुई है।

योरप मे जिस प्रवाद का इधर सबसे अधिक फैशन रहा है वह है—"काव्य का उद्देश्य काव्य ही है" या "कला का उद्देश्य कला ही है"। इस प्रवाद के कारण जीवन और जगत् की बहुत सी बाते, जिनका किसी काव्य के मूल्य निर्णय मे बहुत दिनों से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगीं कि "ये तो इतर वस्तुएँ है, शुद्ध कला-क्षेत्र के बाहर की व्यवस्थाएँ हैं"। पाश्चात्य देशों मे इस प्रवाद की योजना करनेवाले कई सामान खड़े हुए थे। कुछ तो इसमें जर्मन सौंदर्य-शास्त्रियों की यह उद्भावना सहायक हुई कि सौंदर्य्य संबधी अनुभव (Æsthetic experience) एक भिन्न ही प्रकार का अनुभव है जिसका और प्रकार के अनुभवों से कोई संबध ही नहीं। इससे बहुतेरे साहित्यशास्त्री यह समझने लगे कि कला का मूल्य-निर्धारण भी उसके मूल्य को और सब मूल्यों से एकदम विच्छिन्न करके ही होना चाहिए। ईसा की १६वीं शताब्दी के मध्य भाग में ह्विस्लर (Whistler) ने यह मत प्रवर्त्तित किया जिसका चलन अब तक किसी न किसी रूप में रहा है। अँगरेजी म इस मत के सबसे प्रभावशाली व्याख्याताओं मे डाक्टर ब्रैडले (Dr. Bradley) हैं।

उन्होने इस संबध मे कहा है—"यह (काव्य-सौंदर्य सबधी) अनुभव अपना लक्ष्य आप ही है; इसका अपना निराला मूल्य है। अपने विशुद्ध क्षेत्र के बाहर भी इसका और प्रकार का मूल्य हो सकता है। किसी कविता से यदि धर्म और शिष्टाचार का भी साधन होता हो, कुछ शिक्षा भी मिलती हो, प्रबल मनोविकारो का कुछ निरोध भी सभव हो, लोकोपयोगी विधानों मे कुछ सहायता भी पहुँचती हो अथवा कवि को कीर्ति या अर्थलाभ भी हो तो अच्छी ही बात है। इनके कारण भी उसकी कदर हो सकती है। पर इन बाहरी बातो के मूल्य के हिसाब से उस कविता की उत्तमता की असली जाँच नहीं हो सकती। उसकी उत्तमता तो एक तृप्तिदायक कल्पनात्मक अनुभव-विशेष से संबंध रखती है। अतः उसकी परीक्षा भीतर से ही हो सकती है। किसी कविता को लिखते या जाँचते समय यदि बाहरी मूल्यों की ओर भी ध्यान रहेगा तो बहुत करके उसका मूल्य घट जायगा या छिप जयगा। बात यह है कि कविता को यदि हम उसके विशुद्ध क्षेत्र से बाहर ले जायँगे तो उसका स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो जायगा,

क्योंकि उसकी प्रकृति या सत्ता न तो प्रत्यक्ष जगत् का कोई अंग है, न अनुकृति। उसकी तो एक दुनिया ही निराली है—एकांत, स्वतःपूर्ण और स्वतंत्र।"[१]

काव्य और कला के संबंध में अब तक प्रचलित इस प्रकार के नाना अर्थवादों का पूरा निराकरण रिचर्ड्स ( I. A. Richards ) ने अपनी पुस्तक "साहित्यसमीक्षा सिद्धांत" ( Principles of Literary Criticism )[२] में बड़ी सूक्ष्म और गंभीर मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है। उपर्युक्त कथन में चारों मुख्य बातों की अलग अलग परीक्षा करके उन्होंने उनकी अपूर्णता, अयुक्तता और अर्थहीनता प्रतिपादित की है। यहाँ उनके दिग्दर्शन का स्थान नहीं। प्रचलित सिद्धांत का जो प्रधान पक्ष है कि "कविता की दुनिया ही निराली है: उसकी प्रकृति या सत्ता न तो प्रत्यक्ष जगत् का कोई अंग है, न अनुकृति" इस पर रिचर्ड्स के वक्तव्य का सारांश नीचे दिया जाता है—

"यह सिद्धांत कविता को जीवन से अलग समझने का आग्रह करता है। पर स्वयं डाक्टर ब्रैडले इतना मानते हैं कि जीवन के साथ उसका लगाव भीतर भीतर अवश्य है कि। हमारा कहना है कि यही भीतरी लगाव असल चीज है। जो कुछ काव्यानुभव ( Poetic experience ) होता है वह जीवन से ही होकर आता है काव्य-जगत् की शेष जगत् से भिन्न कोई सत्ता नहीं है न उसके कोई अलौकिक या विशेष नियम हैं। उसकी योजना बिल्कुल वैसे ही अनुभवों से हुआ करती है जैसे और सब अनुभव होते हैं। प्रत्येक काव्य एक परिमित अनुभवखंड मात्र है जो विरोधी उपादानों के संसर्ग से भी चटपट और कभी देर में छिन्न-भिन्न हो जाता है। साधारण अनुभवों से उसमें यही विशेषता होती है कि उसकी योजना बहुत गूढ़ और नाजुक होती है। जरा सी ठेस से वह चूर चूर हो सकता है। उसकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वह एक हृदय से दूसरे हृदय में पहुँचाया जा सकता है। बहुत से हृदय उसका अनुभव बहुत थोड़े ही फेरफार के साथ कर सकते हैं। काव्यानुभव से मिलते-

१–Oxford Lectures on Poetry.

२–Third Edition, 1928.

जुलते और भी अनुभव होते हैं, पर इस अनुभव की सबसे बड़ी विशेषता है यही सर्वग्राह्यता ( Communicability ) इसी लिये इसके प्रतीति-काल में हमें इसे अपनी व्यक्तिगत विशेष बातों की छूत से बचाए रखना पड़ता है[१]। यह सबके अनुभव के लिये होता है, किसी एक ही के नहीं। इसी लिये किसी काव्य को लिखते या पढ़ते समय हमें अपने अनुभव के भीतर उस काव्य और उस काव्य से इतर वस्तुओं के बीच अलगाव करना पड़ता है। पर यह अलगाव दो सर्वथा भिन्न या असमान वस्तुओं के बीच नहीं होता, बल्कि एक ही कोटि की वृत्तियों के भिन्न भिन्न विधानों के बीच होता है[२]।

यह तो हुई रिचर्ड्स की मीमांसा। अब हमारे यहाँ के संपूर्ण काव्यक्षेत्र की अंतःप्रकृति की छानबीन कर जाइए, उसके भीतर जीवन के अनेक पक्षों पर और जगत् के नाना रूपों के साथ मनुष्य-हृदय का गूढ़ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्यशास्त्रियों का मत लीजिए तो जैसे संपूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है वैसे ही उसका एक अंग काव्य भी। 'अर्थ' का स्थूल और संकुचित अर्थ द्रव्यप्राप्ति ही नहीं लेना चाहिए, उसका व्यापक अर्थ 'लोक की सुख-समृद्धि' लेना चाहिए। जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभव में विशेषता यह होती है कि वह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है जिसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है। बाह्य जीवन और अन्तर्जीवन की कितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय में इसका विचार अवश्य होता आया है, और होगा। हमारे यहाँ के लक्षणग्रंथों में रसानुभव को जो 'लोकोत्तर' और 'ब्रह्मानंद-सहोदर' आदि कहा

---

१—इसी को हमारे साहित्य-शास्त्र में 'साधारणीकरण' कहते हैं।

२–But this is no severance between unlike things, but between differences of the same activities - - - - - - The myth of a 'transmutation' or 'poetisation' of experience and that other myth of the 'contemplative' or 'aesthetic attitude' are in part but due to talking about poetry and the 'poetic' instead of talking about the concrete experiences which are Poems.

है वह अर्थवाद के रूप में, सिद्धांत रूप में नहीं। उसका तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि रस में व्यक्तित्व का लय हो जाता है।

योरप में समालोचना शास्त्र का क्रमागत विकास फ्रांस में ही हुआ। अतः फ्रांस का प्रभाव यूरोपीय देशों मे बहुत कुछ रहा। विवरणात्मक समालोचना के अंतर्गत ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना का उल्लेख हो चुका है। पीछे प्रभाववादियों ( Impressionists ) का जो दल खड़ा हुआ वह कहने लगा कि हमें किसी कवि की प्रकृति, स्वभाव, सामाजिक परिस्थिति आदि से क्या प्रयोजन ? हमें तो केवल किसी काव्य को पढ़ने से जो आनंदपूर्ण प्रभाव हमारे चित्त पर पड़ता है उसी को प्रकट करना चाहिए और उसी को समालोचना समझना चाहिए। प्रभाववादियों का पक्ष यह है "हमारे चित्त पर किसी काव्य से जो आनंद उत्पन्न होता है वही आलोचना है। इससे अधिक आलोचना और चाहिए क्या ? जो प्रभाव हमारे चित्त पर पड़े उसी का वर्णन यदि हमने कर दिया तो समालोचना हो गई।" कहने की आवश्यकता नहीं कि इस मत के अनुसार समालोचना एक व्यक्तिगत वस्तु है। उसके औचित्य-अनौचित्य पर किसी को कुछ विचार करने की जरूरत नहीं। जिसपर जैसा प्रभाव पड़े वह वैसा कहे।

उक्त प्रभाववादियों की बात लें तो समालोचना कोई व्यवस्थित शास्त्र नहीं रह गया। वह एक कला की कृति से निकली हुई दूसरी कला की कृति, एक काव्य से निकला हुआ दूसरा काव्य, ही हुआ।

काव्य की स्वरूप-मीमांसा के संबंध मे योरप में इधर सबसे अधिक जोर रहा है 'अभिव्यंजनावाद' ( Expressionism ) का, जिसके प्रवर्त्तक हैं इटली के क्रोचे ( Benedetto Croce ) इसमें अभिव्यंजना अर्थात् किसी बात को कहने का ढंग ही सब कुछ है, बात चाहे जो या जैसी हो अथवा कुछ ठीक ठिकाने की न भी हो। काव्य में जिस वस्तु या भाव का वर्णन है वह, इस वाद के अनुसार उपादान मात्र है; समीक्षा में उसका कोई विचार अपेक्षित नहीं। काव्य मे मुख्य वस्तु है वह आकार या साँचा जिसमें वह वस्तु या भाव डाला जाता है[1]। जैसे कुंडल की सुंदरता की चर्चा उसके आकार या

१—An aesthetic fact is 'form' and nothing else

रूप को लेकर होती है, सोने को लेकर नहीं, वैसे ही काव्य के संबंध में भी समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है, वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्यक्षेत्र के बाहर की बात है। क्रोचे का कहना है कि अनूठी उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है, उसे किसी दूसरे कथन का पर्याय न समझना चाहिए। जैसे, यदि किसी कवि ने कहा कि "सोई हुई आशा आँख मलने लगी", तो यह न समझना चाहिए कि उसने यह उक्ति इस उक्ति के स्थान पर कही है कि "फिर कुछ कुछ आशा होने लगी।" वह एक निरपेक्ष उक्ति है। कवि को वही कहना ही था। वाल्मिकि ने जो यह कहा कि "न स संकुचितः पन्थाः येन वाली हतो गतः", वह इसके स्थान पर नहीं कि "तुम भी वाली के समान मारे जा सकते हो।"

इस वाद में तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता है वह स्वतः कविता नहीं। पर यह बात इतनी दूर तक नहीं घसीटी जा सकती कि उस उक्ति की मार्मिकता का अनुभव उसकी तह में छिपी हुई वस्तु या भाव पर बिना दृष्टि रखे ही हो सकता है। बात यह है कि 'अभिव्यंजनावाद' भी 'कलावाद' की तरह काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक्काशीवाला सौंदर्य मानकर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई संबंध नहीं। और कलाओं को छोड़ यदि हम काव्य ही को लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।

इन्हीं दोनों वादों की दृष्टि से यह कहा जाने लगा कि समालोचना के क्षेत्र से अब लक्षण, नियम, रीति, काव्यभेद, गुणदोष, छंदोव्यवस्था आदि का विचार उठ गया[१]। पर इस कथन की व्याप्ति कहाँ तक है, यह विचारणीय है। साहित्य के ग्रंथों में जो लक्षण, नियम आदि दिए गए थे वे विचार की व्यवस्था के लिये, काव्य संबंधी चर्चा के सुबीते के लिये। पर इन लक्षणों और नियमों का उपयोग गहरे और कठोर बंधन की तरह होने लगा और

१—The New Criticism—by J E. Spingarn (1911),

उन्हीं को बहुत से लोग सब कुछ समझने लगे। जब कोई बात हद से बाहर जाने लगती है तब प्रतिवर्त्तन ( Reaction ) का समय आता है। योरप में अनेक प्रकार के वादों की उत्पत्ति प्रतिवर्त्तन के रूप में ही हुआ करती है। अतः हमें सामंजस्य-बुद्धि से काम लेकर अपना स्वतन्त्र मार्ग निकालना चाहिए।

बेल बूटे और नक्काशी के लक्ष्य के समान काव्य का भी लक्ष्य सौंदर्य-विधान लगातार कहते रहने से काव्य रचना पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका उल्लेख हो चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि यह सब काव्य के साथ 'कला' शब्द लगने के कारण हुआ है। हमारे यहाँ काव्य की गिनती ६४ कलाओं के भीतर नहीं की गई है। यहाँ इतना और सूचित करना आवश्यक जान पड़ता है कि सौंदर्य की भावना को रूप देने में मनोविज्ञान के क्षेत्र से आए हुए उस सिद्धांत का भी असर पड़ा है जिसके अनुसार अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त काम वासना ही कला-निर्माण की प्रेरणा करनेवाली अंतर्वृत्ति है। योरप में चित्रकारी, मूर्तिकारी, नक्काशी, बेल-बूटे आदि के समान कविता भी 'ललित कलाओं' के भीतर दाखिल हुई, अतः धीरे धीरे उसका लक्ष्य भी सौंदर्य-विधान ही ठहराया गया। जब कि यह सौंदर्य भावना काम वासना द्वारा प्रेरित ठहराई गई तब पुरुष कवि के लिये यह स्वाभाविक ही ठहरा कि उसकी सारी सौंदर्य-भावना स्त्री-मयी हो अर्थात् प्रकृति के अपार क्षेत्र में जो कुछ सुंदर दिखाई पड़े उसकी भावना स्त्री के रूप-सौंदर्य के भिन्न-भिन्न अंग लाकर ही की जाय। अरुणोदय की छटा का अनुभव कामिनी के कपोलों पर दौड़ी हुई लज्जा की ललाई लाकर किया जाय; राका रजनी की सुषमा का अनुभव सुंदरी के उज्ज्वल वस्त्र या शुभ्र हास द्वारा किया जाय आकाश में फैलती हुई कादंबिनी तब तक सुंदर न लगे जब तक उस पर स्त्री के मुक्त कुंतल का आरोप न हो। आजकल तो स्त्री-कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूछ के रूप में देखना चाहिए।

काव्यरचना और काव्यचर्चा दोनों में इधर 'स्वप्न' और 'मद' का प्रधान स्थान रहने लगा है। ये दोनों शब्द काव्य के भीतर प्राचीन समय में धर्म संप्रदायों से आए। लोगों की धारणा थी कि संत या सिद्ध लोगों को बहुत

सी बातो का आभास या तो स्वप्न में मिलता था अथवा तन्मयता की दशा में। कवियों को अपने भावों मे मग्न होते देख लोग उन्हे भी इस प्रत्यक्ष जगत् और जीवन से अलग कल्पना के स्वप्न-लोक मे विचरनेवाले जीव प्यार और श्रद्धा से कहने लगे। यह बात बराबर कवियों की प्रशसा मे अर्थवाद के रूप में चलती रही। पर ईसा की इस बीसवीं सदी में आकर वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में फ्रायड ( Freude ) द्वारा प्रदर्शित की गई। उसने कहा कि जिस प्रकार स्वप्न अतस्संज्ञा मे निहित अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का एक अंतर्विधान है, उसी प्रकार कलाओं को निर्माण करनेवाली कल्पना भी। इससे कवि कल्पना और स्वप्न का अभेद-भाव भी पक्का हो गया। पर सच पूछिए तो कल्पना में आई हुई वस्तुओ की अनुभूति और स्वप्न में दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं की अनुभूति के स्वरूप मे बहुत अतर है। अतः काव्य-रचना या काव्यचर्चा मे 'स्वप्न' की बहुत अधिक भरमार अपेक्षित नहीं। यों कहीं कहीं साम्य के लिये यह शब्द आ जाया करे तो कोई हर्ज नहीं।

अब 'मद' और 'मादकता' लीजिए। काव्यक्षेत्र मे इसका चलन फारस में बहुत पहले से अनुमित होता है। यद्यपि इसलाम के पूर्व वहाँ का सारा साहित्य नष्ट कर दिया गया, उसका एक चिट भी कहीं नहीं मिलता है, पर शायरी मे 'मद' और 'प्याले' की रूढ़ि बनी रही जिसको सूफियों ने और भी बढाया। सूफी शायर दीन-दुनिया से अलग, प्रेममद मे मतवाले आजाद जीव माने जाते थे। धीरे धीरे कवियों के सबध मे भी 'मतवालेपन' और 'फक्कड़पन' की भावना वहाँ जड पकड़ती गई और वहाँ से हिंदुस्तान में आई। योरप मे गेटे और वर्ड्स्वर्थ के समय तक 'मतवालेपन' और 'फक्कड़पन' की इस भावना का कवि और काव्य के साथ कोई नित्य-सबंध नहीं समझा जाता था। जर्मन कवि गेटे बहुत ही व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ था; इसी प्रकार वर्ड्सवर्थ भी लोक-व्यवहार से अलग एक रिंद नहीं माना जाता था। एक खास ढग का फक्कड़पन और मतवालापन बाइरन और शेली मे दिखाई पडा जिनकी चर्चा योरप ही तक रहकर अँगरेजी साहित्य के साथ साथ हिंदुस्तान तक पहुँची। इससे मतवालेपन और फक्कड़पन की जो भावना पहले से फारसी साहित्य के प्रभाव से बँधती आ रही थी वह और भी पक्की हो गई।

भारत में मतवालेपन या फक्कड़पन की भावना अघोरपंथ आदि कुछ संप्रदायों मे तथा सिद्ध बननेवाले कुछ साधुओ मे ही चलती आ रही थी। कवियों के सबंध मे इसकी चर्चा नहीं थी। यहाँ तो कवि के लिये लोक-व्यवहार मे कुशल होना आश्वयक समझा जाता था। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा मे कवि के जो लक्षण कहे हैं उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी। यह ठीक है कि राजशेखर ने राज सभाओं मे बैठनेवाले दरबारी कवियो के स्वरूप का वर्णन किया है और वह स्वरूप एक विलासी दरबारी का है, मुक्त हृदय स्वच्छंद कवि का नहीं। पर वाल्मीकि से लेकर भवभूति और पंडितराज तथा चंद से लेकर ठाकुर और पद्माकर तक कोई मद से झूमनेवाला, लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ या बेपरवा फक्कड़ नहीं माना गया।

प्रतिभाशाली कवियों की प्रवृत्ति अर्थ मे रत साधारण लोगों से भिन्न और मनस्विता लिए होती है तथा लोगो के देखने में कभी कभी एक सनक सी जान पडती है। जैसे और लोग अर्थ की चिंता में लीन होते हैं वैसे ही वे अपने किसी उद्भावित प्रसंग मे लीन दिखाई पडते हैं। प्रेम और श्रद्धा के कारण लोग इन प्रवृत्तियों को अत्युक्ति के साथ प्रकट करते हुए 'मद मे झूमना' 'स्वप्न में लीन रहना', 'निराली दुनिया मे विचरना' कहने लगे। पर इसका यह परिणाम न होना चाहिए कि कवि लोग अपनी प्रशस्ति की इन अत्युक्त बातों को ठीक ठीक चरितार्थ करने मे लगे।

लोग कहते हैं कि समालोचकगण अपनी बाते कहते ही रहते है, पर कवि लोग जैसी मौज होती है वैसी रचना करते ही हैं। पर यह बात नहीं है। कवियों पर साहित्य-मीमांसकों का बहुत कुछ प्रभाव पडता है। बहुतेरे कवि—विशेषतः नए—उनके आदर्शों के अनुकूल चलने का प्रयत्न करने लगते है। उपर्युक्त वादों के अनुकूल इधर बहुत कुछ काव्यरचना योरप मे हुई, जिसका कुछ अनुकरण बँगला में हुआ। आजकल हिंदी की जो कविता 'छायावाद' के नाम से पुकारी जाती है उसमें इन सब वादों का मिला जुला आभास पाया जायगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन सब हिंदी कवियों ने उनके सिद्धांत सामने रखकर रचना की है। उनके आदर्शों के अनुकूल कुछ कविताएँ योरप में हुई, जिनकी देखा-देखी बँगला और हिंदी में भी होने लगीं।

इस प्रसंग मे इतना लिखने का प्रयोजन केवल यही है कि योरप के साहित्य-क्षेत्र मे फैशन के रूप में प्रचलित बातों को कच्चे-पक्के ढंग से सामने लाकर कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा करना अपनी मस्तिष्कशून्यता के साथ ही साथ समस्त हिंदी पाठकों पर मस्तिष्कशून्यता का आरोप करना है। काव्य और कला पर निकलनेवाले भड़कीले लेखों में आवश्यक अभिज्ञता और स्वतंत्र विचार का अभाव देख दुःख होता है। इधर कुछ दिनों से "सत्यं, शिवं, सुंदरम्" की बड़ी धूम है, जिसे कुछ लोग शायद उपनिषद्-वाक्य समझकर "अपने यहाँ भी कहा है" लिखकर उद्धृत किया करते हैं। यह कोमल पदावली ब्रह्मसमाज के महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर की है और वास्तव में The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है[१]। बस इतना और कहकर मैं इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ कि किसी साहित्य में केवल बाहर की भद्दी नकल उसकी अपनी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती। बाहर से सामग्री आए, खूब आए, पर वह कूड़ा करकट के रूप में न इकट्ठी की जाय। उसकी कड़ी परीक्षा हो, उसपर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाय; जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुँचे।

---

१—Thus arises the phantom problem of the aesthetic mode or aesthetic state, a legacy from the days of abstract investigation into the Good, the Beautiful and the True

—Principles of Literary Criticism
( I. A. Richards )

# आधुनिक काल

## ( संवत् १९०० से... )

### काव्य-खंड

### पुरानी धारा

गद्य के आविर्भाव और विकास-काल से लेकर अब तक कविता की वह परंपरा भी चलती आ रही है जिसका वर्णन भक्ति-काल और रीति-काल के भीतर हुआ है। भक्ति-भाव के भजनों, राजवंश के ऐतिहासिक चरित-काव्यों, अलंकार और नायिकाभेद के ग्रंथों तथा शृंगार और वीर-रस के कवित्त-सवैयों और दोहों की रचना बराबर होती आ रही है। नगरों के अतिरिक्त हमारे ग्रामों में भी न जाने कितने बहुत अच्छे कवि पुरानी परिपाटी के मिलेंगे। ब्रजभाषा-काव्य की परंपरा गुजरात से लेकर बिहार तक और कुमाऊँ-गढ़वाल से लेकर दक्षिण भारत की सीमा तक बराबर चलती आई है। काश्मीर के किसी ग्राम के रहनेवाले ब्रजभाषा के एक कवि का परिचय हमें जंबू में किसी महाशय ने दिया था और शायद उनके दो-एक सवैये भी सुनाए थे।

गढ़वाल के प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम ब्रजभाषा के बहुत अच्छे कवि थे जिन्होंने अपने "गढ़ राजवंश" काव्य में गढ़वाल के ५२ राजाओं का वर्णन दोहा चौपाइयों में किया है। वे श्रीनगर ( गढ़वाल ) के राजा प्रद्युम्नसाह के समय में थे। कुमाऊँ-गढ़वाल पर जब नैपाल का अधिकार हुआ तब नैपाल सूबेदार हस्तिदल चौतरिया के अनुरोध से उन्होंने उक्त काव्य लिखा था। मोलाराम का जन्म संवत् १८१७ में और मृत्यु १८९० में हुई। उन्होंने ग्रंथ में बहुत सी घटनाओं का आँखों-देखा वर्णन लिखा है, इससे उसका ऐतिहासिक मूल्य भी है।

ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा के कुछ प्रसिद्ध कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख नीचे किया जाता है—

सेवक—ये असनीवाले ठाकुर कवि के पौत्र थे और काशी के रईस बाबू देवकीनंदन के प्रपौत्र बाबू हरिशंकर के आश्रय में रहते थे। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि थे। इन्होंने "वाग्विलास" नाम का एक बड़ा ग्रंथ नायिकाभेद का बनाया। इसके अतिरिक्त बरवा छंद में एक छोटा नख-शिख भी इनका है। इनके सवैये सर्व साधारण मे प्रचलित हो गए थे। "कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की" कुछ बुड्ढे रसिक अब तक कहते सुने जाते हैं। इनका जन्म संवत् १८७२ में और मृत्यु संवत् १९३८ में हुई।

महाराज रघुराजसिंह रीवाँनरेश—इनका जन्म संवत् १८८० में और मृत्यु संवत् १९३६ मे हुई। इन्होंने भक्ति और शृंगार के बहुत से ग्रंथ रचे। इनका "राम स्वयवर" (सं० १९२६) नामक वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य बहुत ही प्रसिद्ध है। वर्णनों में इन्होंने वस्तुओं की गिनती (राजसी ठाट बाट, घोड़ों, हाथियों के भेद आदि) गिनानेवाली प्रणाली का खूब अवलबन किया है। 'राम-स्वयंवर' के अतिरिक्त 'रुक्मिणी-परिणय', 'आनंदाम्बुनिधि', 'रामाष्टयाम', इत्यादि इनके लिखे बहुत से अच्छे ग्रंथ है।

सरदार—ये काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह के आश्रित थे। इनका कविता काल संवत् १९०२ से १९४० तक कहा जा सकता है। ये बहुत ही सिद्धहस्त और साहित्य-मर्मज्ञ कवि थे। 'साहित्य सरसी', 'वाग्विलास', 'षटऋतु', 'हनुमतभूषण', 'तुलसीभूषण', 'शृंगारसंग्रह', 'रामरत्नाकर', साहित्य-सुधाकर', रामलीला-प्रकाश' इत्यादि कई मनोहर काव्य-ग्रंथ इन्होंने रचे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने हिंदी के प्राचीन काव्यों पर बड़ी बड़ी टीकाएँ भी लिखी हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सूर के दृष्टिकूट और बिहारी सतसई पर इनकी बहुत अच्छी टीकाएँ हैं।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही—ये अयोध्या के एक साधु थे और अपने समय के बडे भारी महात्मा माने जाते थे। स० १९११ मे इन्होंने 'विश्रामसागर' नामक एक बड़ा ग्रंथ बनाया जिसमें अनेक पुराणो की कथाएँ संक्षेप में दी गई हैं। भक्तजन इस ग्रथ का बड़ा आदर करते हैं।

ललितकिशोरी—इनका नाम साह कुंदनलाल था। ये लखनऊ के एक

समृद्ध वैश्य घराने में उत्पन्न हुए थे। पीछे वृंदावन में जाकर एक विरक्त भक्त की भाँति रहने लगे। इन्होंने भक्ति और प्रेम-संबंधी बहुत से पद और गजलें बनाई हैं। कविता-काल संवत् १६१३ से १६३० तक समझना चाहिए। वृंदावन का प्रसिद्ध साहजी का मंदिर इन्हीं का बनवाया है।

**राज लक्ष्मणसिंह**—ये हिंदी के गद्य-प्रवर्तकों मे हैं। इनका उल्लेख गद्य के विकास के प्रकरण में हो चुका है[1]। इनकी ब्रजभाषा की कविता भी बड़ी ही मधुर और सरस होती थी। ब्रजभाषा की सहज मिठास इनकी वाणी से टपकी पड़ती है। इनके शकुंतला के पहले अनुवाद मे तो पद्य न था, पर पीछे जो संस्करण इन्होंने निकाला, उसमें मूल श्लोकों के स्थान पर पद्य रखे गए। ये पद्य बड़े ही सरस हुए। इसके उपरात सं० १६३८ और १६४० के बीच मे इन्होंने मेघदूत का बड़ा ही ललित और मनोहर अनुवाद निकाला। मेघदूत जैसे मनोहर काव्य के लिये ऐसा ही अनुवाद होना चाहिए था। इस अनुवाद के सवैये बहुत ही ललित और सुंदर हैं। जहाँ चौपाई-दोहे आए है, वे स्थल उतने सरस नहीं हैं।

**लछिराम ( ब्रह्मभट )**—इनका जन्म सवत् १८६८ में अमोढ़ा ( जिला बस्ती ) में हुआ था। ये कुछ दिन अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह ( प्रसिद्ध कवि द्विजदेव ) के यहाँ रहे। पीछे बस्ती के राजा शीतलाबख्शसिंह से, जो एक अच्छे कवि थे, बहुत सी भूमि पाई। दरभंगा, पुरनिया आदि अनेक राजधानियों में इनका संमान हुआ। प्रत्येक संमान करनेवाले राजा के नाम पर इन्होंने कुछ न कुछ रचना की है—जैसे, मानसिंहाष्टक, प्रतापरत्नाकर, प्रेमरत्नाकर ( राजा बस्ती के नाम पर ), लक्ष्मीश्वररत्नाकर ( दरभंगा-नरेश के नाम पर ), रावणेश्वर-कल्पतरु ( गिद्धौर नरेश के नाम पर ), कमलानंद-कल्पतरु ( पुरनिया के राजा के नाम पर जो हिंदी के अच्छे कवि और लेखक थे ) इत्यादि इत्यादि। इन्होंने अनेक रसों पर कविता की है। समस्यापूर्तियाँ बहुत जल्दी करते थे। वर्तमानकाल में ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी पर कविता करनेवालों में ये बहुत प्रसिद्ध हुए हैं।

---

१—देखो पृष्ठ ४४०।

गोविंद गिल्लाभाई—कोई समय था जब गुजरात में ब्रजभाषा की कविता का बहुत प्रचार था। अब भी इसका चलन वैष्णवों में बहुत कुछ है। गोविंद गिल्लाभाई का जन्म संवत् १६०५ में भावनगर रियासत के अंतर्गत सिहोर नामक स्थान में हुआ था। इनके पास ब्रजभाषा के काव्यों का बड़ा अच्छा संग्रह था। भूषण का एक बहुत शुद्ध संस्करण इन्होंने निकाला। ब्रजभाषा की कविता इनकी बहुत ही सुंदर और पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। इन्होंने बहुत सी काव्य की पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—नीति-विनोद श्रृंगार सरोजिनी, षट्ऋतु, पावस पयोनिधि, समस्यापूर्ति-प्रदीप, वक्रोक्ति-विनोद, श्लेषचंद्रिका, प्रारब्ध-पचासा, प्रवीन सागर।

नवनीत चौबे—पुरानी परिपाटी के आधुनिक कवियों में चौबे जी की बहुत ख्याति रही है। ये मथुरा के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत १६१५ और मृत्यु १६८६ में हुई।

यहाँ तक संक्षेप में उन कवियों का उल्लेख हुआ जिन्होंने पुरानी परिपाटी पर कविता की है। इसके आगे अब उन लोगों का समय आता है जिन्होंने एक ओर तो हिंदी साहित्य की नवीन गति के प्रवर्त्तन में योग दिया, दूसरी ओर पुरानी परिपाटी के कविता के साथ भी अपना पूरा संबध बनाए रखा। ऐसे लोगों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पंडित अंबिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्मा मुख्य हैं।

भारतेंदुजी ने जिस प्रकार हिंदी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उस प्रकार काव्य की ब्रजभाषा का भी। उन्होंने देखा कि बहुत से शब्द जिन्हें बोल-चाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थे, कवित्तों और सवैयों में बराबर लाए जाते हैं। इसके कारण कविता जनसाधारण की भाषा से दूर पड़ती जाती है। बहुत से शब्द तो प्राकृत और अपभ्रंश काल की परंपरा के स्मारक के रूप में ही बने हुए थे। 'चक्कव', 'भुवाल', 'ठायो', 'दीह', 'ऊनो', 'लोय', आदि के कारण बहुत से लोग ब्रजभाषा की कविता से किनारा खींचने लगे थे। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी हद को पहुँच गया था, वह शब्दों का तोड़ मरोड़ और

गढंत के शब्दो का प्रयोग था। उन्होने ऐसे शब्दो को भरसक अपनी कविता से दूर रखा और अपने रसीले सवैयों में जहाँ तक हो सका, बोलचाल की ब्रज-भाषा का व्यवहार किया। इसी से उनके जीवनकाल मे ही उनके सवैये चारो ओर सुनाई देने लगे।

भारतेंदुजी ने कविसमाज भी स्थापित किए थे जिनमें समस्यापूर्तियो बराबर हुआ करती थीं। दूर दूर से कवि लोग आकर उसमे संमिलित हुआ करते थे। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार पहले पहल ऐसे ही कवि-समाज के बीच समस्यापूर्ति करके दिखाया था। भारतेंदुजी के शृंगार-रस के कवित्त सवैए बडे ही सरस और मर्मस्पर्शी होते थे। "पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना दुखिया अँखियाँ नहिं मानति हैं", "मरेहू पै आँखै ये खुली ही रहि जायँगी" आदि उक्तियो का रसिक-समाज में बड़ा आदर रहा। उनके शृंगार-रस के कवित्त-सवैयों का सग्रह "प्रेममाधुरी" मे मिलेगा। कवित्त-सवैयों से बहुत अधिक भक्ति और शृगार के पद और गाने उन्होंने बनाए जो "प्रेमफुलवारी", "प्रेममालिका", "प्रेमप्रलाप" आदि पुस्तकों मे संगृहीत हैं। उनकी अधिकतर कविता कृष्णभक्त कवियों के अनुकरण पर रचे पदों के रूप में ही है।

पंडित प्रतापनारायणजी भी समस्यापूर्त्ति और पुराने ढंग की शृगारी कविता बहुत अच्छी करते थे। कानपुर के "रसिक-समाज" मे वे बड़े उत्साह से अपनी पूर्त्तियाँ सुनाया करते थे। देखिए "पपीहा जब पूछिहै पीव कहाँ" की कैसी अच्छी पूर्त्ति उन्होने की थी—

> बनि बैठी है मान की मूरति सो, मुख खोलत बोलै न "नाहीं" न 'हाँ'।
> तुमही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ॥
> बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अबलौं मन को समझायो जहाँ।
> यह ब्यारि तबै बदलेगी कछू पपिहा जब पूछिहै "पीव कहाँ?"

प्रतापनारायणजी कैसे मनमौजी आदमी थे, यह कहा जा चुका है। लावनीबाजों के बीच बैठकर वे लावनियाँ बना बनाकर भी गाया करते थे।

उपाध्याय बदरीनारायण (प्रेमघनजी) भी इस प्रकार की पुरानी कविता

किया करते थे। "चरचा चलिवे की चलाइए ना" को लेकर बनाया हुआ उनका यह अनुप्रासपूर्ण सवैया देखिए—

बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिए तेहि त्यागि तपाइए ना।
दिन काम-कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना॥
'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम, अहो! बिथा-बारि वृथा बरसाइए ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइए ना॥

चौधरी साहब ने भी सर्वसाधारण में प्रचलित कजली, होली आदि गाने की चीजें बहुत बनाई हैं। 'कजली-कादंबिनी' में उनकी बनाई कजलियों का संग्रह है।

ठाकुर जगमोहनसिंहजी के सवैए भी बहुत सरस होते थे। उनके शृंगारी कवित्त-सवैयों का संग्रह कई पुस्तकों मे है। ठाकुर साहब ने कवित्त सवैयों मे "मेघदूत" का भी बहुत सरस अनुवाद किया है। उनकी शृंगारी कविताएँ 'श्यामा' से ही संबंध रखती हैं और 'प्रेम-संपत्तिलता' (संवत् १८८५), 'श्यामा-लता' और 'श्यामा-सरोजिनी' ( संवत् १८८६ ) में संगृहीत हैं। 'प्रेमसंपत्तिलता' का एक सवैया दिया जाता है—

अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाउँ गरे लगिकै छतियाँ।
मन की करि भाँति अनेकन औ मिलि कीजिय री रस की बतियाँ॥
हम हारि अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेहभरी पतियाँ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटैं दुख की रतियाँ॥

पंडित अंबिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्म्मा ( बलवीर ) के उत्साह से ही काशी-कवि-समाज चलता रहा। उसमे दूर दूर के कविजन भी कभी कभी आ जाया करते थे। समस्याएँ कभी कभी बहुत टेढ़ी दी जाती थीं—जैसे, "सूरज देखि सकै नहीं घुग्घू", "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे"। उक्त दोनों समस्याओं की पूर्त्ति व्यासजी ने बड़े विलक्षण ढंग से की थी। उक्त समाज की ओर से ही शायद "समस्यापूर्त्ति-प्रकाश" निकला था जिसमें "व्यासजी" और "बलवीरजी" ( रामकृष्ण वर्म्मा ) की बहुत सी पूर्त्तियाँ हैं। व्यासजी का "बिहारी-बिहार" ( बिहारी के सब दोहों पर कुंडलियाँ )

बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमे उन्होंने बिहारी के दोहों के भाव बड़ी मार्मिकता से पल्लवित किए हैं। डुमरोंव-निवासी पंडित नकछेदी तिवारी ( अजान ) भी इस रसिक-मंडली के बड़े उत्साही कार्य्यकर्त्ता थे। वे बड़ी सुंदर कविता करते थे और पढ़ने का ढंग तो उनका बड़ा ही अनूठा था। उन्होंने 'मनोमंजरी' आदि कई अच्छे संग्रह भी निकाले और कवियों का वृत्त भी बहुत कुछ संग्रह किया। बाबू रामकृष्ण की मंडली में पंडित विजयानंद त्रिपाठी भी व्रजभाषा की कविता बड़ी अच्छी करते थे।

इस पुरानी धारा के भीतर लाला सीताराम बी० ए० के पद्यानुवादों को भी लेना चाहिए। ये कविता में अपना 'भूप' उपनाम रखते थे। 'रघुवंश' का अनुवाद इन्होंने दोहा-चौपाइयों में और 'मेघदूत' का घनाक्षरी मे किया है।

यद्यपि पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय इस समय खड़ी बोली के और आधुनिक विषयों के ही कवि प्रसिद्ध हैं, पर प्रारंभकाल में ये भी पुराने ढंग की शृंगारी कविता बहुत सुंदर और सरस करते थे। इनके निवासस्थान निजामाबाद में सिख-संप्रदाय के महंत बाबा सुमेरसिंहजी हिंदी-काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ प्रायः कवि समाज एकत्र हुआ करता था जिसमें उपाध्यायजी भी अपनी पूर्त्तियाँ पढ़ा करते थे। इनका "हरिऔध" उपनाम उसी समय का है। इनकी पुराने ढंग की कविताएँ 'रस-कलश' में संगृहीत हैं जिसमें इन्होंने नायिकाओं के कुछ नए ढंग के भेद रखने का प्रयत्न किया है। ये भेद रस-सिद्धांत के अनुसार ठीक नहीं उतरते।

पंडित श्रीधर पाठक का संबंध भी लोग खड़ी बोली के साथ ही अकसर बताया करते हैं। पर खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा पाठकजी की व्रजभाषा की कविताएँ ही अधिक सरस, हृदयग्राहिणी और उनकी मधुर-स्मृति को चिरकाल तक बनाए रखनेवाली हैं। यद्यपि उन्होंने समस्यापूर्त्ति नहीं की, नायिकाभेद के उदाहरणों के रूप में कविता नहीं की, पर जैसी मधुर और रसभरी व्रजभाषा उनके 'ऋतुसंहार' के अनुवाद मे है, वैसी पुराने कवियों मे किसी किसी की ही मिलती है। उनके सवैयों में हम व्रजभाषा का जीता जागता रूप पाते है। वर्षाऋतु-वर्णन का यह सवैया ही लीजिए—

वारि-फुहार-भरे बदरा, सोइ सोहत कुंजर से मतवारे।
बीजुरी-जोति धुजा फहरैं, घन-गर्जन-शब्द सोई हैं नगारे॥
रोर को घोर को ओर न छोर, नरेसन की-सी छटा छबि धारे।
कामिन के मन को प्रिय पावस, आयो, प्रिये नव मोहिनी डारे॥

व्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियों में स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। इनका जन्म काशी में भाद्रपद शुक्ल ६ सं० १९२३ और मृत्यु आषाढ़ कृष्ण ३ सं० १९८९ को हरद्वार में हुई। भारतेंदु के पीछे संवत् १९४६ से ही ये व्रजभाषा में कविता करने लगे थे। 'हिंडोला' आदि इनकी पुस्तकें बहुत पहले निकली थीं। काव्य-संबंधिनी एक पत्रिका भी इन्होंने कुछ दिनों तक निकाली थी। इनकी कविता बड़े बड़े पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। पुराने कवियों में भी इनकी सी सूझ और उक्ति-वैचित्र्य बहुत कम देखा जाता है। भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई होती थी। ये साहित्य तथा व्रजभाषा-काव्य के बहुत बड़े मर्मज्ञ माने जाते थे।

इन्होंने 'हरिश्चंद्र', 'गंगावतरण' और 'उद्धव शतक' नाम के तीन बहुत ही सुंदर प्रबंध-काव्य लिखे हैं। अँगरेज कवि पोप के समालोचना संबंधी प्रसिद्ध काव्य (Essay on Criticism) का रोला छंद में अच्छा अनुवाद इन्होंने किया है। फुटकल रचनाएँ तो इनकी बहुत अधिक हैं, शृंगार और वीर दोनों की। इनकी रचनाओं का बहुत बड़ा संग्रह "रत्नाकर" के नाम से काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। 'गंगावतरण' में गंगा के आकाश से उतरने और शिव के उन्हें सँभालने के लिये संनद्ध होने का वर्णन बहुत ही ओजपूर्ण है। 'उद्धवशतक' की मार्मिकता और रचना-कौशल भी अद्वितीय है। उसके दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं।

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्मदूत ह्वै पधारे आप,
धारे प्रन फेरन की मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥

मान्यो हम, कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यो जो तुम,
तौ हूँ हमें भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

---

धरि राखौ ज्ञान गुन गौरव गुमान गोइ,
गोपिन को आवत न भावत भडंग है।
कहै रतनाकर करत टाँय टाँय वृथा,
सुनत न काऊ यहाँ यह मुहचंग है॥
और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊधो!
साँस रोकिबे को कहा जोग ही कुढंग है?
कुटिल कटारी है, अटारी है उतंग अति,
जमुना-तरंग है, तिहारो सतसंग है॥

कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कविता भी ब्रजभाषा के पुराने कवियों का स्मरण दिलानेवाली होती थी। जब तक ये कानपुर में रहे तब तक कविता की चर्चा की बड़ी धूम रही। वहाँ के 'रसिक समाज' मे पुरानी परिपाटी के कवियों की बड़ी चहल-पहल रहा करती थी। "पूर्ण" जी ने कुछ दिनों तक 'रसिकवाटिका' नाम की एक पत्रिका भी चलाई, जिसमें समस्या-पूर्त्तियाँ और पुराने ढग की कविताएँ छपा करती थीं। खेद है कि केवल ४७ वर्ष की अवस्था मे ही संवत् १९७७ में इनका देहात हो गया। इनकी रचना कैसी सरस होती थी और ललित पदावली पर इनका कैसा अच्छा अधिकार था, इसका अनुमान इनके "धाराधर धावन" (मेघदूत का अनुवाद) से उद्धृत इस पद्य से हो सकता है—

नव कलित केसर-वलित हरित सुपीत नीप निहारि कै।
करि असन दल कँदलीन जो कलियाहिं प्रथम कछार पै॥
हे घन! विपिन थल अमल परिमल पाय भूतल की भली।
मधुकर मतंग कुरंग वृंद जनायहैं तेरी गली॥

आधुनिक काव्य-क्षेत्र में दुलारेलालजी ने व्रजभाषा-काव्य-चमत्कार-पद्धति का एक प्रकार से पुनरुद्धार किया है। इनकी "दुलारे-दोहावली" पर टीकमगढ़ राज्य की ओर से २०००) का 'देव-पुरस्कार' मिल चुका है। 'दोहावली' के कुछ दोहे देखिए—

तन-उपवन सहिहै कहा बिछुरन-झंझावात।
उड्यो जात उर-तरु जबै चलिबे ही की बात॥
दमकति दरपन-दरप दरि दीपसिखा-दुति देह।
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि स-नेह॥
झर सम दीजै देस हित झरझर जीवन-दान।
रुकि रुकि यों चरसा सरिस देबौ कहा, सुजान?
गाँधी गुरु तें ग्यान लै चरखा अनहद जोर।
भारत सबद तरंग पै बहत मुकुति की ओर॥

अभी थोड़े दिन हुए, अयोध्या के पं० रामनाथ ज्योतिषी ने राम-कथा लेकर अपना 'रामचंद्रोदय काव्य' लिखा है जिसपर उन्हे २०००) का 'देव पुरस्कार' मिला है।

आधुनिक विषयों को लेकर कविता करनेवाले कई कवि जैसे, स्व० नाथूरामशङ्कर शर्मा, लाला भगवानदीन, पुरानी परिपाटी की बड़ी सुदर कविता करते थे। पं० गयाप्रसादजी शुक्ल 'सनेही' के प्रभाव से कानपुर में व्रजभाषा-काव्य के मधुर स्रोत अभी बराबर वैसे ही चल रहे है, जैसे 'पूर्ण' जी के समय में चलते थे। नई पुरानी दोनो परिपाटियों के कवियों का कानपुर अच्छा केंद्र है। व्रजभाषा-काव्य-परंपरा किस प्रकार जीती जागती चली चल रही है, यह हमारे वर्त्तमान कवि-संमेलनों में देखा जा सकता है।

## प्रकरण २

## नई धारा

### प्रथम उत्थान

### संवत् १९२५—१९५०

यह सूचित किया जा चुका है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करके गद्य साहित्य को देश-काल के अनुसार नए नए विषयों की ओर लगाया, उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा। इस नए रंग में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोक-हित, समाज-सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे। हास्य और विनोद के नए विषय भी इस काल में कविता को प्राप्त हुए। रीति-काल के कवियों की रूढ़ि में हास्य रस के आलंबन कंजूस ही चले आते थे। पर साहित्य के इस नए युग के आरंभ से ही कई प्रकार के नए आलंबन सामने आने लगे—जैसे, पुरानी लकीर के फकीर, नए फैशन के गुलाम, नोच-खसोट करनेवाले अदालती अमले, मूर्ख और खुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देशभक्त इत्यादि। इस प्रकार वीरता के आश्रय भी जन्मभूमि के उद्धार के लिये रक्त बहानेवाले, अन्याय और अत्याचार का दमन करनेवाले इतिहास-प्रसिद्ध वीर होने लगे। सारांश यह कि इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नए नए विषयों के प्रतिबिंब आए, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामंजस्य भी घटित कर चले। कालचक्र के फेर से जिस नई परिस्थिति के बीच हम पड़ जाते हैं, उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाए बिना जैसे काम नहीं चल सकता, वैसे ही उसकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुख किए बिना हमारा जीवन फीका, नीरस, शिथिल और अशक्त रहता है।

विषयों की अनेकरूपता के साथ साथ उनके विधान का भी ढंग बदल

चला। प्राचीन धारा में 'मुक्तक' और 'प्रबंध' की जो प्रणाली चली आती थी, उससे कुछ भिन्न प्रणाली का भी अनुसरण करना पड़ा। पुरानी कविता में 'प्रबंध' का रूप कथात्मक और वस्तुवर्णनात्मक ही चला आता था। या तो पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर छोटे बडे आख्यान-काव्य रचे जाते थे—जैसे, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचंद्रिका, छत्रप्रकाश, सुदामा-चरित्र, दानलीला, चीरहरन लीला इत्यादि—अथवा विवाह, मृगया, झूला, हिंडोला, ऋतुविहार आदि को लेकर वस्तुवर्णनात्मक प्रबंध। अनेक प्रकार के सामान्य विषयों पर—जैसे, बुढ़ापा, विधिविडंबना, जगत-सचाई-सार, गोरक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत—कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूप में छोटे छोटे प्रबंधो या निबंधो की चाल न थी। इस प्रकार के विषय कुछ उक्तिवैचित्र्य के साथ ही पद्य मे कहे जाते थे, अर्थात् वे मुक्तक की सूक्तियो के रूप में ही होते थे। पर नवीन धारा के आरंभ मे छोटे छोटे पद्यात्मक निबंधों की परंपरा भी चली जो प्रथम उत्थानकाल के भीतर तो बहुत कुछ भावप्रधान रही, पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) होने लगी।

नवीन धारा के प्रथम उत्थान के भीतर हम हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी आदि को ले सकते है।

जैसा ऊपर कह आए हैं, नवीन धारा के बीच भारतेंदु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं मे देशदशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही, बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होने लिखीं जिनमे कहीं देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिंता इत्यादि अनेक पुनीत भावो का संचार पाया जाता है। "विजयिनी-विजय-वैजयंती" में, जो मिस्र मे भारतीय सेना की विजय-प्राप्ति पर लिखी गई थी, देशभक्ति-व्यंजक कैसे भिन्न भिन्न संचारी भावो का उद्गार है! कहीं गर्व, कहीं क्षोभ, कहीं विषाद। "सहसन बरसन सों सुन्यो

जो सपने नहिं कान, सो जय आरज शब्द" को सुन और "फरकि उठीं सबकी भुजा, खरकि उठी तरवार। क्यो आपुहि ऊँचे भए आर्य्य मोछ के बार" का कारण जान, प्राचीन आर्य्य-गौरव का गर्व कुछ आ ही रहा था कि वर्तमान अधोगति का दृश्य ध्यान मे आया और फिर वही "हाय भारत !" की धुन !

> हाय ! वहै भारत-भुव भारी। सब ही विधि सों भई दुखारी।
> हाय ! पंचनद, हा पानीपत। अजहुं रहे तुम धरनि विराजत।
> हाय चितौर ! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी।
> तुममें जल नहिं जमुना गगा। बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा ?
> बोरहु किन झट मथुरा कासी ? धोवहु यह कलक की रासी।

'चित्तौर', 'पानीपत' इन नामों मे हिंदू हृदय के लिये कितने भावों की व्यंजना भरी है। उसके लिये ये नाम ही काव्य है। नीलदेवी में यह कैसी करुण पुकार है—

> कहाँ करुणानिधि केसव सोए ?
> जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए ॥

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि भारतेंदुजी ने हिंदी-काव्य को केवल नए नए विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। दूसरी बात उनके संबंध मे ध्यान देने की यह है कि वे केवल "नरप्रकृति" के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनंतरूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता। अपने नाटकों मे दो एक जगह उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन रखे हैं (जैसे सत्यहरिश्चद्र मे गंगा का वर्णन, चद्रावली मे यमुना का वर्णन ) वे केवल परपरा-पालन के रूप में है। उनके भीतर उनका हृदय नहीं पाया जाता। वे केवल उपमा और उत्प्रेक्षा के चमत्कार के लिये लिखे जान पड़ते है। एक पक्ति में कुछ अलग अलग वस्तुएँ और व्यापार हैं और दूसरी पक्ति मे उपमा या उत्प्रेक्षा। कहीं कहीं तो यह अप्रस्तुत विधान तीन पक्तियों तक चला चलता है।

अंत में यह सूचित कर देना आवश्यक है कि गद्य को जिस परिमाण में भारतेंदु ने नए नए विषयो और मार्गो की ओर लगाया उस परिमाण में पद्य

को नहीं। उनकी अधिकांश कविता तो कृष्णभक्त कवियों के अनुकरण पर गेय पदों के रूप में है जिनमें राधाकृष्ण की प्रेमलीला और विहार का वर्णन है। शृंगाररस के कवित्त-सवैयों का उल्लेख पुरानी धारा के अंतर्गत हो चुका है[1]। देशदशा, अतीत गौरव आदि पर उनकी कविताएँ या तो नाटकों में रखने के लिये लिखी गईं अथवा विशेष अवसरों पर—जैसे प्रिंस आफ वेल्स (पीछे सम्राट् सप्तम एडवर्ड) का आगमन, मिस्र पर भारतीय सेना द्वारा ब्रिटिश सरकार की विजय—पढ़ने के लिये। ऐसी रचनाओं में राजभक्ति और देशभक्ति का मेल आजकल के लोगों को कुछ विलक्षण लग सकता है। देशदशा पर दो एक होली या वसंत आदि गाने की चीजें फुटकल भी मिलती हैं। पर उनकी कविताओं के विस्तृत संग्रह के भीतर आधुनिकता कम ही मिलेगी।

गाने की चीजों में भारतेंदु ने कुछ लावनियाँ और ख्याल भी लिखे जिनकी भाषा खड़ी बोली होती थी।

भारतेंदुजी स्वयं पद्यात्मक निबंधों की ओर प्रवृत्त नहीं हुए, पर उनके भक्त और अनुयायी पं० प्रतापनारायण मिश्र इस ओर बढ़े। उन्होंने देश-दशा पर आँसू बहाने के अतिरिक्त 'बुढ़ापा', 'गोरक्षा' ऐसे विषय भी कविता के लिये चुने। ऐसी कविताओं में कुछ तो विचारणीय बातें हैं, कुछ भाव-व्यंजना और विचित्र विनोद। उनके कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी हैं जिनमें शिक्षितों के बीच प्रचलित बातें साधारण भाषण के रूप में कही गई हैं। उदाहरण के लिये 'क्रंदन' की ये पंक्तियाँ देखिए—

तबहिं लख्यो जँह रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहु को तरसत॥
जहाँ कृषी, वाणिज्य शिल्पसेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैसहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ ऋन-भारन।
कहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारन॥

---

१—देखो पृष्ठ ५८१।

इस प्रकार के इतिवृत्तात्मक पद्य भारतेंदुजी ने भी कुछ लिखे है। जैसे—

अँगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥

मिश्रजी की विशेषता वास्तव में उनकी हास्य-विनोदपूर्ण रचनाओं मे दिखाई पड़ती है। 'हरगंगा', 'तृप्यंताम्', इत्यादि कविताएँ बड़ी ही विनोदपूर्ण और मनोरंजक है। 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' वाली 'हिंदी की हिमायत' भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) ने अधिकतर विशेष विशेष अवसरो पर—जैसे, दादाभाई नौरोजी के पार्लामेंट के मेंबर होने के अवसर पर, महारानी विक्टोरिया की हीरक-जुबिली के अवसर पर, नागरी के कचहरियों में प्रवेश पाने पर, प्रयाग के सनातन धर्म महासम्मेलन (सं० १९६३) के अवसर पर—आनंद आदि प्रकट करने के लिये कविताएँ लिखी है। भारतेंदु के समान नवीन विषयों के लिये ये भी प्रायः रोला छंद ही लेते थे। इनके छंदो मे यतिभंग प्रायः मिलता है। एक बार जब इस विषय पर मैंने इनसे बातचीत की, तब इन्होंने कहा—"मै यतिभंग को कोई दोष नहीं मानता; पढ़नेवाला ठीक चाहिए।" देश की राजनीतिक परिस्थिति पर इनकी दृष्टि बराबर रहती थी। देश की दशा सुधारने के लिये जो राजनीतिक या धर्म-संबंधी आंदोलन चलते रहे, उन्हे ये बड़ी उत्कंठा से परखा करते थे। जब कहीं कुछ सफलता दिखाई पड़ती, तब लेखो और कविताओं द्वारा हर्ष प्रकट करते; और जब बुरे लक्षण दिखाई देते, तब क्षोभ और खिन्नता। कांग्रेस के अधिवेशनों में ये प्रायः जाते थे। 'हीरक जुबिली' आदि की कविताओं को खुशामदी कविता न समझना चाहिए। उनमें ये देशदशा का सिंहावलोकन करते थे—और मार्मिकता के साथ।

विलायत में दादाभाई नौरोजी के 'काले' कहे जाने पर इन्होंने 'कारे' शब्द को लेकर बड़ी सरस और क्षोभपूर्ण कविता लिखी थी। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर है वारे॥

कारे काम, राम, जलधर जल-बरसनवारे।
कारे लागत ताही सों कारन कों प्यारे॥
यातें नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे।
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे॥
सफल होंहि मन के सबही संकल्प तुम्हारे।

हीरक-जुबिली के अवसर पर लिखे "हार्दिक हर्षादर्श" में देश की दशा का ही वर्णन है। जैसे—

भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
भए बीरबर सकल सुभट एकहि सँग गारत॥
मरे विबुध नरनाह सकल चातुर गुनमंडित।
बिगरो जनसमुदाय बिना पथदर्शक पंडित॥
नए नए मत चले, नए झगरे नित बाढे।
नए नए दुख परे सीस भारत पै गाढे॥

'प्रेमघन' जी की कई बहुत ही प्रांजल और सरस कविताएँ उनके दोनों नाटकों में हैं। "भारत-सौभाग्य" नाटक चाहे खेलने योग्य न हो, पर देश-दशा पर वैसा बड़ा, अनूठा और मनोरंजक नाटक दूसरा नहीं लिखा गया। उसके प्रारंभ के अंकों में 'सरस्वती', 'लक्ष्मी' और 'दुर्गा' इन तीनों देवियों के भारत से क्रमशः प्रस्थान का दृश्य बड़ा ही भव्य है। इसी प्रकार उक्त तीनों देवियों के मुँह से बिदा होते समय जो कविताएँ कहलाई गई हैं, वे भी बड़ी मार्मिक हैं। 'हंसारूढा सरस्वती' के चले जाने पर 'दुर्गा' कहती है—

आजु लौं रही अनेक भाँति धीर धारि कै।
पै न भाव मोहि बैठनो सु मौन मारि कै।
जाति हौं चली वहीं सरस्वती गई जहाँ॥

उद्धृत कविताओं में उनकी गद्यवाली चमत्कार-प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। अधिकांश कविताएँ ऐसी ही हैं। पर कुछ कविताएँ उनकी ऐसी भी हैं—जैसे, 'मयंक' और 'आनंद-अरुणोदय'—जिनमें कहीं लंबे लंबे रूपक हैं और कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भरमार।

यद्यपि ठाकुर जगमोहनसिंहजी अपनी कविता को नए विषयों की ओर नहीं ले गए, पर प्राचीन संस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन में लिए हुए, प्रेमचर्या की मधुर स्मृति से समन्वित विंध्यप्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिंदी-काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था। जिस समय हिंदी-साहित्य का अभ्युदय हुआ, उस समय संस्कृत काव्य अपनी प्राचीन विशेषता बहुत कुछ खो चुका था, इससे वह उसके पिछले रूप को ही लेकर चला। प्रकृति का जो सूक्ष्म निरीक्षण वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति में पाया जाता है, वह संस्कृत के पिछले कवियो में नहीं रह गया। प्राचीन संस्कृत कवि प्राकृतिक दृश्यों के विधान मे कई वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना द्वारा "बिंब-ग्रहण" कराने का प्रयत्न करते थे। इस कार्य्य को अच्छी तरह संपन्न करके तब वे इधर उधर उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा थोड़ा बहुत अप्रस्तुत वस्तु-विधान भी कर देते थे। पर पीछे मुक्तको मे सूक्ष्म और संश्लिष्ट योजना के स्थान पर कुछ इनी-गिनी वस्तुओं को अलग अलग गिनाकर 'अर्थ-ग्रहण' कराने का प्रयत्न नहीं रह गया और प्रबंध-काव्यों के वर्णनों में उपमा और उत्प्रेक्षा की इतनी भरमार हो चली कि प्रस्तुत दृश्य गायब हो चला।[१]

यही पिछला विधान हमारे हिंदी-साहित्य में आया। 'षट्-ऋतु-वर्णन' में प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारो का जो उल्लेख होता था, वह केवल 'उद्दीपन' की दृष्टि से—अर्थात् नायक या नायिका के प्रति पहले से प्रतिष्ठित भाव को और जगाने या उद्दीप्त करने के लिये। इस काम के लिये कुछ वस्तुओं का अलग अलग नाम ले लेना ही काफी होता है। स्वयं प्राकृतिक दृश्यों के प्रति कवि के भाव का पता देनेवाले वर्णन पुराने हिंदी-काव्य मे नही पाए जाते।

संस्कृत के प्राचीन कवियों की प्रणाली पर हिंदी काव्य के संस्कार का जो संकेत ठाकुर साहब ने दिया, खेद है कि उसकी ओर किसी ने ध्यान न दिया। प्राकृतिक वर्णन की इस प्राचीन भारतीय प्रणाली के संबंध मे थोड़ा विचार

१—देखिए "माधुरी" (ज्येष्ठ, अषाढ़ १९८०) में प्रकाशित मेरा "काव्य में प्राकृतिक दृश्य"।

करके हम आगे बढ़ते हैं। प्राकृतिक दृश्यों की ओर यह प्यार भरी सूक्ष्म दृष्टि प्राचीन संस्कृत काव्य की एक ऐसी विशेषता है जो फारसी या अरबी के काव्य-क्षेत्र में नहीं पाई जाती। योरप के कवियों मे जाकर ही यह मिलती है। अँगरेजी साहित्य मे वर्ड्सवर्थ, शेली और मेरडिथ ( Wordsworth, Shelley, Meredith ) आदि में उसी ढंग का सूक्ष्म प्रकृत निरीक्षण और मनोरम रूप-विधान पाया जाता है जैसा प्राचीन संस्कृत-साहित्य में। प्राचीन भारत और नवीन युरोपीय दृश्य-विधान मे पीछे थोड़ा लक्ष्य-भेद हो गया। भारतीय प्रणाली में कवि के भाव का आलंबन प्रकृति ही रही, अतः उसके रूप का प्रत्यक्षीकरण ही काव्य का एक स्वतंत्र लक्ष्य दिखाई पड़ता है। पर योरपीय साहित्य में काव्य निरूपण की बराबर बढ़ती हुई परंपरा के बीच धीरे धीरे यह मत प्रचार पाने लगा कि "प्राकृतिक दृश्यों का प्रत्यक्षीकरण मात्र तो स्थूल व्यवसाय है; उनको लेकर कल्पना की एक नूतन सृष्टि खड़ी करना ही कवि-कर्म है"।

उक्त प्रवृत्ति के अनुसार कुछ पाश्चात्य कवियों ने तो प्रकृति के नाना रूपों के बीच व्यंजित होनेवाली भावधारा का बहुत सुंदर उद्घाटन किया, पर बहुतेरे अपनी बेमेल भावनाओं का आरोप करके उन रूपों को अपनी अंत र्वृत्तियों से छोपने लगे। अब इन दोनों प्रणालियों में से किस प्रणाली पर हमारे काव्य में दृश्य-वर्णन का विकास होना चाहिए, यह विचारणीय है। मेरे विचार में प्रथम प्रणाली का अनुसरण ही समीचीन है। अनंत रूपो से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र उस 'महामानस' की कल्पनाओ का अनंत प्रसार है। सूक्ष्मदर्शी सहृदयों को उसके भीतर नाना भावो की व्यंजना मिलेगी। नाना रूप जिन नाना भावों की सचमुच व्यंजना कर रहे हैं, उन्हे छोड़ अपने परिमित अंतःकोटर की वासनाओं से उन्हे छोपना एक झूठे खेलवाड़ के ही अंतर्गत होगा। यह बात मै स्वतंत्र दृश्य-विधान के संबंध मे कह रहा हूँ जिसमे दृश्य ही प्रस्तुत विषय होता है। जहाँ किसी पूर्व प्रतिष्ठित भाव की प्रबलता व्यंजित करने के लिये ही प्रकृति के क्षेत्र से वस्तु-व्यापार लिए जायँगे, वहाँ तो वे उस भाव में रँगे दिखाई ही देंगे। पद्माकर की विरहिणी का यह कहना कि "किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।" ठीक ही है। पर बराबर इसी रूप मे प्रकृति को देखना दृष्टि का

संकुचित करना है। अपने ही सुख दुःख के रंग में रँगकर प्रकृति को देखा तो क्या देखा ? मनुष्य ही सब कुछ नहीं है। प्रकृति का अपना रूप भी है।

प० अंबिकादत्त व्यास ने नए नए विषयों पर भी कुछ फुटकल कविताएँ रची हैं जो पुरानी पत्रिकाओं में निकली हैं। एक बार उन्होंने कुछ बेतुके पद्य भी आजमाइश के लिये बनाए थे, पर इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं दिखाई पड़ी थी, क्योंकि उन्होंने हिंदी का कोई प्रचलित छंद लिया था।

भारतेंदु के सहयोगियों की बात यहीं समाप्त कर अब हम उन लोगों की ओर आते है जो उनकी मृत्यु के उपरांत मैदान मे आए और जिन्होंने काव्य की भाषा और शैली में भी कुछ परिवर्तन उपस्थित किया। भारतेंदु के सहयोगी लेखक यद्यपि देशकाल के अनुकूल नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त हुए, पर भाषा उन्होंने परंपरा से चली आती हुई ब्रजभाषा ही रखी और छंद भी वे ही लिए जो ब्रजभाषा मे प्रचलित थे। पर भारतेंदु के गोलोकवास के थोड़े ही दिन पीछे भाषा के संबंध में नए विचार उठने लगे। लोगों ने देखा कि हिंदी-गद्य की भाषा तो खड़ी बोली हो गई और उसमें साहित्य भी बहुत कुछ प्रस्तुत हो चुका, पर कविता की भाषा अभी ब्रजभाषा ही बनी है। गद्य एक भाषा मे लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा मे, यह बात खटक चली। इसकी कुछ चर्चा भारतेंदु के समय मे ही उठी थी, जिसके प्रभाव से उन्होंने "दशरथ विलाप' नाम की एक कविता खड़ी बोली में ( फारसी छंद मे ) लिखी थी। कविता इस ढंग की थी—

> कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे। किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे।
> बुढ़ापे में ये दुख भी देखना था। इसी के देखने को मैं बचा था॥

यह कविता राजा शिवप्रसाद को बहुत पसंद आई थी और इसे उन्होंने अपने 'गुटका' दाखिल किया था।

खड़ी बोली मे पद्य-रचना एकदम कोई नई बात न थी। नामदेव और और कबीर की रचना मे हम खड़ी बोली का पूरा स्वरूप दिखा आए है और यह सूचित कर चुके हैं कि उसका व्यवहार अधिकतर सधुक्कड़ी भाषा के भीतर हुआ करता था। शिष्ट साहित्य के भीतर परंपरागत काव्य-भाषा ब्रज-भाषा का

ही चलन रहा। इंशा ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' मे कुछ ठेठ खड़ी बोली के पद्य भी उर्दू छदों मे रखे। उसी समय मे प्रसिद्ध कृष्णभक्त नागरीदास हुए। नागरीदास तथा उनके पीछे होनेवाले कुछ कृष्णभक्तो मे इश्क की फारसी पदावली और गजलबाजी का शौक दिखाई पड़ा। नागरीदास के 'इश्क चमन' का एक दोहा है—

कोइ न पहुँचा वहाँ तक आसिक नाम अनेक।
इश्क-चमन के बीच मे आया मजनूँ एक॥

पीछे नजीर अकबराबादी ने ( जन्म सवंत् १७६७, मृत्यु १८७७ ) कृष्ण-लीला-संबंधी बहुत से पद्य हिंदी-खड़ी बोली मे लिखे। वे एक मनमौजी सूफी भक्त थे। उनके पद्यों के नमूने देखिए—

यारो सुनो य दधि के लुटैया का बालपन।
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन॥
मोहन-सरूप नृत्य करैया का बालपन।
बन बन में ग्वाल गौवें चरैया का बालपन॥
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥
परदे में बालपन के ये उनके मिलाप थे।
जोती-सरूप कहिए जिन्हे सो वो आप थे॥

---

वाँ कृष्ण मदनमोहन ने जब जब ग्वालों से यह बात कही।
औ आपी से झट गेंद डँडा उस कालीदह में फेंक दई।
यह लीला है उस नंदललन मनमोहन जसुमत-दैया की।
रख ध्यान सुनो दडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

लखनऊ के शाह कुंदनलाल और फुंदनलाल 'ललितकिशोरी' और 'ललित-माधुरी' नाम से प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त हुए है जिनका रचनाकाल संवत् १९१३ और १९३० के बीच समझना चाहिए। उन्होंने और कृष्णभक्तों के समान व्रजभाषा

के अनेक पद तो बनाए ही हैं, खड़ी बोली में कई झूलना छंद भी लिखे हैं, जैसे—

जगल में अब रमते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुप-गध न भाती है, सँग मरकट मोर सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
'ललित किशोरी' इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

इसके उपरात ही लावनीबाजों का समय आता है। कहते हैं कि मिरजापुर के तुकनगिरि गोसाईं ने सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञानोपदेश के लिये लावनी की लय चलाई। लावनी की बोली खड़ी बोली रहती थी। तुकनगिरि के दो शिष्य रिसालगिरि और देवीसिंह प्रसिद्ध लावनीबाज हुए, जिनके आगे चलकर दो परस्पर प्रतिद्वंदी अखाड़े हो गए। रिसालगिरि का ढंग 'तुर्रा' कहलाया जिसमें अधिकतर ब्रह्मज्ञान रहता था। देवीसिंह का बाना 'सखी का बाना' और उनका ढंग 'कलगी' कहलाया जो भक्ति और प्रेम लेकर चलता था। लावनीबाजों में काशीगिरि उपनाम 'बनारसी' का बड़ा नाम हुआ। लावनियों में पीछे उर्दू के छंद अधिकतर लिए जाने लगे। 'ख्याल' को भी लावनी के ही अंतर्गत समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कुछ पिछले कवि भी, जैसा कि हम दिखा आए हैं, इधर-उधर खड़ी बोली के दो-चार कवित्त-सवैए रच दिया करते थे। इधर लावनीबाज और ख्यालबाज भी अपने ढग पर कुछ ठेठ हिंदी मे गाया करते थे। इस प्रकार खड़ी बोली की तीन छद-प्रणालियाँ उस समय लोगों के सामने थीं जिस समय भारतेंदुजी के पीछे कविता की भाषा का सवाल लोगों के सामने आया—हिंदी के कवित्त-सवैया की प्रणाली, उर्दू छंदों की प्रणाली और लावनी का ढंग। सं० १९४२ में पं० श्रीधर पाठक ने इसी पिछले ढंग पर 'एकातवासी योगी' खड़ी बोली-पद्य मे निकाला। इसकी भाषा अधिकतर बोलचाल की और सरल थी। नमूना देखिए—

आज रात इससे परदेशी चल कीजे विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण, संकोच नहीं॥

तृण-शय्या और अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद ।
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा अशीर्वाद ॥

× × × ×

प्रानपियारे की गुन-गाथा, साधु ! कहाँ तक मैं गाऊँ ।
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ ॥

इसके पीछे तो "खडी बोली" के लिये एक आंदोलन ही खड़ा हुआ। मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री खडी बोली का झंडा लेकर उठे। संवत् १६४५ में उन्होंने 'खड़ी बोली आदोलन' की पुस्तक छपाई जिसमे उन्होंने बडे जोर शोर से यह राय जाहिर की कि अब तक जो कविता हुई, वह तो ब्रजभाषा की थी, हिंदी की नहीं। हिंदी मे भी कविता हो सकती है। वे भाषातत्त्व के जानकार न थे। उनकी समझ मे खडी बोली ही हिंदी थी। अपनी पुस्तक में उन्होंने खड़ी बोली-पद्य की चार स्टाइलें कायम की थीं—जैसे, मौलवी स्टाइल, मुंशी स्टाइल, पंडित स्टाइल, मास्टर स्टाइल। उनकी पोथी मे और पद्यों के साथ पाठकजी का "एकांतवासी योगी" भी दर्ज हुआ। और कई लोगों से अनुरोध करके उन्होंने खड़ी बोली की कविताएँ लिखाईं। चंपारन के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् और वैद्य पं० चद्रशेखरधर मिश्र, जो भारतेंदु जी क मित्रों में थे, संस्कृत के अतिरिक्त हिंदी में भी बड़ी सुंदर और आशु कविता करते थे। मै समझता हूँ कि हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल में सस्कृत-वृत्तों मे खड़ी बोली-के कुछ पद्य पहले-पहल मिश्रजी ने ही लिखे। बाबू अयोध्याप्रसादजी उनके पास भी पहुँचे और कहने लगे—"लोग कहते हैं कि खड़ी बोली में अच्छी कविता नहीं हो सकती। क्या आप भी यही कहते हैं ? यदि नहीं, तो मेरी सहायता कीजिए।" उक्त पडितजी ने कुछ कविता लिखकर उन्हें दी, जिसे उन्होंने अपनी पोथी में शामिल किया। इसी प्रकार खड़ी बोली के पक्ष मे जो राय मिलती, वह भी उसी पोथी मे दर्ज होती जाती थी। धीरे धीरे एक बड़ा पोथा हो गया जिसे बगल में दबाए वे जहाँ कहीं हिंदी के संबध मे सभा होती, जा पहुँचते। यदि बोलने का अवसर न मिलता या कम मिलता तो वे बिगड़कर चल देते थे।

# काव्य खंड

## नई धारा

### द्वितीय उत्थान

( संवत् १९५०—१९७५ )

पं० श्रीधर पाठक के 'एकांतवासी योगी' का उल्लेख खड़ी बोली की कविता के आरंभ के प्रसंग में प्रथम उत्थान के अंतर्गत हो चुका है। उसकी सीधी-सादी खड़ी बोली और जनता के बीच प्रचलित लय ही ध्यान देने योग्य नहीं है, किन्तु उसकी कथा की सार्वभौम मार्मिकता भी ध्यान देने योग्य है। किसी के प्रेम में योगी होना और प्रकृति के निर्जन क्षेत्र में कुटी छाकर रहना एक ऐसी भावना है जो समान रूप से सब देशों के और सब श्रेणियों के स्त्री-पुरुष के मर्म का स्पर्श स्वभावतः करती आ रही है। सीधी-सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिये ऐसी प्रेम-कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पंडितों की बँधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है। भारतीय हृदय का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिये पुराने परिचित ग्राम-गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है, केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परंपरा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है।

पंडितों की बाँधी प्रणाली पर चलनेवाली काव्यधारा के साथ साथ सामान्य अपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छंद और प्राकृतिक भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रहती है—ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पंडितों की साहित्य-भाषा के साथ साथ लोकभाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है। जब पंडितों की काव्य-भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर

आगे बढ़ती हुई लोकभाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य-परंपरा मे नया जीवन डालता है। प्राकृत के पुराने रूपों से लदी अपभ्रंश जब लद्धड़ होने लगी तब शिष्ट काव्य प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका। यही प्राकृतिक नियम काव्य के स्वरूप के संबंध में भी अटल समझना चाहिए। जब जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा मे जीवन-तत्त्व ग्रहण करने मे ही प्राप्त होगा।

यह भावधारा अपने साथ हमारे चिर-परिचित पशु-पक्षियों, पेड़ पौधों, जंगल-मैदानों आदि को भी समेटे चलती है। देश के स्वरूप के साथ यह संबद्ध चलती है। एक गीत में कोई ग्रामवधू अपने वियोग काल की दीर्घता की व्यंजना अपने चिर-परिचित प्रकृति-व्यापार द्वारा इस भोले ढंग से करती है—

"जो नीम का प्यारा पौधा प्रिय अपने हाथ से द्वार पर लगा गया वह बड़ा होकर फूला और उसके फूल झड़ भी गए, पर प्रिय न आया!"

इस भावधारा की अभिव्यंजन-प्रणालियाँ वे ही होती हैं जिनपर जनता का हृदय इस जीवन मे अपने भाव स्वभावतः ढालता आता है। हमारी भाव-प्रवर्त्तिनी शक्ति का असली भंडार इसी स्वाभाविक भावधारा के भीतर निहित समझना चाहिए। जब पंडितों की काव्यधारा इस स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न पड़कर रूढ़ हो जाती है तब वह कृत्रिम होने लगती है और उसकी शक्ति भी क्षीण होने लगती है। ऐसी परिस्थिति मे इसी भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भावधारा के ढलाव की नाना अंतर्भूमियों को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामंजस्य के रूप में हो, अंध प्रतिक्रिया के रूप मे नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्त्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छंदता ( True Romanticism ) कहना चाहिए, क्योंकि यह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।

इँगलैंड के जिस 'स्वच्छंदतावाद' ( Romanticism ) का इधर हिंदी में भी बराबर नाम लिया जाने लगा है उसके प्रारंभिक उत्थान के भीतर परिवर्त्तन के मूल प्राकृतिक आधार का स्पष्ट आभास रहा। पीछे कवियों की व्यक्तिगत, विद्यागत और बुद्धिगत प्रवृत्तियों और विशेषताओं के—जैसे, रहस्यात्मकता, दार्शनिकता, स्वातंत्र्यभावना, कलावाद आदि के—अधिक प्रदर्शन से वह कुछ ढँक सा गया। काव्य को पांडित्य की विदेशी रूढ़ियों से मुक्त और स्वच्छंद काउपर ( Cowper ) ने किया था, पर स्वच्छंद होकर जनता के हृदय में संचरण करने की शक्ति वह कहाँ से प्राप्त करे, यह स्काटलैंड के एक किसानी झोपड़ो में रहनेवाले कवि बर्न्स ( Burns ) ने ही दिखाया था। उसने अपने देश के परंपरागत प्रचलित गीतों की मार्मिकता परखकर देशभाषा में रचनाएँ कीं, जिन्होंने वहाँ के सारे जनसमाज के हृदय में अपना घर किया। स्काट ( Walter Scott ) ने भी देश की अंतर्व्यापिनी भावधारा से शक्ति लेकर साहित्य को अनुप्राणित किया था।

जिस परिस्थिति में अँगरेजी-साहित्य में स्वच्छंदतावाद का विकास हुआ उसे भी देखकर यह समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल के अंत मे, या भारतेंदु-काल के अंत मे हिन्दी-काव्य की जो परिस्थिति थी वह कहाँ तक इँगलैंड की परिस्थिति के अनुरूप थी। सारे योरप में बहुत दिनों तक पंडितों और विद्वानों के लिखने-पढ़ने की भाषा लैटिन (प्राचीन रोमियों की भाषा) रही। फराँसीसियों के प्रभाव से इँगलैंड की काव्यरचना भी लैटिन की प्राचीन रूढ़ियों से जकड़ी जाने लगी। उस भाषा के काव्यो की सारी पद्धतियो का अनुसरण होने लगा। बँधी हुई अलंकृत पदावली, वस्तु-वर्णन की रूढ़ियाँ, छंदो की व्यवस्था सब ज्यों की त्यों रखी जाने लगी। इस प्रकार अँगरेजी काव्य, विदेशी काव्य और साहित्य की रूढ़ियों से इतना आच्छन्न हो गया कि वह देश की परंपरागत स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न सा हो गया। काउपर, क्रैब और बर्न्स ने काव्यधारा को साधारण जनता की नादरुचि के अनुकूल नाना मधुर लयों में तथा लोक-हृदय के ढलाव की नाना मार्मिक अंतर्भूमियों में स्वच्छंदतापूर्वक ढाला। अँगरेजी साहित्य के भीतर काव्य का यह स्वच्छंद रूप पूर्व रूप से बहुत अलग दिखाई पड़ा। बात यह थी कि लैटिन (जिसके साहित्य का निर्माण बहुत कुछ यवनानी

ढाँचे पर हुआ था ) इँगलैंड के लिये दूर देश की भाषा थी अतः उसका साहित्य भी वहाँ के निवासियों के अपने चिर संचित संस्कार और भाव्य-व्यंजन पद्धति से दूर पड़ता था।

पर हमारे साहित्य में रीति-काल की जो रूढ़ियाँ हैं वे किसी और देश की नहीं; उनका विकास इसी देश के साहित्य के भीतर संस्कृत में हुआ है। संस्कृत काव्य और उसी के अनुकरण पर रचित प्राकृत-अपभ्रंश काव्य भी हमारा ही पुराना काव्य है, पर पंडितों और विद्वानों द्वारा रूपग्रहण करते रहने और कुछ बँध जाने के कारण जनसाधारण की भावमयी वाग्धारा से कुछ हटा सा लगता है। पर एक ही देश और एक ही जाति के बीच आविर्भूत होने के कारण दोनों में कोई मौलिक पार्थक्य नहीं। अतः हमारे वर्त्तमान काव्यक्षेत्र में यदि अनुभूति की स्वच्छंदता की धारा प्रकृत पद्धति पर अर्थात् परंपरा से चले आते हुए मौखिक गीतों के मर्मस्थल से शक्ति लेकर चलने पाती तो वह अपनी ही काव्यपरंपरा होती—अधिक सजीव और स्वच्छंद की हुई।

रीति-काल के भीतर हम दिखा चुके हैं कि किस प्रकार रसों और अलंकारों के उदाहरणों के रूप में रचना होने से और कुछ छंदों की परिपाटी बँध जाने से हिंदी-कविता जकड़ सी उठी थी। हरिश्चंद्र के सहयोगियों में काव्यधारा को नए नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छंदता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छंदता का आभास पहले पहल पं० श्रीधर पाठक ने ही दिया। उन्होंने प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक ही न रहकर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को देखा। 'गुनवंत हेमंत' में वे गाँवों में उपजनेवाली मूली-मटर ऐसी वस्तुओं को भी प्रेम प्रेम से सामने लाए जो परंपरागत ऋतु-वर्णनों के भीतर नहीं दिखाई पड़ती थीं। इसके लिये उन्हें पं० माधवप्रसाद मिश्र की बौछार भी सहनी पड़ी थी। उन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिये सुंदर लय और चढ़ाव उतार के कई नए ढाँचे भी निकाले और इस बात का ध्यान रखा कि छंदों का सुंदर लय से पढ़ना एक बात है, राग-रागिनी गाना दूसरी बात। ख्याल या लावनी की लय पर जैसे 'एकांतवासी योगी' लिया गया वैसे ही सुथरे साइँयों के सधुक्कड़ी ढंग पर 'जगत-सचाई-सार',

जिसमें कहा गया कि 'जगत है सच्चा, तनिक न कच्चा, समझो बच्चा! इसका भेद।' 'स्वर्गीय वीणा' में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया जिसके ताल-सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है। इन सब बातों का विचार करने पर पं० श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छंदतावाद ( Romanticism ) के प्रवर्त्तक ठहरते हैं।

खेद है कि सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छंदता का यह मार्ग हमारे काव्यक्षेत्र के बीच चल न पाया। बात यह है कि उसी समय पिछले संस्कृत काव्य के संस्कारों के साथ पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में आए जिनका प्रभाव गद्यसाहित्य और काव्य-निर्माण दोनों पर बहुत ही व्यापक पड़ा। हिंदी में परंपरा से व्यवहृत छंदों के स्थान पर संस्कृत के वृत्तों का चलन हुआ, जिसके कारण संस्कृत पदावली का समावेश बढ़ने लगा। भक्तिकाल और रीतिकाल की परिपाटी के स्थान पर पिछले संस्कृत-साहित्य की पद्धति की ओर लोगों का ध्यान बँटा। द्विवेदीजी 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा बराबर कविता में बोलचाल की सीधी-सादी भाषा का आग्रह करते रहे जिससे इतिवृत्तात्मक ( Matter of fact ) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा। यह तो हुई द्वितीय उत्थान के भीतर की बात।

आगे चलकर तृतीय उत्थान में उक्त परिस्थिति के कारण जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई वह स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर न बढ़ने पाई। बीच में रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' की धूम उठ जाने के कारण नवीनता-प्रदर्शन के इच्छुक नए कवियों में से कुछ लोग तो बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं की रूप रेखा लाने में लगे, कुछ लोग पाश्चात्य काव्य-पद्धति को 'विश्व-साहित्य' का लक्षण समझ उसके अनुसरण में तत्पर हुए। परिणाम यह हुआ कि अपने यहाँ के रीतिकाल की रूढ़ियों और द्वितीय उत्थान की इतिवृत्तात्मकता से छूटकर बहुत सी हिंदी-कविता विदेश की अनुकृत रूढ़ियों और वादों में जा फँसी। इने गिने नए कवि ही स्वच्छंदता के मार्मिक और स्वाभाविक पथ पर चले।

"एकांतवासी योगी" के बहुत दिनों पीछे पं० श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में और भी रचनाएँ कीं। खड़ी बोली की इनकी दूसरी पुस्तक "श्रांत पथिक"

( गोल्डस्मिथ के Traveller का अनुवाद ) निकली। इनके अतिरिक्त खड़ी बोली में फुटकल कविताएँ भी पाठकजी ने बहुत सी लिखी। मन की मौज के अनुसार कभी कभी ये एकही विषय के वर्णन में दोनों बोलियो के पद्य रख देते थे। खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में ये बराबर कविता करते रहे। 'ऊजड़ ग्राम' ( Deserted Village ) इन्होंने ब्रजभषा में ही लिखा। अँगेरेजी और संस्कृत दोनो के काव्य-साहित्य का अच्छा परिचय रखने के कारण हिंदी कवियो मे पाठकजी की रुचि बहुत ही परिष्कृत थी। शब्दशोधन मे तो पाटकजी अद्वितीय थे। जैसी चलती और रसीली इनकी ब्रजभाषा होती थी, वैसा ही कोमल और मधुर संस्कृत पद-विन्यास भी। ये वास्तव मे एक बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और सुरुचिसंपन्न कवि थे। भद्दापन इनमें न था—न रूप रग में, न भाषा में, न भाव में, न चाल में न भाषण में।

इनकी प्रतिभा बराबर रचना के नए नए मार्ग भी निकाला करती थी। छंद, पदविन्यास, वाक्यविन्यास आदि के संबंध मे नई नई बंदिशे इन्हे खूब सूझा करती थीं। अपनी रुचि के अनुसार कई नए ढाँचे के छंद इन्होंने निकाले जो पढ़ने मे बहुत ही मधुर लय पर चलते थे। यह छंद देखिए—

> नाना कृपान निज पानि लिए, वपु नील वसन परिधान किए,
> गंभीर घोर अभिमान हिए, छकि पारिजात-मधुपान किए,
> छिन छिन पर जोर मरोर दिखावत, पलपल पर आकृति-कोर झुकावत।
> यह मोर नचावत, सोर मचावत, स्वेत स्वेत बगपाँति उड़ावत॥
> नदन प्रसून-मकरंद-बिंदु-मिश्रित समीर बिनु धीर चलावत।

अंत्यानुप्रास-रहित बेठिकाने समास होनेवाले गद्य के-से लंबे वाक्यो के छंद भी ( जैसे अँगरेजी में होते है ) इन्होंने लिखे हैं। 'सांध्य-अटन' का यह छद देखिए—

> विजन बन-प्रात था; प्रकृतिमुख शात था,
> अटन का समय था, रजनि का उदय था।
> प्रसव के काल की लालिमा मे लसा
> बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा॥

सद्य उत्फुल्ल-अरविंद-निभ नील सुवि-
शाल नभवक्ष पर जा रहा था चढ़ा ॥

विश्व-सचालक परोक्ष संगीत-ध्वनि की ओर रहस्यपूर्ण संकेत 'स्वर्गीय वीणा' की इन पंक्तियों में देखिए—

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमञ्जु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की-सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥
कोई पुरंदर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुंदरी है।
वियोग-तप्ता सी भोगमुक्ता हृदय के उद्‌गार गा रही है॥
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है॥
दया है, दाक्षिण्य का उदय है अनेकों बानक बना रही है॥
भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं बदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्मांड भर को मानो दो उँगलियों पर नचा रही है॥

यह कह आए हैं कि खड़ी बोली की पहली पुस्तक "एकांतवासी योगी" इन्होंने लावनी या ख्याल के ढंग पर लिखी थी। पीछे खड़ी बोली को हिंदी के प्रचलित छंदों में ले आए। 'श्रांत पथिक' की रचना इन्होंने रोला में की। इसके आगे भी ये बढ़े, और यह दिखा दिया कि सवैए में भी खड़ी बोली कैसी मधुरता के साथ ढल सकती है—

इस भारत में वन पावन तू ही तपस्वियों का तप-आश्रम था।
जगतत्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा वनवास की थी तब और; प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

पाठकजी कविता के लिये हर एक विषय ले लेते थे। समाज-सुधार के वे बड़े आकांक्षी थे; इससे विधवाओं की वेदना, शिक्षा-प्रचार ऐसे ऐसे विषय भी उनकी कलम के नीचे आया करते थे। विषयों को काव्य का पूरा पूरा स्वरूप देने में चाहे वे सफल न हुए हों, अभिव्यजना के वाग्वैचित्र्य की ओर उनका ध्यान चाहे न रहा हो, गंभीर नूतन विचार-धारा चाहे उनकी कविताओं के भीतर कम मिलती हो, पर उनकी वाणी में कुछ ऐसा प्रसाद था कि जो बात

उसके द्वारा प्रकट की जाती थी, उसमें सरसता आ जाती थी। अपने समय के कवियों में प्रकृति का वर्णन पाठकजी ने सबसे अधिक किया, इससे हिंदी-प्रेमियों में वे प्रकृति के उपासक कहे जाते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि उनकी वह उपासना प्रकृति के उन्हीं रूपों तक परिमित थी जो मनुष्य को सुखदायक और आनंदप्रद होते है, या जो भव्य और सुदर होते हैं। प्रकृति के सीधे-सादे, नित्य आँखो के सामने आनेवाले, देश के परंपरागत जीवन से सबंध रखनेवाले दृश्यों की मधुरता की ओर उनकी दृष्टि कम रहती थी।

पं० श्रीधर पाठक का जन्म सवत् १९३२ में और मृत्यु सं० १९८५ मे हुई।

भारतेंदु के पीछे और द्वितीय उत्थान के पहले ही हिंद के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि **पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ( हरिऔध )** नए विषयो की ओर चल पड़े थे। खड़ी बोली के लिये उन्होंने पहले उर्दू के छंदों और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा, क्योंकि उर्दू के छदों में खड़ी बोली अच्छी तरह मँज चुकी थी। संवत् १९५७ के पहले ही वे बहुत सी फुटकल रचनाएँ इस उर्दू ढंग पर कर चुके थे। नागरीप्रचारिणी सभा के गृहप्रवेशोत्सव के समय सं० १९५७ में उन्होंने जो कविता पढ़ी थी, उसके ये चरण मुझे अब तक याद हैं—

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी॥
मौलवी ऐसा न होगा एक भी।
खूब उर्दू जो न होवे जानता॥

इसके उपरात तो वे बराबर इसी ढग की कविता करते रहे। जब पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के प्रभाव से खड़ी बोली ने सस्कृत छंदों और सस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लिया, तब उपाध्यायजी—जो गद्य मे अपनी भाषा-संबधिनी पटुता उसे दो हदों पर पहुँचाकर दिखा चुके थे—उस शैली की ओर भी बढ़े और संवत् १९७१ में उन्होंने अपना 'प्रिय-प्रवास' नामक बहुत बड़ा काव्य प्रकाशित किया।

नवशिक्षितो के संसर्ग से उपाध्यायजी ने लोक-संग्रह का भाव अधिक

ग्रहण किया है। उक्त काव्य मे श्रीकृष्ण व्रज के रक्षक-नेता के रूप में अंकित किए गए है। खड़ी बोली में इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला है। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह सारा संस्कृत के वर्णवृत्तों मे है जिसमे अधिक परिमाण में रचना करना कठिन काम है। उपाध्यायजी का संस्कृत पद-विन्यास अनेक उपसर्गो से लदा तथा 'मंजु', 'मंजुल', 'पेशल' आदि से बीच बीच मे जटित अर्थात् चुना हुआ होता है। द्विवेदीजी और उनके अनुयायी कवि-वर्ग की रचनाओ से उपाध्याय जी की रचना इस बात मे साफ अलग दिखाई पड़ती है। उपाध्यायजी कोमलकांत पदावली को कविता का सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ समझते है। यद्यपि द्विवेदीजी अपने अनुयायियो के सहित जब इस संस्कृतवृत्त के मार्गपर बहुत दूर तक चल चुके थे, तब उपाध्यायजी उसपर आए, पर वे बिल्कुल अपने ढंग पर चले। किसी प्रकार की रचना को हद पर—चाहे उस हद तक जाना अधिकतर लोगों को इष्ट न हो—पहुँचाकर दिखाने की प्रवृत्ति के अनुसार उपाध्यायजी ने अपने इस काव्य मे कई जगह संस्कृत शब्दो को ऐसी लंबी लड़ी बाँधी है कि हिंदी को 'है', 'था', 'किया', 'दिया' ऐसी दो-एक क्रियाओं के भीतर ही सिमटकर रह जाना पड़ा है। पर सर्वत्र यह बात नहीं है। अधिकतर पदो मे बड़े ढंग से हिंदी अपनी चाल पर चली चलती दिखाई पड़ती है।

यह काव्य अधिकतर भाव-व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक है। कृष्ण के चले जाने पर व्रज की दशा का वर्णन बहुत अच्छा है। विरह-वेदना से क्षुब्ध वचनावली प्रेम की अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना करती हुई बहुत दूर तक चली चलती है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसकी कथा-वस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये भी अपर्याप्त है। अतः प्रबंध-काव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते ? किसी के वियोग मे कैसी कैसी बातें मन मे उठती हैं और क्या क्या कहकर लोग रोते हैं, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है। परंपरा-पालन के लिये जो दृश्य-वर्णन हैं वे किसी बगीचे में लगे हुए पेड़-पौधो के नाम गिनाने के समान हैं। इसी से शायद करील का नाम छूट गया।

दो प्रकार के नमूने उद्धृत करके हम आगे बढ़ते हैं—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेंदु-बिंबानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य-सन्मूर्ति थी॥

---

धीरे धीरे दिन गत हुआ; पद्मिनीनाथ डूबे।
आई दोषा, फिर गत हुई, दूसरा वार आया॥
यों ही बीती विपुल घटिका औ कई वार बीते।
आया न कोई मधुपुर से औ न गोपाल आए॥

इस काव्य के उपरांत उपाध्यायजी का ध्यान फिर बोलचाल की ओर गया। इस बार उनका मुहावरों पर अधिक जोर रहा। बोलचाल की भाषा में उन्होंने अनेक फुटकल विषयों पर कविताएँ रचीं जिनकी प्रत्येक पंक्ति में कोई न कोई मुहावरा अवश्य खपाया गया। ऐसी कविताओं का संग्रह 'चोखे चौपदे' ( सं० १९८९ ) में निकला। 'पद्यप्रसून' ( १९८२ ) मे भाषा दोनों प्रकार की है—बोलचाल की भी और साहित्यिक भी। मुहावरों के नमूने के लिये "चोखे चौपदे" का एक पद्य दिया जाता है—

क्यों पले पीस कर किसी को तू ?
है बहुत पालिसी बुरी तेरी।
हम रहे चाहते पटाना ही;
पेट तुमसे पटी नहीं मेरी॥

भाषा के दोनों नमूने ऊपर हैं। यही द्विकलात्मक कला उपाध्यायजी की बड़ी विशेषता है। इससे शब्द-भडार पर इनका विस्तृत अधिकार प्रकट होता है। इनका एक और बड़ा काव्य, 'वैदेही-वनवास'[1], जिसे ये बहुत दिनो से लिखते चले आ रहे थे, अब छप रहा है।

---

१—यह सवत् १९९७ में प्रकाशित हो गया।

इस द्वितीय उत्थान के आरंभ-काल में हम पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी को पद्य-रचना की एक प्रणाली के प्रवर्त्तक के रूप में पाते हैं। गद्य पर जो शुभ प्रभाव द्विवेदीजी का पड़ा, उसका उल्लेख गद्य के प्रकरण में हो चुका है[1]। खड़ी बोली के पद्य-विधान पर भी आपका पूरा पूरा असर पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुत कुछ सफाई आई। बहुत से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग ब्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। 'सरस्वती' के संपादन-काल में उनकी प्रेरणा से बहुत से नए लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा आदि दुरुस्त करके वे 'सरस्वती' में दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे धीरे बहुत से कवियों की भाषा साफ हो गई। उन्हीं नमूनों पर और लोगों ने भी अपना सुधार किया।

यह तो हुई भाषा-परिष्कार की बात। अब उन्होंने पद्य-रचना की जो प्रणाली स्थिर की, उसके संबंध में भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। द्विवेदी-जी कुछ दिनों तक बंबई की ओर रहे थे जहाँ मराठी के साहित्य से उनका परिचय हुआ। उसके साहित्य का प्रभाव उनपर बहुत कुछ पड़ा। मराठी कविता में अधिकतर संस्कृत के वृत्तों का व्यवहार होता है। पद-विन्यास भी प्रायः गद्य का सा ही रहता है। ब्रजभाषा की-सी 'कोमलकांतपदावली' उसमें नहीं पाई जाती। इस मराठी के नमूने पर द्विवेदीजी ने हिंदी में पद्य-रचना शुरू की। पहले तो उन्होंने ब्रजभाषा का ही अवलंबन किया। नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित 'नागरी तेरी यह दशा !" और रघुवंश का कुछ आधार लेकर रचित "अयोध्या का विलाप" नाम की उनकी कविताएँ संस्कृत वृत्तों में पर ब्रजभाषा में ही लिखी गई थीं। जैसे—

श्रीयुक्त नागरि निहारि दशा तिहारी।
होवै विषाद मन माँहि अतीव भारी॥

---

१—देखो पृष्ठ ५२८।

आकार जासु नभ-मंडल में समाने।
प्राचीर जासु लखि लोकप हू सकाने॥
जाकी समस्त सुनि संपति की कहानी।
नीचे नवाय सिर देवपुरी लजानी॥

इधर आधुनिक काल में व्रजभाषा-पद्य के लिये संस्कृत वृत्तों का व्यवहार पहले-पहल स्वर्गीय प० सरयूप्रसाद मिश्र ने रघुवंश महाकाव्य के अपने 'पद्य-बद्ध भाषानुवाद' में किया था जिसका प्रारंभिक अंश भारतेंदु की "कवि वचन-सुधा" मे प्रकाशित हुआ था। पूरा अनुवाद बहुत दिनों पीछे संवत् १९६८ मे पुस्तकाकार छपा। द्विवेदीजी ने आगे चलकर व्रजभाषा एकदम छोड़ ही दी और खड़ी बोली में ही काव्य-रचना करने लगे।

मराठी का संस्कार तो था ही, पीछे जान पड़ता है, उनके मन में वर्ड्स्वर्थ ( Wordsworth ) का यह पुराना सिद्धांत भी कुछ जम गया था कि "गद्य और पद्य का पद-विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए। पर यह प्रसिद्ध बात है कि वर्ड्स्वर्थ का वह सिद्धांत असंगत सिद्ध हुआ था और वह अपनी उत्कृष्ट कविताओं में उसका पालन न कर सका था। द्विवेदीजी ने भी बराबर उक्त सिद्धांत के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविताओं के बीच-बीच मे सानुप्रास कोमल पदावली का व्यवहार उन्होंने किया है। जैसे—

सुरम्यरूपे, रससागि-रंजिते,
विचित्र-वर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानंदविधायिनी महा
कवींद्रकांते, कविते! अहो कहाँ?
मांगल्य-मूलमय वारिद-वारि-वृष्टि॥

पर उनका जोर बराबर इस बात पर रहता था कि कविता बोल-चाल की भाषा मे होनी चाहिए। बोल-चाल से उनका मतलब ठेठ या हिंदुस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत् ( Prosaic ) हो गई। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—"गिरा-अर्थ जलबीचि सम कहियत भिन्न

न मिल्ल"—भाषा से विचार अलग नहीं रह सकता। उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक ( Matter of fact ) हुईं। उनमें वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है। 'यथा', 'सर्वथा', 'तथैव' ऐसे शब्दों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी अधिक गद्य का स्वरूप दे दिया।

यद्यपि उन्होंने संस्कृत वृत्तों का व्यवहार अधिक किया है पर हिंदी के कुछ चलते छंदों में भी उन्होंने बहुत सी कविताएँ ( जैसे विधि-विडंबना ) रची हैं जिनमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी कम है। अपना "कुमारसंभव सार" उन्होंने इसी ढंग पर लिखा है। कुमारसंभव का यह अनुवाद बहुत ही उत्तम हुआ है। इसमें मूल के भाव बड़ी सफाई से आए हैं। संस्कृत के अनुवादों में मूल का भाव लाने के प्रयत्न से भाषा में प्रायः जटिलता आ जाया करती है। पर इसमें यह बात जरा भी नहीं है। ऐसा साफ-सुथरा दूसरा अनुवाद जो मैंने देखा है, वह पं० केशवप्रसादजी मिश्र का 'मेघदूत' है। द्विवेदीजी की रचनाओं के दो नमूने देकर हम आगे बढ़ते हैं।

आरोग्ययुक्त बलयुक्त सुपुष्ट गात,
ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता।
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहा है,
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुमको वहाँ है?

---

इंद्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुममें, मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य्य शरासन पाँच-कुसुम-सायक-धारी,
अभी बना लेवे तत्क्षण ही उसको निज आज्ञाकारी॥

द्विवेदीजी की कविताओं का संग्रह "काव्यमंजूषा" नाम की पुस्तक में हुआ है। उनकी कविताओं के दूसरे संग्रह का नाम 'सुमन' है।

द्विवेदीजी के प्रभाव और प्रोत्साहन से हिंदी के कई अच्छे अच्छे कवि

निकले जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय और पं० लोचनप्रसाद पांडेय मुख्य हैं।

'सरस्वती' का संपादन द्विवेदीजी के हाथ मे आने के प्रायः तीन वर्ष पीछे ( सं० १९६३ से ) **बाबू मैथिलिशरण गुप्त** की खड़ी बोली की कविताएँ उक्त पत्रिका में निकलने लगीं और उनके संपादनकाल तक बराबर निकलती रही। संवत् १९६६ में उनका 'रंग में भंग' नामक एक छोटा सा प्रबंध-काव्य प्रकाशित हुआ जिसकी रचना चित्तौड़ और बूँदी के राजघरानो से संबंध रखनेवाली रजपूती आन की एक कथा को लेकर हुई थी। तब से गुप्तजी का ध्यान प्रबंधकाव्यों की ओर बराबर रहा और वे बीच बीच में छोटे या बड़े प्रबंध-काव्य लिखते रहे। गुप्तजी की ओर पहले-पहल हिंदी-प्रेमियो का सबसे अधिक ध्यान खींचनेवाली उनकी 'भारत-भारती' निकली। इसमे 'मुसद्दस हाली' के ढंग पर भारतीयों की या हिंदुओं की भूत और वर्त्तमान दशाओ की विषमता दिखाई गई है; भविष्य-निरूपण का प्रयत्न नहीं है। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीच बीच मे मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी-सादी भाषा में होने से यह स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप न दे सकने पर भी इसने हिंदी-कविता के लिये खडी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी। इसी के ढंग पर बहुत दिनों पीछे इन्होंने 'हिंदू' लिखा। 'केशों की कथा', 'स्वर्ग-सहोदर' इत्यादि बहुत सी फुटकल रचनाएँ इनकी 'सरस्वती' मे निकली हैं, जो 'मंगल घट' में संगृहीत हैं।

प्रबंध-काव्यों की परंपरा इन्होंने बराबर जारी रखी। अब तक ये नौ-दस छोटे-बड़े प्रबंध-काव्य लिख चुके है जिनके नाम हैं—रंग मे भंग, जयद्रथ-वध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत, यशोधरा। अंतिम दो बड़े काव्य हैं। 'विकट भट' में जोधपुर के एक राजपूत सरदार की तीन पीढ़ियों तक चलनेवाली बात की टेक की अद्भुत पराक्रमपूर्ण कथा है। 'गुरुकुल' में सिख गुरुओं के महत्त्व का वर्णन है। छोटे काव्यों में 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' का स्मरण अधिकतर लोगों को

है। गुप्तजी के छोटे काव्यों की प्रसंग-योजना भी प्रभावशालिनी है और भाषा भी बहुत साफ सुथरी है।

'वैतालिक' की रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति खड़ी बोली में गीत काव्य प्रस्तुत करने की ओर भी हो गई।

यद्यपि गुप्तजी जगत् और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही महत्त्व और सौंदर्य्य का दर्शन करनेवाले तथा अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखनेवाले कवि हैं, पर तृतीय उत्थान में 'छायावाद' के नाम से रहस्यात्मक कविताओं का कलरव सुन इन्होंने भी कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में गाए जो 'झंकार' में संगृहीत हैं। पर असीम के प्रति उत्कंठा और लंबी-चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्तजी की अंतःप्रेरित प्रवृत्ति के अंतर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पड़े।

'साकेत' और 'यशोधरा' इनके दो बड़े प्रबंध हैं। दोनों में उनके काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबंधत्व की कमी है। बात यह है कि इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति गीतकाव्य या नए ढंग के प्रगीत मुक्तकों ( Lyrics ) की ओर हो चुकी थी। 'साकेत' की रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि उर्मिला 'काव्य की उपेक्षिता' न रह जाय। पूरे दो सर्ग ( ९ और १० ) उसके वियोग-वर्णन में खप गए हैं। इस वियोग-वर्णन के भीतर कवि ने पुरानी पद्धति के आलंकारिक चमत्कारपूर्ण पद्य तथा आजकल की नई रंगत की वेदना और लाक्षणिक वैचित्र्यवाले गीत दोनों रखे हैं। काव्य का नाम 'साकेत' रखा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इसमें अयोध्या में होनेवाली घटनाओं और परिस्थितियों का ही वर्णन प्रधान है। राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में राम-भरत-मिलन तक की कथा आठ सर्गों तक चलती है। उसके उपरांत दो सर्गों तक उर्मिला की वियोगावस्था की नाना अंतर्वृत्तियों का विस्तार है जिसके बीच बीच में अत्यंत उच्च भावों की व्यंजना है। सूरदास की गोपियाँ वियोग में कहती हैं कि—

मधुबन तुम कत रहत हरे ?
बिरह-वियोग स्यामसुंदर के काहे न उकठि परे ?

पर उर्मिला कहती है—

रह चिर दिन तू हरी भरी,
बढ़ सुख से बढ़, सृष्टि सुंदरी?

प्रेम के शुभ प्रभाव से उर्मिला के हृदय की उदारता का और भी प्रसार हो गया है। वियोग की दशा में प्रिय लक्ष्मण के गौरव की भावना उसे सँभाले हुए है। उन्माद की अवस्था मे जब लक्ष्मण उसे सामने खड़े जान पड़ते हैं तब उस भावना को गहरा आघात पहुँचता है और वह व्याकुल होकर कहने लगती है—

प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे?
हम गिरे, अहो! तो गिरे, गिरे।

दंडकारण्य से लेकर लंका तक की घटनाएँ शत्रुघ्न के मुँह से मांडवी और भरत के सामने पूरी रसात्मकता के साथ वर्णन कराई गई हैं। रामायण के भिन्न भिन्न पात्रों के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूपों को विकृत न करके उनके भीतर ही आधुनिक आदोलनों की भावनाएँ—जैसे किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, युद्ध-प्रथा की मीमासा, राज्य-व्यवस्था मे प्रजा का अधिकार और सत्याग्रह, विश्वबंधुत्व, मनुष्यत्व—कौशल के साथ झलकाई गई हैं। किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते है।

'यशोधरा' की रचना नाटकीय ढग पर है। उसमे भगवान् बुद्ध के चरित्र से संबंध रखनेवाले पात्रों के उच्च और सुंदर भावों की व्यंजना और परस्पर कथोपकथन हैं, जिनमे कहीं कहीं गद्य भी है। भाव-व्यजना प्रायः गीतो में है।

'द्वापर' में यशोदा, राधा, नारद, कंस, कुब्जा इत्यादि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की मनोवृत्तियो का अलग अलग मार्मिक चित्रण है। नारद और कंस की मनोवृत्तियो के स्वरूप तो बहुत ही विशद और समन्वित रूप मे सामने रखे गए हैं

गुप्तजीने 'अनघ', 'तिलोत्तमा' और 'चंद्रहास' नामक तीन छोटे छोटे पद्यबद्ध रूपक भी लिखे हैं। 'अनघ' मैंकवि ने लोक-व्यवस्था के संबंध मे उठी

हुई आधुनिक भावनाओं और विचारों का अवस्थान—प्राचीनकाल के भीतर ले जाकर किया है। वर्त्तमान किसान आंदोलन का रंग प्रधान है।

गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिंदी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निस्संदेह कहे जा सकते हैं। भारतेंदु के समय से स्वदेश-प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी उसका विकास 'भारत-भारती' में मिलता है। इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और संमान, सबकी झलक हम पाते हैं।

गुप्तजी की रचनाओं के भीतर तीन अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। प्रथम अवस्था भाषा की सफाई की है जिसमें खड़ी बोली के पद्यों की मसृणबंध रचना हमारे सामने आती है। 'सरस्वती' में प्रकाशित अधिकांश कविताएँ तथा 'भारत-भारती' इस अवस्था की रचना के उदाहरण हैं। ये रचनाएँ काव्य प्रेमियों को कुछ गद्यवत्, रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं। इनमें सरस और कोमल पदावली की कमी भी खटकती थी। बात यह है कि यह खड़ी बोली के परिमार्जन का काल था। इसके अनंतर गुप्तजी ने बंगभाषा की कविताओं का अनुशीलन तथा मधुसूदन दत्त रचित व्रजांगना, मेघनाद-वध आदि का अनुवाद भी किया। इससे इनकी पदावली में बहुत कुछ सरसता और कोमलता आई, यद्यपि कुछ ऊबड़-खाबड़ और अव्यवहृत संस्कृत शब्दों की ठोकरें कहीं कहीं, विशेषतः छोटे छंदों के चरणांत में, अब भी लगती हैं। 'भारत-भारती' और 'वैतालिक' के बीच की रचनाएँ इस दूसरी अवस्था के उदाहरण में ली जा सकती हैं। उसके उपरांत 'छायावाद' कही जानेवाली कविताओं का चलन होता है और गुप्तजी का कुछ झुकाव प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) और अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर भी हो जाता है। इस झुकाव का आभास 'साकेत' और 'यशोधरा' में भी पाया जाता है। यह तीसरी अवस्था है।

गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं; प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करनेवाले

अथवा मद में झूमने (या 'झीमने') वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होनेवाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमें हैं। इनकी रचना के कई प्रकार के नमूने नीचे दिए जाते हैं—

क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज-देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।
वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?
(भारत-भारती)

---

थे, हो और रहोगे जब तुम, थी, हूँ और सदैव रहूँगी।
कल निर्मल जल की धारा सी आज यहाँ, कल वहाँ बहूँगी।
दूती ! बैठी हूँ सज कर मैं।
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से धाम धरा धन सब तज कर मैं।

× × × ×

अच्छी आँख-मिचौनी खेली !
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली।

× × × ×

निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, सम्पुट खोले सीप खडी।
मैं अपना घट लिए खडी हूँ, अपनी अपनी हमें पडी।
(झंकार)

---

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वही उड़े थे, बडे बडे अश्रु वे कब थे।

× × × ×

सखि, नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा ! तरता तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिमबिंदु बचे तब भी चलता उनको धरता धरता।
गड़ जायँ न कंटक भूतल के, कर डाल रहा डरता डरता।
आकाशजाल सब ओर तना, रवि तंतुवाय है आज बना;
करता है पद-प्रहार वही, मक्खी सी भिन्ना रही मही।

घटना हो चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य।
आता है ऊपर, सखी ! छा कर चंद्रादित्य॥
इंद्रवधू अपने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय।
नन्हीं दूबों का हृदय निकल पड़ा यह हाय॥
इस उत्पल से काय में, हाय ! उपल से प्राण।
रहने दे बक ध्यान यह, पावें ये दृग त्राण॥

× × × ×

वेदने ! तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी।

× × × ×

हा ! मेरे कुंजों का कूजन रोकर, निराश होकर सोया।
वह चंद्रोदय उसको उढ़ा रहा है धवल वसन-सा धोया॥

× × × ×

सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अंतस्तल भरके, उछल उछल कर छल छल करके,
थल थल तर के, कल कल धर के बिखराती है पारा।

× × × ×

ओ मेरे मानस के हास ! खिल सहस्रदल, सरस सुवास।

× × × ×

स्वजनि, रोता है मेरा गान।
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।

× × × ×

बस इसी प्रिय-कानन-कुंज में—मिलन भाषण के स्मृति-पुंज में—
अभय छोड मुझे तुम दीजियो, हसन-रोदन से न पसीजियो।

('साकेत')

**स्वर्गीय पं० रामचरित उपाध्याय** का जन्म सं० १६२६ मे गाजीपुर में हुआ था, पर पिछले दिनों में वे आजमगढ़ के पास एक गाँव में रहने लगे थे। कुछ वर्ष हुए उनका देहांत हो गया। वे संस्कृत के अच्छे पंडित थे और पहले पुराने ढंग की हिंदी-कविता की ओर उनकी रुचि थी। पीछे 'सरस्वती' मे जब खड़ी बोली की कविताएँ निकलने लगीं तब वे नए ढंग की रचना की ओर बढ़े और द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से बराबर उक्त पत्रिका मे अपनी रचनाएँ भेजते रहे। 'राष्ट्र-भारती', देवदूत', 'देवसभा', 'देवी द्रौपदी', 'भारत भक्ति', 'विचित्र विवाह' इत्यादि अनेक कविताएँ उन्होंने खडी बोली में लिखी है। छोटी कविताएँ अधिकतर विदग्ध भाषण के रूप में हैं। 'रामचरित-चिंतामणि' नामक एक बड़ा प्रबधकाव्य भी उन्होने लिखा है जिसके कई एक प्रसंग बहुत सुदर बन पडे; है जैसे—अंगद-रावण-संवाद। भाषा उनकी साफ होती थी और कुछ वैदग्ध्य के साथ चलती थी। अंगद-रावण-संवाद की ये पंक्तियाँ देखिए—

कुशल से रहना यदि है तुम्हे, दनुज! तो फिर गर्व न कीजिए।
शरण में गिरिए रघुनाथ के; निबल के बल केवल राम हैं।

× × × ×

सुन कपे! यम, इंद्र, कुबेर की न हिलती रसना मम सामने।
तदपि आज मुझे करना पडा मनुज-सेवक से बकवाद भी।
यदि कपे! मम राक्षस-राज का स्तवन है तुझसे न किया गया।
कुछ नहीं डर है; पर क्यों वृथा निलज! मानव-मान बडा रहा?

दूसरे संस्कृत के विद्वान् जिनकी कविताएँ 'सरस्वती' में बराबर छपती रहीं

झालरापाटन के पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न हैं। 'सरस्वती' के अतिरिक्त हिंदी के और पत्रों तथा पत्रिकाओं में भी ये अपनी कविताएँ भेजते रहे। राजपूताने से निकलनेवाले 'विद्याभास्कर' नामक एक पत्र का संपादन भी इन्होंने कुछ दिन किया था। मालवा और राजपूताने में हिंदी-साहित्य के प्रचार में इन्होंने बड़ा काम किया है। नवरत्न जी संस्कृत के भी अच्छे कवि हैं। गोल्डस्मिथ के Hermit या 'एकांतवासी योगी' का इन्होंने संस्कृत श्लोकों मे अनुवाद किया है। हिंदी मे भी इनकी रचनाएँ कम नहीं। कुछ पुस्तकें लिखने के अतिरिक्त अनुवाद भी कई पुस्तकों का किया है। रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' का हिंदी-पद्यों मे इनका अनुवाद बहुत पहले निकला था। माघ के 'शिशुपाल-वध' के दो सर्गों का अनुवाद 'हिंदी माघ' के नाम से इन्होंने संवत् १९८५ में किया था। पहले ये ब्रजभाषा के कवित्त आदि रचते थे जिनमे कहीं कहीं खड़ी बोली का भी आभास रहता था। शुद्ध खड़ी बोली के भी कुछ कवित्त इनके मिलते हैं। 'सरस्वती' में प्रकाशित इनकी कविताएँ अधिकतर इतिवृत्तात्मक या गद्य-वत् हैं, जैसे—

> मैं जो नया ग्रंथ विलोकता हूँ, भाता मुझे सो नव मित्र सा है।
> देखूँ उसे मैं नित बार बार; मानों मिला मित्र मुझे पुराना॥
> 'ब्रह्मन्, तजो पुस्तक-प्रेम आप, देता अभी हूँ यह राज्य सारा।'
> कहे मुझे यों यदि चक्रवर्ती, 'ऐसा न राजन्! कहिए', कहूँ मैं॥

पं० लोचनप्रसाद पांडेय बहुत छोटी अवस्था से कविता करने लगे थे। संवत् १९६२ से इनकी कविताएँ 'सरस्वती' तथा और मासिक पत्रिकाओं में निकलने लगी थीं। इनकी रचनाएँ कई ढंग की हैं—कथा-प्रबंध के रूप में भी और फुटकल प्रसंग के रूप में भी। चित्तौड़ के भीमसिंह के अपूर्व स्वत्व-त्याग की कथा नंददास की रासपंचाध्यायी के ढंग पर इन्होंने लिखी है। "मृगी दुःखमोचन" में इन्होंने खड़ी बोली के सवैयों में एक मृगी की अत्यंत दारुण परिस्थिति का वर्णन सरस भाषा में किया है जिससे पशुओं तक पहुँचनेवाली इनकी व्यापक और सर्वभूत-दयापूर्ण काव्यदृष्टि का पता चलता है। इनका हृदय कहीं कहीं पेड़-पौधों तक की दशा का मार्मिक अनुभव करता पाया

जाता है। यह भावुकता इनकी अपनी है। भाषा की गद्यवत् सरल सीधी गति उस रचना-प्रवृत्ति का पता देती है जो द्विवेदीजी के प्रभाव से उत्पन्न हुई थी। पर इनकी रचनाओं में खड़ी बोली का वैसा स्वच्छ और निखरा रूप नहीं मिलता जैसा गुप्तजी की उस समय की रचनाओं में मिलता है। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

चढ जाते पहाड़ों में जाके कभी, कभी झाड़ों के नीचे फिरें विचरें।
कभी कोमल पत्तियाँ खाया करें, कभी मीठी हरी हरी घास चरें।
सरिता-जल में प्रतिबिंब लखें निज, शुद्ध कहीं जल पान करें।
कहीं मुग्ध हो झर्झर निर्झर से तरु-कुंज में जा तप-ताप हरें॥
रहती जहाँ शाल रसाल तमाल के पादपों की अति छाया घनी।
चर के तृण आते, थके वहाँ बैठते थे मृग औ उसकी घरनी।
पगुराते हुए दृग मूँदे हुए वे मिटाते थकावट थे अपनी।
खुर से कभी कान खुजाते, कभी सिर सींग पे धारते थे टहनी॥

( मृगीदुःखमोचन )

---

सुमन विटप वल्ली काल की क्रूरता से।
झुलस जब रही थीं ग्रीष्म की उग्रता से॥
उस कुसमय में हा ! भाग्य-आकाश तेरा।
अयि नव लतिके ! था घोर आपत्ति-घेरा॥
अब तब बुझता था जीवनालोक तेरा॥
यह लख उर होता दुःख से दग्ध मेरा॥

इन प्रसिद्ध कवियों अतिरिक्त और न जाने कितने कवियों ने खड़ी बोली में फुटकल कविताएँ लिखीं जिनपर द्विवेदीजी का प्रभाव स्पष्ट झलकता था। ऐसी कविताओं से मासिक पत्रिकाएँ भी रहती थीं। जो कविता को अपने से दूर की वस्तु समझते थे वे भी गद्य में चलनेवाली भाषा को पद्यबद्ध करने का अभ्यास करने लगे। उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होने लगीं। उनके संबंध में यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि वे अधिकतर इतिवृत्तात्मक गद्य-

निबंध के रूप में होती थीं। फल इसका यह हुआ काव्य-प्रेमियों को उनमें काव्यत्व नहीं दिखाई पड़ता था और वे खड़ी बोली की अधिकांश कविता को 'तुकबंदी' मात्र समझने लगे थे। आगे चलकर तृतीय उत्थान में इस परिस्थिति के विरुद्ध गहरा प्रतिवर्त्तन ( Reaction ) हुआ।

यहाँ तक तो उन कवियों का उल्लेख हुआ जिन्होंने द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से अथवा उनके आदर्श के अनुकूल रचनाएँ कीं पर इस द्वितीय उत्थान के भीतर अनेक ऐसे कवि भी बराबर अपनी वाग्धारा बहाते रहे जो अपना स्वतंत्र मार्ग पहले से निकाल चुके थे और जिनपर द्विवेदी जी का कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता।

---

## द्विवेदी-मंडल के बाहर की काव्य-भूमि

द्विवेदीजी के प्रभाव से हिंदी-काव्य ने जो स्वरूप प्राप्त किया उसके अतिरिक्त और अनेक रूपों में भी भिन्न भिन्न कवियों की काव्य-धारा चलती रही। कई एक बहुत अच्छे कवि अपने अपने ढंग पर सरस और प्रभावपूर्ण कविता करते रहे जिनमें मुख्य राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथूराम शंकर शर्मा, प० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', प० सत्यनारायण कविरत्न लाला भगवानदीन, प० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रूपनारायण पाडेय है।

इन कवियों में से अधिकाश तो दो-रंगी कवि थे जो व्रजभाषा में तो शृंगार वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त-सवैयों या गेय पदों में करते आते थे और खड़ी बोली में नूतन विषयों को लेकर चलते थे। बात यह थी कि खड़ी बोली का प्रचार बराबर बढ़ता दिखाई देता था और काव्य के प्रवाह के लिये कुछ नई नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं। देश-दशा, समाज-दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण-संबंधी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रहकर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी, पर गहराई के साथ नहीं। त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए जिनके बीच बीच में जन्मभूमि-प्रेम, स्वजाति-गौरव, आत्म-संमान की व्यंजना करनेवाले जोशीले भाषण

रखे गए। जीवन की गूढ़, मार्मिक या रमणीय परिस्थितियाँ झलकाने के लिये नूतन कथा-प्रसंगों की कल्पना या उद्भावना की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ी। केवल पं० रामनरेश त्रिपाठी ने कुछ ध्यान कल्पित प्रबंध की ओर दिया।

दार्शनिकता का पुट राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की रचनाओं में कहीं कहीं दिखाई पड़ता है, पर किसी दार्शनिक तथ्य को हृदय-ग्राह्य रसात्मक रूप देने का प्रयास उनमें भी नहीं पाया जाता। उनके "वसंत-वियोग" में भारत-दशा-सूचक प्राकृतिक विभूति के नाना चित्रों के बीच बीच में कुछ दार्शनिक तत्त्व रखे गए हैं और अंत में आकाशवाणी द्वारा भारत के कल्याण के लिये कर्मयोग और भक्ति का आदेश दिलाया गया है। प्रकृति-वर्णन की ओर हमारा काव्य कुछ अधिक अग्रसर हुआ पर प्रायः वहीं तक रहा जहाँ तक उसका संबंध मनुष्य के सुख-सौंदर्य की भावना से है। प्रकृति के जिन सामान्य रूपों के बीच नर-जीवन का विकास हुआ है, जिन रूपों से हम बराबर घिरे रहते आए हैं उनके प्रति वह राग या ममता न व्यक्त हुई जो चिर सहचरों के प्रति स्वभावतः हुआ करती है। प्रकृति के प्रायः वे ही चटकीले भड़कीले रूप लिए गए जो सजावट के काम के समझे गए। साराश यह कि जगत् और जीवन के नाना रूपों और तथ्यों के बीच हमारे हृदय का प्रसार करने में वाणी वैसी तत्पर न दिखाई पड़ी।

राय देवीप्रसाद "पूर्ण" का उल्लेख 'पुरानी धारा' के भीतर हो चुका है। वे ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे और जब तक जीवित रहे, अपने 'रसिक समाज' द्वारा उस परपरा की पूरी चहल-पहल बनाए रहे। उक्त समाज की ओर से 'रसिकवाटिका' नाम की एक पत्रिका निकलती थी जिसमें उस समय के प्रायः सब ब्रजभाषा कवियों की सुदर रचनाएँ छपती थीं। जब सवत् १९७७ में पूर्णजी का देहावसान हुआ उस समय उक्त समाज निरवलंब सा हो गया और—

> रसिक समाजी ह्वै चकोर चहुँ ओर हेरैं,
> कविता को पूरन कलानिधि कितै गयो। ( रतनेश )

'पूर्ण' जी सनातनधर्म के बड़े उत्साही अनुयायी तथा अध्ययनशील व्यक्ति

कर देते है बाहर भुनगों का परिवार,
तब करते हैं कीश उदुंबर का आहार।
पक्षीगृह-विचार तरुगण को नहीं हिलाते हैं गजवृंद।
हंस भृंग-हिंसा के भय से खाते नहीं बंद अरविंद॥
धेनुवत्स जब छक जाते हैं पीकर छीर,
तब कुछ दुहते हैं गौओं को चतुर अहीर।
लेते हैं हम मधुकोशों से मधु जो गिरे आप ही आप।
मक्खी तक निदान इस थल की पाती नहीं कभी संताप॥

(वसंत-वियोग)

सरकारी कानून का रखकर पूरा ध्यान।
कर सकते हो देश का सभी तरह कल्यान॥
सभी तरह कल्यान देश का कर सकते हो।
करके कुछ उद्योग सोग सब हर सकते हो॥
जो हो तुम में जान, आपदा भारी सारी।
हो सकती है दूर, नहीं बाधा सरकारी॥

पं० नाथूराम शंकर शर्मा का जन्म संवत् १९१६ में और मृत्यु १९८९ में हुई। वे अपना उपनाम 'शंकर' रखते थे और पद्यरचना में अत्यंत सिद्धहस्त थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र के वे साथियों में थे और उस समय के कवि-समाजों में बराबर कविता पढ़ा करते थे। समस्या-पूर्ति वे बड़ी ही सटीक और सुंदर करते थे जिससे उनका चारों ओर पदक, पगड़ी, दुशाले आदि से सत्कार होता था। 'कवि व चित्रकार', 'काव्य-सुधाधर', 'रसिक-मित्र' आदि पत्रों में उनकी अनूठी पूर्तियाँ और व्रजभाषा की कविताएँ बराबर निकला करती थीं। छंदों के सुंदर नपे तुले विधान के साथ ही उनकी उद्भावनाएँ भी बड़ी अनूठी होती थीं। वियोग का यह वर्णन पढ़िए—

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अंबर तें ऊँची चढ़ जाएगी।
दोनों ध्रुव-छोरन लौं पल में पिघलकर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जाएगी।

झारैंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारैंगे खमंडल में आग मढ़ जाएगी।
काहू विधि बिधि की बनावट बचैगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जाएगी।

पीछे खड़ी बोली का प्रचार होने पर वे उसमें भी बहुत अच्छी रचना करने लगे। उनकी पदावली कुछ उद्दडता लिए होती थी। इसका कारण यह है कि उनका संबंध आर्य्य-समाज से रहा जिसमें अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियों के उग्र विरोध की प्रवृत्ति बहुत दिनों तक जाग्रत रही। उसी अंतर्वृत्ति का आभास उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है। "गर्भरंडा-रहस्य" नामक एक बड़ा प्रबंध-काव्य उन्होंने विधवाओं की बुरी परिस्थिति और देवमंदिरों के अनाचार आदि दिखाने के उद्देश्य से लिखा था। उसका एक पद्य देखिए—

फैल गया हुड़दंग होलिका की हलचल में।
फूल फूलकर फाग फला महिला-मडल में॥
जननी भी तज लाज बनी भजमक्खो सबकी।
पर मैं पिंड छुडाय जवनिका में जा दबकी॥

फबतियाँ और फटकार इनकी कविताओं की एक विशेषता है। फैशनवालों पर कही हुई "ईश गिरिजा को छोड़ि ईशु गिरिजा मे जाय" वाली प्रसिद्ध फबती इन्हीं की है। पर जहाँ इनकी चित्तवृत्ति दूसरे प्रकार की रही है, वहाँ की उक्तियाँ बड़ी मनोहर भाषा मे है। यह कवित्त ही लीजिए—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मद मंद पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे सरोवर में,
डूब डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायँगे॥
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरैंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे?

थे। उपनिषद् और वेदांत से उनकी अच्छी गति थी। सभा समाजों के प्रति उनका बहुत उत्साह रहता था और उनके अधिवेशनों में वे अवश्य कोई न कोई कविता पढ़ते थे। देश में चलनेवाले आंदोलनों ( जैसे, स्वदेशी ) को भी उनकी वाणी प्रतिध्वनित करती थी। भारतेंदु, प्रमघन आदि प्रथम उत्थान के कवियों के समान पूर्णजी में भी देशभक्ति और राजभक्ति का समन्वय पाया जाता है। बात यह है कि उस समय तक देश के राजनीतिक प्रयत्नों में अवरोध और विरोध का बल नहीं आया था और लोगों की पूरी तरह धड़क नहीं खुली थी। अतः उनकी रचना में यदि एक ओर 'स्वदेशी' पर देशभक्ति-पूर्ण पद्य मिलें और दूसरी ओर सन् १९११ वाले दिल्ली दरबार के ठाटबाट का वर्णन, तो आश्चर्य न करना चाहिए।

प्रथम उत्थान क कवियों के समान 'पूर्ण' जी पहले नूतन विषयों की कविता भी ब्रजभाषा में करते थे; जैसे—

> विगत आलस की रजनी भई। रुचिर उद्यम की द्युति छै गई॥
> उदित सूरज है नव भाग को। अरुन रंग नए अनुराग को॥
> तजि विछौनन को अब भागिए। भरत खंड प्रजागण जागिए॥

इसी प्रकार 'संग्राम-निंदा' आदि अनेक विषयों पर उनकी रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं। पीछे खड़ी बोली की कविता का प्रचार बढ़ने पर बहुत सी रचना उन्होने खड़ी बोली मे भी की, जैसे 'अमल्तास', 'वसंत-वियोग', 'स्वदेशी कुंडल', 'नए सन् ( १९१० ) का स्वागत', नवीन संवत्सर ( १९६७ ) का स्वागत', इत्यादि। स्वदेशी, देशोद्धार आदि पर उनकी अधिकांश रचनाएँ इतिवृत्तात्मक पद्यों के रूप में हैं। 'वसंतवियोग' बहुत बड़ी कविता है जिसमे कल्पना अधिक सचेष्ट मिलती है। उसमें भारत-भूमि की कल्पना एक उद्यान के रूप में की गई है। प्राचीनकाल में यह उद्यान सत्त्व-गुण-प्रधान, तथा प्रकृति की सारी विभूतियों से संपन्न था और इसके माली देवतुल्य थे। पीछे मालियो के प्रमाद और अनैक्य से उद्यान उजड़ने लगता है। यद्यपि कुछ यशस्वी महापुरुष ( विक्रमादित्य ऐसे ) कुछ काल के लिये उसे सँभालते दिखाई पड़ते हैं, पर उसकी दशा गिरती ही जाती है। अंत में उसके माली

साधना और तपस्या के लिये कैलास-मानसरोवर की ओर जाते हैं जहाँ आकाशवाणी होती है कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी मे जब 'पश्चिमी शासन' होगा तब उन्नति का आयोजन होगा। 'अमलतास' नाम की छोटी सी कविता मे कवि ने अपने प्रकृति-निरीक्षण का भी परिचय दिया है। ग्रीष्म में जब वनस्थली के सारे पेड़-पौधे झुलसे से रहते हैं और कहीं प्रफुल्लता नहीं दिखाई देती है, उस समय अमलतास चारो ओर फूलकर अपनी पीत प्रभा फैला देता है। इसमे कवि भक्ति के महत्त्व का संकेत ग्रहण करता है—

देख तव वैभव, द्रुमकुल-संत ! विचारा उसका सुखद निदान।
करे जो विषम काल को मंद, गया उस सामग्री पर ध्यान॥
रँगा निज प्रभु ऋतुपति के रंग, द्रुमों में अमलतास तू भक्त।
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल, दहन मे तेरे रहा अशक्त॥

'पूर्ण' जी की कविताओं का संग्रह 'पूर्ण-संग्रह' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनकी खड़ी बोली की रचना के कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

नंदनवन का सुना नहीं है किसने नाम,
मिलता है जिसमें देवों को भी आराम।
उसके भी बासी सुखरासी, उग्र हुआ यदि उनका भाग।
आकर के इस कुसुमाकर में करते हैं नंदन-रुचि त्याग॥

× × × ×

है उत्तर में कोट शैल सम तुंग विशाल,
विमल सघन हिम-वलित ललित धवलित सब काल॥

× × × ×

हे नर दक्षिण ! इसके दक्षिण, पश्चिम, पूर्व
है अपार जल से परिपूरित कोश अपूर्व।
पवन देवता गगन-पंथ से सुघन-घटों में लाकर नीर,
सींचा करते हैं यह उपवन करके सदा कृपा गंभीर॥

× × × ×

पंडित गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही) हिंदी के एक बड़े ही भावुक और सरस-हृदय कवि हैं। ये पुरानी और नई दोनों चाल की कविताएँ लिखते हैं। इनकी बहुत सी कविताएँ 'त्रिशूल' के नाम से निकली हैं। उर्दू-कविता भी इनकी बहुत ही अच्छी होती है। इनकी पुराने ढंग की कविताएँ 'रसिकमित्र', 'काव्यसुधानिधि' और 'साहित्य-सरोवर' आदि में बराबर निकलती रहीं। पीछे इनकी प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर हुई। इनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं—प्रेम-पचीसी', 'कुसुमांजलि', 'कृषक-क्रंदन'। इस मैदान में भी इन्होंने अच्छी सफलता पाई। एक पद्य नीचे दिया जाता है—

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।
तू है महासागर अगम, मैं एक धारा क्षुद्र हूँ॥
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ।
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ॥

पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम भी खड़ी बोली के कवियों में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। भाषा की सफाई और कविता के प्रसाद गुण पर इनका बहुत जोर रहता है। काव्यभाषा में लाघव के लिये कुछ कारक-चिह्नों और संयुक्त क्रियाओं के कुछ अंतिम अवयवों को छोड़ना भी (जैसे, 'कर रहा हूँ' के स्थान पर 'कर रहा' या 'करते हुए' के स्थान पर 'करते') ये ठीक नहीं समझते। काव्यक्षेत्र में जिस स्वाभाविक स्वच्छंदता (Romanticism) का आभास पं० श्रीधर पाठक ने दिया था उसके पथ पर चलनेवाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठीजी ही दिखाई पड़े। 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक इनके तीनों खंड-काव्यों में इनकी कल्पना ऐसे मर्मपथ पर चली है जिसपर मनुष्य मात्र का हृदय स्वभावतः ढलता आया है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं के भीतर न बँधकर अपनी भावना के अनुकूल स्वच्छंद संचरण के लिये कवि ने नूतन कथाओं की उद्भावना की है। कल्पित आख्यानों की ओर यह विशेष झुकाव स्वच्छंद मार्ग का अभिलाष सूचित करता है। इन प्रबंधों में नर-जीवन जिन रूपों में ढालकर सामने लाया गया है, वे मनुष्य मात्र का मर्मस्पर्श करनेवाले हैं तथा प्रकृति के स्वच्छंद और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होते।

स्वदेशभक्ति की जो भावना भारतेंदु के समय से चली आती थी उसे सुंदर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठीजी ने ही प्रदान किया। त्रिपाठीजी के उपर्युक्त तीनों काव्य देशभक्ति के भाव से प्रेरित है। 'देशभक्ति का यह भाव उनके मुख्य पात्रों को जीवन के कई क्षेत्रो मे सौदर्य प्रदान करता दिखाई पड़ता है—कर्म के क्षेत्र मे भी, प्रेम के क्षेत्र में भी। वे पात्र कई तरफ से देखने में सुंदर लगते हैं। देशभक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठीजी द्वारा प्राप्त हुआ, इसमें संदेह नहीं।

त्रिपाठीजी ने भारत के प्रायः सब भागो में भ्रमण किया है, इससे इनके प्रकृति-वर्णन में स्थानगत विशेषताएँ अच्छी तरह आ सकी है। इनके 'पथिक' मे दक्षिण भारत के रम्य दृश्यों का बहुत विस्तृत समावेश है। इसी प्रकार इनके 'स्वप्न' मे उत्तराखंड और काश्मीर की सुषमा सामने आती है। प्रकृति के किसी खड के सश्लिष्ट चित्रण की प्रतिभा इनमे अच्छी है। सुदर आलकारिक साम्य खड़ा करने में भी इनकी कल्पना प्रवृत्त होती है। पर झूठे आरोपों द्वारा अपनी उडान दिखाने या वैचित्र्य खडा करने के लिये नहीं।

'स्वप्न' नामक खंड-काव्य तृतीय उत्थान-काल के भीतर लिखा गया है जब कि 'छायावाद' नाम की शाखा चल चुकी थी, इससे उस शाखा का भी कुछ रंग कहीं कहीं उसके भीतर झलक मारता है, जैसे—

> प्रिय की सुध सी ये सरिताएँ ये कानन कातार सुसज्जित।
> मैं तो नहीं, किंतु है मेरा हृदय किसी प्रियतम से परिचित।
> जिसके प्रेम पत्र आते हैं प्रायः सुख-संवाद-सन्निहित॥

अतः उस काव्य को लेकर देखने से थोड़ी थोड़ी इनकी सब प्रवृत्तियाँ झलक जाती है। उसके आरंभ मे हम अपनी प्रिया मे अनुरक्त वसत नामक एक सुदर और विचारशील युवक को जीवन की गभीर वितर्क-दशा मे पाते है। एक ओर उसे प्रकृति की प्रमोदमयी सुषमाओं के बीच प्रियतमा के साहचर्य का प्रेम-सुख लीन रखना चाहता है, दूसरी ओर समाज के असख्य प्राणियो का कष्ट-क्रंदन उसे उद्धार के लिये बुलाता जान पडता है। दोनो पक्षो के बहुत से सजीव चित्र बारी बारी से बड़ी दूर तक चलते हैं। फिर उस युवक

के मन में जगत् और जीवन के संबंध में गंभीर जिज्ञासाएँ उठती हैं। जगत् के इन नाना रूपों का उद्गम कहाँ है? सृष्टि के इन व्यापारों का अंतिम लक्ष्य क्या है? यह जीवन हमें क्यों दिया गया है? इसी प्रकार के प्रश्न उसे व्याकुल करते रहते हैं और कभी कभी वह सोचता है—

इसी तरह की अमित कल्पना के प्रवाह में मैं निशिवासर,
बहता रहता हूँ विमोह-वश; नहीं पहुँचता कहीं तीर पर।
रात दिवस की बूँदों द्वारा तन-घट से परिमित यौवन-जल
है निकला जा रहा निरंतर, यह रुक सकता नहीं एक पल॥

कभी कभी उसकी वृत्ति रहस्योन्मुख होती है; वह सारा खेल खड़ा करनेवाले उस छिपे हुए प्रियतम का आकर्षण अनुभव करता है और सोचता है कि मैं उसके अन्वेषण में क्यों न चल पड़ूँ।

उसकी सुमना उसे दिन रात इस प्रकार भावनाओं में ही मग्न और अव्यवस्थित देखकर कर्ममार्ग पर स्थित हो जाने का उपदेश देती है—

सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार-द्रव्य-बल।
मूल हेतु रवि के गौरव का है प्रकाश ही न कि उच्च स्थल॥
मन की अमित तरंगों में तुम खोते हो इस जीवन का सुख॥

इसके उपरांत देश पर शत्रु चढ़ाई करता है और राजा उसे रोकने में असमर्थ होकर घोषणा करता है कि प्रजा अपनी रक्षा कर ले। इस पर देश के झुंड के झुंड युवक निकल पड़ते है और उनकी पत्नियाँ और माताएँ गर्व से फूली नहीं समाती हैं। देश की इस दशा में वसंत को घर में पड़ा देख उसकी पत्नी सुमना को अत्यंत लज्जा होती है और वह अपने पति से स्वदेश के इस संकट के समय शस्त्र-ग्रहण करने को कहती है। जब वह देखती है कि उसका पति उसी के प्रेम के कारण नहीं उठता है तब वह अपने को ही प्रिय के कर्त्तव्य-पथ का बाधक समझती है। वह सुनती है कि एक रुग्णा वृद्धा यह देखकर कि उसका पुत्र उसी की सेवा के ध्यान से युद्ध पर नहीं जाता है, अपना प्राणत्याग कर देती है। अंत में सुमना अपने को वसंत के सामने से

हटाना ही स्थिर करती है और चुपचाप घर से निकल पड़ती है। वह पुरुष वेष में वीरों के साथ समिलित होकर अत्यत पराक्रम के साथ लड़ती है। उधर वसंत उसके वियोग में प्रकृति के खुले क्षेत्र में अपनी प्रेम-वेदना की पुकार सुनाता फिरता है, पर सुमना उस समय प्रेम-क्षेत्र से दूर थी—

अर्द्ध निशा में तारागण से प्रतिबिंबित अति निर्मल जलमय।
नील झील के कलित कूल पर मनोव्यथा का लेकर आश्रय॥
नीरवता में अंतस्तल का मर्म करुण स्वर-लहरी में भर।
प्रेम जगाया करता था वह विरही विरह-गीत गा गा कर॥
भोजपत्र पर विरह-व्यथामय अगणित प्रेमपत्र लिख लिखकर।
डाल दिए थे उसने गिरि पर, नदियों के तट पर, नवपथ पर॥
पर सुमना के लिये दूर थे ये वियोग के दृश्य-कदंबक।
और न विरही की पुकार ही पहुँच सकी उसके समीप तक॥

अंत में वसंत एक युवक ( वास्तव मे पुरुष-वेष में सुमना ) के उद्बोधन से निकल पड़ता है और अपनी अद्भुत वीरता द्वारा सब का नेता बनकर विजय प्राप्त करता है। राजा यह कहकर कि 'जो देश की रक्षा करे वही राजा' उसको राज्य सौंप देता है। उसी समय सुमना भी उसके सामने प्रकट हो जाती है।

स्वदेश भक्ति की भावना कैसे मार्मिक और रसात्मक रूप मे कथा के भीतर व्यक्त हुई है, यह उपर्युक्त साराश द्वारा देखा जा सकता है। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, त्रिपाठी जी की कल्पना मानव-हृदय के सामान्य मर्मपथ चलनेवाली है। इनका ग्राम-गीत संग्रह करना इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है। अतः त्रिपाठी जी हमे स्वच्छंदतावाद ( Romanticism ) के प्रकृत पथ पर दिखाई पड़ते हैं। इनकी रचना के कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

चारु चंद्रिका से आलोकित विमलोदक सरसी के तट पर,
बौर-गंध से शिथिल पवन में कोकिल का आलाप श्रवण कर।
और सरक आती समीप है प्रमदा करती हुई प्रतिध्वनि,
हृदय द्रवित होता है सुनकर शशिकर छूकर यथा चंद्रमणि।

किंतु उसी क्षण भूख-प्यास से विकल वस्त्र-वंचित अनाथगण,
'हमें किसी की छाह चाहिए' कहते चुनते हुए अन्न कण।
आ जाते हैं हृदयद्वार पर, मैं पुकार उठता हूँ तत्क्षण—
हाय ! मुझे धिक् है जो इनका कर न सका मैं कष्ट-निवारण।

× × × ×

उमड-घुमड कर जब घमंड से उठता है सावन में जलधर,
हम पुष्पित कदंब के नीचे झूला करते हैं प्रति वासर।
तडित-प्रभा या घनगर्जन से भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर;
वह भुजबंधन कस लेती है, यह अनुभव है परम मनोहर।
किंतु उसी क्षण वह गरीबिनी, अति विषादमय जिसके मुँहपर,
बुने हुए छप्पर की भीषण चिंता के हैं घिरे वारिधर,
जिसका नहीं सहारा कोई, आ जाती है दृग के भीतर,
मेरा हर्ष चला जाता है एक आह के साथ निकलकर।
( स्वप्न )

---

प्रति क्षण नूतन वेष बना कर रंग-बिरंग निराला।
रवि के संमुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घर पर बैठ बीच में विचरूँ, यही चाहता मन है॥

× × × ×

सिंधु-विहग तरंग-पंख को फड़का कर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में, रक्षण में॥
( पथिक )

---

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बन कर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक़ के बदन में।
( फुटकल )

**स्वर्गीय लाला भगवानदीन** जी के जीवन का प्रारंभिक काल उस बुंदेलखंड मे व्यतीत हुआ था जहाँ देश की परपरागत पुरानी सस्कृति अभी बहुत कुछ बनी हुई है। उनकी रहन-सहन बहुत सादी और उनका हृदय बहुत सरल और कोमल था। उन्होंने हिंदी के पुराने काव्यों का नियमित रूप से अध्ययन किया था इससे वे ऐसे लोगो से कुढ़ते थे जो परपरागत हिंदी-साहित्य की कुछ भी जानकारी प्राप्त किए बिना केवल थोड़ी सी अँगरेजी शिक्षा के बल पर हिंदी-कविताएँ लिखने लग जाते थे। बुँदेलखंड मे शिक्षितवर्ग के बीच भी और सर्वसाधारण मे भी हिंदी-कविता का समान्य रूप से प्रचार चला आ रहा है। ऋतुओ के अनुसार जो त्योहार और उत्सव रखे गए हैं, उनके आगमन पर वहाँ लोगो में अब भी प्रायः वही उमंग दिखाई देती है। विदेशी सस्कारो के कारण वह मारी नहीं गई है। लाला साहब वही उमंग-भरा हृदय लेकर छतरपुर से काशी आ रहे। हिंदी-शब्दसागर के संपादकों मे एक वे भी थे। पीछे विश्वविद्यलाय में हिंदी के अध्यापक हुए। हिंदी-साहित्य की व्यवस्थित रूप से शिक्षा देने के लिये काशी मे उन्होने एक साहित्य-विद्यालय खोला जो उन्हीं के नाम से अब तक बहुत अच्छे ढंग पर चला जा रहा है। कविता मे वे अपना उपनाप 'दीन' रखते थे।

लालाजी का जन्म संवत् १६२३ मे और मृत्यु १९८७ ( जुलाई, १९३० ) मे हुई।

पहले वे ब्रजभाषा मे पुराने ढंग की कविता करते थे, पीछे 'लक्ष्मी' के सपादक हो जाने पर खडी बोली की कविताएँ लिखने लगे। खड़ी बोली मे उन्होंने वीरों के चरित्र लेकर बोलचाल की फड़कती भाषा मे जोशीली रचना की है। खड़ी बोली की कविताओ का तर्ज उन्होने प्रायः मुंशियान ही रखा था। वह या छंद भी उर्दू के रखते थे और भाषा में चलते अरबी या फारसी शब्द भी लाते थे। इस ढग के उनके तीन काव्य निकले हैं—'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक' और 'वीर पंचरत्न'। लालाजी पुराने हिंदी-काव्य और साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। बहुत से प्राचीन काव्यों की नए ढग की टीकाएँ करके उन्होंने अध्ययन के

अभिलाषियों का बड़ा उपकार किया है। रासपंचाध्यायी, कविप्रिया, दोहावली, कवितावली, बिहारी सतसई आदि की इनकी टीकाओं ने विद्यार्थियों के लिये अच्छा मार्ग खोल दिया। भक्ति और शृंगार की पुराने ढंग की कविताओं में उक्ति-चमत्कार वे अच्छा लाते थे।

उनकी कविताओं के दोनों तरह के नमूने नीचे देखिए—

सुनि मुनि कौसिक तें साप को हवाल सब
बाढ़ी चित करुना की अजब उमंग है।
पद-रज डारि करे पाप सबै छारि,
करि नवल-सुनारि दियो धामहू उतंग है॥
'दीन' भनै ताहि लखि जात पतिलोक
और उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।
कौतुकनिधान राम रज की बनाय रज्जु,
पद तें उड़ाई ऋषि-पतिनी-पतंग है॥

---

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता॥
जो वीर-सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता।
सब वीर किया करते हैं संमान कलम का।
वीरों का सुयशगान है अभिमान कलम का॥

इनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'नवीन बीन' या 'नदीमे दीन' है।

**पंडित रूपनारायण पांडेय** ने यद्यपि ब्रजभाषा में भी बहुत कुछ कविता की है, पर इधर अपनी खड़ी बोली की कविताओं के लिये ही ये अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बहुत ही उपयुक्त विषय कविता के लिये चुने हैं और उनमें पूरी रसात्मकता लाने में समर्थ हुए हैं। इनके विषय के चुनाव में ही भावुकता टपकती है, जैसे दलित कुसुम, वन विहंगम, आश्वासन। इनकी कविताओं का संग्रह 'पराग' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। पांडेयजी

की "वन-विहंगम" नाम की कविता मे हृदय की विशालता और सरसता का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। 'दलित कुसुम' की अन्योक्ति भी बड़ी हृदय-ग्राहिणी है। संस्कृत और हिंदी दोनो के छंदो मे खड़ी बोली को इन्होंने बड़ी सुघड़ाई से ढाला है। यहाँ स्थानाभाव से हम दो ही पद्य उद्धृत कर सकते हैं।

अहह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय-घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से ?
पर दुख-सुख तू ने, हा ! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड डाला।

———

बन बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं।
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं ॥
बढने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रही।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं ॥

खड़ी बोली की खरखराहट ( जो तब तक बहुत कुछ बनी हुई थी ) के बीच 'वियोगी हरि' के समान स्वर्गीय **पं० सत्यनारायण कविरत्न** (जन्म संवत् १६३६-मृत्यु १६७५ ) भी ब्रज की मधुर वाणी सुनाते रहे। रीतिकाल के कवियों की परंपरा पर न चलकर वे या तो भक्तिकाल के कृष्णभक्त कवियों के ढंग पर चले हैं अथवा भारतेंदु-काल की नूतन कविता की प्रणाली पर। ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रज-पति का प्रेम उनके हृदय की संपत्ति थी। ब्रज के अतीत दृश्य उनकी आँखो मे फिरा करते थे। इंदौर के पहले साहित्य संमेलन के अवसर पर वे मुझे वहाँ मिले थे। वहाँ की अत्यंत काली मिट्टी देख वे बोले, "या माटी कों तो हमारे कन्हैया न खाते"।

अँगरेजी की ऊँची शिक्षा पाकर उन्होंने अपनी चाल-ढाल ब्रजमडल के ग्रामीण भले-मानसों की ही रखी। धोती, बगल बदी और दुपट्टा; सिरपर एक गोल टोपी, यही उनका वेष रहता था। वे बाहर जैसे सरल और सदे थे, भीतर भी वैसे ही थे। सादापन दिखावे के लिये धारण किया हुआ नहीं है स्वभावगत है, यह बात उन्हे देखते ही और उनकी बातें

सुनते ही प्रगट हो जाती थी। बाल्यकाल से लेकर जीवनपर्य्यंत वे आगरे से डेढ़ कोस पर ताजगंज के पास धाँधूपुर नामक गाँव में ही रहे। उनका जीवन क्या था, जीवन की विषमता का एक छोटा हुआ दृष्टांत था। उनका जन्म और बाल्यकाल, विवाह और गार्हस्थ्य, सब एक दुःखभरी कहानी के संबद्ध खंड थे। वे थे ब्रजमाधुरी में पगे जीव; उनकी पत्नी थीं आर्य्य-समाज के तीखेपन में तर्रा महिला। इस विषमता की विरसता बढ़ती ही गई और थोड़ी ही अवस्था में कविरत्नजी की जीवन यात्रा समाप्त हो गई।

ब्रजभाषा की कविताएं वे छात्रावस्था ही से लिखने लगे। वसंतागम पर, वर्षा के दिनों में वे रसिये आदि ग्राम-गीत अपढ़ ग्रामीणों में मिलकर निस्संकोच गाते थे। सवैया पढ़ने का ढंग उनका ऐसा आकर्षक था कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते थे। जीवन की घोर विषमताओं के बीच भी वे प्रसन्न और हँसमुख दिखाई देते थे। उनके लिये उनका जीवन ही एक काव्य था, अतः जो बातें प्रत्यक्ष उनके सामने आती थीं उन्हें काव्य का रूप-रंग देते उन्हें देर नहीं लगती थी। मित्रों के पास वे प्रायः पद्य में पत्र लिखा करते थे जिनमें कभी कभी उनके स्वभाव की झलक भी रहती थी, जैसे स्वर्गीय पद्मसिंह जी के पास भेजी हुई इस कविता में—

> जो मो सों हँसि मिले होत मैं तासु निरंतर चेरो।
> बस गुन ही गुन निरखत तिह मधि सरल प्रकृति को मेरो॥
> यह स्वाभाव को रोग जानिए, मेरो बस कछु नाहीं।
> निज नव विकल रहत याही सों सहृदय-बिछुरन माहीं॥
> सदा दारु-योषित सम बेबस आशा मुदित प्रमानै।
> कोरो सत्य ग्राम को बासी कहा "तकल्लुफ" जानै॥

किसी का कोई अनुरोध टालना तो उनके लिये असंभव था। यह जानकर बराबर लोग किसी न किसी अवसर के उपयुक्त कविता बना देने की प्रेरणा उनसे किया करते थे और वे किसी को निराश न करते थे। उनकी वही दशा थी जो उर्दू के प्रसिद्ध शायर इंशा की लखनऊ-दरबार में हो गई थी। इससे उनकी अधिकांश रचनाएँ सामयिक हैं और जल्दी में जोड़ी हुई प्रतीत होती हैं,

जैसे—स्वामी रामतीर्थ, तिलक, गोखले, सरोजिनी नायडू इत्यादि की प्रशस्तियाँ; लोकहितकर आयोजनों के लिये अपील ( हिंदू-विश्वविद्यालय के लिये लंबी अपील देखिए ); दुःख और अन्याय के निवारण के लिये पुकार ( कुली-प्रथा के विरुद्ध 'पुकार' देखिये )

उन्होंने जीती-जागती व्रजभाषा ली है। उनकी व्रजभाषा उसी स्वरूप में बँधी न रहकर जो काव्य परंपरा के भीतर पाया जाता है, बोलचाल के चलते रूपों को लेकर चली है। बहुत से ऐसे शब्दों और रूपों का उन्होंने व्यवहार किया है जो परंपरागत काव्यभाषा में नहीं मिलते।

'उत्तर रामचरित' और 'मालती-माधव' के अनुवादों में श्लोकों के स्थान पर उन्होंने बड़े मधुर सवैए रखे हैं। मकाले के अँगरेजी खंड-काव्य 'होरेशस' का पद्यबद्ध अनुवाद उन्होंने बहुत पहले किया था। कविरत्न जी की बड़ी कविताओं में 'प्रेमकली' और 'भ्रमरदूत' विशेष उल्लेख-योग्य है। 'भ्रमरदूत' में यशोदा ने द्वारका में जा बसे हुए कृष्ण के पास संदेश भेजा है। उसकी रचना नंददास के 'भ्रमरगीत' के ढंग पर की गई है, पर अंत में देश की वर्त्तमान दशा और अपनी दशा का भी हलका-सा आभास कवि ने दिया है सत्यनारायण जी की रचना के कुछ नमूने देखिए—

अलबेली कहुँ बेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोए धोए पातन की अनुपम कमनाई॥
चातक शुक कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल॥
निरखि घन की घटा।

लखि यह सुषमा-जाल लाल निज बिन नँदरानी।
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी॥
सुधि बुधि तज माथौ पकरि, करि करि सोच अपार।
दृगजल मिस मानहुँ निकरि बही बिरह की-धार॥
कृष्ण रटना लगी।

कौने भेजौं दूत पूत सों बिथा सुनावै।
बातन में बहराइ जाइ ताको यह लावै॥
त्यागि मधुपुरी को गयो छाँड़ि सबन के साथ।
सात समुंदर पै भयो दूर द्वारकानाथ॥
जाइगो को उहाँ ?

नित नव परत अकाल, काल को चलत चक्र चहुँ।
जीवन को आनंद न देख्यो जात यहाँ कहुँ।
बढ्यो यथेच्छाचारकृत जहँ देखौ तहँ राज।
होत जात दुर्बल विकृत दिन दिन आर्य-समाज॥
दिनन के फेर सों।

जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हैं विदेसी तंग करत दै विपदा खासी॥

× × × ×

नारी शिक्षा अनादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेश-अवनति-प्रचंड-पातक-अधिकारी॥
निरखि हाल मेरो प्रथम लेहु समुझि सब कोइ।
विद्याबल लहि मति परम अबला सबला होइ॥
लखौ अजमाइ कै।
( भ्रमरदूत )

---

भयो क्यों अनचाहत को संग ?
सब जग के तुम दीपक, मोहन ! प्रेमी हमहूँ पतंग।
लखि तव दीपनि, देह-शिखा में निरत, विरह लौ लागी॥
खींचति आप सों आप उतहि यह, ऐसी प्रकृति अभागी।
यदपि सनेह-भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
योग वियोग दोउन में इक सम नित्य जरावत गात॥

---

# तृतीय उत्थान

## ( सं० १९७५ से.... )

## वर्त्तमान काव्य-धाराएँ

### सामान्य परिचय

द्वितीय उत्थान के समाप्त होते होते खड़ी बोली में बहुत कुछ कविता हो चुकी। इन २५-३० वर्षों के भीतर वह बहुत कुछ मँजी, इसमें संदेह नहीं, पर इतनी नहीं जितनी उर्दू काव्य-क्षेत्र के भीतर जाकर मँजी है। जैसा पहले कह चुके हैं, हिंदी में खड़ी बोली के पद्य-प्रवाह के लिये तीन रास्ते खोले गए— उर्दू या फारसी की बह्रों का, संस्कृत के वृत्तों का और हिंदी के छंदों का। इनमें से प्रथम मार्ग का अवलंबन तो मैं नैराश्य या आलस्य समझता हूँ। वह हिंदी-काव्य का निकाला हुआ अपना मार्ग नहीं। अतः शेष दो मार्गों का ही थोड़े में विचार किया जाता है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि संस्कृत के वर्णवृत्तों का-सा माधुर्य्य अन्यत्र दुर्लभ है। पर उनमें भाषा इतनी जकड़ जाती है कि वह भावधारा के मेल में पूरी तरह से स्वच्छंद होकर नहीं चल सकती। इसी से संस्कृत के लंबे समासों का बहुत कुछ सहारा लेना पड़ता है। पर संस्कृत-पदावली के अधिक समावेश से खड़ी बोली की स्वाभाविक गति के प्रसार के लिये अवकाश कम रहता है। अतः वर्णवृत्तों का थोड़ा बहुत उपयोग किसी बड़े प्रबंध के भीतर बीच बीच में ही उपयुक्त हो सकता है। तात्पर्य्य यह कि संस्कृत पदावली का अधिक आश्रय लेने से खड़ी बोली के मँजने की संभावना दूर ही रहेगी।

हिंदी के सब तरह के प्रचलित छंदों में खड़ी बोली की स्वाभाविक वाग्धारा का अच्छी तरह खपने के योग्य हो जाना ही उसका मँजना कहा जायगा। हिंदी के प्रचलित छंदों में दंडक और सवैया भी है। सवैए यद्यपि वर्णवृत्त हैं पर लय के अनुसार लघु गुरु का बंधन उनमें बहुत कुछ उसी प्रकार शिथिल हो

जाता है जिस प्रकार उर्दू के छंदो में। मात्रिक छंदों में तो कोई अड़चन ही नहीं है। प्रचलित मात्रिक छंदों के अतिरिक्त कविजन इच्छानुसार नए नए छंदो का विधान भी बहुत अच्छी तरह कर सकते है।

खड़ी बोली की कविताओं की उत्तरोत्तर गति की ओर दृष्टिपात करने से यह पता चल जाता है कि किस प्रकार ऊपर लिखी बातों की ओर लोगो का ध्यान क्रमशः गया है और जा रहा है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं मे चलती हुई खड़ी बोली का परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप गीतिका आदि हिंदी के प्रचलित छंदों मे तथा नए गढ़े हुए छदों मे पूर्णतया देखने मे आया। ठाकुर गोपालशरणसिंहजी कवित्तों और सवैयों में खड़ी बोली का बहुत ही मँजा हुआ रूप सामने ला रहे हैं। उनकी रचनाओं को देखकर खड़ी बोली के मँज जाने की पूरी आशा होती है।

खड़ी बोली का पूर्ण सौष्ठव के साथ मँजना तभी कहा जयगा जब कि पद्यो मे उसकी अपनी गति-विधि का पूरा समावेश हो और कुछ दूर तक चलनेवाले वाक्य सफाई के साथ बैठें। भाषा का इस रूप में परिमार्जन उन्हीं के द्वारा हो सकता है जिनका हिंदी पर पूरा अधिकार है, जिन्हे उसकी प्रकृति की पूरी परख है। पर जिस प्रकार बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरणसिंह ऐसे कवियों की लेखनी से खड़ी बोली को मँजते देख आशा का पूर्ण सचार होता है उसी प्रकार कुछ ऐसे लोगों को, जिन्होंने अध्ययन या शिष्ट-समागम द्वारा भाषा पर पूरा अधिकार नहीं प्राप्त किया है, संस्कृत की विकीर्ण पदावली के भरोसे पर या अँगरेजी पद्यों के वाक्यखंडो के शब्दानुवाद जोड़कर, हिंदी कविता के नए मैदान मे उतरते देख आशंका भी होती है। ऐसे लोग हिंदी जानने या उसका अभ्यास करने की जरूरत नहीं समझते। पर हिंदी भी एक भाषा है, जो आते आते आती है। भाषा बिना अच्छी तरह जाने वाक्य-विन्यास, मुहावरे आदि कैसे ठीक हो सकते हैं—

नए नए छंदों के व्यवहार और तुक के बंधन के त्याग की सलाह द्विवेदीजी ने बहुत पहले दी थी। उन्होंने कहा था कि "तुले हुए शब्दो मे कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य मे बाधा आती है।"

नए नए छंदों की योजना के संबंध में, हमें कुछ नहीं कहना है। यह बहुत अच्छी बात है। 'तुक' भी कोई ऐसी अनिवार्य वस्तु नहीं। चरणों के भिन्न प्रकार के मेल चाहे जितने किए जायँ, ठीक हैं। पर इधर कुछ दिनों से विना छंद (metre) के पद्य भी—बिना तुकांत के होना तो बहुत ध्यान देने की बात नहीं—निरालाजी ऐसे नई रंगत के कवियों में देखने में आते हैं। यह अमेरिका के एक कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) की नकल है जो पहले बँगला में थोड़ी बहुत हुई। बिना किसी प्रकार की छंदोव्यवस्था की अपनी पहली रचना Leaves of Grass उसने सन् १८५५ ई० में प्रकाशित की। उसके उपरांत और भी बहुत सी रचनाएँ इस प्रकार की मुक्त या स्वच्छंद पंक्तियों में निकलीं, जिनके संबंध में एक समालोचक ने लिखा है—

"A chaos of impressions, thought of feelings thrown together without rhyme, which matters little, without metre, which matters more, and often without reason, which matters much."[१]

सारांश यह कि उसकी ऐसी रचनाओं में छंदोव्यवस्था का ही नहीं, बुद्धितत्त्व का भी प्रायः अभाव है। उसकी वे ही कविताएँ अच्छी मानी और पढ़ी गईं जिनमें छंद और तुकांत की व्यवस्था थी।

पद्य व्यवस्था से मुक्त काव्य-रचना वास्तव में पाश्चात्य ढंग के गीत-काव्यों के अनुकरण का परिणाम है। हमारे यहाँ के संगीत में बँधी हुई राग-रागिनियाँ हैं। पर योरप में संगीत के बड़े बड़े उस्ताद (Composers) अपनी अलग अलग नाद-योजना या स्वर-मैत्री चलाया करते हैं। उस ढंग का अनुकरण पहले बंगाल में हुआ। वहाँ की देखा-देखी हिंदी में भी चलाया गया। 'निराला' जी का तो इसकी ओर प्रधान लक्ष्य रहा। हमारा इस संबंध में यही कहना है कि काव्य का प्रभाव केवल नाद पर अवलंबित नहीं।

छंदों के अतिरिक्त वस्तु-विधान और अभिव्यंजन-शैली में भी कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ इस तृतीय उत्थान में प्रकट हुईं जिससे अनेकरूपता की ओर

१—Literature in the Century (Nineteenth Century Series), by A. B. De Mille.

हमारा काव्य कुछ बढ़ता दिखाई पड़ा। किसी वस्तु मे अनेकरूपता आना विकास का लक्षण है, यदि अनेकता के भीतर एकता का कोई एक सूत्र बराबर बना रहे। इस समन्वय से रहित जो अनेकरूपता होगी वह भिन्न भिन्न वस्तुओ की होगी, एक ही वस्तु की नहीं। अतः काव्यत्व यदि बना रहे तो काव्य का अनेक रूप धारण करके भिन्न भिन्न शाखाओ में प्रवाहित होना उसका विकास ही कहा जायगा। काव्य के भिन्न भिन्न रूप एक दूसरे के आगे पीछे भी आविर्भूत हो सकते हैं और साथ साथ भी निकल और चल सकते हैं। पीछे आविर्भूत होनेवाला रूप पहले से चले आते हुए रूप से अवश्य ही श्रेष्ठ या समुन्नत हो, ऐसा कोई नियम काव्य-क्षेत्र मे नहीं है। अनेक रूपों को धारण करनेवाला तत्त्व यदि एक है तो शिक्षित जनता की बाह्य और आभ्यंतर स्थिति के साथ सामंजस्य के लिये काव्य अपना रूप भी कुछ बदल सकता है और रुचि की विभिन्नता का अनुसरण करता हुआ एक साथ कई रूपों मे भी चल सकता है।

प्रथम उत्थान के भीतर हम देख चुके हैं कि किस प्रकार काव्य को भी देश की बदली हुई स्थिति और मनोवृत्ति के मेल मे लाने के लिये भारतेंदु-मंडल ने कुछ प्रयत्न किया[१]। पर यह प्रयत्न केवल सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर हृदय को थोड़ा प्रवृत्त करके रह गया। राजनीतिक और सामाजिक भावनाओ को व्यक्त करनेवाली वाणी भी दबी सी रही। उसमे न तो संकल्प की दृढ़ता और न्याय के आग्रह का जोश था, न उलट-फेर की प्रबल कामना का वेग। 'स्वदेश-प्रेम व्यंजित करनेवाला वह स्वर अवसाद और खिन्नता का स्वर था, आवेश और उत्साह का नहीं। उसमे अतीत के गौरव का स्मरण और वर्तमान ह्रास का वेदनापूर्ण अनुभव ही स्पष्ट था। अभिप्राय यह कि यह प्रेम जगाया तो गया, पर कुछ नया-नया-सा होने के कारण उस समय काव्य-भूमि पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित न हो सका।

कुछ नूतन भावनाओं के समावेश के अतिरिक्त काव्य की परंपरागत पद्धति में किसी प्रकार का परिवर्तन भारतेंदु-काल मे न हुआ। भाषा ब्रजभाषा ही

१—देखो पृ० ४४९–५०।

रहने दी गई और उसकी अभिव्यजना-शक्ति का कुछ विशेष प्रसार न हुआ। काव्य को बँधी हुई प्रणालियो से बाहर निकालकर जगत् और जीवन के विविध पक्षों की मार्मिकता झलकानेवाली धाराओं में प्रवाहित करने की प्रवृत्ति भी न दिखाई पड़ी।

द्वितीय उत्थान में कुछ दिन ब्रजभाषा के साथ साथ चलकर खड़ी बोली क्रमशः अग्रसर होने लगी; यहाँ तक कि नई पीढ़ी के कवियों को उसी का समय दिखाई पड़ा। स्वदेश-गौरव और स्वदेश-प्रेम की जो भावना प्रथम उत्थान मे जगाई गई थी उसका अधिक प्रसार द्वितीय उत्थान में हुआ और 'भारत-भारती' ऐसी पुस्तक निकली। इस भावना का प्रसार तो हुआ पर इसकी अभिव्यंजना मे प्रातिभ प्रगल्भता न दिखाई पडी।

शैली में प्रगल्भता और विचित्रता चाहे न आई हो, पर काव्यभूमि का प्रसार अवश्य हुआ। प्रसार और सुधार की जो चर्चा नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना के समय से ही रह रहकर थोडी-बहुत होती आ रही थी वह 'सरस्वती' के निकलने के साथ ही कुछ अधिक ब्योरे के साथ हुई। उस पत्रिका के प्रथम दो-तीन वषो के भीतर ही ऐसे लेख निकले जिनमे साफ कहा गया कि अब नायिका-भेद और शृंगार मे ही बँधे रहने का जमाना नहीं है; ससार में न जाने कितनी बातें हैं जिन्हे लेकर कवि चल सकते हैं। इस बात पर द्विवेदीजी भी बराबर जोर देते रहे और कहते रहे कि "कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है।" द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सपादन-काल मे कविता में नयापन लाने के बराबर इच्छुक रहे। नयापन आने के लिये वे नए नए विषयो का नयापन या नानात्व प्रधान समझते रहे और छद, पदावली, अलकार आदि का नयापन उसका अनुगामी। रीतिकाल की शृंगारी कविता की ओर लक्ष्य करके उन्होंने लिखा—

इस तरह की कविता सैकडों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इसपर भी लोग पुरानी लकीर बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते।

द्वितीय उत्थान के भीतर हम दिखा आए हैं कि किस प्रकार काव्य-क्षेत्र का विस्तार बढ़ा, बहुत-से नए नए विषय लिए गए और बहुत से कवि कवित्त, सवैया लिखने से बाज आकर संस्कृत के अनेक वृत्तों में रचना करने लगे। रचनाएँ चाहे अधिकतर साधारण गद्य-निबंधों के रूप में ही हुई हो, पर प्रवृत्ति अनेक विषयों की ओर रही, इसमें संदेह नहीं। उसी द्वितीय उत्थान में स्वतंत्र वर्णन के लिये मनुष्येतर प्रकृति को कवि लोग लेने लगे पर अधिकतर उसके ऊपरी प्रभाव तक ही रहे। उसके रूप-व्यापार कैसे सुखद, सजीले और सुहावने लगते हैं, अधिकतर यही देख-दिखाकर उन्होंने संतोष किया। चिर-साहचर्य से उत्पन्न उनके प्रति हमारा राग व्यंजित न हुआ। उनके बीच मनुष्य-जीवन को रखकर उसके प्रकृत स्वरूप पर व्यापक दृष्टि नहीं डाली गई। रहस्यमयी सत्ता के अक्षर-प्रसार के भीतर व्यंजित भावों और मार्मिक तथ्यों के साक्षात्कार तथा प्रत्यक्षीकरण की ओर झुकाव न देखने में आया। इसी प्रकार विश्व के अत्यंत सूक्ष्म और अत्यंत महान् विधानों के बीच जहाँ तक हमारा ज्ञान पहुँचा है वहाँ तक हृदय को भी पहुँचाने का कुछ प्रयास होना चाहिए था, पर न हुआ। द्वितीय उत्थान-काल का अधिकांश भाग खड़ी बोली को भिन्न भिन्न प्रकार के पद्यों मे ढालने में ही लगा।

तृतीय उत्थान में आकर खड़ी बोली के भीतर काव्यत्व का अच्छा स्फुरण हुआ। जिस देश-प्रेम को लेकर काव्य की नूतन धारा भारतेंदुकाल मे चली थी वह उत्तरोत्तर प्रबल और व्यापक रूप धारण करता आया। शासन की अव्यवस्था और अशांति के उपरांत अँगरेजों के शांतिमय और रक्षापूर्ण शासन के प्रति कृतज्ञता का भाव भारतेंदुकाल में बना हुआ था। इससे उस समय की देशभक्ति-संबंधी कविताओं में राजभक्ति का स्वर भी प्रायः मिला पाया जाता है। देश की दुःख दशा का प्रधान कारण राजनीतिक समझते हुए भी उस दुःख-दशा से उद्धार के लिये कवि लोग दयामय भगवान् को ही पुकारते मिलते हैं। कहीं कहीं उद्योग धंधों को न बढ़ाने, आलस्य में पड़े रहने और और देश की बनी वस्तुओं का व्यवहार न करने के लिये वे देशवासियों को भी कोसते पाए जाते हैं। सरकार पर रोष या असंतोष की व्यंजना उनमें नहीं मिलती। कांग्रेस की प्रतिष्ठा होने के उपरांत भी बहुत दिनों तक देशभक्ति की

वाणी में विशेष बल और वेग न दिखाई पड़ा। बात यह थी कि राजनीति की लंबी चौड़ी चर्चा हर साल में एक बार धूम-धाम के साथ थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियों के बीच हो जाया करती थी जिसका कोई स्थायी और क्रियोत्पादक प्रभाव नहीं देखने में आया था। अतः द्विवेदी-काल की देशभक्ति-संबंधी रचनाओं में शासन-पद्धति के प्रति असंतोष तो व्यंजित होता था पर कर्म में तत्पर करानेवाला, आत्मत्याग करानेवाला जोश और उत्साह न था। आंदोलन भी कड़ी याचना के आगे नहीं बढ़े थे।

तृतीय उत्थान में आकर परिस्थिति बहुत बदल गई। आंदोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और गाँव गाँव में राजनीतिक और आर्थिक परतंत्रता के विरोध की भावना जगाई गई। सरकार से कुछ माँगने के स्थान पर अब कवियों की वाणी देशवासियों को ही 'स्वतंत्रता देवी की वेदी पर बलिदान' होने को प्रोत्साहित करने में लगी। अब जो आंदोलन चले वे सामान्य जन-समुदाय को भी साथ लेकर चले। इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि ये आंदोलन संसार के और भागों में चलनेवाले आंदोलनों के मेल में लाए गए, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए। वर्तमान सभ्यता और लोक की घोर आर्थिक विषमता से जो असंतोष का ऊँचा स्वर पश्चिम में उठा उसकी गूँज यहाँ भी पहुँची। दूसरे देशों का धन खींचने के लिये योरप में महायंत्र-प्रवर्त्तन का जो क्रम चला उससे पूँजी लगानेवाले थोड़े से लोगों के पास तो अपार धन-राशि इकट्ठी होने लगी पर अधिकांश श्रमजीवी जनता के लिये भोजन-वस्त्र मिलना भी कठिन हो गया। अतः एक ओर तो योरप में मशीनों की सभ्यता के विरुद्ध टालस्टाय की धर्मबुद्धि जगानेवाली वाणी सुनाई पड़ी जिसका भारतीय अनुवाद गांधीजी ने किया; दूसरी ओर इस घोर आर्थिक विषमता की घोर प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद नामक सिद्धांत चले जिन्होंने रूस में अत्यंत उग्ररूप धारण करके भारी उलट-फेर कर दिया।

अब संसार के प्रायः सारे सभ्य भाग एक दूसरे के लिये खुले हुए हैं। इससे एक भू-खंड में उठी हुई हवाएँ दूसरे भू-खंड में शिक्षित वर्गों तक तो अवश्य ही पहुँच जाती हैं। यदि उनका सामंजस्य दूसरे भू-खंड की परिस्थिति

के साथ हो जाता है तो उस परिस्थिति के अनुरूप शक्तिशाली आंदोलन चल पड़ते हैं। इसी नियम के अनुसार शोषक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजनीतिक आंदोलन के अतिरिक्त यहाँ भी किसान-आंदोलन, मजदूर-आंदोलन, अछूत-आंदोलन इत्यादि कई आंदोलन एक विराट् परिवर्तनवाद के नाना व्यावहारिक अंगों के रूप में चले। श्रीरामधारीसिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि कई कवियों की वाणी द्वारा ये भिन्न भिन्न प्रकार के आंदोलन प्रतिध्वनित हुए। ऐसे समय में कुछ ऐसे भी आंदोलन दूसरे देशों की देखा-देखी खड़े होते हैं जिनकी नौबत वास्तव में नहीं आई रहती। योरप में जब देश के देश बड़े बड़े कल-कारखानों से भर गए हैं और जनता का बहुत-सा भाग उसमें लग गया है तब मजदूर-आंदोलन की नौबत आई है। यहाँ अभी कल-कारखाने केवल चल खड़े हुए हैं और उनमें काम करनेवाले थोड़े-से मजदूरों की दशा खेत में काम करनेवाले करोड़ों किसानों की दशा से कहीं अच्छी है। पर मजदूर-आंदोलन साथ लग गया। जो कुछ हो, इन आंदोलनों का तीव्र स्वर हमारी काव्य-वाणी में समिलित हुआ।

जीवन के कई क्षेत्रों में जब एक साथ परिवर्तन के लिये पुकार सुनाई पड़ती है तब परिवर्तन एक 'वाद' का व्यापक रूप धारण करता है और बहुतों के लिये सब क्षेत्रों में स्वतः एक चरम साध्य बन जाता है। 'क्रांति' के नाम से परिवर्तन की प्रबल कामना हमारे हिंदी-काव्य-क्षेत्र में प्रलय की पूरी पदावली के साथ व्यक्त की गई। इस कामना के साथ कहीं कहीं प्राचीन के स्थान पर नवीन के दर्शन की उत्कंठा भी प्रकट हुई। सब बातों में परिवर्तन ही परिवर्तन की यह कामना कहाँ तक वर्तमान परिस्थिति के स्वतंत्र पर्यालोचन का परिणाम है और कहाँ तक केवल अनुकृत है, नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य दिखाई पड़ता है कि इस परिवर्तनवाद के प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक हो जाने से जगत् और जीवन के नित्य स्वरूप की वह अनुभूति नए कवियों में कम जग पाएगी जिसकी व्यंजना काव्य को दीर्घायु प्रदान करती है।

यह तो हुई काल के प्रभाव की बात। थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि चली आती हुई काव्य-परंपरा की शैली से अतृप्ति या असंतोष के कारण परिवर्तन की कामना कहाँ तक जगी और उसकी अभिव्यक्ति किन किन रूपों में

हुई। भक्ति-काल और रीति-काल की चली आती हुई परंपरा के अंत में किस प्रकार भारतेंदु-मंडल के प्रभाव से देश प्रेम और जाति-गौरव की भावना को लेकर एक नूतन परंपरा की प्रतिष्ठा हुई, इसका उल्लेख हो चुका है। द्वितीय उत्थान में काव्य की नूतन परंपरा का अनेक विषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ पर द्विवेदी जी के प्रभाव से एक ओर उसमें भाषा की सफाई, दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर बाह्यार्थनिरूपक हो गया। अतः इस तृतीय उत्थान में जो प्रतिवर्तन हुआ और पीछे 'छायावाद' कहलाया वह इसी द्वितीय उत्थान की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है। उसका प्रधान लक्ष्य काव्य-शैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नहीं। अर्थ-भूमि या वस्तु-भूमि का तो उसके भीतर बहुत संकोच हो गया। समन्वित विशाल भावनाओं को लेकर चलने की ओर ध्यान न रहा।

द्वितीय उत्थान की कविता में काव्य का स्वरूप खड़ा करनेवाली दोनों बातों की कमी दिखाई पड़ती थी—कल्पना का रंग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का वेग भी खूब खुलकर नहीं व्यंजित होता था। इन बातों की कमी परंपरागत ब्रजभाषा-काव्य का आनंद लेनेवालों को भी मालूम होती थी और बँगला या अँगरेजी की कविता का परिचय रखनेवालों को भी। अतः खड़ी बोली की कविता में पद-लालित्य, कल्पना की उड़ान, भाव की वेगवती व्यंजना, वेदना की विवृति, शब्द-प्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक बातें देखने की आकांक्षा बढ़ती गई।

सुधार चाहनेवालों में कुछ लोग नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त खड़ी बोली की कविता को ब्रजभाषा-काव्य की-सी ललित पदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अँगरेजी की या अँगरेजी के ढंग पर चली हुई बँगला की कविताओं से प्रभावित थे वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजक चित्र-विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे। श्री पारसनाथसिंह के किए हुए बँगला कविताओं के हिंदी-अनुवाद 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में संवत् १९६७ (सन् १९१०) से ही निकलने लगे थे। ग्रे, वर्ड्सवर्थ आदि अँगरेजी कवियों की रचनाओं के कुछ अनुवाद भी (जैसे, जीतनसिंह-द्वारा अनूदित वर्ड्सवर्थ का 'कोकिल') निकले। अतः खड़ी बोली

की कविता जिस रूप से चल रही थी उससे संतुष्ट न रहकर द्वितीय उत्थान के समाप्त होने के कुछ पहले ही कई कवि खड़ी बोली काव्य को कल्पना का नया रूप रंग देने और उसे अधिक अंतर्भावव्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँगरेजी ढर्रा लिए हुए जिस प्रकार की फुटकल कविताएँ और प्रगीत मुक्तक ( Lyrics ) बँगला में निकल रहे थे उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तुविन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नए ढंग की रचनाएँ संवत् १९७०-७१ से ही निकलने लगी थी, जिनमें से कुछ के भीतर रहस्य-भावना भी रहती थी।

गुप्तजी की 'नक्षत्रनिपात' ( सन् १९१४ ), अनुरोध, ( सन् १९१५ ), पुष्पांजलि ( १९१७), स्वयं आगत ( १९१८ ) इत्यादि कविताएँ ध्यान देने योग्य हैं। 'पुष्पांजलि' और 'स्वयं आगत' की कुछ पंक्तियाँ आगे देखिए—

( क ) मेरे आँगन का एक फूल।

सौभाग्य-भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वासन से हिला हुआ,
संसार-विटप में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल।

( ख ) तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं।

इसी प्रकार गुप्तजी की और भी बहुत-सी गीतात्मक रचनाएँ हैं, जैसे—

( ग ) निकल रही है उर से आह,
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी,
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी।

( घ ) प्यारे ! तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया।
दीप्ति बढ़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली साँस, कहा।
सो जाने के लिये जगत् का यह प्रकाश मैं जाग रहा।

किंतु उसी बुझते प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा।
निरुद्देश नख-रेखाओं में देखी तेरी मूर्ति अहा!

गुप्तजी तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, किसी विशेष पद्धति या 'वाद' में न बँधकर कई पद्धतियों पर अब तक चले आ रहे हैं। पर मुकुटधरजी बराबर नूतन पद्धति पर ही चले। उनकी इस ढंग की प्रारंभिक रचनाओं में 'आँसू' 'उद्गार' इत्यादि ध्यान देने योग्य हैं। कुछ नमूने देखिए—

(क) हुआ प्रकाश तमोमय मग में
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दंपति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीड़ा-स्थान।

(१९१७)

(ख) मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा खजाना,
अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त श्वेत बूँदों में ढर जा।

(१९१७)

(ग) जब संध्या को हट जावेगी भीड़ महान्।
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान।
शून्य कक्ष के अथवा कोने में ही एक।
बैठ तुम्हारा करूँ वहाँ नीरव अभिषेक।

(१९२०)

पं० बदरीनाथ भट्ट भी सन् १९१३ के पहले से ही भाव-व्यंजक और अनूठे गीत रचते आ रहे थे। दो पंक्तियाँ देखिए—

दे रहा दीपक जलकर फूल,
रोपी उज्ज्वल प्रभा-पताका अंधकार हिय हूल।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के भी इस ढंग के कुछ गीत सन् १९१५-१६ के आस-पास मिलेंगे।

ये कवि जगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नई कविता का संचार चाहते थे। ये प्रकृति के साधारण, असाधारण सब रूपो पर प्रेम दृष्टि डालकर, उसके रहस्य-भरे सच्चे संकेतो को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृतिम, स्वच्छंद मार्ग निकाल रहे थे। भक्तिक्षेत्र मे उपास्य की एकदेशीय या धर्मविशेष में प्रतिष्ठित भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना की ओर बढ़ रहे थे। जिसमे सुंदर रहस्यात्मक संकेत भी रहते थे। अतः हिंदी-कविता की नई धारा का प्रवर्तक इन्हीं को—विशेषतः श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को—समझना चाहिए। इस दृष्टि से छायावाद का रूप-रंग खड़ा करनेवाले कवियों के संबंध मे अँगरेजी या बँगला की समीक्षाओं से उठाई हुई इस प्रकार की पदावली का कोई अर्थ नहीं कि 'इन कवियो के मन में एक आँधी उठ रही थी जिसमें आंदोलित होते हुए वे उडे जा रहे थे; एक नूतन वेदना की छटपटाहट थी जिसमें सुख की मीठी अनुभूति भी लुकी हुई थी; रूढ़ियों के भार से दबी हुई युग की आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिये हाथ पैर मार रही थी।' न कोई आँधी थी, न तूफान; न कोई नई कसक थी, न वेदना न प्राप्त युग की नाना परिस्थितियों का हृदय पर कोई नया आघात था, न उसका आहत नाद। इन बातों का कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियों की ओर मुड़ता जिन पर ध्यान न दिया गया रहा होता। छायावाद के पहले नए नए मार्मिक विषयों की ओर हिंदी-कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यंजक शैली की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे धीरे अपने स्वतंत्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा हो रहा था।

गुप्त जी और मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा यह स्वच्छंद नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। पुराने

ईसाई संतों के छायाभास ( Phantasmata ) तथा योरपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। यह 'वाद' क्या प्रकट हुआ, एक बने-बनाए रास्ते का दरवाजा-सा खुल पड़ा और और हिंदी के कुछ नए कवि उधर एकबारगी झुक पडे। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्य-क्षेत्र में प्रकट होना, कई कवियों का इस पर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर अँगरेजी और बँगला की पदावली का जगह जगह ज्यों का त्यों अनुवाद रखा जाना, ये बातें मार्ग की स्वतंत्र उद्भावना नहीं सूचित करतीं।

'छायावाद' नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मान कर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य-क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यंत चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बँध गई। हृत्तन्त्री की झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, अनंत-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना, आँखमिचौली, मद में झूमना, विभोर होना, इत्यादि के साथ साथ शराब प्याला, साकी आदि सूफी कवियों के पुराने सामान भी इकट्ठे किए गए। कुछ हेर-फेर के साथ वही बँधी पदावली, वेदना का वही प्रकांड प्रदर्शन, कुछ विशृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओं में मिलने लगा।

अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर कामवासना के शब्दों में प्रेम-व्यंजना भारतीय काव्य-धारा में कभी नहीं चली, यह स्पष्ट बात "हमारे यहाँ यह भी था" की प्रवृत्तिवालों को अच्छी नहीं लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषद् से लेकर तंत्र और योग-मार्ग तक की दौड़ लगाते हैं। उपनिषदों में आए हुए आत्मा के पूर्ण आनंदस्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानंद की अपरिमेयता को समझाने के लिये स्त्री-पुरुष-संबंधवाले दृष्टांत या उपमाएँ, योग

के सहस्रदल कमल आदि की भावना के बीच वे बड़े संतोष के साथ उद्धृत करते हैं। यह सब करने के पहले उन्हें समझना चाहिए कि जो बात ऊपर कही गई है उसका तात्पर्य क्या है। यह कौन कहता है कि मत-मतान्तरों की साधना के क्षेत्र में रहस्य-मार्ग नहीं चले? योग रहस्य-मार्ग है, तन्त्र रहस्य-मार्ग है, रसायन भी रहस्य-मार्ग है। पर ये सब साधनात्मक हैं; प्रकृत भाव-भूमि या काव्य-भूमि के भीतर चले हुए मार्ग नहीं। भारतीय परंपरा का कोई कवि मणिपूर, अनाहत आदि चक्रों को लेकर तरह तरह के रंगमहल बनाने में प्रवृत्त नहीं हुआ।

संहिताओं में तो अनेक प्रकार की बातों का संग्रह है। उपनिषदों में ब्रह्म और जगत्, आत्मा और परमात्मा के संबंध में कई प्रकार के मत हैं। वे काव्य-ग्रंथ नहीं हैं। उनमें इधर-उधर काव्य का जो स्वरूप मिलता है वह ऐतिह्य, कर्मकांड, दार्शनिक चिंतन, सांप्रदायिक गुह्य साधना, मंत्र-तंत्र, जादू-टोना इत्यादि बहुत-सी बातों में उलझा हुआ है। विशुद्ध काव्य का निखरा हुआ स्वरूप पीछे अलग हुआ। रामायण का आदिकाव्य कहलाना साफ यही सूचित करता है। संहिताओं और उपनिषदों को कभी किसी ने काव्य नहीं कहा। अब सीधा सवाल यह रह गया कि क्या वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि बताया जा सकता है जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया हो और उसके प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेम-व्यंजना की हो। कबीरदास किस प्रकार हमारे यहाँ के ज्ञानवाद और सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले, यह हम पहले दिखा आए हैं[1]। उसी भावात्मक रहस्य-परंपरा का यह नूतन भाव-भंगी और लाक्षणिकता के साथ आविर्भाव है। बहुत रमणीय है, कुछ लोगों को अत्यंत रुचिकर है, यह और बात है।

प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी काम-वासनाएँ, इंद्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद

१—देखो पृष्ठ ६४—६५ और ७७।

से संबंध न रखनेवाली कविताएँ भी छायावाद ही कही जाने लगीं। अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के संबंध मे भी प्रतीकवाद ( Symbolism ) के अर्थ मे होने लगा।

छायावाद की इस धारा के आने के साथ ही साथ अनेक लेखक नवयुग के प्रतिनिधि बनकर योरप के साहित्य-क्षेत्र मे प्रवर्तित काव्य और कला सबधी अनेक नए पुराने सिद्धात सामने लाने लगे। कुछ दिन 'कलावाद' की धूम रही और कहा जाता रहा "कला का उद्देश्य कला ही है। इस जीवन के साथ काव्य का कोई संबंध नही; उसकी दुनिया ही और है। किसी काव्य के मूल्य का निर्धारण जीवन की किसी वस्तु के मूल्य के रूप में नहीं हो सकता। काव्य तो एक लोकातीत वस्तु है। कवि एक प्रकार का रहस्यदर्शी ( Seer ) या पैगंबर है[1]।" इसी प्रकार क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को लेकर बताया गया कि "काव्य मे वस्तु या वर्ण्य-विषय कुछ नहीं; जो कुछ है वह अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन है[2]।" "इन दोनो वादों के अनुसार काव्य का लक्ष्य उसी प्रकार सौंदर्य की सृष्टि या योजना कहा गया जिस प्रकार बेल-बूटे या नक्काशी का। कवि-कल्पना प्रत्यक्ष-जगत् से अलग एक रमणीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि सौंदर्य-भावना के मद मे झूमनेवाला एक लोकातीत जीव। कला और काव्य की प्रेरणा का संबंध स्वप्न और कामवासना से बतानेवाला मत भी इधर-उधर उद्धृत हुआ। सारांश यह कि इस प्रकार के वाद-प्रवाद पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहे।

छायावाद की कविता की पहली दौड़ तो बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओ के सजीले और कोमल मार्ग पर हुई। पर उन कविताओं की बहुत-कुछ गति-विधि अँगरेजी वाक्य-खडों के अनुवाद द्वारा संघटित देख, अँगरेजी काव्यों से परिचित हिंदी-कवि सीधे अँगरेजी से ही तरह तरह के लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्यों के त्यो अनुवाद जगह जगह अपनी रचनाओं में जड़ने लगे। 'कनक प्रभात', 'विचारो मे बच्चों की सॉस', 'स्वर्ण समय', 'प्रथम मधुबाल',

---

१—विशेष देखो पृ० ५६८—७१।

२—देखो पृष्ठ ५७१—७२।

'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल कांति' ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। निराला जी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का। केवल भाषा के प्रयोग-वैचित्र्य तक ही बात न रही। ऊपर जिन अनेक योरपीय वादों और प्रवादों का उल्लेख हुआ है उन सब का प्रभाव भी छायावाद कही जानेवाली कविताओं के स्वरूप पर कुछ न कुछ पड़ता रहा।

कलावाद और अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि काव्य में भावानुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और विचित्रता लाने में ही प्रवृत्त हुई। प्रकृति के नाना रूप और व्यापार इसी अप्रस्तुत योजना के काम में लाए गए। सीधे उनके मर्म की ओर हृदय प्रवृत्त न दिखाई पड़ा। पंतजी अलबत्त प्रकृति के कमनीय रूपों की ओर कुछ रुककर हृदय रमाते पाए गए।

दूसरा प्रभाव यह देखने में आया कि अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गई। नाना अर्थ-भूमियों पर काव्य का प्रसार रुक-सा गया। प्रेम-क्षेत्र (कहीं आध्यात्मिक, कहीं लौकिक) के भीतर ही कल्पना की चित्र-विधायिनी क्रीड़ा के साथ प्रकांड वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदि की व्यंजना तथा व्रीड़ा से दौड़ी हुई प्रिय के कपोलों पर की ललाई, हाव-भाव, मधुस्राव तथा अश्रुप्रवाह इत्यादि के रँगीले वर्णन करके ही अनेक कवि अब तक पूर्ण तृप्त दिखाई देते हैं। जगत् और जीवन के नाना मार्मिक पक्षों की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। बहुत से नए रसिक प्रस्वेद-गंध-युक्त, चिपचिपाती और भिनभिनाती भाषा को ही सब कुछ समझने लगे हैं। लक्षणा-शक्ति के सहारे अभिव्यंजना-प्रणाली या काव्य शैली का अवश्य बहुत अच्छा विकास हुआ है; पर अभी तक कुछ बँधे हुए शब्दों की रूढ़ि चली चल रही है। रीति-काल की शृंगारी कविता—कभी रहस्य का पर्दा डालकर कभी खुले मैदान—अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छेककर चल रही है।

'कलावाद' के प्रसंग में बार-बार आनेवाले 'सौंदर्य' शब्द के कारण बहुत से कवि बेचारी स्वर्ग की अप्सराओं को पर लगाकर कोहकाफ की परियों या बिहिश्त के फरिश्तों की तरह उड़ाते हैं; सौंदर्य-चयन के लिये इंद्रधनुषी बादल, उषा, विकच कलिका, पराग, सौरभ, स्मित आनन, अधर पल्लव इत्यादि बहुत-सी सुंदर और मधुर सामग्री प्रत्येक कविता में जुटाना आवश्यक समझते हैं। स्त्री के नाना अंगों के आरोप के बिना वे प्रकृति के किसी दृश्य के सौंदर्य की भावना ही नहीं कर सकते। 'कला कला' की पुकार के कारण योरप में प्रगीत मुक्तकों ( Lyrics ) का ही अधिक चलन देखकर यहाँ भी उसी का जमाना यह बताकर कहा जाने लगा कि अब ऐसी लंबी कविताएँ पढ़ने की किसी को फुरसत कहाँ जिनमें कुछ इतिवृत्त भी मिला रहता हो। अब तो विशुद्ध काव्य की सामग्री जुटाकर सामने रख देनी चाहिए जो छोटे छोटे प्रगीत मुक्तकों में ही संभव है। इस प्रकार काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जानेवाले प्रसंगों या आख्यानों की उद्भावना बंद-सी हो गई।

खैरियत यह हुई कि कलावाद की उस रसवर्जिनी सीमा तक लोग नहीं बढ़े जहाँ यह कहा जाता है कि रसानुभूति के रूप में किसी प्रकार का भाव जगाना तो वक्ताओं का काम है; कलाकार का काम तो केवल कल्पना द्वारा बेल-बूटे या बारात की फुलवारी की तरह शब्दमयी रचना खड़ी करके सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है। हृदय और वेदना का पक्ष छोड़ा नहीं गया है, इससे काव्य के प्रकृत स्वरूप के तिरोभाव की आशंका नहीं है। पर छायावाद और कलावाद के सहसा आ धमकने से वर्तमान काव्य का बहुत-सा अंश एक बँधी हुई लीक के भीतर सिमट गया, नाना अर्थभूमियों पर न जाने पाया, यह अवश्य कहा जायगा।

छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्यशैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी। भाषा के परिमार्जन काल में किस प्रकार खड़ी बोली की कविता के रूखे सूखे रूप से ऊबकर कुछ कवि उसमें सरसता लाने के चिह्न दिखा रहे थे, यह

कहा जा चुका है[१]। अतः आध्यात्मिक रहस्यवाद का नूतन रूप हिंदी में न आता तो भी शैली और अभिव्यंजना-पद्धति की उक्त विशेषताएँ क्रमशः स्फुरित होतीं और उनका स्वतंत्र विकास होता। हमारी काव्य-भाषा में लाक्षणिकता का कैसा अनूठा आभास घनानद की रचनाओं मे मिलता है, यह हम दिखा चुके हैं[२]।

छायावाद जहाँ अध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अंतर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद (symbolism) नाम की काव्य-शैली के रूप मे गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है। हर्ष की बात है कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत् और जीवन के और और मार्मिक पक्षों की ओर भी बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। इसी के साथ ही काव्य-शैली मे प्रतिक्रिया के प्रदर्शन या नएपन की नुमाइश का शौक भी घट रहा है। अब अपनी शाखा की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमशः कम तथा रचनाओं को सुव्यवस्थित और अर्थगर्भित रूप देने की रुचि क्रमशः अधिक होती दिखाई पड़ती है।

स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद जी अधिकतर तो विरह वेदना के नाना सजीले शब्द-पथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय का मधु गान ही करते रहे, पर इधर 'लहर' में कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की शैली को चित्रमयी विस्तृत अर्थभूमि पर ले जाने का प्रयास भी उन्होंने किया और जगत् के वर्तमान दुःख-द्वेष-पूर्ण मानव-जीवन का अनुभव करके इस 'जले जगत् के वृंदावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवन के प्रभात' को भी जगाया। इसी प्रकार श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'गुंजन' मे सौंदर्य-चयन से आगे बढ़ जीवन के नित्य स्वरूप पर दृष्टि डाली है; सुख-दुःख दोनों के साथ अपने हृदय का सामंजस्य किया है और 'जीवन की गति मे भी लय' का अनुभव किया है। बहुत अच्छा होता यदि पंतजी उसी प्रकार जीवन की अनेक परिस्थि-

---

१—देखो पृ० ६००—६०६।

२—देखो पृ० ३३९—४०।

तियों को नित्य रूप मे लेकर अपनी सुंदर, चित्रमयी प्रतिभा को अग्रसर करते जिस प्रकार उन्होंने 'गुंजन' और 'युगांत' में किया है। पर 'युगवाणी' में उनकी वाणी बहुत कुछ वर्तमान आंदोलनों की प्रतिध्वनि के रूप में परिणत होती दिखाई देती है।

निराला जी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा। उन्होंने जिस प्रकार 'तुम' और 'मैं' में उस रहस्यमय 'नाद वेद आकार सार' का गान किया, 'जूही की कली' और 'शेफालिका' में उन्मद प्रणय-चेष्टाओं के पुष्प-चित्र खड़े किए उसी प्रकार 'जागरण वीणा' बजाई, इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण मूर्ति खड़ी की और इधर आकर 'इलाहाबाद के पथ पर' एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर श्रम-सीकर दिखाए। सारांश यह कि अब शैली के वैलक्षण्य द्वारा प्रतिक्रिया-प्रदर्शन का वेग कम हो जाने से अर्थभूमि के रमणीय प्रसार के चिह्न भी छायावादी कहे जानेवाले कवियों की रचनाओं मे दिखाई पड़ रहे हैं।

इधर हमारे साहित्य-क्षेत्र की प्रवृत्तियों का परिचालन बहुत-कुछ पश्चिम से होता है। कला में व्यक्तित्व' की चर्चा खूब फैलाने से कुछ कवि लोक के साथ अपना मेल न मिलने की अनुभूति की बड़ी लंबी चौड़ी व्यंजना, कुछ मार्मिकता और कुछ फक्कड़पन के साथ, करने लगे हैं। भाव क्षेत्र में असामंजस्य की इस अनुभूति का भी एक स्थान अवश्य है, पर यह कोई व्यापक या स्थायी मनोवृत्ति नहीं। हमारा भारतीय काव्य उस भूमि की ओर प्रवृत्त रहा है जहाँ जाकर प्रायः सब हृदयों का मेल हो जाता है। वह सामजस्य लेकर—अनेकता में एकता को लेकर—चलता रहा है, असामंजस्य को लेकर नहीं।

उपर्युक्त परिवर्तनवाद और छायावाद को लेकर चलनेवाली कविताओ के साथ-साथ और दूसरी धाराओं की कविताएँ भी विकसित होती हुई चल रही हैं। द्विवेदीकाल में प्रवर्तित विविध वस्तु-भूमियों पर प्रसन्न प्रवाह के साथ चलनेवाली काव्यधारा सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरणसिंह, अनूप शर्मा, श्यामनारायण पांडेय, पुरोहित प्रतापनारायण, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' इत्यादि अनेक कवियों की वाणी के प्रसाद से विविध प्रसंग, आख्यान और विषय लेकर निखरती तथा प्रौढ़ और प्रगल्भ होती चली चल रही है।

इसकी अभिव्यंजना प्रणाली में अब अच्छी सरलता और संजीवता तथा अपेक्षित वक्रता का भी विकास होता चल रहा है।

यद्यपि कई वादों के कूद पड़ने और प्रेम-गान की परिपाटी ( Love lyrics ) का फैशन चल पड़ने के कारण अर्थ-भूमि का बहुत कुछ संकोच हो गया और हमारे वर्तमान काव्य का बहुत-सा भाग कुछ रूढ़ियो को लेकर एक बँधी लीक पर बहुत दिनों तक चला, फिर भी स्वाभाविक स्वच्छंदता ( True Romanticism ) के उस नूतन पथ का ग्रहण करके कई कवि चले जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। पं० रामनरेश त्रिपाठी के संबंध में द्वितीय उत्थान के भीतर कहा जा चुका है। तृतीय उत्थान के आरंभ में पं० मुकुटधर पांडेय की रचनाएँ छायावाद के पहले किस प्रकार नूतन, स्वच्छंद मार्ग निकाल रही थी यह भी हम दिखा आए हैं। मुकुटधरजी की रचनाएँ नरेतर प्राणियों की गति-विधि का भी राग-रहस्यपूर्ण परिचय देती हुई स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर झुकती मिलेगी। प्रकृति-प्रांगण के चर-अचर प्राणियों का रागपूर्ण परिचय, उनकी गति-विधि पर आत्मीयता-व्यंजक दृष्टिपात, सुख-दुख में उनके साहचर्य की भावना, ये सब बातें स्वाभाविक स्वच्छंदता के पथ-चिन्ह हैं। सर्वश्री सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, ठाकुर गुरुभक्तसिंह, उदयशंकर भट्ट इत्यादि कई कवि विस्तृत अर्थ भूमि पर स्वाभाविक स्वच्छंदता का मर्मपथ ग्रहण करके चल रहे हैं। वे न तो केवल नवीनता के प्रदर्शन के लिये पुराने छंदों का तिरस्कार करते हैं, न उन्हीं में एकबारगी बँधकर चलते हैं। वे प्रसंग के अनुकूल परंपरागत पुराने छंदों का व्यवहार और नए ढंग के छंदों तथा चरण-व्यवस्थाओं का विधान भी करते हैं, व्यंजक चित्र-विन्यास, लाक्षणिक वक्रता और मूर्तिमत्ता, सम्य पदावली आदि का भी सहारा लेते हैं, पर इन्हीं बातों को सब कुछ नहीं समझते। एक छोटे से घेरे में इनके प्रदर्शन मात्र से वे संतुष्ट नहीं दिखाई देते हैं। उनकी कल्पना इस व्यक्त जगत् और जीवन की अनंत वीथियों में हृदय को साथ लेकर विचरने के लिये आकुल दिखाई देती।

तृतीयोत्थान की प्रवृत्तियों के इस संक्षिप्त विवरण से व्रजभाषा-काव्य परंपरा के अतिरिक्त इस समय चलनेवाली खड़ी बोली की तीन मुख्य धाराएँ स्पष्ट हुई होंगी—द्विवेदी-काल की क्रमशः विस्तृत और परिष्कृत होती हुई धारा, छायावाद

कही जानेवाली धारा तथा स्वाभाविक स्वच्छंदता को लेकर चलती हुई धारा जिसके अंतर्गत राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन की लालसा व्यक्त करनेवाली-शाखा भी हम ले सकते है। ये धाराएँ वर्तमान काल में चल रही हैं और अभी इतिहास की सामग्री नहीं बनी हैं। इसलिये इनके भीतर की कुछ कृतियों और कुछ कवियों का थोड़ा-सा विवरण देकर ही हम संतोष करेंगे। इनके बीच मुख्य भेद वस्तु-विधान और अभिव्यंजन-कला के रूप और परिमाण में है। पर काव्य की भिन्न भिन्न धाराओं के भेद इतने निर्दिष्ट नहीं हो सकते कि एक की कोई विशेषता दूसरी में कहीं दिखाई ही न पड़े। जब कि धाराएँ साथ-साथ चल रही हैं तब उनका थोड़ा-बहुत प्रभाव एक दूसरे पर पड़ेगा ही। एक धारा का कवि दूसरी धारा की किसी विशेषता में भी अपनी कुछ निपुणता दिखाने की कभी इच्छा कर सकता है। धाराओं का विभाग सबसे अधिक सामान्य प्रवृत्ति देखकर ही किया जा सकता है। फिर भी दो चार कवि ऐसे रह जायँगे जिनमें सब धाराओं की विशेषताएँ समान रूप से पाई जायँगी, जिनकी रचनाओं का स्वरूप मिला-जुला होगा। कुछ विशेष प्रवृत्ति होगी भी तो व्यक्तिगत होगी।

---

## १—ब्रजभाषा काव्य-परंपरा

जैसा कि द्वितीयोत्थान के अंत में कहा जा चुका है, ब्रजभाषा की परंपरा भी चली चल रही है। यद्यपि खड़ी बोली का चलन हो ब्रजभाषा की रचनाएँ प्रकाशित बहुत कम होती हैं पर अभी कितने कवि नगरों और ग्रामों में बराबर ब्रज-वाणी की रहे हैं। जब कहीं किसी स्थान पर कवि-समेलन हो अज्ञात कवि आकर अपनी रचनाओं से लोगों की 'उद्धवशतक' ऐसी उत्कृष्ट रचनाएँ इ सर्गबद्ध प्रबंध काव्यों में हमारा 'बुद्धचरि जिसमें भगवान् बुद्ध का लोकपावन चरित वर्णित है जिसमें रामकृष्ण की लीला का अव

श्री वियोगी हरि जी की 'वीरसतसई' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिले बहुत दिन नहीं हुए। देव पुरस्कार से पुरस्कृत श्री दुलारेलाल जी भार्गव के दोहे बिहारी के रास्ते पर चल ही रहे हैं। अयोध्या के श्री रामनाथ ज्योतिषी को 'रामचंद्रोदय' काव्य के लिये देव-पुरस्कार, थोड़े ही दिन हुए, मिला है। मेवाड़ के श्री केसरीसिंह बारहट का 'प्रताप-चरित्र' वीररस का एक बहुत उत्कृष्ट काव्य है जो सं० १९९२ मे प्रकाशित हुआ है। पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की सरस कविताओं की धूम कवि-संमेलनों में बराबर रहा करती है। प्रसिद्ध कला-विद् राय कृष्णदास जी का 'ब्रजरज' इसी तृतीयोत्थान के भीतर प्रकाशित हुआ है। इधर श्री उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' जी की 'ब्रजभारती' मे ब्रजभाषा बिलकुल नई सज-धज के साथ दिखाई पड़ी है।

हम नहीं चाहते, और शायद कोई भी नहीं चाहेगा, कि ब्रजभाषा-काव्य की धारा लुप्त हो जाय। उसे यदि इस काल मे भी चलना है तो वर्तमान भावों को ग्रहण करने के साथ भाषा का भी कुछ परिष्कार करना पडेगा। उसे चलती ब्रज-भाषा के अधिक मेल मे लाना होगा। अप्रचलित संस्कृत शब्दों को भी अब बिगड़े रूपों मे रखने की आवश्यकता नहीं। 'बुद्धचरित' काव्य मे भाषा के संबंध मे हमने इसी पद्धति का अनुसरण किया था और कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ी थी।

---

## २-द्विवेदीकाल में प्रवर्तित खड़ी बोली की काव्य-धारा

इस धारा का प्रवर्तन द्वितीय उत्थान में इस बात को लेकर हुआ था कि ब्रजभाषा के स्थान पर अब प्रचलित खड़ी बोली में कविता होनी चाहिए; शृंगार रस के कवित्त, सवैए बहुत लिखे जा चुके, अब और विषयों को लेकर और और छंदों में भी रचना चलनी चाहिए। खड़ी बोली को पद्यों में अच्छी तरह ढलने में जो काल लगा उसके भीतर की रचना तो बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक रही, पर इधर इस तृतीय उत्थान में आकर यह काव्य-धारा कल्पनान्वित, भावाविष्ट और अभिव्यंजनात्मक हुई। भाषा का कुछ दूर तक चलता हुआ स्निग्ध, प्रसन्न और प्रांजल प्रवाह इस धारा की सबसे बड़ी विशेषता है। खड़ी

बोली वास्तव में इसी धारा के भीतर मँजी है। भाषा का मँजना वहीं संभव होता है जहाँ उसकी अपनी गति-विधि का पूरा समावेश होता है और कुछ दूर तक चलनेवाले वाक्य सफाई के साथ पद्यों में बैठते चले जाते हैं। एक संबंध-सूत्र में बद्ध कई अर्थ-समूहों की एक समन्वित भावना व्यक्त करने के लिये ही ऐसी भाषा अपेक्षित होती है। जहाँ एक दूसरे से असंबद्ध छोटी-छोटी भावनाओं को लेकर वाग्वैशिष्ट्य की झलक या चलचित्र की-सी छाया दिखाने की प्रवृत्ति प्रधान होगी वहाँ भाषा की समन्वयशक्ति का परिचय न मिलेगा। व्यापक समन्वय के बिना कोई ऐसा समन्वित प्रभाव भी नहीं पड़ सकता जो कुछ काल तक स्थायी रहे। स्थायी प्रभाव की ओर लक्ष्य इस काव्य-धारा में बना हुआ है।

दूसरी बात जो इस धारा के भीतर मिलती है वह है हमारे यहाँ के प्रचलित छंदों या उनके भिन्न-भिन्न योगों से सघटित छंदों का व्यवहार। इन छंदों की लयों के भीतर नाद-सौंदर्य की हमारी रुचि निहित है। नवीनता में बट्टा लगने के डर से ही इन छंदो को छोड़ना सहृदयता से अपने को दूर बताना है। नई रंगत की कविताओं में जो पद्य या चरण रखे जाते हैं उन्हे प्रायः अलापने की जरूरत होती है। पर ठीक लय के साथ कविता पढ़ना और अलाप के साथ गाना दोनों अलग अलग है

इस धारा में कल्पना और भावात्मिका वृत्ति अधर मे नाचती तो नहीं मिलती हैं पर बोध-वृत्ति द्वारा उद्घाटित भूमि पर टिककर उसकी मार्मिकता का प्रकाश करती अवश्य दिखाई पड़ती है। इससे कला का कुतूहल तो नहीं खड़ा होता, पर हृदय को रमानेवाली बात सामने आ जाजी है। यह बात तो स्पष्ट है कि ज्ञान ही काव्य के संचरण के लिये रास्ता खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर-ही हृदय-प्रसार होता है और हृदय-प्रसार ही काव्य का सच्चा लक्ष्य है। अतः ज्ञान के साथ लगकर ही जब हमारा हृदय परिचालित होगा तभी काव्य की नई नई मार्मिक अर्थभूमियों की ओर वह बढ़ेगा। ज्ञान को किनारे रखकर, उसके द्वारा सामने लाए हुए जगत् और जीवन के नाना पक्षों की ओर न बढ़कर, यदि काव्य प्रवृत्त होगा तो किसी एक भाव को लेकर अभिव्यंजना के वैचित्र्य-प्रदर्शन में लगा रह जायगा। इस दशा में काव्य का विभाव पक्ष शून्य होता

जायगा, उसकी अनेकरूपकता सामने न आएगी। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि यह धारा एक समीचीन पद्धति पर चली। इस पद्धति के भीतर इधर आकर काव्यत्व का अच्छा विकास हो रहा है, यह देखकर प्रसन्नता होती है।

अब इस पद्धति पर चलनेवाले कुछ प्रमुख कवियों का उल्लेख किया जाता है।

ठाकुर गोपालशरणसिंह—ठाकुर साहब अनेक मार्मिक विषयो का चयन करते चले है। इससे इनकी रचनाओं के भीतर खड़ी बोली बराबर मँजती चली आ रही है। इन रचनाओ का आरभ सवत् १९७१ से होता है। अब तक इनकी रचनाओं के पाँच संग्रह निकल चुके है—माधवी, मानवी, संचिता, ज्योष्मती और कादम्बिनी। प्रारभिक रचनाएँ साधारण है, पर आगे चलकर हमे बराबर मार्मिक उद्भावना तथा अभिव्यजना की एक विशिष्ट पद्धति मिलती है। इनकी छोटी छोटी रचनाओं मे, जिनमे से कुछ गेय भी हैं, जीवन की अनेक दशाओ की झलक है। 'मानवी' मे इन्होंने नारी को दुलहिन, देवदासी, उपेक्षिता, अभागिनी, भिखारिनी, वारागना इत्यादि अनेक रूपों मे देखा है। 'ज्योतिष्मती' के पूर्वार्द्ध मे तो असीम और अव्यक्त 'तुम' है और उत्तरार्द्ध मे ससीम और व्यक्त 'मैं' ससार के बीच। इसमे प्रायः उन्हीं भावो की व्यंजना है जिनकी छायावाद के भीतर होती है, पर ढग बिल्कुल अलग अर्थात् रहस्यदर्शियों का सा न होकर भोले-भाले भक्तो का सा है। कवि ने प्रार्थना भी की है कि—

पृथ्वी पर ही मेरे पद हों,
दूर सदा आकाश रहे।

व्यंजना को गूढ बनाने के लिये कुछ असंबद्धता लाने, नितांत अपेक्षित पद या वाक्य भी छोड देने, अत्यंत अस्फुट संबंध के आधार पर उपलक्षणों का व्यवहार करने का प्रयत्न इनकी रचनाओ मे नहीं पाया जाता। आज-कल बहुत चलते हुए कुछ रमणीय लाक्षणिक प्रयोग अवश्य कहीं कहीं मिलते है। कुछ प्रगीत मुक्तकों में यत्रतत्र छायावादी कविता के रूपक भी इन्होंने रखे हैं, पर वे खुलकर सामने आते हैं जैसे—

सज-धजकर मृदु व्यथा-सुंदरी तजकर सब घर बार।
दुःख-यामिनी में जीवन की करती है अभिसार॥

उस अनंत के साथ अपना 'अटल संबंध' कवि बड़ी सफाई से इतने ही में व्यक्त कर देता है—

तू अनंत द्युतिमय प्रकाश है, मैं हूँ मलिन अँधेरा,
पर सदैव संबंध अटल है, जग में मेरा तेरा।
उदय-अस्त तक तेरा साथी मैं ही हूँ इस जग में,
मैं तुझमें ही मिल जाता हूँ होता जहाँ सवेरा॥

'मानवी' में अभागिनी को संबोधन करके कवि कहता है—

चुकती है नहीं निशा तेरी; है कभी प्रभात नहीं होता।
तेरे सुहाग का सुख बाले! आजीवन रहता है सोता॥
हैं फूल फूल जाते मधु में; सुरभित मलयानिल बहती है।
सब लता-वल्लियाँ खिलती हैं, बस तू मुरझाई रहती है॥
सब आशाएँ-अभिलाषाएँ, उर-कारागृह में बंद हुईं।
तेरे मन की दुख-ज्वालाएँ; मेरे मन में छंद हुईं।

**अनूप शर्मा**—बहुत दिनों तक ये ब्रजभाषा में ही अपनी ओजस्विनी वाग्धारा बहाते रहे। खड़ी बोली का जमाना देखकर ये उसकी ओर मुड़े। कुणाल का चरित्र इन्होंने 'सुनाल' नामक खंडकाव्य में लिखा। फिर बुद्ध भगवान् का चरित्र लेकर 'सिद्धार्थ' नामक अठारह सर्गों का एक महाकाव्य संस्कृत के अनेक वर्ण-वृत्तों में इन्होंने लिखा। इनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'सुमनांजलि' में है। इन्होंने फुटकल प्रसंगों के लिये कवित्त ही चुना है। भाषा के सरल प्रवाह के अतिरिक्त इनकी सबसे बड़ी विशेषता है व्यापक दृष्टि जिससे ये हमारे ज्ञान-पथ में आनेवाले अनेक विषयों को अपनी कल्पना द्वारा आकर्षक और मार्मिक रूप में रखकर काव्यभूमि के भीतर ले आए हैं। जगत् के इतिहास, विज्ञान आदि द्वारा हमारा ज्ञान जहाँ तक पहुँचा है वहाँ तक हृदय को भी ले जाना आधुनिक कवियों का काम होना चाहिए। अनूप जी इसकी ओर बढ़े हैं। 'जीवन-मरण' में कवि की कल्पना जगत् के इतिहास की विविध

नभ पर चम चम चपला चमकी, चम चम चमकी तलवार इधर।
भैरव अमंद घननाद उधर, दोनों दल की ललकार इधर।

× × × ×

कलकल बहती थी रणगंगा, अरिदल को डूब नहाने को।
तलवार वीर की नाव बनी, चटपट उस पार लगाने को।
बैरीदल की ललकार गिरी, वह नागिन-सी फुफकार गिरी।
था शोर मौत से बचो बचो; तलवार गिरी, तलवार गिरी।
क्षण इधर गई, क्षण उधर गई, क्षण चढ़ी बाढ़-सी उतर गई।
था प्रलय चमकती जिधर गई, क्षण शोर हो गया किधर गई॥

**पुरोहित प्रतापनारायण**—इन्होंने 'नलनरेश' नामक महाकाव्य १६ सर्गों में रोला, हरिगीतिका आदि हिंदी छंदों में लिखा है। इसकी शैली अधिकतर उस काल की है जिस काल में द्विवेदीजी के प्रभाव से खड़ी बोली हिंदी के पद्यों में परिमार्जित होती हुई चल रही थी। खड़ी बोली की काव्य शैली में इधर मार्मिकता, भावाकुलता और वक्रता का जो विकास हुआ है उसका आभास इस ग्रंथ में नहीं मिलता। अलंकारों की योजना बीच बीच में अच्छी की गई है। इस ग्रंथ में महाकाव्य की उन सब रूढ़ियों का अनुसरण किया गया है जिनके कारण हमारे यहाँ के मध्यकाल के बहुत से प्रबंध-काव्य कृत्रिम और प्रभावशून्य हो गए। इस बीसवीं सदी के लोगों का मन विरह ताप के लेपादि उपचार, चंद्रोपालभ इत्यादि में नहीं रम सकता। श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में भी कुछ ऐसी रूढ़ियों का अनुसरण जी उबाता है। 'मन के मोती' और 'नव निकुंज' में प्रतापनारायण जी की खड़ी बोली की फुटकल रचनाएँ संगृहीत हैं जिनकी शैली अधिकतर इतिवृत्तात्मक है। 'काव्य कानन' नामक बड़े संग्रह में ब्रजभाषा की भी कुछ कविताएँ हैं।

**तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'** ने २७२ पृष्ठों का एक बड़ा भारी काव्य-ग्रंथ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरित के विविध अंगों को लेकर लिखा है। यह आठ अंगों में समाप्त हुआ है। इसमें कई पात्रों के मुँह से आधुनिक समय में उठे हुए भावों की व्यंजना कराई गई है। जैसे श्रीकृष्ण उद्धव द्वारा गोपियों को सँदेसा भेजते हैं कि—

दीन-दरिद्रों के देहों को मेरा मंदिर मानो।
उनके आर्त्त उसासों को ही वंशी के स्वर जानो।

इसी प्रकार द्वारका के दुर्ग पर बैठकर कृष्ण भगवान् बलराम का ध्यान कृषकों की दशा की ओर इस प्रकार आकर्षित करते हैं—

जो ढकता है जग के तन को, रखता लज्जा सबकी।
जिसके खून पसीने द्वारा बनती है मज्जा सबकी।
आज कृषक वह पिसा हुआ है इन प्रमत्त भूपों द्वारा।
उसके घर की गायों का रे! दूध बना मदिरा सारा।

पुरुषों के सब कामों में हाथ बँटाने की सामर्थ्य स्त्रियाँ रखती हैं यह बात रुक्मिणी कहती मिलती हैं।

यह सब होने पर भी भाषा प्रौढ़, चलती और आकर्षक नहीं।

## ३—छायावाद

संवत् १६७० तक किस प्रकार 'खड़ी बोली' के पद्यों में ढलकर मँजने की अवस्था पार हुई और श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडे आदि कई कवि खड़ी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अंतर्भाव-व्यंजक रूप-रंग देने में प्रवृत्त हुए, यह कहा जा चुका है। उनके कुछ रहस्य भावापन्न प्रगीत मुक्तक भी दिखाए जा चुके हैं। वे किस प्रकार काव्य-क्षेत्र का प्रसार चाहते थे, प्रकृति की साधारण-असाधारण वस्तुओं से अपने चिर संबंध का सच्चा मार्मिक अनुभव करते हुए चले थे, इसका भी निर्देश हो चुका है।

यह स्वच्छंद नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवींद्र-नाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई और कई कवि एक साथ 'रहस्यवाद' और 'प्रतीकवाद' या 'चित्रभाषावाद' को ही एकांत ध्येय बनाकर चल पड़े। 'चित्रभाषा' या अभिव्यंजन-पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिये लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफी समझा गया। इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलनेवाले काव्य ने 'छायावाद' का नाम ग्रहण किया।

भूमियों के चित्र सामने लाई है। इसी प्रकार 'विराट् भ्रमण' में देवी के आकाशचारी रथ पर बैठ कवि ने इस विराट् विश्व का दर्शन किया है। एक झलक देखिए—

पीछे दृष्टिगोचर था गोल चक्र पूषण का,
घूमता हुआ जो नील संपुटी में चलता।
मानो जलयान के वितल पृष्ठ भाग मध्य,
आता चला फेन पीत पिंड-सा उबलता॥
उबल रहे थे धूमकेतु धुरियों से तीव्र,
यान-केतु-ताडित नभचक्र था उछलता।
मारुत का, मन का, प्रसंग पड़ा पीछे जब—
आगे चला वाजि-वृष आतप उगलता॥

श्री जगदंबाप्रसाद 'हितैषी'—खड़ी बोली के कवित्तों और सवैयों में वही सरसता, वही लचक, वही भाव-भंगी लाए हैं जो व्रजभाषा के कवित्तों और सवैयों में पाई जाती है। इस बात में इनका स्थान निराला है। यदि खड़ी बोली की कविता आरंभ में ऐसी ही सजीवता के साथ चली होती जैसी इनकी रचनाओं में पाई जाती है तो उसे रूखी और नीरस कोई न कहता। रचनाओं का रंग-रूप अनूठा और आकर्षक होने पर भी अजनबी नहीं है। शैली वही पुराने उस्तादों के कवित्त-सवैयों की है जिनमें वाग्धारा अंतिम चरण पर जाकर चमक उठती है। हितैषी जी ने अनेक काव्योपयुक्त विषय लेकर फुटकल छोटी-छोटी रचनाएँ की हैं जो 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' में संगृहीत हैं। अन्योक्तियाँ इनकी बहुत मार्मिक हैं। रचना के कुछ नमूने देखिए—

### किरण

दुखिनी बनी कुटी में कभी, महलों में कभी महरानी बनी।
बनी फूटती ज्वालामुखी तो कभी, हिमकूट की देवी हिमानी बनी॥
चमकी बन विद्युत् रौद्र कभी, घन आनँद अश्रु-कहानी बनी।
सविता-ससि-स्नेह सोहाग-सनी, कभी आग बनी कभी पानी बनी।

भवसिंधु के बुद्बुद् प्राणियों की तुम्हे शीतल श्वासा कहे, कहो तो।
अथवा छलनो बने अबर के उर की अभिलाषा कहें, कहो तो॥
घुलते हुए चद्र के प्राण की पीडा-भरी परिभाषा कहे, कहो तो।
नभ से गिरती नखतावलि के नयनों की निराशा कहे, कहो तो॥

---

## परिचय

हूँ हितैषो सताया हुआ किसी का, हर तौर किसी का बिसारा हुआ।
घर से किसी के हूँ निकाला हुआ, दर से किसी के दुतकारा हुआ॥
नजरों से गिराया हुआ किसी का, दिल से किसी का हूँ उतारा हुआ।
अजी हाल हमारा हो पूछते क्या? हूँ मुसीबत का इक मारा हुआ॥

**श्री श्यामनारायण पांडेय**—इन्होंने पहले "त्रेता के दो वीर" नामक एक छोटा-सा काव्य लिखा था जिसमे लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध के कई प्रसग लेकर दोनों वीरों का महत्त्व चित्रित किया गया था। यह रचना हरिगीतिका तथा संस्कृत के कई वर्णवृत्तों मे द्वितीय उत्थान की शैली पर है। 'माधव' और 'रिमझिम' नाम की इनकी दो और छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। इनकी ओजस्विनी प्रतिभा का पूर्ण विकास 'हल्दीघाटी' नामक १७ सर्गों के महाकाव्य मे दिखाई पड़ा। 'उत्साह' की अनेक अतर्दशाओं की व्यंजना तथा युद्ध की अनेक परिस्थितियों के चित्र से पूर्ण यह काव्य खड़ी बोली में अपने ढंग का एक ही है। युद्ध के समाकुल वेग और सघर्ष का ऐसा सजीव और प्रवाहपूर्ण वर्णन बहुत कम देखने मे आता है। कुछ पद्य नीचे दिए जाते है—

सावन का हरित प्रभात रहा, अबर पर था घनघोर घटा।
फहराकर पख थिरकते थे, मन भाती थी वन-मोर-छटा।
वारिद के उर में चमक-दमक, तड तड थी बिजली तडक रही।
रह रह कर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फडक रही।

× × × ×

धरती की प्यास बुझाने को, वह घहर रही थी घनसेना।
लोहू पीने के लिये खडी, यह हहर रही थी जनसेना।

रहस्य-भावना और अभिव्यंजन पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने लगी। जिस प्रकार अनेक प्रकार की रमणीय वस्तुओं की कल्पना की जाती है उसी प्रकार अनेक प्रकार की विचित्र भावानुभूतियों की कल्पना भी बहुत कुछ होने लगी। काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तु-योजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात् स्वाभाविक वासना जन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा तो हृदय से उसका संबंध क्या रहेगा? भावानुभूति भी यदि ऐसी होगी जैसी नहीं हुआ करती तो सचाई (Sincerity) कहाँ रहेगी? यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर उसका प्रबल अभिलाष व्यंजित करे, अपने मर-मिटने के अधिकार पर गर्व की व्यंजना करे तो कथन के वैचित्र्य से हमारा मनोरंजन तो अवश्य होगा पर ऐसे अभिलाष या गर्व की कहीं सत्ता मानने की आवश्यकता न होगी।

'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अंतर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतो या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा मे नाना रूपकों के रूप मे उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को योरप मे 'छाया' (Phantasmata) कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे 'छायावाद' कहलाने लगे। धीरे धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में आया और फिर रवींद्र बाबू की धूम मचने पर हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।

'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है। सन् १८८५ मे फ्रांस मे रहस्यवादी कवियों का एक दल खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी (Symbolists) कहलाया। वे अपनी रचनाओं में प्रस्तुतो के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों को लेकर चलते थे। इसी से

उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके 'प्रतीकवाद' शब्द का व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वरप्रेम संबंधी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिये भी प्रतीक शैली की ओर वहाँ प्रवृत्ति रही। हिंदी में 'छायावाद' शब्द का जो व्यापक अर्थ—रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के संबंध में भी—ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।

'छायावाद' का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिंदी काव्य क्षेत्र मे चलनेवाली श्री महादेवी वर्मा हैं। पंत, प्रसाद निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।

रहस्यवाद के भीतर आनेवाली रचनाएँ तो थोडी या बहुत सभी ने उक्त पद्धति पर की हैं, पर उनकी शब्द-कला वासनात्मक प्रणयोद्गार, वेदनाविवृति, सौंदर्यसंघटन, मधुचर्या, अतृप्ति-व्यंजना इत्यादि मे अधिकतर नियुक्त रही। जीवन के अवसाद, विषाद और नैराश्य की झलक भी उनके मधुमय गानो में मिलती रही। इस परिमित क्षेत्र के भीतर चित्रभाषा-शैली का वैलक्षण्य के साथ वे प्रदर्शन करते रहे। जैसा कि सामान्य परिचय के भीतर कहा जा चुका है, वैलक्षण्य लाने के लिये अँगरेजी की लाक्षणिक पदावलियों के अनुवाद भी ज्यों के त्यों रखे जाते रहे। जिनकी प्रवृत्ति लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर कम थी वे बंगभाषा के कवियों के ढंग पर श्रुतिरंजक या नादानुकृत पदावली गुंफित करने में अधिक तत्पर दिखाई दिए।

चित्रभाषा-शैली या प्रतीक पद्धति के अंतर्गत जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसग के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अतः अन्योक्ति पद्धति का अवलंबन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ। यह पहले कहा जा चुका है कि छायावाद का चलन द्विवेदी-काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षण

१—देखो पृष्ठ ६४७।

और अन्योक्ति के प्राचुर्य के रूप में ही नहीं, कहीं कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार के रूप में भी हुआ। इनमें से उपादान और लक्षण-लक्षणाओं को छोड़ और सब बातें किसी न किसी प्रकार की साम्य-भावना के आधार पर ही खड़ी होनेवाली हैं। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलंकृत रचनाएँ बहुत पहले भी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं। अतः छायावाद की रचनाओं के भीतर साम्य ग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है जिसके कारण उसे एक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ।

हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार का माना गया है। सादृश्य (रूप या आकार का साम्य), साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्द-साम्य (दो भिन्न वस्तुओं का एक ही नाम होना) इनमें से अंतिम तो श्लेष की शब्दक्रीड़ा दिखलानेवालों के ही काम का है। रहे सादृश्य और साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों में प्रभाव-साम्य छिपा मिलेगा। सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौंदर्य, दीप्ति, कांति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता, इत्यादि की भावना जगाते हैं। काव्य में बँधे चले आते हुए उपमान अधिकतर इसी प्रकार के हैं। केवल रूप-रंग, आकार या व्यापार को ऊपर से देखकर या नाप-जोखकर, भावना पर उनका प्रभाव परखे बिना, वे नहीं रखे जाते थे। पीछे कवि-कर्म के बहुत कुछ श्रमसाध्य या अभ्यासगम्य होने के कारण जब कृत्रिमता आने लगी तब बहुत से उपमान केवल बाहरी नाप-जोख के अनुसार भी रखे जाने लगे। कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिये सिंहिनी और भिड़ सामने लाई जाने लगी।

छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कहीं कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यंतर प्रभाव साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् (symbolic) होते हैं—जैसे, सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रजत, माधुर्य के स्थान पर, मधु दीप्ति-

मान या कांतिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अँधेरी रात, या संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भाव-तरंग के लिये झंकार; भाव-प्रवाह के लिये संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि। आभ्यंतर प्रवाह-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्य शैली की असली विशेषता है।

हिंदी काव्य-परंपरा में अन्योक्ति-पद्धति का प्रचार तो रहा है, पर लाक्षणिकता का एक प्रकार से अभाव ही रहा। केवल कुछ रूढ़ लक्षणाएँ मुहावरों के रूप में कहीं कहीं मिल जाती थीं। ब्रजभाषा कवियों में लाक्षणिक साहस किसी ने दिखाया तो घनानंद ने। इस तृतीय उत्थान में सब से अधिक लाक्षणिक साहस पंतजी ने अपने 'पल्लव' में दिखाया। जैसे—

(१) धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
(धूलकी ढेरी = असुंदर वस्तुएँ। मधुमय गान = गान के विषय अर्थात् सुंदर वस्तुएँ।)

(२) मर्म पीडा के हास = विकास, समृद्धि। विरोध-वैचित्र्य के लिये व्यंग्य-व्यंजक संबंध को लेकर लक्षणा।) (मर्म-पीडा के हास! = हे मेरे पीडित मन!—आधार-आधेय संबंध लेकर)।

(३) चाँदनी का स्वभाव में वास। विचारों में बच्चों की साँस। (चाँदनी = मृदुलता, शीतलता। बच्चों की साँस = भोलापन।)

(४) मृत्यु का यही दीर्घ विश्वास (मृत्यु = आसन्नमृत्यु व्यक्ति अथवा मृतक के लिये शोक करनेवाले व्यक्ति)

(५) कौन तुम अतुल अरूप अनाम। शिशु के लिये। अल्पार्थक के स्थान पर निषेधार्थक)।

'पल्लव' में प्रतिक्रिया के आवेश के कारण वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी; जिसके लिये कहीं कहीं अँगरेजी के लाक्षणिक प्रयोग भी ज्यों के त्यों ले लिए गए। पर पीछे यह प्रवृत्ति घटती गई।

'प्रसाद' की रचनाओं में शब्दों के लाक्षणिक वैचित्र्य की प्रवृत्ति उतनी नहीं रही है जितनी साम्य की दूरारूढ़ भावना की। उनके उपलक्षण (symbols) सामान्य अनुभूति के मेल में होते थे। जैसे—

( १ ) झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला॥
(झंझा झकोर = क्षोभ, आकुलता। गर्जन = वेदना की तड़प। बिजली = चमक या टीस। नीरदमाला = अंधकार। शून्य शब्द विशेषण के अतिरिक्त आकाश-वाचक भी है, जिससे उक्ति में बहुत सुंदर समन्वय आ जाता है)।

( २ ) पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखे से फुलवारी में।
किसलय दल कुसुम बिछाकर आए तुम इस क्यारी में॥
(पतझड़=उदासी। किसलय दल कुसुम=वसंत=सरसता और प्रफुल्लता)—'आँसू'

( ३ ) काँटों ने भी पहना मोती। (कँटीले पौधों = पीड़ा पहुँचानेवाले कठोर-हृदय मनुष्यों। पहना मोती = हिमबिंदु धारण किया = अश्रुपूर्ण हुए)—'लहर'

अप्रस्तुत किस प्रकार एकदेशीय, सूक्ष्म और धुँधले पर मर्मव्यंजक साम्य का धुँधला-सा आधार लेकर खड़े किए जाते हैं; यह बात नीचे के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगी—

( १ ) उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई-सी, मलयानिल की परछाईं-सी,
इस सूखे तट पर छहर छहर॥
(लहर = सरस-कोमल भाव। सूखा तट = शुष्क जीवन। अप्रस्तुत या उपमान भी लाक्षणिक हैं।)

( २ ) गूढ़ कल्पना-सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय-सी
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी, बच्चों के तुतले भय-सी।—'छाया'

( ३ ) गिरिवर के उर से उठ उठ कर, उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर हैं झाँक रहे नीरव नभ पर। (उठे हुए पेड़ों का साम्य मनुष्य के हृदय की उन उच्च आकांक्षाओं से जो लोक के परे जाती हैं।)

( ४ ) वनमाला के गीतों-सा निर्जन में बिखरा है मधुमास।

छायावाद की रचनाएँ गीतों के रूप में ही अधिकतर होती हैं। इससे उनमें अन्विति कम दिखाई पड़ती है। जहाँ यह अन्विति होती है वहाँ समूची रचना अन्योक्ति-पद्धति पर की जाती है। इस प्रकार साम्य-भावना का ही प्राचुर्य हम सर्वत्र पाते हैं। यह साम्य-भावना हमारे हृदय का प्रसार करनेवाली, शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के गूढ़ संबंध की धारणा बँधानेवाली, अत्यंत अपेक्षित मनोभूमि है, इसमे संदेह नहीं। पर यह सच्चा मार्मिक प्रभाव वहीं उत्पन्न करती है जहाँ यह प्राकृतिक वस्तु या व्यापार से प्राप्त सच्चे आभास के आधार पर खड़ी होती है। प्रकृति अपने अनंत रूपों और व्यापारों के द्वारा अनेक बातों की गूढ़ या अगूढ़ व्यंजना करती रहती है। इस व्यंजना को न परखकर या न ग्रहण करके जो साम्य-विधान होगा वह मनमाना आरोप-मात्र होगा। इस अनंत विश्व महाकाव्य की व्यंजनाओं की परख के साथ जो साम्य-विधान होता है वही मार्मिक और उद्‌बोधक होता है। जैसे—

दुखदावा से नव अंकुर पाता जग जीवन का बन
करुणार्द्र विश्व का गर्जन बरसाता नव जीवन कण।
खुल खुल नव इच्छाएँ फैलातीं जीवन के दल।

---

यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है, जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरों का विलास है, कलानाथ जिसमें खिंच आता॥

× × × ×

हँस पड़े कुसुमों में छविमान, जहाँ जग में पदचिह्न पुनीत।
वहीं सुख में आँसू बन प्राण, ओस में लुढ़क दमकते गीत॥

—गुंजन

---

मेरा अनुराग फैलने दो, नभ के अभिनव कलरव में।
जाकर सूनेपन के तम में, बन किरन कभी आ जाना॥

---

अखिल की लघुता आई बन, समय का सुंदर वातायन
देखने को अदृष्ट नर्त्तन।

—लहर

---

जल उठा स्नेह दीपक-सा नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूमरेखा से, चित्रित कर रहा अँधेरा॥

—आँसू

---

मनमाने आरोप जिनका विधान प्रकृति के संकेत पर नहीं होता, हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श नहीं करते, केवल वैचित्र्य वा कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। छायावाद की कविता पर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का भी प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप में पड़ता रहता है। इससे बहुत सा अप्रस्तुत विधान मनमाने आरोप के रूप में भी सामने आता है। प्रकृति के वस्तु-व्यापारों पर मानुषी वृत्तियों के आरोप का बहुत अधिक चलन हो जाने से कहीं कहीं ये आरोप वस्तु-व्यापारों की प्रकृत व्यंजना स बहुत दूर जा पड़े है, जैसे—चाँदनी के इस वर्णन में—

(१) जग के दुख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन-बाला
पीली पर निर्बल कोमल, कृश देह-लता कुम्हलाई।
विवसना, लाज में लिपटी; साँसों में शून्य समाई॥

चाँदनी अपने-आप इस प्रकार की भावना मन में नहीं जगाती। उसके संबंध में यह उद्भावना भी केवल स्त्री की सुंदर मुद्रा सामने खड़ी करती जान पड़ती है—

(२) नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनी।
मृदु करतल पर शशिमुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनि॥

इसी प्रकार आँसुओं को "नयनों के बाल" कहना भी व्यर्थ-सा है। नीचे की जूठी प्याली भी (जो बहुत आया करती है) किसी मैखाने से लाकर रखी जान पड़ती है—

(३) लहरों में प्यास भरी है, है भँवर पात्र से खाली।
मानस का सब रस पीकर, लुढ़का दी तुमने प्याली॥

प्रकृति के नाना रूपों के सौंदर्य की भावना सदैव स्त्री-सौंदर्य का आरोप करके करना उक्त भावना की संकीर्णता सूचित करता है। कालिदास ने भी मेघदूत में निर्विंध्या और सिंधु नदियों में स्त्री-सौंदर्य की भावना की है जिससे नदी और मेघ के प्रकृत संबंध की व्यंजना होती है। ग्रीष्म में नदियाँ सूखती सूखती पतली हो जाती हैं और तपती रहती हैं। उनपर जब मेघ छाया करता है तब वे शीतल हो जाती है और उस छाया को अंक में धारण किए दिखाई देती है। वही मेघ बरसकर उनकी क्षीणता दूर करता है। दोनों के बीच इसी प्राकृतिक संबंध की व्यंजना ग्रहण करके कालिदास ने अप्रस्तुत विधान किया है। पर सौंदर्य की भावना सर्वत्र स्त्री का चित्र चपकाकर करना खेल-सा हो जाता है। उषा सुंदरी के कपोलों की ललाई, रजनी के रत्नजटित केशकलाप, दीर्घ निश्वास और अश्रुबिंदु तो रूढ़ हो ही गए हैं; किरन, लहर, चंद्रिका, छाया, तितली सब अप्सराएँ या परियाँ बनकर ही सामने आने पाती हैं। इसी तरह प्रकृति के नाना व्यापार भी चुंबन, आलिंगन, मधुग्रहण, मधुदान, कामिनी की क्रीड़ा इत्यादि मे अधिकतर परिणत दिखाई देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का अपना-अपना अलग सौंदर्य भी है जो एक ही प्रकार की वस्तु या व्यापार के आरोप द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार पंतजी की 'छाया', 'वीचि-विलास,' 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर लगा है उनमे से बहुत से तो अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यंजक हैं और बहुत से रंग-बिरंगे खिलौनों के रूप मे ही है। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद,' 'कलावाद' या 'अभिव्यंजनावाद' के उदाहरण-सी लगती हैं जिसके अनुसार कवि-कल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है। प्रकृति के सच्चे स्वरूप, उसकी सच्ची व्यंजना ग्रहण करना उक्त वादों के अनुसार आवश्यक नहीं। उनके अनुसार तो प्रकृति की नाना वस्तुओं का उपयोग केवल उपादान के रूप में है; उसी प्रकार जैसे बालक ईंट, पत्थर, लकड़ी, कागज, फूल-पत्ती लेकर हाथी-घोड़े, घर-बगीचे इत्यादि बनाया करते हैं। प्रकृति के नाना

चित्रों के द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करना तो बहुत ठीक है, पर उन भावनाओं को व्यक्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी तो गृहीत चित्रों में होनी चाहिए।

छायावाद की प्रवृत्ति अधिकतर प्रेम-गीतात्मक होने के कारण हमारा वर्त्तमान काव्य प्रसंगों की अनेकरूपता के साथ नई नई अर्थभूमियों पर कुछ दिनों तक बहुत कम चल पाया। कुछ कवियों में वस्तु का आधार अत्यंत अल्प रहता रहा है; विशेष लक्ष्य अभिव्यंजना के अनूठे विस्तार पर रहा है। इससे उनकी रचनाओं का बहुत सा भाग अधर में ठहराया-सा जान पड़ता है। जिन वस्तुओं के आधार पर उक्तियाँ मन में खड़ी की जाती हैं उनका कुछ भाग कला के अनूठेपन के लिये पंक्तियों के इधर उधर से हटा भी लिया जाता है। अतः कहीं कहीं व्यवहृत शब्दों की व्यंजकता पर्य्याप्त न होने पर भाव अस्फुट रह जाता है, पाठक को अपनी ओर से बहुत कुछ आक्षेप करना पड़ता है, जैसे नीचे की पंक्तियों में—

> निज अलकों के अंधकार, में तुम कैसे छिप आओगे।
> इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
> आह चूम लूँ जिन चरणों को चाँप चाँप कर उन्हें नहीं,
> दुख दो इतना, अरे! अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर बही।

यहाँ कवि ने उस प्रियतम के छिपकर दबे पाँव आने की बात कही है जिनके चरण इतने सुकुमार हैं कि जब आहट न सुनाई पड़ने के लिये वे उन्हें बहुत दबा दबा कर रखते हैं तब ऐंड़ियों में ऊपर की ओर खून की लाली दौड़ जाती है। वही ललाई उषा की लाली के रूप में झलकती है। 'प्रसाद' जी का ध्यान शरीर-विकारों पर विशेष जमता था। इसी से उन्होंने 'चाँप चाँप कर दुख दो' में ललाई दौड़ने की कल्पना पाठकों के ऊपर छोड़ दी है। 'कामायनी' में उन्होंने मले हुए कान में भी कामिनी के कपोलों पर की 'लज्जा की लाली' दिखाई।

अभिव्यंजना की पद्धति या काव्य-शैली पर ही प्रधान लक्ष्य रहने से छाया-वाद के भीतर उसका बहुत ही रमणीय विकास हुआ है, यह हम पहले कह

आए हैं[1]। साम्य भावना और लक्षणा-शक्ति के बल पर किस प्रकार काव्योपयुक्त चित्रमयी भाषा की ओर सामान्यतः झुकाव हुआ यह भी कहा जा चुका है। साम्य पहले उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक—ऐसे अलंकारों के बड़े बड़े साँचों के भीतर ही फैलाकर दिखाया जाता था। यह प्रायः थोड़े में या तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा झलका दिया जाता है अथवा कुछ प्रच्छन्न रूपकों में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसंग के लिये दृष्टांत, अर्थांतरन्यास आदि का सहारा न लेकर अब अन्योक्ति पद्धति ही अधिक चलती है। यह बहुत ही परिष्कृत पद्धति है। पर यह न समझना चाहिए कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग नहीं होता है; बराबर होता है और बहुत होता है। उपमा में धर्म बराबर लुप्त रहता है। प्रतिवस्तूपमा, हेतूत्प्रेक्षा, विरोध, श्लेष, एकावली इत्यादि अलंकार भी कहीं कहीं पाए जाते हैं।

किस प्रकार एक बँधे घेरे से निकलकर अब छायावादी कहे जानेवाले कवि धीरे धीरे जगत् और जीवन के अनंत क्षेत्र में इधर-उधर दृष्टि फैलाते देखे जा रहे हैं, इसका आभास दिया जा चुका है। अब तक उनकी कल्पना थोड़ी-सी जगह के भीतर कलापूर्ण और मनोरंजक नृत्य-सा कर रही थी। वह जगत् और जीवन के जटिल स्वरूप से घबरानेवालों का जी बहलाने का काम करती रही है। अब उसे अखिल जीवन के नाना पक्षों की मार्मिकता का साक्षात्कार करते हुए एक करीने के साथ रास्ता चलना पड़ेगा। इसके लिये उसे अपनी चपलता और भाव-भंगिमा का प्रदर्शन, क्रीड़ा-कौतुक की प्रवृत्ति कुछ संयत करनी पड़ेगी। इस ऊँचे-नीचे मर्म-पथ पर चित्रों का बहुत अधिक फालतू बोझ लादकर चलना भी वाणी के लिये उपयुक्त न होगा। प्रसाद जी ने 'लहर' में छायावाद की चित्रमयी शैली को तीन ऐतिहासिक जीवन-खंडों के बीच ले जाकर आजमाया है। उनमें कथावस्तु का विन्यास नाटकीय पद्धति पर करके उन्होंने बाह्य और आभ्यंतर परिस्थितियों का व्यंजक, मनोहर, मार्मिक या आवेशपूर्ण शब्द-विधान किया है। पर कहीं कहीं जहाँ मधुमय चित्रों की परंपरा दूर तक चली है वहाँ समन्वित प्रभाव में बाधा पड़ी है। 'कामायनी' में

---

१—देखो पृष्ठ ६५४।

उन्होंने नर-जीवन के विकास में भिन्न भिन्न भावात्मिका वृत्तियों का योग और संघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना-द्वारा चित्रित करके मानवता का रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार निराला जी ने, जिनकी वाणी पहले से भी बहुमुखी थी, 'तुलसीदास' के मानस-विकास का बड़ा ही दिव्य और विशाल रंगीन चित्र खींचा है।

अब हम तृतीय उत्थान के वर्त्तमान कवियों और उनकी कृतियों का संक्षेप में कुछ परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं—

श्री जयशंकर प्रसाद पहले व्रजभाषा में कविताएँ लिखा करते थे जिनका संग्रह 'चित्राधार' में हुआ है। संवत् १९७० से वे खड़ी बोली की ओर आए और 'कानन-कुसुम', 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय' और 'प्रेम-पथिक' प्रकाशित हुए। 'कानन-कुसुम' में तो प्रायः उसी ढंग की कविताएँ हैं जिस ढंग की द्विवेदी-काल में निकला करती थीं। 'महाराणा का महत्त्व' और 'प्रेम-पथिक' ( सं० १९७० ) अतुकांत रचना है जिसका मार्ग पं० श्रीधर पाठक पहले दिखा चुके थे। भारतेंदु काल में ही पं० अंबिकादत्त व्यास ने बँगला की देखा-देखी कुछ अतुकांत पद्य आजमाए थे। पीछे पंडित श्रीधर पाठक ने 'सांध्य अटन' नाम की कविता खड़ी बोली के अतुकांत ( तथा चरण के बीच में पूर्ण विरामवाले ) पद्यों में बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत की थी।

सामान्य परिचय के अंतर्गत दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पांडे इत्यादि कई कवि अंतर्भावना की प्रगल्भ चित्रमयी व्यंजना के उपयुक्त स्वच्छंद नूतन पद्धति निकाल रहे थे[1]। पीछे उस नूतन पद्धति पर प्रसाद जी ने भी कुछ छोटी-छोटी कविताएँ लिखीं जो सं० १९७५ ( सन् १९१८ ) में 'झरना' के भीतर संगृहीत हुईं। 'झरना' की उन २४ कविताओं में उस समय नूतन पद्धति पर निकलती हुई कविताओं से कोई ऐसी विशिष्टता नहीं थी जिसपर ध्यान जाता। दूसरे संस्करण में, जो बहुत पीछे संवत् १९८४ में निकला, पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। उसमें आधी से ऊपर अर्थात् ३१ नई रचनाएँ जोड़ी गईं

१—देखो पृष्ठ ६४८

जिनमे पूरा रहस्यवाद, अभिव्यंजना का अनूठापन, व्यंजक चित्र-विधान सब कुछ मिल जाता है। 'विषाद', 'बालू की बेला' 'खोलो द्वार', 'बिखरा हुआ प्रेम', 'किरण', 'वसत की प्रतीक्षा' इत्यादि उन्हीं पीछे जोड़ी हुई रचनाओं में है जो पहले ( सं० १६७५ के ) संस्करण में नहीं थीं। इस द्वितीय संस्करण में ही छायावाद कही जानेवाली विशेषताएँ स्फुट रूप मे दिखाई पड़ीं। इसके पहले श्री सुमित्रानंदन पत का 'पल्लव' बड़ी धूम-धाम से निकल चुका था, जिसमें रहस्य-भावना तो कहीं कहीं, पर अप्रस्तुत-विधान, चित्रमयी भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य आदि विशेषताएँ अत्यत प्रचुर परिमाण में सर्वत्र दिखाई पड़ी थीं।

प्रसाद जी मे ऐसी मधुमयी प्रतिभा और ऐसी जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति का अपने ढग पर बहुत ही मनोरम विकास किया। सस्कृत की कोमल-कांत पदावली का जैसा सुंदर चयन बंगभाषा के काव्यों में हुआ है वैसा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य मे नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन से पदलालित्य की जो गूँज प्रसाद जी के मन मे समाई वह बराबर बनी रही।

जीवन के प्रेम-विलास-मय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे 'उस प्रियतम' के संयोग-वियोगवाली रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्यभावना से अलग समझना चाहिए—रमते प्रायः पाए जाते हैं। प्रेमचर्य्या के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं ( अश्रु, स्वेद, चुंबन, परिरंभण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली. इत्यादि ), रंगरलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति के अनत क्षेत्र मे भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की मंद मुसकान, सुमनों के मधुपात्र, मँडराते मलिंदो के गुंजार, सौरभहर समीर की लपक, पराग-मकरंद की लूट, उषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरंभ' रजनी के आँसू से भीगे अंबर, चंद्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुंठन, मधुमास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। अतः इनकी रहस्य-वादी रचनाओं को देख चाहे तो यह कहे कि इनकी मधुचर्य्या के मानस-प्रसार

के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।

इनकी पहली विशिष्ट रचना "आँसू" ( सं० १९८८ ) है। 'आँसू' वास्तव में तो हैं शृंगारी विप्रलंभ के, जिनमें अतीत संयोग-सुख की खिन्न स्मृतियाँ रह रहकर झलक मारती हैं, पर जहाँ प्रेमी की मादकता की बेसुधी में प्रियतम नीचे से ऊपर आते और संज्ञा की दशा में चले जाते हैं,[१] जहाँ हृदय की तरंगें 'उस अनत कोने' को नहलाने चलती हैं, वहाँ वे आँसू उस 'अज्ञात प्रियतम' के लिये बहते जान पड़ते हैं। फिर जहाँ कवि यह देखने लगता है कि ऊपर तो—

अवकाश[२] असीम सुखों से आकाशतरंग[३] बनाता,
हँसता-सा छाया-पथ में नक्षत्र-समाज दिखाता।

पर

नीचे विपुला धरणी है दुख-भार वहन-सी करती,
अपने खारे आँसू से करुणा-सागर को भरती।

और इस 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' को, इस निर्मल जगती को, अपनी प्रेम-वेदना की कल्याणी शीतल ज्वालामय उजाला देना चाहता है, वहाँ वे आँसू लोकपीड़ा पर करुणा के आँसू से जान पड़ते हैं। पर वहीं पर जब हम कवि की दृष्टि अपनी सदा जगती हुई अखंड ज्वाला की प्रभविष्णुता पर इस प्रकार जमी पाते हैं कि "हे मेरी ज्वाला !

तेरे प्रकाश में चेतन ससार वेदनावाला
मेरे समीप होता है पाकर कुछ करुण उजाला।"

---

१—मादकता से आए तुम; संज्ञा से चले गए थे।
उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर ने भी कहा है—
मैं मरीजे होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया।

२—अवकाश=दिक्, Space

३—आकाश-तरंग=Ether waves

तब ज्वाला या प्रेम-वेदना की अतिरंजित और दूरारूढ़ भावना ही—जो शृंगार की पुरानी रूढ़ि है—रह जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता।

पर अलग अलग लेने पर उक्तियों के भीतर बड़ी ही रंजन-कारिणी कल्पना-व्यंजक चित्रों का बड़ा ही अनूठा विन्यास, भावनाओं की अत्यंत सुकुमार योजना मिलती है। प्रसाद जी की यह पहली काव्य-रचना है जिसने बहुत लोगों को आकर्षित किया। अभिव्यंजना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेम-वेदना की दिव्य विभूति का, विश्व में उसके मंगलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौंदर्य और मंगल के संगम का भी आभास पाया जाता है। 'नियतिवाद' और 'दुःखवाद' का विषण्ण स्वर भी सुनाई पड़ता है। इस चेतना को दूर हटाकर मद-तंद्रा, स्वप्न और असंज्ञा की दशा का आह्वान रहस्यवाद की एक स्वीकृत विधि है। इस विधि का पालन 'आँसू' से लेकर 'कामायनी' तक हुआ है। अपने ही लिये नहीं, उजाले में हाथ-पैर मारनेवाली 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' के लिये भी यही नींद लानेवाली दवा लेकर आने को कवि निशा से कहता है—

> चिर दग्ध दुखी यह वसुधा आलोक माँगती, तब भी,
> तुम तुहिन बरस दो कन कन, यह पगली सोए अब भी।

चेतना की शांति या विस्मृति की दशा में ही 'कल्याण की वर्षा' होती है, मिलन-सुख प्राप्त होता है। अतः उसके लिये रात्रि की भावना को बढ़ाकर प्रसाद जी महारात्रि तक ले गए हैं, जो सृष्टि और प्रलय का संधि-काल है, जिसमें सारे नाम-रूपों का लय हो जाता है—

> चेतना-लहर न उठेगी जीवन-समुद्र थिर होगा,
> संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा।

'आँसू' के उपरांत दूसरी रचना 'लहर' है, जो कई प्रकार की कविताओं का समह है। 'लहर' पर एक छोटी-सी कविता सबसे पहले दी गई है। इसी से समूचे

संग्रह का नाम 'लहर' रखा गया। 'लहर' से कवि का अभिप्राय उस आनंद की लहर से है जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती रहती है उसे ठहराने की पुकार अपने व्यक्तिगत नीरस जीवन को भी सरस करने के लिये कही जा सकती है और अखिल मानव-जिवन को भी। यह जीवन की लहर भीतर उसी प्रकार स्मृति-चिह्न छोड़ जाती है जिस प्रकार जल की लहरें सूखी नदी की बालू के बीच पसलियों की-सी उभरी रेखाएँ छोड़ जाती हैं—

> उठ, उठ, गिर गिर, फिर फिर आती
> नर्त्तित पद-चिह्न बना जाती;
> सिकता की रेखाएँ उभार,
> भर जाती अपनी तरल सिहर।

इनमें भी उस प्रियतम का आँख-मिचौनी खेलना, दबे पाँव आना, किरन-उँगलियों से आँख मूँदना (या मूँदने की कोशिश करना, क्योंकि उस ज्योतिर्मय का कुछ आभास मिल ही जाता है) प्रियतम की ओर अभिसार इत्यादि रहस्यवाद की सब सामग्री है। प्रियतम अज्ञात रहकर भी किस प्रेम का आलंबन रहता है, यह भी दो-एक जगह सूचित किया गया है। जैसे—

> तुम हो कौन और मैं क्या हूँ? इसमें क्या है धरा, सुनो।
> मानस जलधि-रहे चिर चुंबित, मेरे क्षितिज! उदार बनो॥

इसी प्रकार "हे सागर संगम अरुण नील!" में यह चित्र सामने रखा गया है कि सागर ने हिमालय से निकली नदी को कब देखा था, और नदी ने सागर को कब देखा था पर नदी निकल कर स्वर्ण-स्वप्न देखती उसी की ओर चली और वह सागर भी बड़ी उमंग के साथ उससे मिला।

क्षितिज, जिसमें प्रातः-सायं अनुराग की लाली दौड़ा करती है, असीम (आकाश) और ससीम (पृथ्वी) का संहेट या मिलन-स्थल-सा दिखाई पड़ा करता है। इस हलचल-भरे संसार से हटाकर कवि अपने नाविक से वहीं ले चलने को कहता है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।

वहाँ जाने पर वह इस सुख-दुःख-मय व्यापक प्रसार को अपने नित्य और सत्य रूप में देखने की भी, पारमार्थिक ज्ञान की झलक पाने की भी, आशा करता है; क्योंकि श्रम और विश्राम के उस संधि-स्थल पर ज्ञान की दिव्य ज्योति-सी जगती दिखाई पड़ा करती है—

जिस गंभीर मधुर छाया में—विश्व चित्रपट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई, दुख-सुख-वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से, जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण, उषा नयन से—बिखराती हो ज्योति घनी रे।

'लहर' में चार-पाँच रचनाएँ ही रहस्यवाद की हैं। पर कवि की तंद्रा और स्वप्नवाली प्रिय भावना जगह-जगह व्यक्त होती है। रात्रि के उस सन्नाटे की कामना जिसमें बाहर भीतर की सब हलचलें शांत रहती हैं, केवल अभावों की पूर्त्ति करनेवाले अतृप्त-कामनाओं की तृप्ति का विधान करनेवाले, स्वप्न ही जगा करते हैं, इस गीत में पूर्णतया व्यक्त है—

अपलक जगती हो एक रात !
सब सोए हों इस भूतल में,
अपनी निरीहता संबल में,
चलती हो कोई भी न बात।

× × × ×

वक्षस्थल में जो छिपे हुए
सोते हों हृदय अभाव लिए
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

जैसा कि पहले सूचित कर चुके हैं, 'लहर' में कई प्रकार की रचनाएँ हैं। कहीं तो प्रकृति के रमणीय पक्ष को लेकर सुंदर और मधुर रूपकमय गान हैं, जैसे—

बीती विभावरी जाग री!
अंबर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी।
खगकुल 'कुल-कुल' सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल-रस गागरी॥

कहीं उस यौवन-काल की स्मृतियाँ हैं जिसमें मधु का आदान-प्रदान चलता था, कहीं प्रेम का शुद्ध स्वरूप यह कहकर बताया गया है कि प्रेम देने की चीज है, लेने की नहीं! पर इस पुस्तक में कवि अपने मधुमय जगत् से निकल कर जगत् और जीवन के कई पक्षों की ओर भी बढ़ा है। वह अपने भीतर इतना अपरिमित अनुराग समझता है कि अपने सान्निध्य से वर्त्तमान जगत् में उसके फैलने की आशा करता है। उषा का अनुराग (लाली) जब फैल जाता है तभी ज्योति की किरण फूटती है—

मेरा अनुराग फैलने दो नभ के अभिनव कलरव में,
जाकर सूनेपन के तम में, बन किरन कभी आ जाना।

कवि अपने प्रियतम से अब वह 'जीवन-गीत' सुनाने को कहता है जिसमें 'करुणा का नव अभिनंदन हो'। फिर इस जगत् की अज्ञानांधकारमयी अश्रुपूर्ण रात्रि के बीच ज्ञान-ज्योति की भिक्षा माँगता हुआ वह उससे प्रेम-वेणु के स्वर में 'जीवन-गीत' सुनाने को कहता है जिसके प्रभाव से मनुष्य-जाति लताओं के समान स्नेहालिंगन में बद्ध हो जायगी और इस संतप्त पृथ्वी पर शीतल छाया हो जायगी।

जग की सजल कालिमा रजनी में मुखचंद्र दिखा जाओ,
प्रेम-वेणु की स्वर-लहरी में जीवन-गीत सुना जाओ।
× × × ×
स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन-धन! इस जले जगत् को वृंदावन बन जाने दो॥

जैसा कि पहले सूचित कर आए है, 'लहर' में प्रसाद जी ने अपनी प्रगल्भ कल्पना के रंग में इतिहास के कुछ खंडों को भी देखा है। जिस वरुणा के शांत कछार में बुद्ध भगवान् ने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया था उसकी पुरानी झाँकी, 'अशोक की चिंता', 'शेरसिंह का आत्मसमर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' 'प्रलय की छाया' ये सब अतीत के भीतर कल्पना के प्रवेश के उदाहरण है। इस प्रकार 'लहर' में हम प्रसाद जी को वर्त्तमान और अतीत जीवन की प्रकृत ठोस भूमि पर अपनी कल्पना ठहराने का कुछ प्रयत्न करते पाते है।

किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अंत में प्रसाद जी ने ध्यान दिया, जिसका परिणाम है 'कामायनी'। इसमें उन्होंने अपने प्रिय 'आनंदवाद' की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बना कर की है। यह 'आनंदवाद' वल्लभाचार्य के 'काय' या आनंद के ढंग का न होकर, तांत्रिकों और योगियों की अंतर्भूमि-पद्धति पर है। प्राचीन जलप्लावन के उपरात मनु द्वारा मानवी सृष्टि के पुनर्विधान का आख्यान लेकर इस प्रबंध-काव्य की रचना हुई है। काव्य का आधार है मनु का पहले श्रद्धा को फिर इड़ा को पत्नी-रूप में ग्रहण करना तथा इड़ा को बंदिनी या सर्वथा अधीन बनाने का प्रयत्न करने पर देवताओं का उनपर कोप करना। 'रूपक' की भावना के अनुसार श्रद्धा विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति है और इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि। कवि ने श्रद्धा को मृदुता, प्रेम और करुणा का प्रवर्त्तन करनेवाली और सच्चे आनंद तक पहुँचानेवाली चित्रित किया है। इड़ा या बुद्धि अनेक प्रकार के वर्गीकरण और व्यवस्थाओं में प्रवृत्त करती हुई कर्मों में उलझानेवाली चित्रित की गई है।

कथा इस प्रकार चलती है। जल-प्रलय के बाद मनु की नाव हिमवान् की चोटी पर लगती है और मनु वहाँ चिंताग्रस्त बैठे हैं। मनु पिछली सृष्टि की बातें और आगे की दशा सोचते-सोचते शिथिल और निराश हो जाते हैं। यह चिंता 'बुद्धि, मति या मनीषा' का ही एक रूप कही गई है जिससे आरंभ में ही 'बुद्धिवाद' के विरोध का किंचित् आभास मिल जाता है। धीरे-धीरे आशा का रमणीय उदय होता है और श्रद्धा से मनु की भेंट होती है। श्रद्धा के साथ मनु शांतिसुखपूर्वक कुछ दिन रहते हैं। पर पूर्व-संस्कार-वश कर्म की ओर फिर

मनु की प्रवृत्ति होती है। आसुरी प्रेरणा से वे पशुहिंसापूर्ण काम्य यज्ञ करने लगते हैं जिससे श्रद्धा को विरक्ति होती है। वह यह देखकर दुखी होती है कि मनु अपने ही सुख की भावना में मग्न होते जा रहे हैं, उनके हृदय में सुख के, सब प्राणियों में, प्रसार का लक्ष्य नहीं जम रहा है जिससे मानवता का नूतन विकास होता। मनु चाहते हैं कि श्रद्धा का सारा सद्भाव, सारा प्रेम, एकमात्र उन्हीं पर स्थित रहे, तनिक भी इधर उधर बँटने न पाए। इससे जब वे देखते हैं कि श्रद्धा पशुओं के बच्चों को प्रेम से पुचकारती है और अपनी गर्भस्थ संतति की सुख-क्रीडा का आयोजन करती है तब उनके मन में ईर्ष्या होती है और उसे हिमालय की उसी गुफा में छोड़कर वे अपनी सुख-वासना लिए हुए चल देते हैं।

मनु उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश में उतरते है जहाँ कभी श्रद्धा से हीन होकर सुर और असुर लड़े थे, इंद्र की विजय हुई थी। वे खिन्न होकर सोचते हैं कि क्या मै उन्ही के समान श्रद्धा-हीन हो रहा हूँ। इसी बीच मे अंतरिक्ष से 'काम' की अभिशाप भरी वाणी सुनाई पडती है कि—

मनु ! तुम श्रद्धा को गए भूल।
उस पूर्ण आत्म-विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल
तुम भूल गए पुरुषत्व-मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
सम-रसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

× × × ×

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता में लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि।
अनजान समस्याएँ ही गढती, रचती हो अपनी ही विनष्टि।
कोलाहल कलह अनंत -चले, एकता नष्ट हो, बढ़े भेद।
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।

प्रभात होता है। मनु अपने सामने एक सुदरी खड़ी पाते हैं—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।
वह विश्वमुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल।

गुंजरित मधुप-से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस-सार लिए।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए।

यह इड़ा ( बुद्धि ) थी। इसके साथ मनु सारस्वत प्रदेश की राजधानी में रह गए। मनु के मन में जब जगत् और उसके नियामक के संबंध में जिज्ञासा उठती है और उससे कुछ सहाय पाने का विचार आता है तब इड़ा कहती है—

हाँ! तुम ही हो अपने सहाय।

जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय?
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्यभरी शोधकविहीन।
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता।
तुम जड़ता को चैतन्य करो, विज्ञान सहज साधन उपाय।

मनु वहाँ इड़ा के साथ रहकर प्रजा के शासन की पूरी व्यवस्था करते हैं। नगर की श्री-वृद्धि होती है। प्रकृति बुद्धिबल के वश में की जाती है। खेती धूम-धाम से होने लगती है। अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे खड़े होते हैं। धातुओं के नए नए अस्त्र-शस्त्र बनते हैं। मनु अनेक प्रकार के नियम प्रचलित करके, जनता का वर्णों या वर्गों में विभाग करके, लोक का संचालन करते हैं। 'अहं' का भाव जोर पकड़ता है। वे अपने को स्वतंत्र नियामक और प्रजापति मानकर सब नियमों से परे रहना चाहते हैं। इड़ा उन्हें नियमों के पालन की सलाह देती है, पर वे नहीं मानते। इड़ा खिन्न होकर जाना चाहती है, पर मनु अपना अधिकार जमाते हुए उसे पकड़ रखते हैं। पकड़ते ही द्वार गिर पड़ता है। प्रजा जो दुर्व्यवहारों से क्षुब्ध होकर राजभवन घेरे थी, भीतर घुस पड़ती है। देवशक्तियाँ भी कुपित हो उठती हैं। शिव का तीसरा नेत्र खुल जाता है। प्रजा का रोष बढ़ता है! मनु युद्ध करते हैं और मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं।

उधर श्रद्धा इसी प्रकार के विप्लव का भयंकर स्वप्न देखकर अपने कुमार

को लेकर मनु को ढूँढती ढूँढती वहाँ पहुँचती है। मनु उसे देखकर क्षोभ और पश्चात्ताप से भर जाते हैं। फिर उन सुंदर दिनों को याद करते हैं जब श्रद्धा के मिलने से उनका जीवन सुंदर और प्रफुल्ल हो गया था; जो जगत् पीड़ा और हलचल से व्यथित था वही विश्वास से पूर्ण, शांत, उज्ज्वल और मंगलमय बन गया था। मनु उससे चटपट अपने को वहाँ से निकाल ले चलने को कहते हैं। जब रात हुई तब मनु उठकर चुपचाप वहाँ से न जाने कहाँ चल दिए। उनके चले जाने पर श्रद्धा और इड़ा की बातचीत होती है और इड़ा अपनी बाँधी हुई अधिकार-व्यवस्था के इस भयंकर परिणाम को देख अपना साहस छूटने की बात कहती है—

श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें।
× × × ×
अधिकार न सीमा में रहते,
पावस-निर्झर से वे बहते।
× × × ×
सब पिए मत्त लालसा-घूँट।
मेरा साहस अब गया छूट॥

इस पर श्रद्धा बोली—

बन विषम ध्वांत
सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय, तू विकल कर रही है अभिनय।
सुख-दुःख का मधुमय धूप छाँह, तूने छोड़ी यह सरल राह।
चेतनता का भौतिक विभाग—कर, जग को बाँट दिया विराग।
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्, यह रूप बदलता है शत शत,
कण- विरह-मिलन-मय- नृत्य -निरत, उल्लासपूर्ण आनंद सतत॥

अंत में श्रद्धा अपने कुमार को इड़ा के हाथों में सौंप मनु को ढूँढने निकली और उन्हें उसने सरस्वती-तट पर एक गुफा में पाया। मनु उस समय आँखें बंद किए चित् शक्ति का अंतर्नाद सुन रहे थे, ज्योतिर्मय पुरुष का आभास पा रहे थे, अखिल विश्व के बीच नटराज का नृत्य देख रहे थे। श्रद्धा को देखते

ही वे इत-चेत् पुकार उठे कि 'श्रद्धे ! उन चरणों तक ले चल'। श्रद्धा आगे आगे और मनु पीछे पीछे हिमालय पर चढ़ते चले जाते हैं। यहाँ तक कि वे ऐसे महादेश में अपने को पाते हैं जहाँ वे निराधार ठहरे जान पड़ते हैं। भूमंडल की रेखा का कहीं पता नहीं। यहाँ कवि पूरे रहस्यदर्शी का बाना धारण करता है और मनु के भीतर एक नई चेतना ( इस चेतना से भिन्न ) का उदय बतलाता है। अब मनु को त्रिदिक् ( Three dimensions ) विश्व और त्रिभुवन के प्रतिनिधि तीन अलग अलग आलोकबिंदु दिखाई पड़ते हैं जो 'इच्छा', 'ज्ञान' और 'क्रिया' के केंद्र से हैं। श्रद्धा एक एक का रहस्य समझाती है।

पहले 'इच्छा' का मधु, मादकता और अँगड़ाईवाला माया-राज्य है जो रागारुण उषा के कंदुक सा सुंदर है जिसमे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की पारदर्शिनी पुतलियाँ रंग बिरंगी तितलियों के समान नाच रही हैं। यहाँ चल चित्रों की संसृति-छाया चारों ओर घूम रही है और आलोकबिंदु को घेरकर बैठी हुई माया मुस्करा रही है। यहाँ चिर वसंत का उद्गम भी है और एक ओर पतझड़ भी अर्थात् सुख और दुःख एक सूत्र मे बँधे हैं। यहीं पर मनोमय विश्व रागारुण चेतन की उपासना कर रहा है।

फिर 'कर्म' का श्यामल लोक सामने आता है जो धुएँ-सा धुँधला है, जहाँ क्षण भर विश्राम नही है, सतत संघर्ष और विफलता का कोलाहल रहता है, आकांक्षा की तीव्र पिपासा बनी रहती है, भाव राष्ट्र के नियम दंड बने हुए हैं। सारा समाज मतवाला हो रहा है।

सबके पीछे 'ज्ञान-क्षेत्र' आता है जहाँ सदा बुद्धि-चक्र चलता रहता है, सुख-दुःख से उदासीनता रहती है। यहाँ के निरंकुश अणु तर्क-युक्ति से अस्ति-नास्ति का भेद करते रहते हैं और निस्संग होकर भी मोक्ष से संबंध जोड़े रहते हैं। यहाँ केवल प्राप्य ( मोक्ष या छुटकारा भर ) मिलता है, तृप्ति ( आनंद ) नहीं; जीवन-रस अछूता छोड़ा रहता है जिसमे बहुत-सा इकट्ठा होकर एक साथ मिले। इससे तृषा हा तृषा दिखाई देती है।

अंत में इन तीनों ज्योतिर्मय बिंदुओं को दिखाकर श्रद्धा कहती है कि यही त्रिपुर है जिसमें इच्छा, कर्म और ज्ञान एक दूसरे से अलग अलग अपने केंद्र आप ही बने हुए हैं। इनका परस्पर न मिलना ही जीवन की असली विडंबना

है। ज्ञान अलग पड़ा है, कर्म अलग। अतः इच्छा पूरी कैसे हो सकती है? यह कहकर श्रद्धा मुस्कराती है जिससे ज्योति की एक रेखा तीनों में दौड़ जाती है और चट तीनों एक में मिलकर प्रज्वलित हो उठते हैं और सारे विश्व में शृंग और डमरू का निनाद फैल जाता है। उस अनाहत नाद में मनु लीन हो जाते हैं।

इस रहस्य को पार करने पर फिर आनंद-भूमि दिखाई गई है। वहाँ इड़ा भी कुमार (मानव) को लिए अंत में पहुँचती है और देखती है कि पुरुष पुरातन प्रकृति से मिला हुआ अपनी ही शक्ति से लहरें मारता हुआ आनंद-सागर-सा उमड़ रहा है। यह सब देख इड़ा श्रद्धा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हुई कहती है कि 'मैं अब समझ गई कि मुझमें कुछ भी समझ नहीं थी। व्यर्थ लोगों को भुलाया करती थी; यही मेरा काम था"। फिर मनु कैलाश की ओर दिखाकर उस आनंद-लोक का वर्णन करते हैं जहाँ पाप-ताप कुछ भी नहीं है, सब समरस है, और 'अभेद में भेद' वाले प्रसिद्ध सिद्धांत का कथन करके कहते हैं—

अपने दुख सुख से पुलकित यह मूर्त्त विश्व सचराचर
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुंदर।

अंत में प्रसाद जी वहीं प्रकृति से सारे सुख, भोग, कांति, दीप्ति की सामग्री जुटाकर लीन हो जाते हैं—वे ही वल्लरियाँ, पराग, मधु, मकरंद, अप्सराएँ बनी हुई रश्मियाँ।

यह काव्य बड़ी विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है। इसका विचारात्मक आधार या अर्थ-भूमि केवल इतनी ही है कि श्रद्धा या विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति ही मनुष्य को इस जीवन में शांतिमय आनंद का अनुभव और चारों ओर प्रसार कराती हुई कल्याण मार्ग पर ले चलती है और उस निर्विशेष आनंद धाम तक पहुँचाती है। इड़ा या बुद्धि मनुष्य को सदा चंचल रखती, अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क और निर्मम कर्म जाल में फँसाए रहती और तृप्ति या संतोष के आनंद से दूर रखती है। अंत में पहुँचकर कवि ने इच्छा, कर्म और ज्ञान के सामंजस्य पर, तीनों के मेल पर, जोर दिया है। एक दूसरे से अलग रहने पर ही जीवन में विषमता आती है।

जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अंत में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है। पहले कवि ने कर्म को बुद्धि या ज्ञान की प्रवृत्ति के रूप मे दिखाया, फिर अत मे कर्म और ज्ञान के बिंदुओ को अलग अलग रखा। पीछे आया हुआ ज्ञान भी बुद्धिव्यवसायात्मक ज्ञान ही है ( योगियो या रहस्यवादियों का पर-ज्ञान नहीं ) यह बात "सदा चलता है बुद्धिचक्र" से स्पष्ट है। जहाँ "रागारुण कंदुक सा, भावमयी प्रतिभा का मंदिर" इच्छाबिंदु मिलता है वहाँ इच्छा रागात्मिका वृत्ति के अंतर्गत है; अतः रति-काम से उत्पन्न श्रद्धा की ही प्रवृत्ति ठहरती है। पर श्रद्धा उससे अलग क्या तीनों बिंदुओ से परे रखी गई है।

रहस्यवाद की परंपरा मे चेतना से असतोष की रूढ़ि चली आ रही है। प्रसाद जी काव्य के आरंभ में ही 'चिंता' के अतर्गत कहते हैं—

> मनु का मन था विकल हो उठा सवेदन से खाकर चोट
> संवेदन ! जीवन जगती को जो कटुता से देता घोट।
> संवेदन का और हृदय का यह सघर्ष न हो सकता
> फिर अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता ?

इन पंक्तियों मे तो 'सवेदन' बोध-वृत्ति के अर्थ मे व्यवहृत जान पड़ता है, क्योंकि सुख-दुःखात्मक अनुभूति के अर्थ मे लें तो हृदय के साथ उसका संघर्ष कैसा ! बोध के एकदेशीय अर्थ में भी यदि 'संवेदन' को लें तो भी उसे भावभूमि से खारिज नहीं कर सकते। प्रत्येक 'भाव' का प्रथम अवयव विषय-बोध ही होता है। स्वप्न-दशा मे भी, जिसका रहस्य-क्षेत्र मे बड़ा माहात्म्य है, यह विषय-बोध रहता है। श्रद्धा जिस करुणा, दया आदि की प्रवर्त्तिका कही गई है, उसमें दूसरों की पीडा का बोध मिला रहता है।

आगे चलकर यह 'संवेदन' शब्द अपने वास्तविक या अवास्तविक दुःख पर कष्टानुभव के अर्थ मे आया है। मनु की बिगड़ी हुई प्रजा उनसे कहती है—

> हम सवेदन-शील हो चले, यही मिला सुख।
> कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

मतलब यह कि अपनी किसी स्थिति को लेकर दुःख का अनुभव करना ही

संवेदन है। दुःख को पास न फटकने देना, अपनी मौज में—मधु-मकरंद में—मस्त रहना ही वाञ्छनीय स्थिति है। असंतोष से उत्पन्न अवास्तविक कष्टकल्पना के दुःखानुभव के अर्थ में ही इस शब्द को जकड़ रखना भी व्यर्थ प्रयास कहा जायगा। श्रद्धा जिस करुणा, दया आदि की प्रवर्त्तिका कही गई है वह दूसरों की पीड़ा का संवेदन ही तो है। दूसरों के दुःख का अपना दुःख हो जाना ही तो करुणा है। पर-दुःखानुभव अपनी ही सत्ता का प्रसार तो सूचित करता है। चाहे जिस अर्थ में लें, संवेदन का तिरस्कार कोई अर्थ नहीं रखता।

संवेदन, चेतना, जागरण आदि के परिहार का जो बीच बीच मे अभिलाष है उसे रहस्यवाद का तकाजा समझना चाहिए। ग्रंथ के अंत में जो हृदय, बुद्धि और कर्म के मेल या सामजस्य का पक्ष रखा गया है वह तो बहुत समीचीन है। उसे हम गोस्वामी तुलसीदास मे, उनके भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता के रूप मे, दिखा चुके हैं[1]। अपने कई निबंधों में हम जगत् की वर्तमान अशाति और अव्यवस्था का कारण इसी सामंजस्य का अभाव कह चुके है। पर इस सामंजस्य का स्वर हम 'कामायानी' में और कहीं नहीं पाते हैं। श्रद्धा जब कुमार को लेकर प्रजाविद्रोह के उपरांत सारस्वत नगर मे पहुँचती है तब 'इडा' से कहती है कि "सिर चढ़ी रही पाया न हृदय"। क्या श्रद्धा के संबंध मे नहीं कहा जा सकता था कि "रस पगी रही पाई न बुद्धि"? जब दोनों अलग अलग सत्ताएँ करके रखी गई तब एक को दूसरी से शून्य कहना, और दूसरी को पहली से शून्य न कहना, गड़बड़ मे डालता है। पर श्रद्धा में किसी प्रकार की कमी की भावना कवि की ऐकांतिक मधुर भावना के अनुकूल न थी।

बुद्धि की विगर्हणा द्वारा 'बुद्धिवाद' के विरुद्ध उस आधुनिक आंदोलन का आभास भी कवि को इष्ट जान पड़ता है जिसके प्रवर्त्तक अनातोले फ्रास ने कहा है कि "बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड़कर और सब कुछ सिद्ध हो सकता है। बुद्धि पर मनुष्य को विश्वास नहीं होता। बुद्धि या तर्क का सहारा तो लोग अपनी भली-बुरी प्रवृत्तियों को ठीक प्रमाणित करने के लिये लेते हैं।"

---

१—देखो पृ० २४०।

विज्ञान द्वारा सुख-साधनो की वृद्धि के साथ-साथ विलासिता और लोभ की असीम वृद्धि तथा यत्रों के परिचालन से जनता के बीच फैली हुई घोर अशक्तता, दरिद्रता आदि के कारण वर्त्तमान जगत् की जो विषम स्थिति हो रही है उसका भी थोड़ा आभास मनु की विद्रोही प्रजा के इन वचनों द्वारा दिया गया है—

प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रो से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

वर्गहीन समाज की साम्यवादी पुकार की भी दबी-सी गूॅज दो-तीन जगह है। 'विद्युत्कण (Electrons) मिले झलकते-से' में विज्ञान की भी झलक है।

यदि मधुचर्य्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में चित्रित होती। कर्म को कवि ने या तो काम्य यज्ञों के बीच दिखाया है अथवा उद्योग-धंधो या शासन-विधानों के बीच। श्रद्धा के मगलमय योग से किस प्रकार कर्म धर्म का रूप धारण करता है, यह भावना कवि से दूर ही रही। इस भव्य और विशाल भावना के भीतर उग्र और प्रचड भाव भी लोक के मंगलविधान के अग हो जाते हैं। श्रद्धा और धर्म का सबध अत्यत प्राचीन काल से प्रतिष्ठित है। महाभारत में श्रद्धा धर्म की पत्नी कही गई है। हृदय के आधे पक्ष को अलग रखने से केवल कोमल भावो की शीतल छाया के भीतर आनंद का स्वप्न देखा जा सकता है, व्यक्त जगत् के बीच उसका आविर्भाव और अवस्थान नहीं दिखाया जा सकता।

यदि हम इस विशद काव्य की अतर्योजना पर न ध्यान दे, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूॅढे, श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यत मनोरम पद्धति आती है। इन वृत्तियों की आभ्यंतर प्रेरणाओं और बाह्य प्रवृत्तियों को बड़ी मार्मिकता से परखकर इनके स्वरूपों की नराकार उद्भावना की योजना का तो कहना ही क्या है! प्रकृति के ध्वंसकारी भीषण रूपवेग का अत्यंत व्यापक परिधि के बीच चित्रण हुआ है। इस प्रकार प्रसाद जी भी

प्रबंध-क्षेत्र में भी प्रसादजी की विचारात्मक और भावात्मक शैली की सफलता की आशा बँधा गए हैं।

---

श्री सुमित्रानंदन पंत की रचनाओं का आरंभ सं० १९७५ से समझना चाहिए। इनकी प्रारंभिक कविताएँ 'वीणा' में, जिसमें 'दुर्गा के तार' भी है, संगृहीत हैं। उन्हें देखने पर 'गीतांजलि' का प्रभाव कुछ लक्षित अवश्य होता है, पर साथ ही आगे चलकर प्रवर्तित [illegible] भाषा के उपयुक्त रमणीय कल्पना का जगह जगह बहुत ही मधुर आभास मिलता है। गीतांजलि का रहस्यात्मक प्रभाव इन गीतों को देखकर ही कहा जा सकता है—

> छू गया था जब [illegible]
> हँस रहे थे तुम [illegible]
> [illegible] चितचोर!
> गा रहा था [illegible]
> [illegible] कहीं भी, [illegible]

पर पंत जी की रहस्य-भावना प्रायः स्वाभाविक ही रही; 'वाद' का सांप्रदायिक स्वरूप उसने शायद ही कहीं ग्रहण किया हो। उनकी जो एक बड़ी विशेषता है प्रकृति के सुंदर रूपों की आह्लादमयी अनुभूति, वह 'वीणा' में भी कई जगह पाई जाती है। सौंदर्य का आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौंदर्यानुभूति के प्रसार के लिये अनेक मार्ग से खुल जाते हैं। 'वीणा' की कविताओं में इसने लोगों को बहुत आकर्षित किया—

> प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
> कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनि! पाया तूने यह गाना?
> निराकार तम मानो सहसा ज्योतिपुंज में हो साकार?
> बदल गया द्रुत जगज्जाल में धर कर नाम-रूप नाना।
> खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, खिली सुरभि डोले मधु-बाल।
> स्पंदन, कंपन, नव जीवन फिर सीखा जग ने अपनाना।

उस मूर्त्तिमती लाक्षणिकता का आभास, जो 'पल्लव' में जाकर अपनी हद को पहुँची है, 'वीणा' से ही मिलने लगता है, जैसे—

मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल चुंबन उलझाया
अंधकार का अलसित अंचल
अब द्रुत ओढ़ेगा संसार
जहाँ स्वप्न सजते शृंगार।

'वीणा' के उपरांत 'ग्रंथि' है—असफल प्रेम की। इसमें एक छोटे-से प्रेम-प्रसंग का आधार लेकर युवक कवि ने प्रेम की आनंदभूमि में प्रवेश, फिर चिर-विषाद के गर्त्त में पतन दिखाया है। प्रसंग की कोई नई उद्भावना नहीं है। करुणा और सहानुभूति से प्रेम का स्वाभाविक विकास प्रदर्शित करने के लिये जो वृत्त उपन्यासों और कहानियों में प्रायः पाए जाते हैं—जैसे, डूबने से बचानेवाले, अत्याचार से रक्षा करनेवाले, बंदीगृह में पड़ने या रणक्षेत्र में घायल होने पर सेवा शुश्रूषा करनेवाली के प्रति प्रेम-संचार—उन्हीं में से एक चुनकर भावों की व्यंजना के लिये रास्ता निकाला गया है। झील में नाव डूबने पर एक युवक डूबकर बेहोश होता है और आँख खुलने पर देखता है कि एक सुंदरी युवती उसका सिर अपने जंघे पर रखे हुए उसकी ओर देख रही है। इसके उपरांत दोनों में प्रेम-व्यापार चलता है; पर अंत में समाज के बड़े लोग इस स्वेच्छाचार को न सहन करके उस युवती का ग्रंथिबंधन दूसरे पुरुष के साथ कर देते हैं। यही ग्रंथिबंधन उस युवक या नायक के हृदय में एक ऐसी विषादग्रंथि डाल देता है जो कभी खुलती ही नहीं। समाज के द्वारा किस प्रकार स्वभावतः उठा हुआ प्रेम कुचल दिया जाता है, इस कहानी द्वारा कवि को यही दिखाना था। यद्यपि प्रेम का स्रोत कवि ने करुणा की गहराई से निकाला है पर आगे चलकर उसके प्रवाह में भारतीय पद्धति के अनुसार हास-विनोद की झलक भी दिखाई है। कहानी तो एक निमित्त मात्र जान पड़ती है; वास्तव में सौंदर्य-भावना की अभिव्यक्ति और आशा, उल्लास, वेदना, स्मृति इत्यादि की अलग अलग व्यंजना पर ही ध्यान जाता है।

पंत जी की पहली प्रौढ़ रचना 'पल्लव' है, जिसमें प्रतिभा के उत्साह या साहस का तथा पुरानी काव्य-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन है। इसमें चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत-विधान इत्यादि की विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में भरी सी पाई जाती हैं। 'वीणा' और 'पल्लव' दोनों में अँगरेजी कविताओं से लिए हुए भाव और अँगरेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग बहुत से मिलते हैं। कहीं कहीं आरोप और अध्यवसान व्यर्थ और अशक्त हैं, केवल चमत्कार और वक्रता के लिये रखे प्रतीत होते हैं, जैसे 'नयनों के बाल' = आँसू। 'बाल' शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है, जैसे, मधुबाल, मधुपों के बाल। शब्द का मनमाने लिंगों में प्रयोग भी प्रायः मिलता है। कहीं कहीं वैचित्र्य के लिये एक ही प्रयोग में दो दो लक्षणाएँ गुम्फित पाई जाती हैं—अर्थात् एक लक्ष्यार्थ से फिर दूसरे लक्ष्यार्थ पर जाना पड़ता है, जैसे—'मर्म पीड़ा के हास' में। पहले 'हास' का अर्थ लक्षण-लक्षणा द्वारा वृद्धि या विकास लेना पड़ता है। फिर यह जान कर कि सारा संबोधन कवि अपने या अपने मन के लिये करता है, हमें सारी पदावली का उपादान लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ लेना पड़ता है "हे बढ़ी हुई मर्मपीड़ावाले मन!" इसी प्रकार कहीं कहीं दो दो अप्रस्तुत भी एक में उलझे हुए पाए जाते हैं, जैसे—"अरुण कलियों-से कोमल घाव।" पहले 'घाव' के लिये वर्ण के सादृश्य और कोमलता के साधर्म्य से 'कली' की उपमा दी गई। पर 'घाव' स्वयं अप्रस्तुत या लाक्षणिक है और उसका अर्थ है "कसकती हुई स्मृति।" इस तरह एक अप्रस्तुत लाकर फिर उस अप्रस्तुत के लिये दूसरा अप्रस्तुत लाया गया है। इसी प्रकार दो दो उपमान एक में उलझे हुए हमें 'गुंजन' की इन पंक्तियों में मिलते हैं—

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों-सा हिलता हिम-हास।

कहीं कहीं पर साम्य बहुत ही सुंदर और व्यंजक हैं। वे प्रकृति के व्यापारों के द्वारा मानसिक व्यापारों की बड़ी रमणीय व्यंजना करते हैं, जैसे—

तड़ित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान प्रभा के पलक मार उर चीर।
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर मुझे करता है अधिक अधीर,

जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण खोजते हैं तब तुम्हें निदान।
पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि सरल शुक-सी सुखकर सुर में।
तुम्हारी भोली बातें कभी दुहराती है उर में।

जिस प्रकार भावों या मनोवृत्तियों का स्वरूप बाह्य वस्तुओं के साम्य द्वारा सामने लाया जाता है, उसी प्रकार कभी कभी बाह्य वस्तुओं के साम्य के लिये आभ्यंतर भावों या मनोव्यापारों की ओर भी संकेत किया जाता है, जैसे —

अचल के जब वे विमल विचार अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार लीन हो जाते वे सत्वर।

हिमालय प्रदेश मे यह दृश्य प्रायः देखने को मिलता है कि रात में जो बादल खड्डों में भर जाते हैं वे प्रभात होते ही धीरे-धीरे बहुत-से टुकड़ो में बँट-कर पहाड़ के ऊपर इधर उधर चढ़ते दिखाई देने लगते है और अंत मे अनंत आकाश मे विलीन हो जाते हैं। इसका साम्य कवि ने अचल ध्यान में मग्न योगी से दिखाया है जिसकी निर्मल मनोवृत्तियाँ उच्चता को प्राप्त होती हुई उस अनंत सत्ता मे मिल जाती हैं।

पर 'छाया,' 'वीचि-विलास,' 'नक्षत्र' ऐसी कविताओं में, जहाँ उपमानों के ढेर लगे हुए हैं, बहुत से उपमान पुराने ढंग के खेलवाड़ के रूप में भी है, जैसे —

वारि-बेलि-सी फैल अमूल छा अपत्र सरिता के कूल,
विकसा औ सकुचा नव जात बिना नाल के फेनिल फूल।

( वीचि-विलास )

अहे ! तिमिर चरते शशि-शावक।

× × × ×

इंदु दीप-से दग्ध शलभ शिशु !
शुचि उलूक अब हुआ विहान,
अंधकारमय मेरे उर मे
आओ छिप जाओ अनजान।

( नक्षत्र )

सवेरा होने पर नक्षत्र भी छिप जाते हैं, उल्लू भी। बस इतने-से साधर्म्य को लेकर कवि ने नक्षत्रों को उल्लू बनाया है—साफ सुथरे उल्लू सही—और उन्हें अँधेरे उर में छिपने के लिये आमंत्रित किया है। पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की दशा क्या होगी? कवि को यदि अपने हृदय के नैराश्य और अवसाद की व्यंजना करनी थी तो नक्षत्रों को बिना उल्लू बनाए काम चल सकता था।

कहीं कहीं संकीर्ण समास पद्धति के कारण कवि की विवक्षित भावनाएँ अस्फुट सी है, जैसे नक्षत्रों के प्रति ये वाक्य—

> ऐ! आतुर उर के संमान!
> अब मेरी उत्सुक आँखों से उमड़ो।
> × × ×
> मुग्ध दृष्टि की चरम विजय।

पहली पंक्ति में 'संमान' शब्द उस सजावट के लिये आया है जो प्रिय से मिलने के लिये आतुर व्यक्ति उसके आने पर या आने की आशा पर बाहर के सामानों द्वारा और भीतर प्रेम से जगमगाते अनेक सुंदर भावों द्वारा करता है। दूसरी पंक्ति में कवि का तात्पर्य यह है कि प्रियदर्शन के लिये उत्सुक आँखें असंख्य-सी हो रही है। उन्हीं की ज्योति आकश में नक्षत्रों के रूप मे फैले। तीसरी पंक्ति में 'चरम विजय' का अभिप्राय है लगातार एक टक ताकते रहने मे बाजी मारना।

पर इन साम्य-प्रधान रचनाओं मे कहीं कहीं बहुत ही सुंदर आध्यात्मिक कल्पना है, जैसे छाया के प्रति इस कथन में—

> हाँ सखि! आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण
> फिर तुम तम में मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान।

कवि कहता है कि हे छायारूप जगत्! आओ, मैं तुम्हें प्यार कर लूँ। फिर तुम कहाँ और मैं कहाँ! मैं अर्थात् मेरी आत्मा तो उस अनंत ज्योति में मिल जायगी और तुम अव्यक्त प्रकृति या महाशून्य में विलीन हो जाओगे।

'पल्लव' के भीतर 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'परिवर्त्तन' और 'बादल' आदि

रचनाएँ देखने से पता चलता है कि यदि 'छायावाद' के नाम से एक 'वाद' न चल गया होता तो पंत जी स्वच्छंदता के शुद्ध और स्वाभाविक मार्ग (True romanticism) पर ही चलते। उन्हें प्रकृति की ओर सीधे आकर्षित होनेवाला, उसके खुले और चिरंतन रूपों के बीच खुलनेवाला हृदय प्राप्त था। यही कारण है कि 'छायावाद' शब्द मुख्यतः शैली के अर्थ में, चित्रभाषा के अर्थ में ही उनकी रचनाओं पर घटित होता है। रहस्यवाद की रूढ़ियों के रमणीय-उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये उनकी प्रतिभा बहुत कम प्रवृत्त हुई है। रहस्य-भावना जहाँ है वहाँ अधिकतर स्वाभाविक है।

पल्लव में रहस्यात्मक रचनाएँ हैं 'स्वप्न' और 'मौन निमंत्रण'। पर जैसा कि पहले कह आए हैं, पंत जी की रहस्य-भावना स्वाभाविक है, सांप्रदायिक (Dogmatic) नहीं[1]। ऐसी रहस्य-भावना इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी कभी उठा करती है। व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव-सा करता हुआ कवि इसे केवल अतृप्त जिज्ञासा के रूप में प्रकट करता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि उस अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम की व्यंजना में भी कवि ने प्रिय और प्रेमिका का स्वाभाविक पुरुष-स्त्री-भेद रखा है; 'प्रसाद' जी के समान दोनों को पुंलिंग रखकर फारसी या सूफी रूढ़ि का अनुसरण नहीं किया है। इसी प्रकार वेदना की वैसी बीभत्स विवृति भी नहीं मिलती जैसी यह प्रसाद जी की है—

छिल छिल कर छाले फोड़े, मलकर मृदुल चरण से।

जगत् के पारमार्थिक स्वरूप की जिज्ञासा बहुत ही सुंदर भोलेपन के साथ 'शिशु' को संबोधन करके कवि ने इस प्रकार की है—

न अपना ही, न जगत् का ज्ञान, परिचित हैं निज नयन, न कान;<br>
दीखता है जग कैसा, तात! नाम गुण रूप अजान।

कवि, यह समझ कर कि शिशु पर अभी उस नाम रूप का प्रभाव पूरा पूरा

---

१—देखो पृष्ठ ६९४।

नहीं पड़ा है जो सत्ता के पारमार्थिक स्वरूप को छिपा देता है, उससे पूछता है कि "भला बताओ तो यह जगत् तुम्हें कैसा दिखाई पड़ता है।"

छायावाद के भीतर माने जानेवाले सब कवियों में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम-संबंध पंतजी का ही दिखाई पड़ता है। प्रकृति के अत्यंत रमणीय खंड के बीच उनके हृदय ने रूप-रंग पकड़ा है। 'पल्लव', उच्छ्वास' और 'आँसू' में हम उस मनोरम खंड की प्रेमार्द्र स्मृति पाते हैं। यह अवश्य है कि सुषमा की ही उमग-भरी भावना के भीतर हम उन्हें रमते देखते हैं। 'बादल' को अनेक नेत्राभिराम रूपों में उन्होंने कल्पना की रंगभूमि पर ले आकर देखा है, जैसे—

फिर परियों के बच्चे-से हम सुभग सीप के पंख पसार।
समुद्र पैरते शुचि ज्योत्स्ना में पकड़ इंदु के कर सुकुमार।

पर प्रकृति के बीच उसके गूढ़ और व्यापक सौहार्द तक—ग्रीष्म की ज्वाला से उतप्त चराचर पर उसकी छाया के मधुर, स्निग्ध, शीतल, प्रभाव तक; उसके दर्शन से तृप्त कृषकों के आशापूर्ण उल्लास तक—कवि ने दृष्टि नहीं बढ़ाई है। कल्पना के आरोप पर ही जोर देनेवाले 'कलावाद' के संस्कार और प्रतिक्रिया के जोश ने उसे मेघ को उस व्यापक प्रकृत-भूमि पर न देखने दिया जिसपर कालिदास ने देखा था। आरोप-विधायिनी कल्पना की अपेक्षा प्रकृति के बीच किसी वस्तु के गूढ़ और अगूढ़ संबंध प्रसार का चित्रण करनेवाली कल्पना अधिक गंभीर और मार्मिक होती है।

साम्य का आरोप निस्संदेह एक बड़ा विशाल सिद्धांत लेकर काव्य में चला है। वह जगत् के अनंत रूपों या व्यापारों के बीच फैले हुए उन मोटे और महीन संबंध सूत्रों की झलक-सी दिखाकर नरसत्ता के सूनेपन का भाव दूर करता है. अखिल सत्ता के एकत्व की आनंदमयी भावना जगाकर हमारे हृदय का बंधन खोलता है। जब हम रमणी के मुख के साथ कमल, स्मिति के साथ अधखिली कलिका सामने पाते हैं तब हमें ऐसा अनुभव होता है कि एक ही सौंदर्य धारा से मनुष्य भी और पेड़-पौधे भी रूप रंग प्राप्त करते हैं। यहीं तक नहीं, भाषा ने व्यवहार की सुगमता के लिये अलग अलग शब्द रचकर जो भेद खड़े किए हैं वे भी कभी इन आरोपों के सहारे थोड़ी देर के लिये हमारे

मन से दूर हो जाते हैं। यदि किसी बड़े पेड़ के नीचे उसी के गिरे हुए बीजों से जमे हुए छोटे छोटे पौधों को हम आस पास खेलते उसके बच्चे कहे तो आत्मीयता का भाव झलक जायगा।

'कलावाद' के प्रभाव से जिस 'सौंदर्य्यवाद' का चलन योरप के काव्यक्षेत्र के भीतर हुआ उसका पंतजी पर पूरा प्रभाव रहा है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कई स्थानों पर सौंदर्य्य-चयन को अपने जीवन की साधना कहा है, जैसे—

धूल की ढेरी में अनजान छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
कुटिल काँटे है कहीं कठोर, जटिल तरुजाल है किसी ओर,
सुमन दल चुन-चुनकर निशि भोर खोजना है अजान वह छोर[1]

× × × ×

मेरा मधुकर का-सा जीवन, कठिन कर्म हैं, कोमल है मन।

उस समय तक कवि प्रकृति के केवल सुंदर, मधुर पक्ष में अपने हृदय के कोमल और मधुर भावों के साथ लीन था। कर्म-मार्ग उसे कठोर ही कठोर दिखाई पड़ता था। कर्म सौंदर्य्य का सक्षात्कार उसे नहीं हुआ था। उसका साक्षात्कार आगे चलकर हुआ जब वह धीरे धीरे जगत् और जीवन के पूर्ण स्वरूप की ओर दृष्टि ले गया।

'पल्लव' के अंत में पंतजी जगत् के विषम 'परिवर्त्तन' के नाना दृश्य सामने लाए है। इसकी प्रेरणा शायद उनके व्यक्तिगत जीवन की किसी विषम स्थिति ने की है। जगत् की परिवर्तन-शीलता मनुष्यजाति को चिर काल से क्षुब्ध करती आ रही है। परिवर्त्तन संसार का नियम है। यह बात स्वतः सिद्ध होने पर भी सहृदयों और कवियों का मर्म-स्पर्श करती रही है और करती रहेगी, क्योंकि इसका संबध जीवन के नित्य स्वरूप से है। जीवन के व्यापक क्षेत्र में

---

१—यही भाव इँगलैंड के एक आधुनिक कवि और समीक्षक अबरक्रोंबे ने जो हाल में मरे हैं, इस प्रकार व्यक्त किया है—

...... .. ..."So we are driven
Onward and upward in a wind of beauty.
—Abercrombe.

प्रवेश के कारण कवि-कल्पना को कोमल, कठोर, मधुर, कटु, करुण, भयंकर कई प्रकार की भूमियों पर बहुत दूर तक एक संबद्ध धारा के रूप में चलना पड़ा है। जहाँ कठोर और भयंकर, भव्य और विशाल तथा अधिक अर्थ-समन्वित भावनाएँ हैं वहाँ कवि ने रोला छंद का सहारा लिया है। काव्य में चित्रमयी भाषा सर्वत्र अनिवार्य नहीं, दृष्टि से गूढ़-अगूढ़ मार्मिक तथ्यों के चयन द्वारा भी किसी भावना को मर्मस्पर्शी स्वरूप प्राप्त हो जाता है, इसका अनुभव शायद पंतजी को इस एक धारा में चलनेवाली लंबी कविता के भीतर हुआ है। इसी से कहीं कहीं हम सीधे-सादे रूप में चुने हुए मार्मिक तथ्यों का समाहार मात्र पाते हैं, जैसे—

> तुम नृशंस-नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित
> करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित,
> नग्न नगर कर, भग्न भवन प्रतिमाएँ खंडित,
> हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिर-संचित।
> आधि-व्याधि, बहु वृष्टि, वात-उत्पात अमंगल।
> वह्नि, बाढ़, भूकंप—तुम्हारे विपुल सैन्य-दल।

चित्रमयी लाक्षणिक भाषा तथा रूपक आदि का भी बहुत ही सफल प्रयोग इस रचना के भीतर हुआ है। उसके द्वारा तीव्र मर्म-वेदना जगानेवाली शक्ति की पूरी प्रतिष्ठा हुई है। दो एक उदाहरण लीजिए—

> अहे निष्ठुर परिवर्तन।
>
> × ×
>
> अहे वासुकि सहस्रफन!
> लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर।
> छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
> शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
> घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर।
> मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर।
> अखिल विश्व ही विवर, वक्र कुंडल दिङ्-मंडल।

मृदुल होठों का हिमजल-हास उड़ा जाता निःश्वास समीर;
सरल भौहों का शरदाकाश घेर लेते घन घिर गंभीर।

× × × ×

विश्वमय हे परिवर्त्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ से विपुलाकार
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार।

पहले तो कवि लगातार सुख का दुःख में, उत्थान का पतन मे, उल्लास का विषाद मे, सरस सुषमा का शुष्कता और म्लानता में परिवर्त्तन सामने ला लाकर हाहाकार का एक विश्व-व्यापक स्वर सुनता हुआ क्षोभ से भर जाता है, फिर परिवर्त्तन के दूसरे पक्ष पर भी—दुःखदशा से सुखदशा की प्राप्ति पर भी—थोड़ा दृष्टिपात करके चिंतनोन्मुख होता है और परिवर्तन को एक महा करुण कांड के रूप मे देखने के स्थान पर सुख-दुःख की उलझी हुई समस्या के रूप मे देखता है, जिसकी पूर्ति इस व्यक्त जगत् मे नहीं हो सकती, जिसका सारा रहस्य इस जीवन के उस पार ही खुल सकता है—

आज का दुख, कल का आह्लाद
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न गूढ़ संसार,
पूर्त्ति जिसकी उस पार।

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से जगत् के द्वंद्वात्मक विधान को समझकर कवि अपने मन को शांत करता है—

मूँदती नयन मृत्यु की रात खोलती नव जीवन की प्रात।
म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान फलों में फलती फिर अम्लान।

× × × ×

स्वीय कर्मों ही के अनुसार एक गुण फलता विविध प्रकार।
कहीं राखी बनता सुकुमार कहीं बेड़ी का भार,

× × × ×

बिना दुख के सब सुख निःसार, बिना आँसू के जीवन भार।
दीन दुर्बल है रे संसार; इसी से क्षमा, दया औ प्यार।

और जीवन के उद्देश्य का भी अनुभव करता है—

वेदना ही में तप कर प्राण, दमक दिखलाते स्वर्ण-हुलास।
× × × ×
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल। साधना ही जीवन का मोल।

जीवन का एक सत्य स्वरूप लेकर अत्यंत मार्मिक अर्थ-पथ पर संबद्ध रूप में चलने के कारण, कल्पना की क्रीड़ा और वाग्वैचित्र्य पर प्रधान लक्ष्य न रहने के कारण, इस 'परिवर्त्तन' नाम की सारी कविता का एक समन्वित प्रभाव पड़ता है।

'पल्लव' के उपरात 'गुंजन' में हम पंत जी को जगत् और जीवन के प्रकृत क्षेत्र के भीतर और बढ़ते हुए पाते हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष बोध से अतृप्त होकर कल्पना की रुचिरता से तृप्त होने और बुद्धि-व्यापार से क्लांत होकर रहस्य की छाया में विश्राम करने की प्रवृत्ति भी साथ ही साथ बनी हुई है। कवि जीवन का उद्देश्य बताता है इस चारों ओर खिले हुए जगत् की सुषमा से अपने हृदय को सपन्न करना—

क्या यह जीवन? सागर में जलभार मुखर भर देना!
कुसुमित पुलिनों की क्रीडा वीणा से तनिक न लेना?

पर इस जगत् में सुख-सुषमा के साथ दुःख भी तो है। उसके इस सुख दुःखात्मक स्वरूप के साथ कवि अपने हृदय का सामंजस्य कर लेता है—

सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि फिर शशि से ओझल हो घन।

कवि वर्त्तमान जगत् की इस अवस्था से असंतुष्ट है कि कहीं तो सुख की अति है, कहीं दुःख की। वह सम भाव चाहता है—

जग पीडित है अति-दुख से जग पीडित रे अति-सुख से।
मानव-जग में बँट जावें दुख सुख से औ सुख दुख से।

'मानव' नाम की कविता मे जीवन-सौंदर्य की नूतन भावना का उदय कवि अपने मन में इस प्रकार चाहता है—

मेरे मन के मधुबन में सुषमा के शिशु ! मुसकाओ।
नव नव साँसों का सौरभ नव मुख का सुख बरसाओ।

बुद्धिपक्ष ही प्रधान हो जाने से हृदयपक्ष जिस प्रकार दब गया है और श्रद्धाविश्वास का ह्रास होता जा रहा है, इसके विरुद्ध योरप के अनातोले फ्रांस आदि कुछ विचारशील पुरुषों ने जो आंदोलन उठाया उसका आभास भी पंतजी की इन पंक्तियों में मिलता है।

सुंदर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन।

"नौका-विहार" का वर्णन अप्रस्तुत आरोपो से अधिक आच्छादित होने पर भी प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपों की ओर कवि का खिंचाव सूचित करता है—

जैसे और जगह वैसे ही गुंजन में भी पंतजी की रहस्य भावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है। दूर तक फैले हुए खेतो और मैदानो के छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली हरिताभ-रेखा-सी क्षितिज से मिली दिखाई पड़ती है उसके उधर किसी मधुर लोक की कल्पना स्वभावतः होती है—

दूर उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झंकार,
छिपा छायावन में सुकुमार स्वर्ग की परियो का संसार।

कवि की रहस्य-दृष्टि प्रकृति की आत्मा—जगत् के रूपों और व्यापारों में व्यक्त होनेवाली आत्मा—की ओर ही जाती है जो "निखिल छवि की छवि है" और जिसका "अखिल जग-जीवन हास-विलास" है। इस व्यक्त प्रसार के बीच उसका आभास पाकर कुछ क्षण के लिये आनंद-मग्न होना ही मुक्ति है, जिसकी साधना सरल और स्वाभाविक है, हठयोग की-सी चक्करदार नहीं। मुक्ति के लोभ से अनेक प्रकार की चक्करदार साधना तो बंधन है—

है सहज-मुक्ति का मधु-क्षण, पर कठिन मुक्ति का बंधन।

कवि अपनी इस मनोवृत्ति को एक जगह इस प्रकार स्पष्ट भी करता है।

वह कहता है कि इस जीवन की तह में जो परमार्थ तत्त्व छिपा हुआ कहा जाता है उसे पकड़ने और उसमें लीन होने के लिये बहुत-से लोग अंतर्मुख होकर गहरी गहरी डुबकियाँ लगाते हैं; पर मुझे तो उसके व्यक्त आभास ही रुचिकर हैं, अपनी पृथक् सत्ता विलीन करते भय-सा लगता है—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोतीवाली;
पर मुझे डूबने का भय है; भाती तट की चल जल-माली।
आएगी मेरे पुलिनों पर वह मोती की मछली सुंदर।
मैं लहरों के तट पर बैठा देखूँगा उसकी छवि जी भर॥

कहने का तात्पर्य यह कि पंतजी की स्वाभाविक रहस्य-भावना को 'प्रसाद' और 'महादेवी वर्मा' की साम्प्रदायिक रहस्य-भावना से भिन्न समझना चाहिए। पारमार्थिक ज्ञानोदय को अवश्य उन्होंने 'कुछ भी आज न लूँगी मोल' नामक गीत में प्रकृति की सारी विभूतियों से श्रेष्ठ कहा है। रहस्यात्मकता की अपेक्षा कवि में दार्शनिकता अधिक पाई जाती है। 'विहँग के प्रति' नाम की कविता में कवि ने अव्यक्त प्रकृति के बीच चैतन्य के सान्निध्य से, शब्द-ब्रह्म के संचार या स्पंदन ( Vibration ) से सृष्टि के अनेक रूपात्मक विकास का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है—

मुक्त पंखों से उड़ दिन रात सहज स्पंदित कर जग के प्राण;
शून्य नभ में भर दी अज्ञात, मधुर जीवन की मादक तान।

× × × ×

छोड़ निर्जन का निभृत निवास, नीड़ में बँध जग के सानंद,
भर दिए कलरव से दिशि-आस गृहों में कुसुमित, मुदित, अमंद।
रिक्त होते जब जब तरुवास, रूप धर तू नव नव तत्काल,
नित्य नादित रखता सोल्लास, विश्व के अक्षयवट की डाल।

'गुंजन' में भी पंतजी की प्रतिभा बहुत ही व्यंजक और रमणीय साम्य जगह जगह सामने लाती है, जैसे—

खुल खुल नव नव इच्छाएँ फैलातीं जीवन के दल
गा गा प्राणों का मधुकर पीता मधुरस परिपूरण।

इसी प्रकार लक्षणा के सहारे बहुत ही अर्थगर्भित और व्यंजक साम्य इन पंक्तियों मे हम पाते हैं—

यह शैशव का सरल हास है सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरों का विलास है कलानाथ जिसमें खिंच आता।

कवि का भाव तो इतना ही है कि बाल्यावस्था में यह सारी पृथ्वी कितनी सुंदर और दीप्तिपूर्ण दिखाई देती है, पर व्यंजना बड़े ही मनोहर ढंग से हुई है। जिस प्रकार अरुणोदय में पृथ्वी का एक एक कण स्वर्णाभ दिखाई देता है उसी प्रकार बाल-हृदय को यह सारी पृथ्वी दीप्तिमयी लगती। जिस प्रकार सरोवर के हलके हलके हिलोरों मे चंद्रमा ( उसका प्रतिबिंब ) उतरकर लहराता दिखाई देता है उसी प्रकार बाल-हृदय की उमंगों में स्वर्गीय दीप्ति फैली जान पड़ती है।

'गुंजन' मे हम कवि का जीवनक्षेत्र के भीतर अधिक प्रवेश ही नहीं, उसकी काव्यशैली को भी अधिक सयत और व्यवस्थित पाते हैं। प्रतिक्रिया की झोंक में अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति हम 'पल्लव' में पाते हैं वह 'गुंजन' में नहीं है। उसमें काव्यशैली अधिक संगत, सयत और गंभीर हो गई है।

'गुंजन' के पीछे तो पतजी वर्तमान जीवन के कई पक्षों को लेकर चलते दिखाई पड़ते है। उनके 'युगांत' में हम देश के वर्त्तमान जीवन मे उठे हुए स्वरों की मीठी प्रतिध्वनि जगह-जगह पाते हैं। कहीं परिवर्त्तन की प्रबल आकांक्षा है, कहीं श्रमजीवियों की दशा की झलक है, कहीं तर्क-वितर्क छोड़ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जीवनपथ पर साहस के साथ बढ़ते चलने की ललकार है, कहीं 'बापू के प्रति' श्रद्धांजलि है। 'युगांत' मे कवि स्वप्नों से जगकर यह कहता हुआ सुनाई पड़ता है—

जो सोए स्वप्नों के तम में वे जागेंगे—यह सत्य बात।
जो देख चुके जीवन-निशीथ वे देखेंगे जीवन-प्रभात।

'युगात' में कवि को हम केवल रूप-रंग, चमक-दमक, सुख-सौरभवाले सौंदर्य से आगे बढ़कर जीवन-सौंदर्य की सत्याश्रित कल्पना में प्रवृत्त पाते हैं।

उसे बाहर जगत् में 'सौंदर्य, स्नेह, उल्लास' का अभाव दिखाई पड़ा है। इससे वह जीवन की सुंदरता की भावना मन से करके उसे जगत् में फैलाना चाहता है—

सुंदरता का आलोक स्रोत है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात होगा फिर जग के आँगन में।

× × × ×

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित, भीतर।
सौंदर्य, स्नेह, उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग में बाहर।

अब कवि प्रार्थना करता है कि—

जग-जीवन में जो चिर महान् सौंदर्यपूर्ण औ सत्यप्राण।
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ! जिसमें मानव-हित हो समान।

नीरस और ठूठे जगत् में जीर्ण कंकालों के लोक में वह जीवन का वसंत-विकास चाहता—

कंकाल-जाल-जग में फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव-लाली।

ताजमहल के कला-सौंदर्य को देख अनेक कवि मुग्ध हुए हैं। पर करोड़ों की संख्या में भूखों मरती जनता के बीच ऐश्वर्य-विभूति के उस विशाल आडंबर के खड़े होने की भावना से क्षुब्ध होकर युगांत के बदले हुए पंतजी कहते हैं—

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन!
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन।

× × + ×

मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति।
आत्मा का अपमान, प्रेत औ छाया से रति।
शव को दें हम रूप-रंग, आदर मानव का।
मानव को हम कुत्सित चित्र बनावें शव का।

'पल्लव' में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बँधा हुआ, 'गुंजन' में कभी-कभी उसके बाहर और 'युगांत' में लोक के बीच दृष्टि फैलाकर आसन जमाता

हुआ दिखाई पड़ता है। 'गुंजन' तक वह जगत् से अपने लिये सौंदर्य और आनद का चयन करता प्रतीत होता है, 'युगांत' में आकर वह सौंदर्य और आनद का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौंदर्य-भावना अब व्यापक होकर मगल-भावना के रूप में परिणत हुई है। अब तक कवि लोकजीवन के वास्तविक शीत और ताप से अपने हृदय को बचाता-सा आता रहा; अब उसने अपना हृदय खुले जगत् के बीच रख दिया है कि उसपर उसकी गति-विधि का सच्चा और गहरा प्रभाव पड़े। अब वह जगत् और जीवन मे जो कुछ सौंदर्य, माधुर्य प्राप्त है अपने लिये उसका स्तवक बनाकर तृप्त नहीं हो सकता। अब वह दुःख-पीड़ा, अन्याय-अत्याचार के अंधकार को फाड़कर मगलज्योति फूटती देखना चाहता है—मंगल का अमंगल के साथ वह संघर्ष देखना चाहता है, जो गत्यात्मक जगत् का कर्म-सौंदर्य है।

सध्या होने पर अब कवि का ध्यान केवल प्रफुल्ल प्रसून, अलस गंधवाह, रागरंजित और दीप्त दिगंचल तक ही नहीं रहता। वह यह भी देखता है कि—

बाँसों का झुरमुट, संध्या का झुटपुट

× × × ×

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन, भारी पग !

जो पुराना पड़ गया है, जीर्ण और जर्जर हो गया है और नवजीवन-सौंदर्य लेकर आनेवाले युग के उपयुक्त नहीं है उसे पतजी बड़ी निर्ममता के साथ हटाना चाहते हैं—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र। हे स्रस्त, ध्वस्त! हे शुष्क, शीर्ण!
हिम-ताप-पीत, मधु बात-भीत, तुम वीत-राग, जड पुराचीन!

---

झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण-घन। अंध नीड़ से रूढ़-रीति छन।

इस प्रकार कवि की वाणी में लोकमंगल की आशा और आकांक्षा के साथ

घोर 'परिवर्त्तनवाद' का स्वर भी भर रहा है। गत युग के अवशेषों को ध्वस्त करने का अत्यंत रौद्र आग्रह प्रकट किया गया है—

गर्जन कर मानव-केसरि !

प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ा कर।

छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर !

ऐसे स्थलों को देख यह संदेह हो सकता है कि कवि अपनी वाणी को केवल आंदोलनों के पीछे लगा रहा है या अपनी अनुभूति की प्रेरणा से परिचालित कर रहा है। आशा है कि पंतजी अपनी लोकमंगल-भावना को ऐसे स्वाभाविक मर्मपथ पर ले चलेंगे जहाँ इस प्रकार के संदेह का अवसर न रहेगा।

'युगांत' में नर-जीवन की वर्त्तमान दशा की अनुभूति ही सर्वत्र नहीं है। हृदय की नित्य और स्थायी वृत्तियों की व्यंजना भी, कल्पना की पूरी रमणीयता के साथ, कई रचनाओं में मिलती है। सबसे ध्यान देने की बात यह है कि 'वाद' की लपेट से अपनी वाणी को कवि ने एक प्रकार से मुक्त कर लिया है। चित्रभाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य के अनावश्यक प्रदर्शन की वह प्रवृत्ति अब नहीं है जो भाषा और अर्थ की स्वाभाविक गति में बाधक हो। 'संध्या', 'खद्योत', 'तितली', 'शुक्र' इत्यादि रचनाओं मे जो रमणीय कल्पनाएँ हैं उनमे दूसरे के हृदय मे ढलने की पूरी द्रवणशीलता है। 'तितली' के प्रति यह संबोधन लीजिए—

प्रिय तितली ! फूल-सी ही फूली

तुम किस सुख में हो रही डोल ?

×　　×　　×　　×

क्या फूलों से ली, अनिल-कुसुम !

तुमने मन के मधु की मिठास ?

हवा मे उड़ती रंग-बिरंगी तितलियों के लिये 'अनिल-कुसुम' शब्द की रमणीयता सबका हृदय स्वीकार करेगा। इसी प्रकार 'खद्योत' के सहसा चमक उठने पर यह कैसी सीधी-सादी सुंदर भावना है।

अँधियाली घाटी में सहसा हरित स्फुलिंग सदृश फूटा वह।

'युगवाणी' में तो वर्तमान जगत् मे सामाजिक व्यवस्था के संबंध मे प्रायः जितने वाद, जितने आंदोलन उठे हुए है सबका समावेश किया गया है। इन नाना वादों के संबंध में अच्छा तो यह होता कि उनके नामों का निर्देश न करके, उनके भीतर जो जीवन का सत्यांश है उसका मार्मिक रूप सामने रख दिया जाता। ऐसा न होने से जहाँ इन वादों के नाम आए है वहाँ कवि का अपना रूप छिपा-सा लगता है। इन वादों को लेकर चले हुए आंदोलनों में कवि को मानवता के नूतन विकास का आभास मिलता दिखाई पड़ा है। उस आगामी विकास के कल्पित स्वरूप के प्रति तीव्र आकर्षण प्रकट किया गया है जो वर्तमान पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र की एक रूढ़ि ( Worship of the future ) के मेल में है। अतः लोक के भावी स्वरूप के सुंदर चित्र के प्रति व्यंजित ललक या प्रेम को कोई चाहे तो उपयोगिता की दृष्टि से कल्पित एक आदर्श भाव का उदाहरण मात्र कह सकता है। इसी प्रकार अतीत के सारे अवशेषों को सर्वथा ध्वस्त देखने की रोषपूर्ण आकुलता का ध्यान भी मनुष्य की स्थायी अंतःप्रकृति के बीच कहीं मिलेगा, इसमें संदेह है।

बात यह है कि इस प्रकार के भाव वर्तमान की विषम स्थिति से क्षुब्ध, कर्म में तत्पर मन के भाव हैं। ये कर्म-काल के भीतर जगे रहते हैं। कर्म में रत मनुष्य के मन मे सफलता की आशा, अनुमित भविष्य के प्रति प्रबल अभिलाष, बाधक वस्तुओ के प्रति रोष आदि का संचार होता है। ये भाव व्यावहारिक है, अर्थ-साधना को प्रक्रिया से संबंध रखते हैं और कर्म-क्षेत्र मे उपयोगी माने जाते हैं। पंतजी ने वर्तमान को जगत् का कर्म-काल मानकर उसके अनुकूल भावों का स्वरूप सामने रखा है। सारांश यह कि जिस मन के भीतर कवि ने इन भावों का अवस्थान किया है वह 'कर्म का मन, है।

इस रूप में कवि यदि लोक-कर्म में प्रवृत्त नहीं तो कम से कम कर्मक्षेत्र मे उतरे हुए लोगों के साथ चलता दिखाई पड़ रहा है। स्वतत्र द्रष्टा का रूप उसका नहीं रह गया है। उसका तो "सामूहिकता ही निजत्व धन" है। सामूहिक धारा जिधर जिधर चल रही है उधर उधर उसका स्वर भी मिला सुनाई पड रहा है। कहीं वह 'गत संस्कृति के गरल' धनपतियों के अतिम क्षण बता रहा है, कहीं मध्यवर्ग को 'संस्कृति का दास और उच्च वर्ग की सुविधा का

आक्रोश प्रचारक' तथा श्रमजीवियों का 'लोकक्रांति का अग्र-दूत' और नव्य 'सभ्यता का उन्नायक' कह रहा है और कहीं पुरुषों के अत्याचार से पीड़ित स्त्री-जाति की यह दशा सूचित कर रहा है—

पशु-बल से कर जन शासित,
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत ?

× × ×

अपने ही भीतर छिप छिप
जग से हो गई तिरोहित।

पंतजी ने समाजवाद के प्रति भी रुचि दिखाई है और 'गांधीवाद' के प्रति भी। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक-व्यवस्था के रूप में तो 'समाजवाद' की बातें उन्हें पसंद हैं और व्यक्तिगत साधना के लिये 'गांधीवाद' की बातें। कवि की दृष्टि में सब जीवों के प्रति आत्मभाव ही जीव-जगत् की 'मनुष्यत्व में परिणति' है। मनुष्य की अपूर्णता ही उसकी शोभा है। 'दुर्बलताओं से शोभित मनुष्यत्व सुरत्व से दुर्लभ है'। 'पूर्ण सत्य' और असीम को ही श्रद्धा के लिये ग्रहण करने के फेर में रहना सभ्यता की बड़ी भारी व्याधि है। सीमाओं के द्वारा, उन्हीं की रेखाओं से, मंगल-विधायक आदर्श बनकर खड़े होते हैं। 'मानवपन' में दोष हैं, पर उन्हीं दोषों की रगड़ खाकर वह मँजता है, शुद्ध होता है—

व्याधि सभ्यता की है निश्चित पूर्ण सत्य का पूजन;
प्राणहीन वह कला, नहीं जिसमें अपूर्णता शोभन।
सीमाएँ आदर्श सकल, सीमा-विहीन यह जीवन,
दोषों से ही दोष-शुद्ध है मिट्टी का मानवपन।

'समाजवाद' की बातें कवि ने ग्रहण की हैं पर अपना चिंतन स्वतंत्र रखा है। समाजवाद और साम्यवाद ( Communism ) के साथ लगा हुआ 'संकीर्ण भौतिक वाद' उसे इष्ट नहीं। पारमार्थिक दृष्टि से वह परात्परवादी है। आत्मा और भूतों के बीच संबंध स्थापित करनेवाला तत्त्व वह दोनों से परे बताता है—

आत्मा और भूतों में स्थापित करता कौन समत्व।
बहिरंतर, आत्मा-भूतों से है अतीत वह तत्त्व।
भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल।
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।

यह परात्पर-भाव कवि की वर्त्तमान काव्यदृष्टि के कहाँ तक मेल में है, यह दूसरी बात है। पर जब हम देखते हैं कि उठे हुए सामयिक आंदोलन प्रायः एकांगदर्शी होते हैं, एक सीमा से दूसरी सीमा की ओर उन्मुख होते हैं तब उनके द्वारा आगामी नव-संस्कृति की जो हरियाली कवि को सूझ रही है वह निराधार-सी लगती है। हम तो यही चाहेंगे कि पंतजी आंदोलनों की लपेट से अलग रहकर जीवन के नित्य और प्रकृत स्वरूप को लेकर चलें और उसके भीतर लोक-मंगल की भावना का अवस्थान करें।

जो कुछ हो, यह देखकर प्रसन्नता होती है कि 'छायावाद' के बँधे घेरे से निकलकर पंतजी ने जगत् की विस्तृत अर्थ भूमि पर स्वाभाविक स्वछंदता के साथ विचरने का साहस दिखाया है। सामने खुले हुए रूपात्मक व्यक्त जगत् से ही सच्ची भावनाएँ प्राप्त होती हैं, 'रूप ही उर में मधुर भाव बन जाता' है, इस 'रूप-सत्य' का साक्षात्कार कवि ने किया है।

'युगवाणी' में नर-जीवन पर ही विशेष रूप से दृष्टि जमी रहने के कारण कवि के सामने प्रकृति का वह रूप भी आया है जिससे मनुष्य को लड़ना पड़ा है—

वह्नि, बाढ़, उल्का- झंझा की भीषण भू पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुष्य कलेवर।

'मानवता' के व्यापक संबंध की अनुभूति के मधुर प्रभाव से 'दो लड़के' में कवि को पासी के दो नंग-धड़ंग बच्चे प्यारे लगे हैं जो—

जल्दी से टीले के नीचे उधर, उतर कर
हैं चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुंदर—
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े; तसवीरें नीली पीली॥

किंतु नरक्षेत्र के भीतर पंतजी की दृष्टि इतनी नहीं बँध गई है कि चराचर के

साथ अधिक व्यापक संबंध की अनुभूति मंद पड़ गई हो। 'युगवाणी' में हम देखते हैं कि हमारे जीवन-पथ के चारों ओर पड़नेवाली प्रकृति की साधारण से साधारण, छोटी से छोटी वस्तुओं को भी कवि ने कुछ अपनेपन से देखा है। 'समस्त पृथ्वी पर निर्भय विचरण करती जीवन की अक्षय चिनगी' चींटी का अत्यंत कल्पनापूर्ण वर्णन हमें मिलता है। कवि के हृदय-प्रसार का सबसे सुंदर प्रमाण हमें 'दो मित्र' में मिलता है जहाँ उसने एक टीले पर पास-पास खड़े बिलबिल के दो पेड़ों को बड़ी मार्मिकता के साथ दो मित्रों के रूप में देखा है—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन मनोहर।
दोनों पादप
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े
दीर्घ सुदृढ़तर।

शहद चाटनेवालों और गुलाब की रूह सूँघनेवालों को चाहे इसमें कुछ न मिले; पर हमें तो इसके भीतर चराचर के साथ मनुष्य के संबंध की बड़ी प्यारी भावना मिलती है। 'झंझा में नीम' का चित्रण भी बड़ी स्वाभाविक पद्धति पर है। पंतजी को 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छंदता (True Romanticism) की ओर बढ़ते देख हमें अवश्य संतोष होता है।

---

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'—पहले कहा जा चुका है कि 'छायावाद' ने पहले बँगला की देखादेखी अँगरेजी ढंग की प्रगीत पद्धति का अनुसरण किया। प्रगीत पद्धति में नाद-सौंदर्य की ओर अधिक ध्यान रहने से संगीत-तत्व का अधिक समावेश देखा जाता है। परिणाम यह होता है कि

समन्वित अर्थ की ओर झुकाव कम हो जाता है। हमारे यहाँ संगीत राग-रागिनियों में बँधकर चलता आया है; पर योरप में उस्ताद लोग तरह तरह की स्वर-लिपियों की अपनी नई नई योजनाओं का कौशल दिखाते हैं। जैसे और सब बातों की, वैसे ही संगीत के अँगरेजी ढंग की भी नकल पहले पहल बंगाल में शुरू हुई। इस नए ढंग की ओर निरालाजी सबसे अधिक आकर्षित हुए और अपने गीतों मे इन्होंने उसका पूरा जौहर दिखाया। संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने किया है।

एक तो खड़ी बोली, दूसरे स्वरों की घटती बढ़ती के साथ मात्राओं का स्वेच्छानुसार विभाग। इसके कारण 'गवैयों की जबान को सख्त परेशानी होगी" यह बात निरालाजी ने आप महसूस की है। गीतिका में इनके ऐसे ही गीतों का संग्रह है जिनमें कवि का ध्यान संगीत की ओर अधिक है, अर्थ-समन्वय की ओर कम। उदाहरण—

अभरण भर वरण-गान
वन-वन उपवन-उपवन
जाग छवि, खुले प्राण।

× × ×

मधुप-निकर कलरव भर,
गीत-मुखर पिक-प्रिय-स्वर,
स्मर-शर हर केसर-झर,
मधुपूरित गंध, ज्ञान।

जहाँ कवि ने अधिक या कुछ पेचीले अर्थ रखने का प्रयास किया है वहाँ पद-योजना उस अर्थ को दूसरों तक पहुँचाने में प्रायः अशक्त या उदासीन पाई जाती है। गीतिका का यह गीत लीजिए—

कौन तम के पार? (रे कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग,
गगन-घन-घन-धार (रे कह)

गंध-व्याकुल - कूल - उर - सर,
लहर-कच कर कमल-मुख पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर सर
गूँज बारबार ! ( रे कह )
निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन
सार या कि असार ? ( रे कह )

इसमे आई हुई "अखिल पल के स्रोत जल-जग", "हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर" "निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन" इत्यादि पदावलियों का जो अर्थ कवि को स्वय समझाना पड़ा है वह उन पदावलियों से जबरदस्ती निकाला जान पड़ता है। जैसे—"हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर=आनंदरूपी भौंरा स्पर्श का चुभा तीर हर रहा है (तीर के निकालने से भी एक प्रकार का स्पर्श होता है जो और सुखद है; तीर रूप का चुभा तीर है)। निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन=निशा का प्रियतम के उर पर शयन।"

निराला जी पर बंगभाषा की काव्य शैली का प्रभाव समास में गुंफित पद-वल्लरी, क्रियापद के लोप आदि मे स्पष्ट झलकती है। लाक्षणिक वैलक्षण्य लाने की प्रवृत्ति इनमे उतनी नहीं पाई जाती जितनी 'प्रसाद' और 'पंत में।

सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यो में चरणों की स्वच्छंद विषमता है। कोई चरण बहुत लवा, कोई बहुत छोटा, कोई मझोला देखकर ही बहुत से लोग 'रबर छद', 'केचुवा छंद' आदि कहने लगे थे। बेमेल चरणो की विलक्षण आजमाइश इन्होंने सब से अधिक की है। 'प्रगल्भ प्रेम' नाम की कविता में अपनी प्रेयसी कल्पना या कविता का आह्वान करते हुए इन्होंने कहा है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्द्ध-विकच इस हृदय-कमल में आ तू,
प्रिये ! छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह।
गज गामिनी वह पथ तेरा सकीर्ण,
कंटकाकीर्ण।

बहु वस्तु स्पर्शिनी प्रतिभा निरालाजी में है। 'अज्ञात प्रिय' की ओर

इशारा करने के अतिरिक्त इन्होंने जगत् के अनेक प्रस्तुत रूपों और व्यापारों को भी अपनी सरस भावनाओं के रंग में देखा है। 'विस्मृति की नींद से जगानेवाले' 'पुरातन के मलिन साज' खँडहर से वे जिज्ञासा करते हैं कि "क्या-तुम—

ढीले करते हो भव-बंधन नर-नारियों के?

अथवा

हो मलते कलेजा पड़े, जरा-जीर्ण
निर्निमेष-नयनों से।
बाट जोहते हो तुम मृत्यु की,
अपनी संतानों से बूँद भर पानी को तरसते हुए।

इसी प्रकार 'दिल्ली' नाम की कविता में दिल्ली की भूमि पर दृष्टि डालते हुए "क्या यह वही देश है?" कहकर कवि अतीत की कुछ इतिहास-प्रसिद्ध बातों और व्यक्तियों को बड़ी सजीवता के साथ मन में लाता है—

निःस्तब्ध मीनार
मौन हैं मकबरे—
भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार।
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार॥

यमुना को देखकर प्रत्यभिज्ञा का उदय हम इस रूप मे पाते हैं—

मधुर मलय में यहीं
गूँजी थी एक वह जो तान,

× × × ×

कृष्णघन अलक में
कितने प्रेमियों का यहाँ पुलक समाया था।

समाज मे प्रचलित ढोंग का बड़ा चुभता दृश्य गोमती के किनारे कवि ने देखा है जहाँ एक पुजारी भगत ने बंदरों को तो मालपुआ खिलाया और एक कंगाल भिक्षुक की ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं।

जिस प्रकार निरालाजी को छंद के बंधन अरुचिकर हैं उसी प्रकार समाजिक बंधन भी। इसीसे सम्राट् अष्टम एडवर्ड की एक प्रशस्ति लिखकर उन्होंने उन्हें एक वीर के रूप में सामने रखा है जिसने प्रेम के निमित्त साहसपूर्वक पद-मर्य्यादा के समाजिक बंधन को दूर फेंका है।

रहस्यवाद से संबंध रखने वाली निरालाजी की रचनाएँ आध्यात्मिकता का वह रूप-रंग लेकर चली हैं जिसका विकास बंगाल में हुआ। रचना के प्रारंभिक काल में इन्होंने स्वामी विवेकानंद और श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर की कुछ कविताओं के अनुवाद भी किए हैं। अद्वैतवाद के वेदांती स्वरूप को ग्रहण करने के कारण इनकी रहस्यात्मक रचनाओं में भारतीय दार्शनिक निरूपणों की झलक जगह जगह मिलती है। इस विशेषता को छोड़ दें तो इनकी रहस्यात्मक कविताएँ भी उसी प्रकार माधुर्य्य-भावना को लेकर चली हैं जिस प्रकार और छायावादी कवियों की। 'रेखा' नाम की कविता में कवि ने प्रथम प्रेम के उदय का जो वर्णन किया है वह सर्वत्र एक ही चेतन सत्ता की अनुभूति के रूप में सामने आता है—

यौवन के तीर पर प्रथम था आया जब
स्रोत सौंदर्य का,
वीचियों में कलरव सुख-चुंबित प्रणय का
था मधुर आकर्षणमय
मज्जनावेदन मृदु फूटता सागर में
× × ×
सब कुछ तो था असार
अस्तु, वह प्यार ?
सब चेतन जो देखता
स्पर्श में अनुभव—रोमांच,
हर्ष रूप में—परिचय
× × ×
खींचा उसी ने था हृदय यह
जड़ों में चेतन मति कर्षण मिलता कहाँ

'तुलसीदास' निरालाजी की एक बड़ी रचना है जो अधिकांश अंतर्मुख प्रबंध के रूप में है। इस ग्रंथ मे कवि ने जिस परिस्थिति में गोस्वामीजी उत्पन्न हुए उसका बहुत ही चटकीला और रंगीन वर्णन करके चित्रकूट की प्राकृतिक छटा के बीच किस प्रकार उन्हे आनंदमयी सत्ता का बोध हुआ और नवजीवन प्रदान करनेवाले गान की दिव्य प्रेरणा हुई उसका अतर्वृत्ति के आदोलन के रूप मे वर्णन किया है।

'भविष्य का सुखस्वप्न' आधुनिक योरोपीय साहित्य की एक रूढ़ि है। जगत् की जीर्ण और प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नूतन सुखमयी व्यवस्था के निकट होने के आभास का वर्णन निरालाजी की 'उद्बोधन' नाम की कविता में मिलती है। इसी प्रकार श्रमजीवियों के कष्टों की समानुभूति लिए हुए जो लोक-हितवाद का आदोलन चला है उसपर भी अब निराला जी की दृष्टि गई है—

वह तोड़ती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर।

इस प्रकार की रचनाओं में भाषा बोलचाल की पाई जाती। पर निरालाजी की भाषा अधिकतर संस्कृत की तत्सम पदावली से जड़ी हुई होती है जिसका नमूना "राम की शक्तिपूजा" में मिलता है। जैसा पहले कह चुके हैं, इनकी भाषा मे व्यस्था की कमी प्रायः रहती है जिससे अर्थ या भाव व्यक्त करने मे वह कहीं कहीं बहुत ढीली पड़ जाती।

---

**श्री महादेवी वर्म्मा**—छायावादी कहे जानेवाले कवियों में महादेवीजी ही रहस्यावाद के भीतर रही हैं। उस अज्ञात प्रियतम के लिये वेदना ही इनके हृदय का भाव-केंद्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट छूटकर झलक मारती रहती है। वेदना से इन्होंने अपना स्वाभाविक प्रेम व्यक्त किया है, उसी के साथ वे रहना चाहती हैं। उसके आगे मिलन-सुख को भी वे कुछ नहीं गिनतीं। वे कहती हैं कि—"मिलन का मत नाम ले मै विरह में चिर हूँ"। इस वेदना को लेकर इन्होने हृदय की ऐसी ऐसी अनुभूतियाँ सामने रखी हैं जो

लोकोत्तर है। कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना है यह नहीं कहा जा सकता।

एक पक्ष में अनंत सुषमा, दूसरे पक्ष में अपार वेदना विश्व के छोर हैं जिनके बीच उसकी अभिव्यक्ति होती है—

यह दोनों दो ओरें थीं
संसृति की चित्रपटी की;
उस बिन मेरा दुख सूना,
मुझ बिन वह सुषमा फीकी।

पीड़ा का चसका इतना है कि—

तुमको पीड़ा में ढूँढा।
तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

इनकी रचनाएँ समय समय पर संग्रहों में निकली हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्य गीत। अब इन सब का एक में बड़ा संग्रह 'यामा' के नाम से बड़े आकर्षक रूप में निकला है। गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवीजी को हुई वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भाव-भंगी। जगह जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।

---

ऊपर 'छायावाद' के कुछ प्रमुख कवियों का उल्लेख हो चुका है। उनके साथ ही इस वर्ग के अन्य उल्लेखनीय कवि हैं—सर्वश्री मोहनलाल महतो 'वियोगी', भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, नरेंद्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'। श्रीवियोगी की कविताएँ 'निर्माल्य', 'एकतारा' और 'कल्पना' में संगृहीत हैं। श्रीभगवतीचरण की कविताओं के तीन संग्रह हैं—'मधुकण', 'प्रेम संगीत' और 'मानव'। श्री रामकुमार वर्मा ने पहले 'वीर हमीर' और 'चित्तौड़ की चिता' की रचना की थी जो छायावाद के भीतर नहीं आतीं। उनकी इस

प्रकार की कविताएँ 'अजलि', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा' और 'चद्रकिरण' नाम के सग्रहों के रूप मे प्रकाशित हुई हैं। श्री आरसीप्रसाद की रचनाओं का सग्रह 'कलापी' में हुआ है। श्री नरेंद्र के गीत उनके 'कर्ण फूल', 'शूल फूल', 'प्रभात-फेरी' और 'प्रवासी के गीत' नामक संग्रहों में संकलित हुए हैं और श्री अंचल की कविताएँ 'मधूलिका' और 'अपराजिता' में संग्रह की गई है।

---

## ४—स्वच्छंद-धारा

छायावादी कवियों के अतिरिक्त वर्तमान काल में और भी कवि है जिनमें से कुछ ने यत्र-तत्र ही रहस्यात्मक भाव व्यक्त किए हैं। उनकी अधिक रचनाएँ छायावाद के अंतर्गत नहीं आतीं। उन सबकी अपनी अलग अलग विशेषता है। इस कारण उनको एक ही वर्ग में नहीं रखा जा सकता। सुभीते के लिये ऐसे कवियों की, समष्टि रूप से, 'स्वछद धारा' प्रवाहित होती है। इन कवियों में पं० माखनलाल चतुर्वेदी ( 'एक भारतीय आत्मा' ), श्री सियाराम-शरण गुप्त, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्री-हरिवंश राय 'बच्चन', श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', ठाकुर गुरुभक्त सिंह और पं० उदयशंकर भट्ट मुख्य हैं। चतुर्वेदीजी की कविताएँ अभी तक अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित नहीं हुई। 'त्रिधारा' नाम के संग्रह में श्री केशवप्रसाद पाठक और श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की चुनी हुई कविताओं के साथ उनकी भी कुछ प्रसिद्ध कविताएँ उद्धृत की गई हैं। श्री सियारामशरण गुप्त ने आरभ में 'मौर्य-विजय' खंडकाव्य लिखा था। उनकी कविताओं के ये संग्रह प्रसिद्ध हैं—दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, पाथेय और मृण्मयी। 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ' और 'बापू' उनके अन्य काव्य हैं। श्री नवीन ने 'उर्मिला' के सबंध में एक काव्य लिखा है जिसका कुछ अंश अस्तंगत 'प्रभा' पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। उनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'कुंकुम' नाम से छपा है। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की कुछ कविताएँ, जैसा कहा जा चुका है,

'त्रिधारा' में संकलित है। 'मुकुल' उनकी शेष कविताओं का संग्रह है। श्री बच्चन ने 'खैयाम की मधुशाला' में उमर खैयाम की कविताओं का अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि फिट्जेराल्ड कृत अँगरेजी अनुवाद के आधार पर, अनुवाद किया है। उनकी स्वतंत्र रचनाओं के कई संग्रह निकल चुके हैं। जैसे, 'तेरा हार', 'एकांत संगीत', 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'निशानिमंत्रण' आदि। श्री दिनकर की पहली रचना है 'प्रणभंग'। यह प्रबंधकाव्य है। अभी उनके गीतों और कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'रेणुका' और 'हुंकार'। ठाकुर गुरुभक्तसिंह की सब से प्रसिद्ध और श्रेष्ठ कृति 'नूरजहाँ' प्रबंध-काव्य है। उनकी कविताओं के कई संग्रह भी निकल चुके हैं। उनमें 'सरस सुमन', 'कुसुम-कुंज', 'वंशीध्वनि' और 'वन-श्री' प्रसिद्ध हैं। पंडित उदयशंकर भट्ट ने 'तक्षशिला' और 'मानसी' काव्यों के अतिरिक्त विविध कविताएँ भी लिखी हैं, जो 'राका' और 'विसर्जन' में संकलित हैं।

इस प्रकार वर्त्तमान हिंदी कविता का प्रवाह अनेक धाराओं में होकर चल रहा है।

# अनुक्रमणिका

## १—ग्रंथकार

### ध

फ



ब

य



र

स

## २—ग्रंथ

छ



ज

न

घ

न

ष



स